卐 श्रीः 卐

अध्यात्म-अमृत-कलश

[श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत कलशों की स्वात्मप्रबोधिनी टीका व प्रवचन]

टीकाकार व प्रवचनकार

प० जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री

कटनी (म०प्र०)

सम्पादक

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

संशोधित और परिवर्द्धित

चतुर्थ आवृत्ति : २००३

प्रकाशक

श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर

कटनी, (म०प्र०)

प्रकाशक
श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर
निर्माता-स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलालजी (तेवरी वाले)
कटनी (म० प्र०)

●

अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद के माध्यम से
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत

●

प्रथमावृत्ति वीर नि० २५०३ सन् १९७७ ई०
द्वितीयावृत्ति वीर नि० २५०७ सन् १९८१ ई०
तृतीयावृत्ति वीर नि० २५१७ सन् १९९१ ई०
चतुर्थ आवृत्ति वीर नि० २५२९ सन् २००३ ई०

●

लागत मूल्य ८० रुपये
पोस्टेज अतिरिक्त
स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलाल चन्द्रप्रभ जिनालय के सहयोग से

●

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

१ अमरचन्द्र जैन (एम ए)
मेडीक्योर लेबोरेटरीज सुदर्शन काम्पलेक्स P Box 51
सतना (म० प्र०) ४८५००१

२ स सि प्रसन्न कुमार जैन
सेन्ट्रल इडिया बैंकर्स, कीर्ति स्तभ
कटनी (म० प्र०) ४८३५०१

३ श्री महावीर उदासीन आश्रम
कुण्डलपुर (दमोह) म० प्र० ४४०७७३

४ वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल,
पिसनहारी मढिया, जबलपुर

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी,
वाराणसी-२२१०१०

सन्त शिरोमणि आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज
जिनके सान्निध्य मे टीकाकार ने कुडलपुर मे १९९५ मे समाधि ली थी

ग्रन्थ-प्रकाशिनी संस्था तथा संस्थापक-परिवारका परिचय

श्रीमान् सवाई सिघई कन्हैयालाल गिरधारीलालजी तेवरी निवासी द्वारा कटनी नगरको अपना स्थायी निवास बना लेनेके उपरान्त कटनीमे श्री चद्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिरकी स्थापना प्रथम सस्करण सन् १९७७ मे की गई थी । उसी मन्दिरकी ओरसे, जिनवाणीप्रचारके रूपमे प्रथम सस्करण सन् १९७७ मे इस ग्रथका प्रकाशन करके स्वाध्याय प्रेमियोके हाथोमे भेंट किया गया था । अब यह चतुर्थ सस्करण पाठकोके हाथ देनेमे हमे प्रसन्नता है । मन्दिरके संस्थापक इस धर्मनिष्ठ परिवारका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है ।

इस परिवारका इतिहास सत्रहवीं सदीके श्री मोदी शीतलजीसे हमे ज्ञात है । इनके पुत्र श्री मोदी मरजादी हुए, इनके पुत्र श्री बहोरनजीने दमोह नगर (म० प्र०) मे जीर्ण जिनालयका (जिसका निर्माण व प्रतिष्ठा १३वी शताब्दीमे हुई थी ऐसा मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथजीके प्रतिमा लेखसे स्पष्ट है) नवनिर्माण कराया तथा पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव के साथ ६१ जिन बिम्ब पञ्चमेरु पधराए । यह प्रतिष्ठा १८१४ (वि० स०) माघ सुदी १३ को सम्पन्न हुई

श्री बहोरनजी अठारहवीं शतीमे अपने पुत्र कोकाशाह सुखलालके साथ तथा भाई चूडामणि (या चिन्तामणि) के साथ सतारा (महाराष्ट्र) से इस तरफ आए थे, ऐसा परिवारके वृद्धजनोका कथन है । ये जवाहिरातका व्यापार करते थे, सागरमे भोसलोका उस समय राज्य था । इनके आश्रयसे इनका आना सागर हुआ । यद्यपि पूना साताराकी ओर परवार जातिके लोग नहीं पाए जाते । ये परवार जाति होते हुए भी ज्ञात होता है कि ऐसे ही व्यापार हेतु इस ओरसे वहाँ गए होगे । जवाहिरातका व्यापार तो पुराने समयमे ऐसा ही चलता था, जिनके पास यह व्यापार था वे राजाओके पास जाकर ही इसे बेचा-खरीदा करते थे ।

यह भी सभावित है कि ये लोग गुजरात प्रदेशसे पूनाकी ओर गए हो । परवार जातिका इतिहास यह बतलाता है कि गुजरात प्रान्तके "परमार क्षत्रियो" का ही अपभ्रश रूप "परवार" है । परवार जाति यद्यपि उस प्रदेशमे भी पाई नहीं जाती, केवल बुन्देलखण्ड प्रदेश ही उसका वर्तमान आवास या मूल स्थान रह गया है, तथापि श्री प० राजमलजीकी लाटी सहितामे जातियोके या कुलोके सबधमे ऐसा लिखा गया है "ग्रामाद्यभिधया कुलम्" अर्थात् गाँवोके नाम पर कुलोके नामकरण हुए हैं । परवार जातिमे पाए जाते मूर भी सभवत गाँवोके नाम पर ही हैं । मूर मूल शब्दका रूपान्तर है, मूलका अर्थ मूल स्थान है । आज भी गुजराती भाइयोसे उनका परिचय प्राप्त किया जाय तो वे अपने गाँवका नाम बतानेके साथ ही कहते है कि हमारा मूल अमुक ग्राम है । परवार जातीय लोग भी अपना परिचय मूरके साथ ही देते हैं । नामकरण भी प्राय इसी प्रकार है जैसे ईडरी मूर (ईडर), रखयामूर (रखयाल) आदि । ये सब नाम गुजरात प्रदेशके नगरोके हैं । अठसका (अष्टशाखा) शब्दका प्रयोग परिवारके पूर्वजनोके परिचयमे किया जाता है जो इस बातकी ओर सकेत करता है कि इन शाखाओ का मूल (जड) अन्यत्र है । फलत· यह अनुमान भी होता है कि यह परिवार भी गुजरातसे व्यापार हेतु महाराष्ट्र आया हो ।

श्री बहोरनने दमोहको, जो सागरके समीप भोसलोका राज्य स्थान था, अपना निवास बनाया । जो जिन-मन्दिर इन्होने वहाँ बनाया, वह आज भी बडे मन्दिरके नामसे प्रख्यात है । उसकी प्राचीनता इस नामसे ही स्पष्ट है, अन्य मन्दिर उसके बादके हैं । कहा जाता है कि मन्दिर बहुत मजबूत है इसमे जो चूना लगाया है वह शक्कर मिलाकर घोट कर बनाया गया था । चार फुटकी मोटी दीवाले हैं । मूलवेदीमे दीवाल खोदकर दो दरवाजे लगाए गए तो खोदने बनानेमे १२ दिन लगे । सब्बले मारने पर दीवालकी मजबूतीके कारण वह उचट जाती थीं ।

वृद्धजन ऐसा कहते हैं कि जब श्री मन्दिर बनानेका कार्य प्रारभ किया गया उसी समय एक १००-२०० बैलोका शक्करका टाँडा लेकर कोई व्यापारी बेचने आया । दमोह छोटा नगर था कोई खरीददार न था । कुछ लोगोने व्यापारीसे कहा कि यहाँ बाहिरसे श्री बहोरनजी जौहरी आए है वे मन्दिर बना रहे हैं । गजरथ भी होगा, जीमनवार भी होगी, उसमे शक्कर लगेगी । वहाँ ले जाओ वे खरीद लेगे । व्यापारी उनके पास गए, और शक्कर लेनेकी प्रार्थना की । यद्यपि श्री बहोरनजी तो केवल जीर्णमन्दिरको नवीन बना देना चाहते थे । नीव खुदाई थी—मन्दिर बननेमे वर्षोकी देर थी, पर जब व्यापारीकी बात सुनी तो समझा कि लोगोका यह व्यग हमारी ओर है जो शक्कर बेचनेवाले व्यापारीको जेवनार गजरथकी बात कहकर इस ओर भेजा है । चलो यह भी उत्तम सम्मति है कि इन वचनोको हम पूरा कर सके और गजरथ पञ्चकल्याणक भी कर सके । पर आज शक्करका क्या उपयोग है । भाईने कहा कि शक्कर आ ही गई है तो इसे चूनामे डलवा दो मन्दिर पक्का हो जायगा—व्यग बाणोका उत्तर यही है । भाईकी सम्मतिसे श्री बहोरनजीने वह पूरा टाँडा खरीद लिया और सब शक्कर चूनेके खाँचोमे पटकवा दी । फलत मन्दिर मजबूत बना । मन्दिरकी पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा भी गजरथ महोत्सवके साथ सम्पन्न हुई । प्रतिष्ठित जिन बिम्ब पर जो लेख उत्कीर्ण हैं उनमेसे एकका उल्लेख इस प्रकार है—

" श्री मूलसघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री चन्द्रपुरीपट्टे भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टमध्य भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्तिदेवजी तत् श्री आम्नायमध्ये परवारजाति गाहीमूर गोहिल्ल गोत्र श्री चोधरी शीतल तस्य पुत्र मरजादी तस्य भार्या मनरगदे तद्गर्भसमुद्भूतो पुत्ररत्न श्री बहोरन भाई चूरामन (चिन्तामन) चौधरीसे सिघई कहाए । देश बुन्देलखण्डमे गाँव दमोह विषे प्रतिष्ठा कराई । स० १८१४ माह सुदी १३ श्री पार्श्वनाथजी बिब ६१ मेरु पॉच श्री बहोरनजी चिन्तामन—

इस प्रकारका लेख अनेक प्रतिमाओ तथा मेरु पर हे । एक मेरुलेखमे पुत्र सुखलालकोका शाहका भी उल्लेख है तथा भाई चिन्तामनके कासीराम-वीरावदन-सहजराम इन तीन पुत्रोका उल्लेख है । श्री कोकाशाहके पुत्र श्री दयालचदजी तथा दयाचदजीके (१) देवीलाल (२) नन्हेलाल (३) मुरलीधर (४) झल्लेलाल (५) दुलारेलाल ये पाँच पुत्र हुए ।

करीब १०० वर्ष दमोहमे रहनेके बाद परिवारके उक्त पाँचो भाई दमोहसे चलकर तेवरी (जबलपुर) आ गए । सभवत भोसलोके प्रभुत्वकी समाप्ति ब्रिटिश राज्यमे हो जानेसे जवाहिरातका व्यापार भी इनका मन्द पड गया । तेवरीके आस-पासके जगलोमे हर्रा बहुत होता है उसके ठेका लेनेका काम इन्होने प्रारभ किया ।
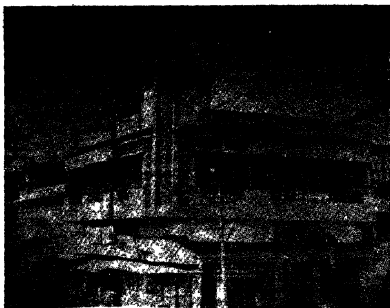
श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर कटनी
(निर्माता स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलाल तेवरी वाले)

मन्दिर की स्वर्ण जड़ित मूलवेदी
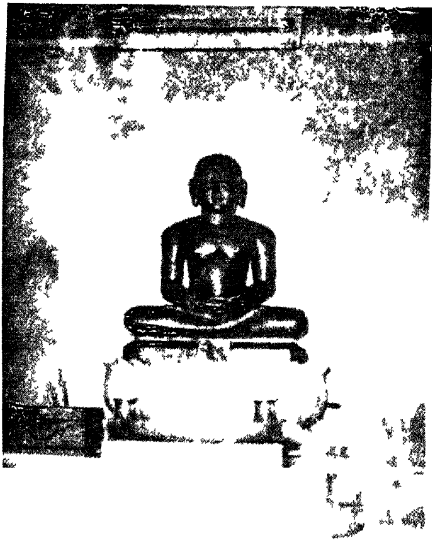
श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर कटना के सरस्वती भवन का वेदी पर
भगवान महावीर

कटनी मे सिघई परिवार द्वारा निर्मित श्री चन्द्रप्रभ जिनालय का

प्रवेश द्वार और शिखर

रत्नत्रय की प्रतिमूर्ति

(जिनकी अब स्मृति शेष रह गयी है)

प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री

प० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री

प० जगन्मोहन लालजी सिद्धान्तशास्त्री

स्व० स० सि० धन्यकुमार जी ने प्रथम बार १९७७ में इस ग्रन्थ का प्रकाशन मन्दिरजी की द्रव्य से किया था जो अब अनुकरणीय हो गया है यह ग्रन्थ निश्चय और व्यवहार के समन्वय तथा भूमिकानुसार आचार व्यवहार में घटित करके मैत्री रूप (अनेकांत रूप) में प्रस्तुत करके इन दो कड़ियों को जोड़ने का सफल प्रयास है । कलशो के माध्यम से उठाये गये प्रश्नो की शैली में समाधान सरलता से प्रस्तुत किया गया है जो आज की पीढ़ी के उठे सवालों का सम्यक उत्तर तथा सम्यक् विचारों का स्रोत सुगमता से उपलब्ध है ।

ग्रन्थ की उपादेयता इससे प्रमाणित है कि ऐसे अध्यात्मिक ग्रन्थ का यह चौथा प्रकाशन आपके सामने हैं । स्वाध्याय की रुचि बढाने मे यह हितकारी सिद्ध हुआ है ।

सुपुत्र

अमर चद्र — सुपुत्र — स०सि० प्रसन्न कुमार — धन्य कुमार
प्रमोद कुमार — प० जगन्मोहन लाल शास्त्री — स०सि० अनिल कुमार — अभय कुमार
कटनी — स०सि० शांति कुमार — जय कुमार

सर्वाहकार- कन्हैयालाल गिरधारीलाल चन्द्रप्रभ दि० जैन मंदिर, कटनी

स० १९२६ मे तेवरीमे भी जिनमदिर बनवाया तथा बिलहरी (पुष्पावती नगरी) जो कटनी से १६ कि० मी० प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है वहाँ स० १९२७ मे पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाके अवसर पर भगवान् पार्श्वनाथ तथा अन्य जिनबिंबोकी प्रतिष्ठा कराकर तेवरी जिनमदिरमे पधराई । श्री झल्लेलालजीके सुपुत्र करगेलालजी तथा उनके सुपुत्र श्री हुकुमचदका परिवार आज भी उस नगर मे हैं जो श्री मन्दिरजीकी पूजा-प्रभावना तथा सञ्चालन स्वय अपनी ओरसे करते हैं ।

श्री देवीलाल, नन्हेंलालजी, मुरलीधरजी कटनी आए, यहाँ कपडेका व्यापार प्रारंभ किया । वि० स० १९४५ मे कटनीमे एक विशाल सुन्दर जिनालय बनाया तथा माघ शुक्ल ४ को पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा व पुन गजरथ महोत्सव किया । इस प्रतिष्ठाके समय इनकी पूर्व प्राप्त सिंघई पदवीको सवाई सिंघईके रूपमे समाजने प्रदान की । कटनी स्थित श्री मूलनायक भगवान् चन्द्रप्रभकी प्रतिमाका प्रशस्ति लेख इस प्रकार है—

मूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुदकुद आचार्य आम्नाय परवारवशे गाहेमूर गोहिल्लगोत्रे सिंघई देवीलाल नन्हेलालादिभि प्रतिष्ठापितम् मुडवारा (कटनी) नाम नगरे स० १९४५ माघशुक्ल ४ प्रतिष्ठापितं शुभ भवतु मगल ददातु ।

श्री पुष्पदन्त भगवान्का प्रतिमालेख निम्न प्रकार है—

स० १९५१ माघ सुदी १० दिगम्बर आम्नाय कुदकुदाचार्य उपदेशात् सतनाया प्रतिष्ठित स० सि० कन्हैयालाल गिरधारी लाल प्रणमति कटनी । स० २०२५ मे इसी मन्दिरमे भगवान् महावीरजीको प्रतिमा पधारकर कटनीमे वेदी प्रतिष्ठा की । कपडेकी दुकान श्री मुरलीधरजीके सुपुत्र कन्हैयालाल गिरधारीलालजीके नामसे प्रारम्भ हुई ।

ये पाँच भाई थे । कन्हैयालाल, गिरधारीलाल, रतनचद, दरबारीलाल और परमानद । ज्येष्ठ भाई कन्हैयालाल सर्वमान्य थे । कटनी मे जैन विद्यालय एव छात्रावास की स्थापना मे इनका प्रमुख योगदान रहा । इनके कोई पुत्र न थे—उन्होने प० जन्मोहनलालजी को अपना मानस पुत्र मान रखा था । दरबारीलाल जी के धन्यकुमार (ज्येष्ठ) तथा रतनचन्द जी के अभयकुमार-जयकुमार दो अनुज थे । स० सि० धन्यकुमारजी ने समाज मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की तथा जयकुमार धार्मिक एव कटनी समाज के जीवनपर्यंत अध्यक्ष रहे । स० सि० अभयकुमार जी अनेक ट्रस्टो के ट्रस्टी तथा अब अस्वस्थ एव वृद्ध हैं ।

शताब्दी पूर्व इस परिवार ने कटनी स्थित मदिर मे अच्छी अचल सम्पत्ति लगाई थी जिसकी आय से मदिर की व्यवस्था तथा चारो प्रकार के दान मे व्यय होता है । विगत ७० वर्ष से कन्हैयालाल गिरधारीलाल नाम से धर्मार्थ औषधालय चल रहा है । इस मदिर की ओर से जिनवाणी के प्रकाशन-प्रचार एव प्रसार मे व्यय करना एक आदर्श कार्य है ।

परिवार की तीसरी पीढी मे स० सि० धन्य कुमारजी के चार पुत्र केशव कुमार, प्रसन्न कुमार, सुनील कुमार, सुधीर कुमार हैं । अभय कुमार जी के दो अजित कुमार एव अनिल कुमार हैं । जयकुमार जी के तीन श्रेयाश कुमार, शातिकुमार, सनतकुमार हैं ।

पूरा परिवार धर्मनिष्ट एव सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक कार्यों मे रुचि लेते हैं । परिवार द्वारा

स्थापित ट्रस्टो से चारो प्रकार के दानो की व्यवस्था उदारता पूर्वक करते है ।

आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के शिष्य १०८ मुनि समतासागर प्रमाण सागरजी के प्रेरणा से, कटनी शहर से लगी १५ एकड भूमि "दयोदय" (पशु-सेवा सरक्षण सस्थान) के लिए अर्पित की है । स्थानीय जैन पाठशाला के (स्थापित सन् १९१५) धर्मशाला विभाग के भवन मे एक विशाल हाल का निर्माण (५ लाख की लागत से) स० सि० कन्हैयालाल जी की स्मृति मे बनवाया है । आचार्यश्री १०८ विद्यासागर जी महाराज की उपस्थिति मे—कुण्डलपुर (दमोह) स्थित महावीर उदासीन आश्रम (स्थापित १९१५-सस्थापक श्री गोकुलचन्द्रजी वर्णी-जिनसे पू० गणेश प्रसाद जी वर्णी ने कुण्डलपुर क्षेत्र मे सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली थी—एव स्व० प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री (कटनी) जो सस्थापक के पुत्र थे और जिन्होने आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के ससघ सान्निध्यमे सल्लेखना पूर्वक समाधि प्राप्त की थी । के जर्जर हो जाने के कारण एक नवीन सुविधा-जनक उदासीन आश्रम के लिए भवन दस लाख रु० की लागत बनाने का सकल्प लिया है । आज भी पूर्वजो द्वारा स्थापित निम्न सस्थाए कटनी नगर मे चल रही है ।

१ कन्हैयालाल गिरधारी लाल श्री चन्द्रप्रभु दि० जैन मदिर (सन् १८८८)
२ स० सि० कन्हैयालाल रतनचन्द जैन शिक्षा ट्रस्ट (स्थापित सन् १९१५)
३ स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलाल धर्मार्थ औषधालय (स्था० १९३५)
४ स० सि० धन्यकुमार अभयकुमार शिक्षा ट्रस्ट
५ स० सि० मुरलीधर कन्हैयालाल ट्रस्ट

ऐसे उदार परिवार की हम मगलकामना करते हैं और आशा करता हूँ कि उत्साहपूर्वक पूर्वजो की कीर्ति को उज्ज्वल करते उदारता से ट्रस्टो का मदिरो का औषधालय एव पशुशाला का सचालन-सवर्धन करके धर्म एव जन सेवा करते रहे ।

श्री महावीर उदासीन आश्रम,
कुण्डलपुर
रक्षाबधन, २००३

ब्र० अमरचद जैन
(M A)
(सयोजक- सर्वाहकार)
श्री दि० जैन चन्द्रप्रभु मदिर, कटनी

प्राक्कथन

यह एक आश्चर्य की ही बात है कि प्रायः एक हजार वर्ष तक किसी भी पुराणकार या साहित्यकार ने, आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण नही किया। यद्यपि उनके ग्रन्थो मे पाई जानेवाली गाथाएँ यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थोमें, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिमें, अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिक और विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें उपलब्ध हैं। निश्चयनयकी भी चर्चा अकलकदेव और विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मिलती है। आचार्य अमृतचन्द्र तो इन सबके पश्चात् हुए हैं, पर उन्होंने ही सर्वप्रथम कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर अपनी टीकाएँ रची और एक तरहसे उपेक्षित कुन्दकुन्द, जिनशासनके सिरमौर बन गये। भगवान् महावीर और गौतम गणधरके पश्चात् उन्हीका स्मरण किया जाने लगा, तथा दिगम्बर जैन आम्नाय कुन्दकुन्दाम्नाय कही जाने लगी। प्रायः भट्टारक परम्पराके आचार्योंने भी अपनेको कुन्दकुन्दाम्नायी ही माना। उनका सघ मूलसघ कहलाया। क्या इस सबका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको देना उचित होगा ? कहावत है—"गुण न हिरानो गुणगाहक हिरानो है।" आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमे जो गुण भरा हुआ था उस गुणका ग्राहक आचार्य अमृतचन्द्रसे पहले हिराया हुआ था। यद्यपि दर्शनशास्त्र और सिद्धान्तके बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य और ग्रन्थकार हुए किन्तु अध्यात्मरसकी सरितामे अपनेको निमज्जित कर देनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र ही हुए। उन्होने ही अध्यात्म-सागरका अवगाहन करके उसमेंसे अध्यात्मतरंगिणीका प्रादुर्भाव किया।

समस्त जिनशासन अध्यात्मरूप है, उसमे जो भौतिक कर्मवादका या लोकवादका कथन है वह भी अध्यात्म प्रेरित ही है। किन्तु अध्यात्म प्रेरितमे और अध्यात्ममे अन्तर है। जैन सिद्धान्त अध्यात्मकी ओर प्रेरित अवश्य करता है किन्तु अध्यात्ममय नही है। जैसे गोम्मटसारमे भी जीवका विवेचन है। वह विवेचन ससारी जीवका है। उसमे गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीव समासके द्वारा जीवका विवेचन है। उसे पढ़कर ससारी जीवका तो परिज्ञान होता है, किन्तु शुद्ध जीवका परिज्ञान नही होता। होता भी है तो अन्तमें जाकर होता है, वह भी उतनी स्पष्टतासे नहीं होता। किन्तु अध्यात्म समुद्र समयसारमे तो उतरते ही शुद्ध आत्मा दृष्टि पथमे आये बिना नही रहता। यही दोनोंमें अन्तर है।

अध्यात्मके प्रवर्तक होते हुए भी कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रने सिद्धान्त या व्यवहारकी उपेक्षा नही की। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके अतिरिक्त प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय तथा अन्य प्राभृतोमे जैन सिद्धान्त और जैन आचारका वर्णन किया और अमृतचन्द्रने तत्त्वार्थसूत्र को लेकर तत्त्वार्थसार रचा तथा श्रावकाचारको लेकर पुरुषार्थसिद्धयुपाय रचा। किन्तु उनकी इन दोनो रचनाओंमें उनके अध्यात्मकी स्पष्ट छाप

है, जो इन विषयोंकी अन्य रचनाओंमें नही पाई जाती। पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें ही वह निश्चय और व्यवहारकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह देशनाका पात्र नही है। क्योकि जैसे जिसने सिंह नही देखा है उसे बिलावके समान सिंह होता है ऐसा कहने पर वह बिलावको ही सिंह मानने लगता है, वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है। आज प्रायः यही देखा जाता है। समयसारका पठन-पाठन प्रवर्तित न होनेसे विद्वानोकी भी दृष्टि एकागी बन गयी है। इसके साथ ही समयसारके प्रेमी पाठक भी एकमात्र निश्चयको उपादेय मानकर व्यवहारकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु अध्यात्मगुरु अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि व्यवहार और निश्चयको जानकर जो दोनोमें मध्यस्थ रहता है—एकसे राग और दूसरेसे द्वेष नहीं करता, वही उपदेशका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है। अमृतचन्द्रजीके इस निस्यन्द पर किसी विरलेकी ही दृष्टि है, अन्यथा तो आज तत्त्वज्ञोमें भी व्यवहार और निश्चयका द्वन्द छिड़ा हुआ है।

निश्चय और व्यवहारमें विरोध—समयसारमें निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा है। समयसारके आद्य भाषाटीकाकार प० जयचन्दजी ने लिखा है—व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अविद्यमान असत्य अभूतार्थको प्रकट करता है। केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान सत्य भूतार्थको प्रकट करता है। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकामें अभूतार्थका अर्थ अभूत-अर्थ और भूतार्थका अर्थ भूत-अर्थ ही किया है, किन्तु दूसरे टीकाकार जयसेनाचार्यने व्यवहारको अभूतार्थ और भूतार्थ कहा है और निश्चयनयको शुद्ध और अशुद्ध कहा है। इस तरह उन्होंने चार नय कहे हैं। सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय। किन्तु भूतार्थ अर्थात् सद्भूत व्यवहारनय और निश्चयनय एक नही हैं। व्यवहारनय भेदको विषय करता है अतः सद्भूत व्यवहारनय एक ही वस्तुमें भेद व्यवहार करता है। जैसे समयसार गाथा ७ मे कहा है कि व्यवहारनयसे ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहे जाते हैं। यहाँ व्यवहारनयसे मतलब सद्भूत व्यवहारनयसे है, तथा अभूतार्थ निश्चयनयसे मतलब अशुद्ध निश्चयनयसे है। उपाधि सहित गुण-गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चयनय है जैसे मतिज्ञान आदिको जीव कहना। अतः इन भेदोके आधार पर निश्चय और व्यवहारकी समानता देखना उचित नही है। आचार्य जयसेनने ही अपनी टीकामें कई स्थलो पर कहा है कि शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है। अतः नय दो ही हैं निश्चय और व्यवहार। इन दोनो नयोमें विरोध है। निश्चयनय जीवोको अबद्ध, अस्पृष्ट आदि देखता है और व्यवहारनय बद्ध स्पृष्ट आदि देखता है। इनमेंसे अबद्धता अस्पृष्टता आदि भूतार्थ है क्योकि जीव स्वरूपसे अबद्ध और अस्पृष्ट है। तथा बद्धता स्पृष्टता आदि अभूतार्थ है क्योकि जीवके स्वरूपमे नही है।

जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकामें भूतार्थका अर्थ सत्यार्थ और अभूतार्थका अर्थ असत्यार्थ कहा है। उन्होंने भी आचार्य अमृतचन्द्रका ही दृष्टान्त उपस्थित करते

हुए कहा है कि जैसे कोई ग्रामीण गदले जलको ही जल मानकर पीता है किन्तु विवेकी पुरुष गदले जलमे निर्मली डालकर निर्मल जल पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप भेदभावनासे शून्य मनुष्य, आत्माको मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित ही अनुभव करते हैं, अर्थात् दोनोके भेदको नही जानते। किन्तु सम्यग्दृष्टी निर्मलीके समान निश्चयनयका आश्रय करके शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं।

इस दृष्टान्तसे निश्चय और व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता स्पष्ट हो जाती है। व्यवहारनय अभूतार्थ है इसका मतलब यह नही है कि वर्तमान मे आत्माकी अशुद्ध दशा नही है। वह है, किन्तु आगन्तुक होनेसे आत्माके स्वरूपमे नही है जबकि शुद्धता आत्मस्वरूप है। अत शुद्धात्माके अनुभवनसे शुद्धात्माकी और अशुद्धात्माके अनुभवनसे अशुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। इसीसे व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होने पर भी हेय है। किन्तु वह सर्वथा ही हेय नही है, प्रारम्भिक दशामे उपयोगी भी है।

अमृत कलश

आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामे समयसारके भावको पद्यबद्ध करनेकी दृष्टि से जो पद्य रचे हैं उन्हे 'समयसार कलश' नाम किसने दिया यह तो अन्वेषणीय है, किन्तु जिसने भी दिया उसने उन्हे सर्वथा उपयुक्त नाम दिया है। सचमुचमे अमृतचन्द्रजीके वे पद्य समयसार रूपी मन्दिरके शिखर पर कलश स्वरूप ही हैं। उनपर आचार्य शुभचन्द्रने सस्कृत टीका रची और पाण्डे राजमल्लने भाषा टीका रची। उसीके आधार पर कविवर बनारसीदासने समयसार नाटक रचा और इस तरह आचार्य अमृतचन्द्रके वे पद्य एक स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमे प्रवर्तित हुए। वे पद्य इतने मनोरम और भावपूर्ण हैं कि सस्कृत भाषाका साधारण पाठक भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

मेरे मित्र तथा सहाध्यायी और सहकर्मा प० जगन्मोहनलालजीने स्वान्त.सुखाय एक भाषा टीका लिखी जो पाठकोके सामने है। इस टीकामे अन्वयार्थ और भावार्थके साथ जो प्रश्न-उत्तर दिये गये हैं उनसे इस टीकाका महत्त्व बढ गया है। उनके द्वारा पण्डितजीने आजके समयमे प्रवर्तित विवादो और चर्चाओका ही समाधान करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम उनके उन समाधानोमेसे कुछकी चर्चा करेंगे।

नयोके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए पण्डितजीने लिखा है—

"नय पक्ष दोनो है और अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनो सही है। एक नय अपने पक्षका प्रतिपादन करते हुए भी अपरनयकी सत्यताको जानता है। तथा दूसरा नय भी ऐसा ही करता है। तथापि अनेक जन एक नयको दृष्टिमे रखकर उसके विषयको सत्य तथा अपरको असत्य कहते है और विवादमे पड जाते है। मूल उद्देश्य तो नयो द्वारा उसका स्वरूप जानकर आत्माको पवित्र बनानेका है, उसे भूल जाते है और विवादमे पड जाते है यद्यपि आगममे पर्यायार्थिक नयको व्यवहारनय कहा है और उसे असत्यार्थ कहा है, सो ऐसा न समझना कि वह सर्वथा मिथ्या वस्तुको प्रतिपादन करता है अतः व्यवहारनयका प्रयोक्ता मिथ्यादृष्टि है।" यहाँ प्रश्न होता है कि फिर

उसे आगममे असत्य क्यो कहा ? उत्तर है कि उसे ही परमार्थ समझना असत्य है ।"

पण्डितजीने सत्यार्थका अर्थ निजके लिये उपादेय तथा असत्यार्थका अर्थ निजके लिये अनुपादेय किया है । इसके पूर्वमे उन्होने लिखा है—'निजकी सत्तासे सम्बन्धित अपने ज्ञायक स्वभावको ही वह सत्यार्थ और निजको सत्तासे भिन्न समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भावको असत्यार्थ मानता है क्योकि वे उसको सत्तामे अनुस्यूत नही हैं ।' जो निजकी सत्तासे अनुस्यूत है अर्थात् आत्माके साथ तादात्म्य है वह सत्यार्थ है, शेष सब असत्यार्थ है । जो सत्यार्थ है वह निश्चयनयका विषय होनेसे निश्चयनय सत्यार्थ है । और व्यवहारनय असत्यार्थ है क्योकि वह परके सयोगसे जन्य नैमित्तिक भावोको भी वस्तुका स्वभाव कहता है ।

इसपर प्रश्न और समाधान पण्डित जीने इस प्रकार किया है—

प्रश्न—जब आत्मा वर्तमानमे प्रत्यक्ष ससारी, सदेही, कर्म-नोकर्मभाव संयुक्त है तब इसे असत्य कैसे माना जाये ?

समाधान—यह असत्य नही है पर जीवकी यह पर्यायमात्र है, स्वभाव नही है संसारी दशा कर्मनिमित्त जन्य होनेसे नैमित्तिक विकारी दशा है । स्वाभाविक दशा तो इन सयोगोके दूर होने पर प्रकट होगी, अन्यत्रसे नही आयेगी ।

आगे एक प्रश्न और समाधान इस प्रकार है—

प्रश्न—शुद्धात्मामे भले ही रागादि न हो, अशुद्धात्मामे तो उनका अस्तित्व है ।

समाधान—अवश्य है और उस दृष्टिसे वह सब सत्य ही है, असत्य नही है । किन्तु जड कर्मके निमित्तसे उत्पन्न विकार आत्मस्वभाव न होनेसे आत्मद्रव्यकी गणनामे नही आता । अत शुद्धनयके द्वारा अपनी आत्माके सही शुद्ध स्वरूपमे वर्तमान दशामे पाये जानेवाले आत्मभिन्न विकारोको ओझल करके देखो । ऐसा करनेसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होगी ।'

ऊपरके समाधानमे पण्डित जीने विकारको जड कर्मके निमित्तसे उत्पन्न कहा है । यह केवल व्यावहारिक भाषा है । यथार्थमे उनका ऐसा अभिप्राय नही है क्योकि निमित्तकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रश्न—जब बिना कर्मोदयके विकार उत्पन्न नही होता तब उसका कारण तो कर्मोदय रूप परपदार्थ ही है । यदि स्वयके कारण हो तो सिद्ध भगवान्मे भी स्वयके कारण विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिए ।

समाधान—ऐसा नही है । कर्म जड पुद्गल द्रव्य है । उसकी उदय रूप अवस्था कर्ममे होती है अत· कर्ममे ही उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि पर्यायभेद बताये गये हैं । यदि कर्मका उदय जीवमे भी उदय रूप हो तो कर्मका क्षय होनेसे जीवका भी क्षय हो जायेगा । अत· सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमे अपनी-अपनी पर्याय स्वयकी, उस

समयकी योग्यतामे होती है तथापि उन पर्यायोंमे परको अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्तका अवलम्बन कर, जीव अपनेमे विकारी पर्याय उत्पन्न करता है, यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार उत्पन्न करता है यह कथन, उपचरित कथन, व्यवहारनयका कथन है।

उक्त विषममे पञ्चास्तिकाय और उसकी टीकामे जो कुछ कहा गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा—

गाथा ५८ की टीकामे अमृतचन्द्रजी लिखते हैं—

अथवा उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप चार अवस्थाएँ द्रव्य कर्मोंकी ही हैं। जीवकी अवस्था तो मात्र एक परिणामरूप ही है। इसलिए उदय आदिके द्वारा होनेवाले आत्माके भावोका निमित्तमात्र भूत उस प्रकारकी अवस्था रूपसे स्वय परिणमित होनेके कारण द्रव्य कर्म भी व्यवहारनयसे आत्माके भावोका कर्त्ता कहा जाता है।

इसपरसे आचार्य कुन्दकुन्दने ही यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया—यदि औदयिक आदि रूप जीवका भाव कर्मके द्वारा किया जाता है तो जीव उसका कर्त्ता नहीं है। किन्तु जीवका अकर्त्तापना इष्ट नही है। तब पारिशेष्यसे जीवको द्रव्य कर्मका कर्त्तापना प्राप्त होता है। किन्तु वह कैसे हो सकता है, क्योकि निश्चय नयसे आत्मा अपने भावको छोडकर अन्य कुछ भी नही करता ?

इस पूर्वपक्षके उत्तरमे सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करते हुए आचार्य कहते हैं—व्यवहारसे निमित्तमात्र होनेसे जीव भावका कर्म कर्त्ता है और कर्मका भी जीव भाव कर्त्ता है। किन्तु निश्चयसे न जीव भावोका कर्म कर्त्ता है और न कर्मका कर्त्ता जीव भाव है, किन्तु वे कर्त्ताके बिना भी नही होते अत निश्चयसे जीवके भावोका कर्त्ता जीव है, और कर्मभावका कर्त्ता कर्म है। इस तरह निश्चयसे जीव अपने भावोका कर्त्ता और पुद्गल कर्मोका अकर्त्ता है यह जिनागम है।

समयसारके कर्तृ कर्माधिकारमे इसीका विवेचन है, और मोक्षमार्गकी दृष्टिमे उसका विशेष महत्त्व है। जब जीव और अजीव स्वतन्त्र द्रव्य है तब उनका सम्बन्ध और बन्ध पर्याय कैसे होती है और वह कैसे मिटती है यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर इसी अधिकारमे है। जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ कर्म रूपमे परिणमन करती हैं और पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवके परिणाम होते है। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। फिर भी जीव और पुद्गलमे परस्परमे कर्त्ता-कर्म भाव नही है। क्योंकि न तो जीव कर्मके गुणोको करता है और न कर्म जीवके गुणोको करता है। किन्तु उन दोनोमे निमित्त नैमित्तिकपना होनेसे परिणाम होता है। दोनोमे निमित्त नैमित्तिक भाव मात्रका निषेध नही है क्योकि परस्परमे निमित्त मात्र होनेसे ही दोनोका परिणाम होता है। इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण व्यवहार नयसे जीव पुद्गल कर्मका कर्त्ता भोक्ता और पुद्गल जीव भावका कर्त्ता कहा जाता है। परमार्थमे जीव न तो पुद्गल कर्मको करता है और न पुद्गल कर्मको

भोगता है। यदि जीव पुद्गल कर्मको भी करे और भोगे तो वह दो द्रव्योकी क्रियाका कर्त्ता बन जायगा, क्योकि उसने अपने परिणामको भी किया व भोगा और पुद्गल कर्मको भी किया व भोगा। और एक द्रव्य दो द्रव्योकी क्रियाका कर्त्ता नही होता, जो ऐसा नही मानता वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता।

पण्डित जीने पृष्ठ ८० पर प्रश्नो और समाधानके रूपमे इसपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यह सब कथन किसीकी कल्पनासे प्रसूत नही है। यह तो समयसार का ही हार्द है। जो उससे अनभिज्ञ है और वस्तुस्वरूपका विचार नही करते उन्हे ही यह भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। और यह भ्रम ससारका कारण बना हुआ है। आश्चर्य यही है कि जो ससारके कारण भ्रमजालको छोडना या छुडाना चाहते हैं वे भी व्यवहारनयके भ्रमजालको ही परमार्थ मानकर उसीमे उलझे रह जाते है। व्यवहारका मोह उनसे नही छूटता।

पण्डित जीने भी लिखा है—"अबतक रागका कारण कर्मोदय और कर्मका कारण जीवका राग मानते आये है। अत उक्त कथन सामान्यतया लोगोको, जो कुछ आगमके अभ्यासी है, उनके भी मनमे नही बैठता। इसका कारण यह है कि परमे कर्तृत्व बुद्धिकी जो भूल अनादिसे चली आती है उसीके परिप्रेक्ष्यमे आगमका अभ्यास किया है। जिसके कारण, निमित्त कारणको ही मुख्य कारण मान बैठे हैं, अन्तरग कारणको, जो मुख्य है, उसे गौण कर रखा है। अथवा उसकी कारणताको लँगडा कारण समझा है, और यह समझा है कि उसका लगडापन निमित्त ही मिटाता है।

यद्यपि कार्यमे अन्तरग बहिरग दोनो कारण माने गये हैं तथापि अन्तरग कारण मुख्य कारण है और बहिरग कारणको उपचारसे कारण माना गया है। वह यथार्थ कारण नही है। परन्तु अनादिकी भूलमे जो परको ही कर्त्ता माननेका भ्रमपूर्ण ज्ञान चला आता है, उसके कारण अन्तरग कारणकी कारणता उपेक्षित हो गयी है और बाह्य निमित्त कारणमे ही कर्तृत्वकी मान्यता दृढ हो गई है। यह मान्यता आगमाभ्यास करने पर भी दूर नही हुई। आगमका अर्थ भी अपनी मान्यताके अनुसार लगा लिया जाता है।' (पृ० ९९)

पण्डित जीका उक्त कथन यथार्थ है। इसीमे प्रचलित विवाद नही मिटते।

शुभोपयोग और पुण्यबन्ध

आजकी चर्चाका एक मुख्य विषय शुभोपयोग और पुण्यबन्ध भी है। अशुभोपयोगमे पापबन्ध और शुभोपयोगमे पुण्यबन्ध होता है। वह सर्वसम्मत आगमिक सिद्धान्त है। अशुभोपयोग और पापबन्धको सब एक स्वरसे हेय ही मानते हैं। अत. उसमे भी कोई विवाद नही है। विवादका विषय है शुभोपयोग और पुण्यबन्धकी उपादेयता। अशुभोपयोग और पापबन्धकी तुलनामे शुभोपयोग और पुण्यबन्ध उपादेय है, इसमे भी कोई विवाद नही हो सकता।

व्रतोका धारण शुभोपयोग है और उसका फल स्वर्गादि है। व्रतोका धारण न करना अशुभोपयोग है और उसका फल नरकादि है। ससारमे रहते हुए यदि नरकादि

गतिमे कालयापन करना पडे तो उससे तो स्वर्गादिमे कालयापन करना श्रेष्ठ ही कहा जायगा। ग्रीष्ममे एक आदमी धूपमे और एक छायामे खडा हो, उन दोनोंमे छायामे खडे होनेवालेको श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। यतः व्रतोके धारण करनेसे पुण्यबन्ध होता है अत व्रतोका धारण करना भी हेय है यह कथन उनके लिये तो उपयुक्त हो सकता है जो अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमे सलग्न हैं। किन्तु जो अशुभोपयोगमे आसक्त हैं, या उसे नही छोड सकते हैं, उनके सम्मुख अशुभोपयोगको छोडनेपर बल न देकर, मात्र शुभोपयोगकी हेयतापर ही जोर देना उचित नहीं है। इसीसे विवाद बढ़ता है। सिद्धान्तत. यह ठीक है कि अशुभोपयोगकी तरह शुभोपयोग भी मोक्षार्थी के लिए हेय है। क्योंकि दोनो ही उपयोग अशुद्ध हैं। अन्तर इतना ही है कि अशुभोपयोगमे कषायकी तीव्रता होती है और शुभोपयोगमे कषायकी मन्दता होती है। अतः एकसे पापबन्ध होता है तो दूसरेसे पुण्यबन्ध होता है। किन्तु बन्धका निरोध हुए बिना मोक्ष नही होता और बन्धका निरोध कर्म सन्यासके बिना नही होता। इसीसे कलशमे कहा है—

'संन्यस्तव्यमिव समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।'

अर्थात् मोक्षार्थीको समस्त शुभाशुभ कर्म त्याग देना चाहिये। जहाँ समस्त कर्मोंके त्यागकी बात कही गई हो वहाँ पुण्य और पापके भेदकी कथाको स्थान कहाँ ?

इसपरसे यह शका उठाई गई है, जो प्राय. उठाई जाती है, कि मिथ्यादृष्टि की शुभाशुभ क्रियाएँ बन्धका कारण भले हो, किन्तु सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ तो मोक्षका कारण है। सभी मोक्षार्थी साधु षष्ठादि गुणस्थानोमे सकल सयम रूप चारित्रको धारण करते हैं। यदि सयमको बन्धका कारण कहेगे, तो लोग सयमके मार्गको छोड असयमी हो जायेंगे।

इसका समाधान करते हुए पण्डित जीने लिखा है —जब सम्यग्दृष्टि की शुभ-क्रियाएँ भी बन्ध का कारण है तब सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओको छोडकर असयमी बन जाये यह कभी भी सभव नही है। जो तत्त्वज्ञानकी चर्चा तथा स्वाध्याय करनेवाले उक्त उपदेशको पाकर सयम छोड असयमी बनते हैं वे सम्यग्दृष्टि नही हैं। सम्यग्दृष्टि वस्तुको यथार्थ रूपसे जानता है। उसे सम्यग्ज्ञान है अतः वह तो असयमको छोड़ सयमी ही बनेगा, फिर शुभभाव रूप सराग सयमको भी छोड वीतरागी निश्चय-चारित्री बनेगा। असयमी नही बनेगा। आगे प० जीने इसे और भी विस्तार से स्पष्ट किया है। अन्तमे लिखा है—'उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि एकान्तत बाह्य चारित्र मात्रसे मोक्ष नही होता। किन्तु जो अशुभ परिणतिको छोड़ शुभ परिणति रूप आचरणके द्वारा स्वरूप साधनका प्रयत्न करते हैं वे जीव शुभाशुभ कर्मसे ऊपर उठकर स्वय शुद्धोपयोग रूप परिणतिमे लीन होते हैं वे अप्रमादी ही मुक्तिको प्राप्त करते है।

क्या शुभोपयोगको परम्परासे मोक्षका कारण कहा जा सकता है ? इसके उत्तरमे जयसेनाचार्यने गाथा १४६ की अपनी टीका मे कहा है—'जो भोगाकाक्षासे व्रत, तप, दान पूजादि करता है वह भस्मके लिये रत्नराशिका दाह करता है। उसका व्रतादि व्यर्थ है। किन्तु जो शुद्धात्म भावना की साधनाके लिये बहिरङ्ग व्रत, तप, दान, पूजादि करता है वह परम्परासे मोक्षको प्राप्त करता है।'

व्यवहारके पक्षपाती उक्त कथनके उत्तरार्ध पर तो जोर देते है किन्तु पूर्वार्धको भुला देते है।

व्रतादि क्या संवरके भी कारण होते हैं ? तत्त्वार्थ सूत्रके सातवे अध्यायमे शुभास्रवका वर्णन है और उमके प्रथम सूत्रमे हिंसादि पापोके त्यागको व्रत कहा है। इस परसे सर्वार्थसिद्धि टीकामे पूज्यपाद स्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि व्रतको आस्रवका हेतु कहना ठीक नही है इसका अन्तर्भाव तो सवरके कारणोमे किया गया है। आगे नौवे अध्यायमे सवरके हेतु कहेगे। उनमे से दस धर्मोंमे से सयमधर्ममे व्रतोका अन्तर्भाव होता है। इसके उत्तरमे स्वय पूज्यपाद स्वामीने कहा है कि सवर का लक्षण तो निवृत्ति है, किन्तु व्रत तो प्रवृत्ति रूप है। हिंसा, झूठ, चोरा आदिको त्यागकर अहिंसा, सत्यवचन, दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। दूसरे व्रतोका अभ्यासी साधु सुखपूर्वक सवर करता है इसलिये व्रतका पृथक् उपदेश किया है।'

अत सिद्धान्तके अनुसार भी व्रताचरण शुभास्रवका कारण है इसीमे पूज्यपाद स्वामीने अपने समाधि तन्त्रमे कहा है—

'अव्रतोसे पाप और व्रतोमे पुण्यका आस्रव होता है और दोनोके विनाशसे मोक्ष होता है। इसलिये मोक्षार्थीको अव्रतोकी तरह व्रतोका भी छोड देना चाहिये।'

जब मोक्षार्थीके लिये व्रत भी त्याज्य है तब व्रतोमे होनेवाला पुण्यबन्ध कैसे उपादेय हो सकता है। पापबन्धकी दृष्टिसे ही पुण्यबन्ध उपादेय कहा जा सकता है किन्तु मोक्षके लिये तो दोनो हो अनुपादेय या हेय है। तत्त्वार्थसारमे अमृतचन्द्रजीने कहा है 'हेतु और कार्यमे भेद होनेसे पुण्य और पापमे भेद है।' पुण्यका हेतु शुभ भाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है। किन्तु दोनो ही समारके कारण है अत दोनोमे निश्चयनयसे कोई भेद नही है।

अमृतचन्द्रजीने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमे भी इम विषयकी चर्चा की है। वह लिखते हैं—

'असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय. ॥'

अर्थात् 'एकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कमबन्ध होता है वह अवश्य ही रत्नत्रयके विपक्षी रागादिकृत है।'

यह अर्थ श्लोकके तीन चरणोका है और इसमे कोई विवाद नही है। किन्तु

आजके विद्वान् चतुर्थचरणको भी इन तीनोके साथ मिलाकर अर्थ करते हैं कि वह पुण्यबन्ध (कर्मबन्ध) अवश्य ही मोक्षका उपाय है। बन्धका उपाय नही है। किन्तु चतुर्थ चरण पृथक् है। एक देश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत क्यो है ? रत्नत्रयकृत क्यो नही है ? इसका उत्तर ग्रन्थकारने चतुर्थ चरणसे दिया है। वह कहते हैं कि जो मोक्षका उपाय है वह बन्धका उपाय नही है। आगेके श्लोकोमे वह अपने इस कथनका समर्थन करते हुए कहते है कि जितने अंशमे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उतने अशसे बन्ध नही है। जितने अशमे रागादि है उतने अशमे बन्ध है। योगमे प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध होते है। कषायसे स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध होते हैं। रत्नत्रय तो न योगरूप है, न कषायरूप है, तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है। एकदेश रत्नत्रयके रहते हुए जो पुण्यास्रव होता है वह तो उनके साथ रहनेवाले शुभोपयोगका अपराध है।

इस सब कथनके प्रकाशमे उक्त श्लोकके अर्थको देखना चाहिये। विपक्षकृत कर्मबन्धको मोक्षका उपाय कहनेसे तो उसके बादका सब कथन असंगत हो जाता है।

आज व्यवहार, निमित्त, शुभोपयोग और पुण्यके पक्षपाती आगमके अर्थमे कैसा विपर्यास कर रहे है इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सिद्धान्त हो या अध्यात्म, दोनोमे दृष्टि भेद होनेपर भी मौलिक भेद नही है। दोनो ही एक मोक्षमार्गको कहते हैं। सिद्धान्त और अध्यात्मके मोक्षमार्ग भिन्न-भिन्न नही हैं। एकका काम व्यवहार प्रधान है तो दूसरेका निश्चय प्रधान है। अमृतचन्द्रजीने लिखा है—व्यवहार भी परमार्थ मात्रका ही प्रतिपादन करता है, उसके अतिरिक्त किंचित् भी नही कहता। फिर भी वह प्रतिषेध्य है—हेय है। क्यो है ? इसके समाधानमे जयसेनाचार्य कहते है—

'जो निश्चय मोक्षमार्गमे स्थित हैं उनका नियम से मोक्ष होता है। किन्तु व्यवहार मोक्षमार्गमे जो स्थित है उनका मोक्ष होता भी है और नही भी होता। यदि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोका उपशमादि होनेसे शुद्धात्माको उपादेय मानकर वर्तता है तो मोक्ष होता है अन्यथा नही होता। जो पूर्वोक्त शुद्धात्म स्वरूपको उपादेय नही मानता उसके सात प्रकृतियोका उपशमादि नही होता।

अत' व्यक्तिगत विरोधके कारण सिद्धान्तका घात करना उचित नही है। इससे तो धर्मकी रक्षा न होकर धर्मका विनाश ही होता है।

पण्डित जगन्मोहनलालजी आजके विद्वानोमे एक ऐसे विद्वान् हैं जो निश्चय और व्यवहारका सन्तुलन जीवनमे और व्यवहारमे रखते हैं। वे कोरे शास्त्रज्ञ नही है और न व्यक्तिगत राग-द्वेष के वशीभूत हो शास्त्रोके अर्थमे अनर्थ करते हैं। इसके साथ ही वे सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक है और निष्ठा के साथ हो अपने आचारका पालन करते है। उन्हे केवल इह लोककी हो चिन्ता नही है परलोक की भी चिन्ता है। उनका सयमी जीवन इसका प्रमाण है। वे कुशल वक्ता और निस्पृही विद्वान्

हैं। उनके द्वारा समयसार कलशो पर रचित यह टीका अवश्य ही आजके द्वन्द्वमे पड़े हुए स्वाध्याय प्रेमो जिज्ञासुओको उस द्वन्द्वसे निकाल कर स्वात्मबोध करानेमे सहायक होगी।

उनकी इस टीकाका प्रकाशन कटनीके श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिरकी ओरसे हो रहा है। मन्दिरोके द्रव्यका सदुपयोग यदि जिनवाणीके प्रकाशन और प्रचारमे किया जाये तो वह शास्त्रानुकूल और समयानुकूल है इसके लिये उक्त मन्दिरके निर्माताओंके उत्तराधिकारी स० सि० धन्यकुमारजी, अभयकुमारजी, जयकुमारजी और उनका समस्त परिवार धन्यवादका पात्र है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जिनशासन

जिनागम बारह अगोमे विभक्त है। उसे ही आरातीय आचार्योंने चार अनुयोगद्वारोमे सकलित कर समग्र जिनागमको मूर्त रूप दिया है। वे चार अनुयोग-द्वार है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोगमे चौबीस तीर्थङ्करो आदि पुण्य पुरुषोके चरित्र-चित्रणके साथ आनुषगिकरूपसे विविध विषयोका सकलन हुआ है। करणानुयोग मुख्य रूपसे कर्मके बन्ध, उदय, उपशम आदिको माध्यम बनाकर ससारी जीवोकी विविधविध अवस्थाओके साथ, मुक्त जीवो और उनके त्रैकालिक तथा वर्तमान निवासस्थानो आदिको स्पष्ट करता है। चरणानुयोग स्वभाव सन्मुख हुए जीवोके पराश्रित भावो तथा तत्पूर्वक मन, वचन और कायकी विविध अवस्थाओका प्रमुखतासे ख्यापन करता है। द्रव्यानुयोग छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और जीवादि नो पदार्थोंके ख्यापनके साथ अपने मूल त्रैकालिक स्वभावको हृदयगम कर उसमे उपयुक्त होकर ससारी जीवोके स्वात्म-स्थित होनेपर किस विधिसे बन्धस्वरूप मोह, राग और द्वेष आदिरूप भावससार पर्यायका अभाव होकर, परमार्थस्वरूप मुक्त अवस्था प्राप्त होती है, इसका निर्देश करता है। चार अनुयोगद्वारोका यह सक्षिप्त स्वरूप निर्देश है।

इन अनुयोगद्वारोमे प्रमुखतासे सब विषयोको निक्षेप विधिमे बाँधकर नयदृष्टि-से विवेचन किया जाता रहा है। यह पुरानी परिपाटी है। षट्खडागम और कषाय-प्राभृतका विवेचन इस दृष्टिसे तो हुआ ही है, आचार्य श्री कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे भी हमे इस परिपाटीके दर्शन होते हैं। यद्यपि उत्तरकालीन जिनागम इसी दृष्टिसे लिखा गया है, पर ग्रन्थ रचनाके प्रारम्भमे उसका स्पष्ट उल्लेख न किये जानेसे वाचकोको दृष्टिमे उलझन पैदा होती रहती है। इस परिपाटीमे यह सर्वप्रथम स्पष्ट कर दिया जाता था कि प्रकृतमे विषय विवेचन किस निक्षेपके अन्तर्गत, किस नयसे किया जा रहा है। इससे स्वाध्याय करनेवाले नय और निक्षेप विधिको समझकर ही उसका स्वाध्याय करते थे।

नय और प्रमाण, जाननेके प्रकार हैं। उनमे भी यथावस्थित विषयको समग्र-भावसे जानना प्रमाण ज्ञान है। एकदेशरूपसे विषयको जानना नयज्ञान है। नयज्ञान सब प्रकारकी बाह्य-आभ्यन्तर प्रवृत्तिका मूल आधार भी है। जैसे शरीरके नीरोग होनेपर कोई कहता है कि मैं नीरोग हूँ। यहाँ अस्तित्व सादृश्य सामान्यकी अपेक्षा, शरीर और जीवमे एकत्व स्थापित कर, नयदृष्टिसे यह कहा गया है कि मैं नीरोग हूँ। अथवा यह कहना कि मैं रागी नही हूँ। यहाँ पर अपने त्रैकालिक मूल स्वभाव-

को लक्ष्यमे लेनेपर, नयदृष्टिसे यह स्वीकार किया गया है कि मै रागी नही हूँ, उससे अत्यन्त भिन्न हूँ। श्री समयसार परमागममे नैगमादि सात नयोके स्थान पर निश्चयनय और व्यवहारनयकी अपेक्षा इसी दृष्टिमे प्ररूपणा की गई है। यहाँ पर हम अपेक्षा भेदसे इन दोनो नयोके कितने भेद-प्रभेद हो सकते है, इसका विस्तृत ऊहापोह नही करेंगे। प्रकृतमे उनकी प्ररूपणा करना प्रयोजनीय भी नही है। यहाँ तो मात्र व्यवहारनयको गौण करनेपर ही निश्चयनयकी मुख्यतासे जीवनमे मोक्षमार्ग-की प्रसिद्धि होती है, यह दिखलाना मुख्य है।

जैनदर्शन एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा अत्यन्ताभाव स्वीकार कर, समस्त जड-चेतन द्रव्योकी अस्खलित स्वतन्त्रता स्वीकार करता है। जिसे पुद्गल-पुद्गलोकी तथा जीव पुद्गलोकी बन्ध अवस्था कहा जाता है, उसमे भी उसका लोप नही होता। वस्तुका वस्तुत्व क्या है इसका ख्यापन करते हुए जिनागम कहता है कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूपको ग्रहण कर रहना, और अपनेमे अन्यको प्रविष्ट न होने देना यही वस्तुका वस्तुत्व है। मोक्षमार्गीको इस तथ्यको समझकर ही निश्चयनयको मुख्य कर मोक्षमार्गपर आरूढ होनेका उपक्रम करनेका विधान किया गया है। पराश्रित जीवन अनादि कालसे चला आ रहा है। उसका पक्ष लेनेसे स्वात्मलाभ होना सम्भव नही है।

एक पुद्गल दूसरे पुद्गलसे श्लेषबन्धको क्यो प्राप्त होता है, इसकी हम यहाँ चर्चा नही करेंगे। यहाँ तो जीवकी अपेक्षा विचार करना है। उपयोग स्वभाववाला यह जीव परसे भिन्न अपने सहज स्वभावको भूलकर, तथा परमे एकत्व बुद्धि करके, अपने योग और राग-द्वेषरूप परिणतिके कारण परमे एक क्षेत्रावगाहरूप बन्धको प्राप्त होकर, स्वय बन्धरूप रागादि अवस्थाको अपने स्वरूपपनेसे अनुभवता आ रहा है। यदि उसे इस रागादिरूप अवस्थासे मुक्त होकर अपने अकेलेपन स्वरूप स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करना है, तो विवेकपूर्ण दृष्टिके साथ उसकी स्वसहाय स्वयकी प्रवृत्ति क्या होनी चाहिये, इसका मुख्य रूपसे विवेचन द्रव्यानुयोगके प्रमुख ग्रन्थ श्री समयसारमे किया गया है। समयसार उसका प्रमुख ग्रन्थ है, इसलिये उसका व्याख्यान और मनन इसी दृष्टिसे किया जाना आवश्यक है। यह एकान्त नही है, किन्तु इस प्रयोजनको ध्यानमे रखकर सम्यक नयका स्वीकार है, क्योकि समग्र मोक्षमार्ग नयदृष्टिका फलित रूप है। चरणानुयोगके अनुसार की गई जिस प्रवृत्तिको व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं वह भी तो नयदृष्टि पर ही आधारित है। दोनोकी प्राप्ति युगपत् होती है यह परमागमका कथन अवश्य है। इसमे भी जो निश्चय मोक्षमार्ग पर आरूढ है उसीके व्यवहार मोक्षमार्ग होता है, यह भी परमागम स्वीकार करता है। फिर भी एक स्वाश्रय परिणति है और दूसरी पराश्रयरूप, इसलिये इनकी प्रवृत्तिमे क्रम बन जाता है। जब अपने उपयोग स्वभावके द्वारा आत्मा स्वमे लीनता करता है तभी स्वाश्रय मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि होती है। जब यह आत्मा देवादिकी भक्ति तथा व्रताचरणकी ओर मुडता है तब पराश्रय परिणति होती है। उस अवस्था

मे भी वह 'स्व' को भूलता नही, इसलिये अबुद्धि पूर्वक स्वाश्रय पर्यायकी उपस्थिति बनी रहती है और दशवें गुणस्थान तक पराश्रय परिणतिके बीजरूप रागकी भी सत्ता बनी रहती है। इसीलिये आगमम व्यवहारनयको पराश्रित और निश्चयनयको स्वाश्रित कहकर पराश्रय परिणति और उसके बीजरूप प्रशस्त रागको भी हेय कहा है।

यत पराश्रित परिणति, यथासम्भव निश्चय मोक्षमार्गकी सहचर होकर भी, वह जीवको स्वाश्रय पर्यायके उत्पन्न करनेमे स्वरूपमे असमर्थ है, इसलिये इस दृष्टिसे व्यवहारनयके विषयको अभूतार्थ कहकर, उसके निषेधपूर्वक स्वाश्रितपनेको बतलानेवाले निश्चयनयके विषयको ही भूताथ कहा गया है। प्रकृतमे भूत-अर्थ क्या है इसका विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही भूतार्थ है। मोक्षप्राप्तिके इच्छुकके लिये ध्येयकी दृष्टिमे यही भूताथ है, क्योकि देवादि पर है, उनको ध्येय बनानेमे स्वभावभूत आत्माकी प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिये वे यह भी कहते है कि जो उक्त आत्मानुभव रूप अनुभूति है वही शुद्धनय है। विषय-विषयीके अभेदसे वह आत्मा ही है और कर्ता-कर्मम अभेद होनेसे वही सम्यग्दशन है। विचार कर देखा जाय तो वही सम्यग्ज्ञान और वही सम्यक्चारित्र है। प्रयोजनकी दृष्टिसे वही जिनशासन है, क्योकि कोई भी जीव उक्तस्वरूप आत्मामे तन्मयता प्राप्त करके ही क्रमश पूर्णरूपसे परमार्थका भागी होता ह। इस दृष्टिसे अन्य सब बाह्य क्रिया अकिंचित्कर है। जो उसका पक्ष लेता है वह उक्त अवस्थाका भागी नही होता यह उक्त कथनका तात्पर्य है। उसका होना और बात है और उसका पक्ष लेना और बात है। सविकल्प अवस्थामे वह होता अवश्य है, परन्तु ज्ञानी जीव उसके होनेको अपने पुरुषार्थकी कमी ही मानता है, इसलिये उसका पक्ष ग्रहण नही करता।

जहाँ व्यवहारनयके समान निश्चयनयके पक्षको छोडनेकी बात कही गई है वहाँ दोनो प्रकारके विकल्पोके छोडनेका ही विधान किया गया है, क्योकि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ ऐसा विकल्प करनेवाला भी पक्षपाती है। पक्षातीत होना चाहिए इसका अथ यह है कि जब मे शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ ऐसा विकल्प छूटकर यह जीव स्वरूपगुप्त होता है तभी पक्षातीत कहलाता है। पक्षातीत कहो, शुद्धनय कहो, या मध्यस्थ कहो, इन तीनोका एक ही अर्थ है। अतएव मोक्षमार्गमे करणीय तो केवल स्वरूपस्थिति ही है, अन्य हेय ह ऐसा समझना चाहिये। फिर भी पहले शुभाचारका विकल्प छूटता है। उसके बाद मे शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, यह विकल्प छूटकर यह जीव निर्विकल्प हो जाता है। स्वभावप्राप्तिका एकमात्र यही मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

आचाय कुन्दकुन्दने समयसारमे जो निश्चय मोक्षमार्गकी प्ररूपणा की है उसे ही आचार्य अमृतचन्द्र देवने आत्मख्याति टीकामे स्पष्ट किया है, तथा साररूपमे उसपर कलशकाव्य लिखा है। इसीकी विस्तृत टीका श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने लिखी है। टीकाको सरस बनानेके लिए उन्होने इसमे अनेक उपयोगी

उदाहरण देकर शका-समाधानकी भी योजना की है। पण्डित जी सहृदय और सरस वक्ता हैं। उनका यह गुण इस टीकामे भी दृष्टिगोचर होता है। वे युवाकालसे ही व्रती श्रावकपदको अलकृत कर रहे हैं। अब तो वे सातवी प्रतिमाके व्रतोका निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। यद्यपि समयसार-कलश, स्वाश्रित अध्यात्म जीवनका स्पष्टीकरण करता है, उसमे पराश्रित मार्गका हेयरूपमे ही ख्यापन हुआ है। इसलिये निश्चयनयकी अपेक्षा प्ररूपणा करते समय व्यवहारका निषेध ही किया जाता है। यह जानते हुए भी पण्डितजीने अपनी यह टीका अध्यात्मके साथ सविकल्प अवस्थामे उसके सहचर सम्बन्धवश निमित्त रूपसे कैसा व्यवहार होता है यह बतलानेके लिए लिखी है। पाठकजन इसी दृष्टिसे इसका स्वाध्याय करें यह उनकी अपेक्षा है।

—फूलचन्द्र शास्त्री

ॐ नम सिद्धेभ्य

एक दिशा-बोध

"अध्यात्म अमृतकलश" की तीसरी आवृत्ति जैन ससारके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए परम प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। मुझे ऐसी आशा नही थी कि इस अध्यात्म ग्रन्थ का इतना समादर होगा और यह द्वितीय सस्करण समाप्त हो जावेगा। स्वाध्याय-प्रेमी जिज्ञासु बन्धुओकी चारो ओरसे माँग आनेके कारण और उसमे निरन्तर वृद्धि होनेसे दूसरा सस्करण शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रोत्साहन मिला है।

अध्येता बन्धुओको यह जानकर हर्ष होगा कि इस नवीन सस्करणमे यथोचित् सशोधन व परिवर्द्धन किया गया है। जो कुछ नये प्रश्न उठे उनका भी इसमे समाधान है। आशा है तत्त्वके जिज्ञासुओको इसके स्वाध्यायसे आत्मसन्तोष ही नही किन्तु वस्तु विश्लेषणकी विशेषतासे मनमे उठते हुए प्रश्नोका भी उसमे उन्हे उचित समाधान प्राप्त होगा।

मेरे अन्तरङ्गमे सदामे ही एक भावना उठती रही है कि जैन वाङ्मयका उद्धार कार्य अपने जिनमन्दिरोके द्रव्यके माध्यमसे क्यो न प्रारम्भ किया जावे। जिन-मन्दिरोके आवश्यकतामे अधिक द्रव्यको, सम्पत्तिके रूपमे रखनेकी अपेक्षा उसका विनियोजन जिनवाणीके उद्धार, प्रकाश व प्रचारमे करना उचित है।

सासारिक जीवनमे देव-शास्त्र-गुरु तीनोकी, पूजा, अर्चना, वन्दना जैनगृहस्थका प्राथमिक कर्त्तव्य है। किन्तु आजकल जिन-मन्दिरोमे केवल देवदर्शन पूजन व अभिषेक तक ही कर्त्तव्य सीमित हो गया है। जिन-प्रणीत शास्त्रोके स्वाध्याय, अध्ययन, अनुशीलनके प्रति उदासीनताके स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसका परिणाम यह है कि हमारे प्राचीन जैनग्रन्थ बहुल मात्रामे शास्त्रभण्डारो मन्दिरोमे अभी भी अप्रकाशित अवस्थामे जीर्ण-शीर्ण हो रहे है। इस उपेक्षाका परिणाम चिन्ताजनक है। इनमे बहुत महत्वपूर्ण शास्त्र तो विदेशोमे चले गये और जा बचे है, उनकी साज सम्हाल न होनेसे भारतमें ही नष्ट हो रहे है। यदि जिनवाणी सुरक्षित रहेगी तो जैन-सस्कृति भी सुरक्षित रहेगी। अन्यथा कालचक्रके प्रवाहमे वह भी विनष्ट हो जावेगी।

यद्यपि अष्टकर्म रहित सिद्ध परमात्मा सर्वोत्कृष्ट पद पर अवस्थित हैं तथापि णमोकारमत्रमे केवल चार घातिया कर्मोका नाश करनेवाले अरहत परमेष्ठीका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है— इसका कारण यह माना गया है कि हम ससारी प्राणियोको उन्हीसे धर्मका उपदेश प्राप्त होता है। इस कृतज्ञतावश उनका नाम पहले स्मरण करनेमे कोई बाधा नही मानी जाती, प्रत्युत उसे समुचित ही माना गया है। इसी प्रकार अरहंतादिक देवोका स्वरूप तथा गुरुका स्वरूप, आत्महितकी सम्पूर्ण प्रक्रियासे, हमे जिनवाणीके द्वारा ही प्राप्त होती है। ऐसा स्थितिमे हमे जिनवाणीका अधिक-से-अधिक समादर करना चाहिये। किन्तु वर्तमान स्थितिमे हम देव और गुरुको तो

आदर देते है—किन्तु जिनवाणीका आदर व स्थान हमारी दृष्टिमे गौण हो गया है।

आत्मधर्म ही ससारी प्राणीके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करता है। जहाँ हमारा कर्त्तव्य अपने जिनमन्दिरोकी रक्षाका है वहाँ अपने जिनप्रणीत ग्रन्थोकी सुरक्षा भी हमारा दायित्व है। जैनआगमको जिनेन्द्रदेवकी तथा जिनमन्दिरकी समानताकी कोटिमे ही लेना चाहिए। जिनवाणी ही हमारी धर्म व सस्कृतिकी रक्षाकी नीवके पाषाण है। इसे भी हमारे जीवनमे प्राथमिकता मिलना चाहिए।

वर्तमानमे हमारी दृष्टि जिनमन्दिरके द्रव्याको केवलमन्दिरके निर्माण, टाइल व कॉच जडवाने, मन्दिरकी आयके साधन बढानेके लिये दूकानो, फ्लेटो या भवन बनाने तक ही प्रतिबद्ध हो गई है। पर यह हमारी मूलमे भूल है। जिनवाणीकी रक्षाका भी उतना ही महत्व है जितना कि जिनमन्दिरका। मात्र ईंट, चूना, पत्थरमे जिनालयोकी द्रव्य व्यय करना हमारा लक्ष्य नही होना चाहिये। बल्कि हमे अपने दृष्टिकोणमे परिवर्तनकर जिनवाणीके उद्धारकी दिशामे भी मनन, चिन्तन करना चाहिये।

इस दृष्टिको अपनाकर मैंने अपने पूर्वजो द्वारा निर्मापित श्री चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिरकी ओरसे पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य प्रणीत कलशो तथा उस पर श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीकी टीकाको, जिसमे वर्तमानमे उठ रहे प्रश्नोके आगम सम्मत, विधिविहित समाधान है, उस "अध्यात्म-अमृत-कलश" नामक ग्रन्थका प्रकाशन किया है। इसमे अधिक-से-अधिक बन्धु लाभ ले सकेंगे तथा इस ग्रन्थके पठन-पाठनसे आत्मार्थियोको आगम सम्मत यथार्थ दिशाबोध होगा ऐसी मुझे आशा है।

इसी शृंखलामे वर्तमान युगके मान्य आचार्य श्री १०८ कुन्थुसागरजी द्वारा सस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ "श्रावक धर्म प्रदीप" का द्वितीय सस्करण जो उक्त पडितजीकी सस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित है, प्रकाशित हो गया है। इसका प्रकाशन श्री वर्णी शोध सस्थान द्वारा हुआ है। यह ग्रन्थ भी हमारे मन्दिरसे भी पाठकोको प्राप्त हो सकेगा।

आशा है हमारे जैनमन्दिरोके ट्रष्टीगण, प्रबन्धक व जनसमाजके बन्धुगण, मेरी इस योजनाको अपना कर जिनवाणीके उद्धारमे महत्त्वपूर्ण योगदानकर जैनधर्मकी महती सेवा करेंगे। तभी हम "देव-शास्त्र-गुरु"की समान रूपमे पूजा, उपासना, अर्चनाके सही अधिकारी होगे। वर्तमानमे ससारी प्राणीके स्व-पर कल्याणका यही मार्ग उपादेय है। इस ग्रन्थका तृतीय सस्करण पाठकोके सामने रखते हुए हम प्रसन्नता होती है। इसके प्रकाशनमे हमे स० सि० मुरलीधर कन्हैयालाल जैन ट्रस्ट कटनी से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अत. हम उसके आभारी हैं।

"जैन जयतु शासनम्"

महावीर कीर्तिस्तम्भ,
नेहरू पार्क,
कटनी (म० प्र०)

विनयावनत–
धन्यकुमार जैन

प्रस्तावना

अध्यात्मग्रन्थोमे पूज्य आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थ सर्वोपरि माने जाते हैं। समयसार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे "एकत्व-विभक्त" अर्थात् परसे सर्वथा भिन्न—अपने निजके गुणपर्याय समवेत-एकत्वको प्राप्त—सुविशुद्ध आत्माकी ही कथा वर्णित है। इसे ही "स्वसमय" के नाममे कहा गया है। आत्माके परिशुद्ध स्वरूपको केन्द्र बनाकर ही सम्पूर्ण वर्णन ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है—इसी एक वार्ताका ही विस्तार है।

आचार्य कुन्दकुन्दके श्री समयसार-नियमसार-पञ्चास्तिकाय-प्रवचनसार, अष्ट-पाहुड आदि सभी ग्रन्थ इस मूल उद्देश्यकी ही पूर्ति करते है। आचार्यश्री इस युगमे भगवान् महावीर तीर्थङ्करके बादकी आचार्य परम्परामे अपने समयके महनीय आचार्य हुए है जिनकी ज्ञानगरिमाको बादके समस्त आचार्योंने मान्यता दी है।

श्री समयसारजी पर पूज्य आचार्य अमृतचन्द्रजीने सस्कृत भाषामे प्रौढ रचना की है, तथा टीकाके फलितार्थ स्वरूप अनेक छन्दोमे उसका नवनीत निकाल कर रख दिया है। इन छन्दोकी प्रसिद्धि भी अमृत कलशोके रूपमे अध्यात्मके अध्येताओमे है। प्रकारान्तरसे कहा जाय तो अमृतचन्द्राचार्यकी टीका यदि अध्यात्मरसका सागर है तो छन्द उस रसामृतके कलश (घट) है।

एक जैनेतर कथाके अनुसार सुर-असुरोने मेरुपर्वतको मथानी बनाकर शेषनागकी रस्सी बनाकर समुद्रके मन्थनमे १४ रत्न उपलब्ध किये थे, जिनमे 'अमृत' भी एक था। पर आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्वाद नयोके द्वारा सञ्चालित प्रमाण ज्ञानसे श्रुतसागरका मन्थन-कर जो अध्यात्म रूपी अमृत प्राप्त किया है, उसे टीकाके साथ निबद्ध छन्दोमे भर दिया है इसीसे इनका "अध्यात्म-अमृत-कलश" नाम सार्थक है।

इस अध्यात्म अमृतकलशमे २७८ छन्द है। इसमे अनुष्टुप्, मालिनी, शार्दूल-विक्रीडित, उपजाति, बसन्ततिलका, पृथ्वी, आर्या, स्वगता, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, नर्दटक, वशस्थ, वियोगिनी आदि वृत्तोका उपयोग आचार्यश्रीने किया है। इन कलशोके छन्दोमे न्याय-व्याकरण-साहित्यकी अनुपम विद्वत्ताको छटा यत्र तत्र सर्वत्र दिखाई देती है।

अमृतचन्द्राचार्यके अन्य ग्रन्थ भी है। इनमे लघुतत्त्वस्फोट ग्रन्थ २५-२५ श्लोको के २५ अध्यायोमे निबद्ध है जो अब प्रकाशित हो चुका है। जिस प्रकार इस अमृत कलशमे आचार्यने अध्यात्मको ही रत्नत्रय स्वरूपता प्रदान की है इसी प्रकार उक्त ग्रन्थमे व्यव-हार चारित्रके परिपालनपर भी उतना ही जोर दिया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तो

श्रावकाचारका एक अनुपम ग्रन्थ आचार्य श्रीका है। तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रार्थको अनुबद्ध करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कृत ग्रन्थ है।

पञ्चाध्यायी ग्रन्थमे ग्रन्थकर्त्ताके नामका उल्लेख नही है। यह श्री राजमल्लजीकी कृति मानी जा रही है। परन्तु हिन्दी टीकाकार स्व० प० मक्खनलालजीने इसे भी अमृतचन्द्राचार्यकृत माना है। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र भी आचार्य कुन्दकुन्द गूढ रहस्योके खोलनेवाले उनकी कोटिके ही आचार्य हैं ऐसा उनकी कृतियोसे सिद्ध है।

अमृतकलशोकी श्री राजमल्लजीकृत हिन्दी टीका जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढसे सन् १९६४ और १९६६ मे दो बार प्रकाशित हो चुकी है। इस टीकाको आधुनिक हिन्दी रूप देनेका कार्य श्रीमान् सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचन्द्रजी वाराणसीने किया है। समयसारके भाषा टीकाकार प० जयचन्दजो छावडाने भी अपनी टीकाके साथ कलशोकी टीकाकी है। पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णीने भी अपने समयसार प्रवचनमे इन कलशोकी भी टीका लिखी है। पूज्य शुभचन्द्राचार्य कृत अध्यात्म तरङ्गिणी भी इन कलशोकी ही सागोपाङ्ग सस्कृत टीका है।

मुझे अध्यात्म ग्रन्थोके स्वाध्यायका रस है। मेरे पूज्य पिता श्री ब्र० गोकुलप्रसाद भी आत्मख्याति टीका व नाटक समयसारका अपने जीवनमे स्वाध्याय करते रहे। पूज्य पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी मेरे विद्या गुरु थे, वे समयसारके प्रख्यात स्वाध्यायी थे, जीवनके ६०-७० वर्ष उन्होने उस ग्रन्थराजकी अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकाके पारायणमे लगाये है। उनके पास भी मुझे सदा श्रवण और मनन करनेका सुयोग मिलता था, तथा स० सि० धन्यकुमारजीके पितृव्य श्री स० सि० रतनचन्दजी भी नाटक समयसारके मर्मी थे। मेरा बाल्यकाल उनकी ही गोदमे व्यतीत हुआ है, अत मेरे अध्यात्मज्ञानप्रियताके स्रोत उक्त तीन महापुरुष थे।

गत चार दशकसे श्री कानजी स्वामी सोनगढने इस युगको एक अध्यात्म चर्चाका युग ही बना दिया। उनमे जो अपूर्व और उल्लेखनीय परिवतन दिगम्बर जैन धर्मकी स्वीकारताके रूपमे हुआ, उसमे मूल हेतु समयसारजीका स्वाध्याय ही है। सोनगढमे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन श्री प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीके सभापतित्व मे स० २००५ मे हुआ था। उसम मुझे भी जानेका सुअवसर मिला और स्वामीजीको निकटसे जानने व पहिचाननेका भी अवसर मिला।

कानजीस्वामीकी अध्यात्म प्ररूपणाने भी मेरे हृदय पर एक अमिट छाप डाली और मेरी आध्यात्मिक रुचि बलवती हुई, अत मैने भी श्री कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोका अनेक बार पारायण किया। पूज्य गुरुवर्य प० गणेशप्रसादजी वर्णीद्वारा अपने जीवनकालमे लिखे गये समयसार प्रवचनोके प्रकाशनके समय (जो उनके जीवनकालके बाद हुआ) काशीके विद्वानोने मुझे उसके सम्पादक श्री प० पन्नालालजो साहित्याचार्य सागरके साथ, ग्रन्थको देख लेनेका सुअवसर प्रदान किया। मेरी शिक्षा काशीमे पूज्य

वर्णीजीके पास तथा मोरेनामे पूज्य प० वशीधरजी न्यायलकार तथा पञ्चाध्यायीके भाषा टीकाकार पूज्य प० देवकीनन्दनजी वाणीभूषण सिद्धान्तशास्त्रीके पास हुई थी। मुझमे शास्त्र ज्ञानमे प्रवेश करानेका श्रेय उक्त गुरुजनोको है।

श्री नीरजजी जैन, सतना सर्वतोमुखी प्रतिभाके धनी विद्वान् है। साहित्यिक हैं, कविश्रेष्ठ है तथा सामाजिक अनेक सस्थाओके प्रमुख कार्यकर्ता है। पुरातत्त्व विषय-के वे M A तो है ही पर उस कलाके ममज्ञ सुप्रसिद्ध कलाविद् भी है। इन्होने बाल अवस्थामे कुछ समय मेरे पास विद्याध्ययन किया था तथा स्नेह पाया था अत- मुझे उनसे सदा गुरुत्वका आदर प्राप्त रहा है, उनकी मुझे अत्यन्त प्रेरणा थी कि मै अमृत-कलशो पर टीका लिखूं।

अनेक टीकाओके रहते हुए पुन टीका लिखना मेरे लिए सुगममार्ग था, पर पिष्ट पेषण न्यायमे उसकी कोई उपयोगिता नही है, यह विचारकर अनेक वर्ष मैंने उनके आग्रहको टाला पर नीरजजीका आग्रह फिर भी बना रहा। इसी समय इन्दौर महानगरीके प्रमुख तथा जैन समाजके प्रख्यात नेता श्रीमान् सेठ राजकुमार सिंहजीने पर्यूषण पर्वमे मुझे इन्दौर आनेका आमत्रण दिया। उनके सस्नेह आमत्रण पर मै पर्वमे इन्दौर गया। वहाँ प्रात काल शक्कर बाजारके मन्दिरजीमे समयसार वाचनके समय स्वाध्याय प्रमियाकी अनेक लिखित शकाएँ आती थी और दूसरे दिन मै उनका समा-धान करता था। इस प्रक्रियामे बहुत लाभ हुआ और श्रीमान् सेठ सा० ने मुझसे कहा कि अग्रिम वर्ष भी पर्यूषणमे यहाँ आइये, जनताका आग्रह है। मैने उसे स्वीकार किया और गया। दूसरे वर्ष भी प्रश्नोत्तरोका प्रक्रिया चालू रही।

स्वाध्यायी भाइयोका आग्रह था कि इन प्रश्नोके साथ इनका समाधान आप अपने जनप्रिय पत्र जैन सदेशमे छापकर इन्हें स्थायित्व प्रदान करें। मैने स्वीकारता तो दे दी पर वैसा कर न सका, मनमे यह बात खटकती रही। एक विचार आया कि अमृत कलशोकी टीका लिखी जाय और यथायोग्य स्थान पर इन प्रश्नोको उठाकर उनके उत्तर छाप दिये जायें तो इन्दौरकी जनतामे किया वादा भी पूरा हो जायगा और नीरजजीके आग्रह की भी पूर्ति हो जायगी। ऐसी टीका बननेसे पिष्ट पेषण भी न होगा और ग्रन्थकी उपयोगिता बढ जायगी। यह मानकर ही मैने कलश टीका लिखनेका यह प्रयास किया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ अमृतकलश-अध्यात्म ग्रन्थ है, अत इसमे दिये गये सभी प्रश्नो-त्तर अध्यात्म दृष्टिसे ही दिये जाने चाहिये थे, तथापि सामान्यजनके हितका ध्यानमे रखकर कही उत्तर अध्यात्म दृष्टिसे दिये गये है और कही आगम दृष्टिसे दिये गये है। दोनो दृष्टियोमे विरोध नही है, सामञ्जस्य है। वह किस प्रकार है इसे स्पष्ट करनेका मैने शक्ति भर पूरा प्रयत्न किया है। यह सभव है कि मात्र अध्यात्म दृष्टिसे विचार करनेपर कतिपय उत्तर पाठक को सही प्रतीत न हो, इसी प्रकार मात्र आगम दृष्टिसे विचार करनेपर भी इसके उत्तर सही प्रतीत न हो पर यह मानकर चलना

चाहिए कि दोनो दृष्टियोमे वास्तविक विरोध नही है।

अध्यात्मशास्त्र शुद्ध और सीधा ही मोक्षमार्गका वर्णन करता है अत शुद्धोपयोगको मोक्षमार्ग मानता है, शुभोपयोगको बधमार्ग कहता है। शुभोपयोगको मोक्षमार्गमे कुछ भी स्थान नही देता। पर आगमिक दृष्टि मोक्षमार्गकी प्राप्तिके उपायोपर जोर देती है, अत शुभोपयोगी चारित्रको महत्व देती है, क्योकि उसके पाये बिना वीतरागी शुद्धोपयोगी चारित्र नही मिलता। न्यायशास्त्रके कार्यकारणभावके अनुसार, अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य, उत्तर पर्यायका उपादान कारण होता है, अत शुद्धोपयोग रूप पर्यायका उपादान शुभोपयोग विशिष्ट पूर्व पर्यायगतद्रव्य ही होगा। अध्यात्म दृष्टि साक्षात् साधनको ही साधन मानती है, परम्परा साधनोको साधन नही मानती, पर आगमिक दृष्टि साक्षात् साधनको साधन मानती हुई भी उस साक्षात् साधनकी प्राप्तिके उपायोको भी परम्परासे मोक्षमार्गका साधन मानती है।

एक दृष्टि शुद्ध सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करती है, तो दूसरी दृष्टि सिद्धान्त-तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस दृष्टिको सदा सामने रखकर ही इसमे प्रश्नोत्तरोका सग्रह है। इस समय समाजमे अध्यात्मकी चर्चा करनेवाले कुछ भ्रान्तजन यथार्थ अर्थको न ग्रहण कर अर्थका अनर्थ कर रहे है और इनसे क्वचित् अध्यात्मके प्रति अरुचि भी दिखाई जाती है।

अध्यात्म तो आत्माकी विशुद्धिका मार्ग है। आत्मा अनादिसे ही पर्याय विमूढ हो रहा है। उसे आत्मस्वरूपका अज्ञान है और यह अज्ञान ही उसकी दुरवस्थाका मूल कारण है। राग-द्वेष-मोह ही अज्ञान भाव हैं। इनके होने पर लोकमे विस्तारसे भरी हुई कार्मण वर्गणाएँ आकर जीवके साथ बधको प्राप्त होती हैं। यद्यपि जीव निश्चय दृष्टिमे शुद्ध-बुद्ध है, बध स्वरूप नही है, तो भी संसारी दशामे अशुद्धात्मामे, व्यवहार दृष्टिसे कर्मबध तो समय-समय पर होता है। प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभाग बध तो कर्म वर्गणाओके उक्त परिणमनोसे सम्बन्धित है, पर **आगत कर्मवर्गणाएँ जीव प्रदेशोके साथ श्लेषात्मक सम्बन्धको प्राप्त होती हैं यही प्रदेशबध जीवका कहा जाता है। वे कर्मवर्गणाएँ कार्मण शरीरके रूपमे सम्बन्धित होकर जीवके साथ अपनी स्थिति प्रमाण रहती हैं।** उदयकाल आने पर उनके निमित्तसे जीवमे राग-द्वेप मोह भाव उत्पन्न होते है यदि द्रव्यकर्मके साथ आत्माका सश्लेष सयोग न होता तो इनका भी जन्म न होता। सयोगी दशा मे इनका जन्म होनेसे ही इन्हे सयोगज कहा जा सकता है।

"सयोगी" का अर्थ दोनो द्रव्योको मिलाकर एक परणति रूप रागादि नही हैं। **रागादि तो अशुद्ध आत्मोपादान हैं,** कर्मोदय तो उनका निमित्त मात्र है। मलिनता तो आत्मामे होती है। स्वरूप दृष्टिसे वे आत्मस्वरूप नही है। कलश ११ मे लिखा गया है कि "स्फुटमुपरितरन्तोप्येत्य यत्रप्रतिष्ठाम्" अर्थात् ये रागादि भाव ऊपर-ऊपर ही तैरते है। इसका अभिप्राय न समझकर कुछ लोग ऐसा मान लेते हैं कि ये आत्मामे

सर्वथा भिन्न है। पर्याय होनेसे द्रव्यसे भिन्न ही हैं, अत पर्यायकी अशुद्धतासे मेरी कोई हानि नही है। मै तो वर्तमानमे भी शुद्ध-बुद्ध हूँ अत मुझे व्रत-चारित्रकी क्या आवश्यकता है? आत्मा चेतन द्रव्य है। खाना-पीना भोगना तो शरीरकी क्रिया है उससे हमे कर्मबन्ध क्यो होगा, कैसा होगा?

उक्त कथन समझकी भूल है। अभिप्रायको ठीक न समझनेसे ऐसी भूल होती है। द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध यह कथन यद्यपि सही है, तथापि द्रव्य-पर्यायमे स्वरूप भेद दृष्टिकी अपेक्षा ऐसा कथन किया जाता है। वस्तुत द्रव्य पर्यायमे सत्ता भेद नही है। द्रव्यकी ही तो पर्याय है। द्रव्य तो परिणमनशील स्वभाव है। द्रव्य ही पर्यायका कर्ता और उसका भोक्ता है। अत पर्यायकी अशुद्धि जोवकी ही अशुद्धि है। उस अशुद्धिमे ही कर्मबध होता है। शरीरमे मृत दशामे खाने-पीने भोगनेकी क्रिया नही देखी जाती, जीवित दशामे देखी जाती है। वह क्रिया आत्माके रागादिक पूर्वक ही होती है और आत्माकी रागादि क्रिया ही आत्माके बंधनेका कारण है। अत- आत्माकी विशुद्धिके लिए व्रत चारित्र आवश्यक है। इस विषयका स्पष्टीकरण कलश ग्यारहको टीकामे विस्तारसे किया गया है।

समयसारजीकी १७४ गाथामे सम्यग्दृष्टिको अबधक और निरास्रव लिखा है पर सम्यग्दृष्टि तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी है, तो क्या चतुर्थादि गुणस्थानोमे आस्रव बन्ध नही होता? यह एक प्रश्न भी सामने खडा होता है, और इस आधार पर अनेक भ्रान्तजन, अपनी भ्रान्त अव्रती दशामे भी अपनेको सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मानकर, अपनेको कर्म बधन रहित मान लेते है। यह भ्रान्त धारणा है। यद्यपि अव्रत सम्यग्दृष्टि भी ज्ञानी है, अज्ञानी नही है, उसे अनन्तानुबधी कषायोके मोह और मिथ्यात्व के अभावमे, अनन्त ससारके कारणभूत आस्रव बन्ध नही होते। जो भी कर्मास्रव है व बन्ध है वह **मिथ्यात्व गुणस्थानकी अपेक्षा अत्यल्प है, अत- अबंधक कहा है, तथापि** वह सर्वथा सभी कर्म प्रकृतियो का अबधक नही है।

पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी तथा श्री १०८ उपाध्याय विद्यानंदिजीने भी ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिको देख लेनेकी कृपा की है तथा आवश्यक निर्देश भी दिये हैं। उनके इस अनुग्रहके लिये मै उनकी महती कृपा मानता हूँ। प्रसिद्ध सिद्धान्तवेत्ता, समाजके सर्वोपरि शिक्षक, लेखक-सम्पादक व टीकाकार विद्वान्, प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसीने इस ग्रन्थका सम्पादन व सशोधन करनेकी कृपा की है, तथा अपना प्राक्कथन भी लिखा है। उनकी दृष्टिसे ग्रन्थ गुजर जानेसे भी मै आश्वस्त हूँ। उन्होने जो भी श्रम किया, उसके लिये मै उनका बहुत बडा उपकार मानता हूँ। इसी प्रकार सिद्धान्तशास्त्री-अध्यात्मवेत्ता-अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोके अनुवादक पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीने भी इसे अवलोकन करने की और दो शब्द लिखनेकी कृपा की है, उनके लिये उनका भी विनम्रता पूर्वक आभार मानता हूं। मेरे परमस्नेही श्रीमान् ब्र० माणिकचन्दजी चवरे एव प० धन्यकुमारजो भौरे कारजाने पूर्ण ग्रन्थ वाचन कर अपने उपयोगी सुझाव दिये उनका मै बहुत ऋणी हूँ और आभार मानता हूँ। श्री

नीरजजीका भी आभारी हूँ, जिनके आग्रहवश मैने यह सब लिखा। श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजीके साथ इस ग्रन्थके वाचनके समय भी श्री नीरजजीने अनेक दिन साथ रहकर अपना योगदान किया।

द्वितीय सस्करण

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिका समाजके सभी वर्गो मे भारी समादर हुआ। मुमुक्षु जनोमे उसका पठन-पाठन हुआ है, यह मेरे लिये प्रसन्नताकी बात है। यद्यपि तब ग्रन्थका लागतसे आधा मूल्य मात्र दस रुपया रखा गया था, पर प्रकाशन सस्थाके उदार सिंघई बन्धुओने आधेसे अधिक ग्रन्थ, योग्य पात्रो तक बिना मूल्य पहुँचाये और वह सस्करण कुछ महीनोमे ही समाप्त हो गया था। गत दो वर्षोसे ग्रन्थकी माँग आ रही थी पर इसके पूर्व पाठकोकी आकाक्षापूर्ति नही की जा सकी।

अब यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की जा रही है। विविध पाठको तथा सयत साधुओ, आर्यिका माताओकी दृष्टिमे ग्रन्थ आनेसे अनेकानेक प्रश्न तथा सुझाव मेरे पास आये। उनका यथोचित समाधान पत्रोके माध्यमसे मैने यथाशक्ति किया। इस आवृत्तिमे जहाँ सशोधन, सवर्धन या स्पष्टीकरणकी आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ उसकी पूर्त्तिकी गई है। कुछ ऐसे सुझाव भी मेरे पास आये कि ग्रन्थका विषय परिचय तथा सम्यग्दर्शनके साथ स्वानुभूति, स्वरूपाचरण, स्वरूपोपलब्धि, स्वसवदन प्रत्यक्ष, शुद्धोपयोग जैसे वर्तमानमे चर्चाके विषय बने हुए विषयो पर कुछ विशेष विवेचन आवश्यक है। उन सुझावोके अनुसार विषय परिचय तथा उक्त बहुचर्चित विषयोपर भी इस प्रस्तावनामे प्रकाश डाला जा रहा है। मुझे आशा है कि इससे जिज्ञासु पाठकोका समाधान हो जायगा।

यद्यपि इन विषयोकी चर्चा प्रसगानुसार अनेक कलशोमे है तथापि लोक रुचिका ध्यान रखकर, पुनरावृत्तिकी चिन्ता न करते हुए, सक्षेपमे वह सब यहाँ पुन लिखा जा रहा है।

ग्रन्थका विषय विभाजन तथा परिचय—मूलग्रन्थ 'श्री समयसार' के समान ही कलशोका विषय विभाजन आचार्य श्री अमृतचन्द्रजीने बारह अधिकारोमे किया है जो निम्न प्रकार है—

(१) जीवाजीवाधिकार (पूर्वरग)
(२) जीवाजीवाधिकार (उत्तर रग)
(३) कर्त्ता कर्म अधिकार
(४) पुण्य-पाप अधिकार
(५) आस्रवाधिकार
(६) सवर अधिकार
(७) निर्जरा अधिकार
(८) बधाधिकार
(९) मोक्षाधिकार
(१०) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार
(११) स्याद्वाद अधिकार
(१२) साध्य-साधक विचार

(१) जीवाजीवाधिकार (पूर्वरग) मे आत्माका शुद्ध स्वरूप एकत्व विभक्त

रूप है, अबद्ध अस्पृष्ट, असयुक्त आदि विशेषणोसे सयुक्त है, उसका दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, यह विषय सुगम रीतिसे वर्णित किया है।

(२) **जीवाजीवाधिकार (उत्तर रग)** मे अजीव तत्त्वका तो वर्णन है ही, अशुद्ध जीवमे पाये जाने वाले रागादि एव क्रोधादि भावोको भी अजीवकी ही सज्ञा दी गई है। भगवान् जिनेन्द्रकी शरीराश्रित स्तुतिके आधार पर शरीर और आत्माकी एकता समझनेवाले शिष्यका भी यथोचित समाधान किया है। इस कथनके प्रसगमे निश्चय स्तुति क्या है इसका वर्णन जिनेन्द्रके जितेन्द्रिय, जितमोह आदि विशेषणोके द्वारा किया हे। वर्णादिका तादात्म्य केवल पुद्गलमे है, और ससारी जीवमे उसका सम्बन्ध कथन मात्र, उपचार से होता है, भेद विज्ञान मे जीव और अजीव पृथक् होते है।

(३) **कर्त्ता कर्म अधिकार** मे जीवको स्वभावत अकार्य कारणरूप रहनेसे अकर्त्ता माना है। कर्म निमित्तजन्य ओपाधिक भावोका कर्त्ता केवल अज्ञानी जीव ही होता हे, किन्तु अपनी ज्ञान मात्र भूमिकाको प्राप्त करने वाला ज्ञानी जीव उसका कर्ता नही होता। यद्यपि आगमिक विपयके अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वय कर्त्ता होता है, और वह पर्याय ही उसका कर्म है, इस आधार पर रागादि भावो का कर्त्ता और उसके फलका भोक्ता ससारी जीव ही है, तथापि अपने अनाद्यनत कर्म निरपेक्ष सहज पारिणामिक भावका स्वामी, अखड अविचल आत्माको ससारी दशामे भी द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करनेपर वह मात्र अपने ज्ञान स्वभावका ही स्वामी ठहरता है, रागादिकके कर्तृत्व भोक्तृत्वका उसमे स्थान नही है।

जो जीव अपने ज्ञानमात्र स्वभावकी भूमिकाको अकपरूपसे स्वीकार करता है, वह कर्मबध रहित होता है, और पुरातन कर्म यथासमय उसे स्वयमेव छोड देते है। लोकमे प्रचलित परद्रव्य के कर्त्ता और कर्मपने की चर्चाका यहाँ कोई मूल्य नही है, क्योकि प्रथार्थमे परद्रव्यके साथ कर्तृकर्मपना ही नही है। वह मात्र लौकिक कथन है, जो पूर्णत उपचरित है। निमित्त नैमित्तिक सबधके कारण इस तरहका उपचरित कथन शास्त्रोमे किया गया है। यथार्थ कर्तृत्व द्रव्यके स्वपर्यायोका ही है और पर्याय ही कर्म है।

(४) **पुण्य पापाधिकार** मे कर्मोके आश्रवके कारणभूत जीवके, मोह रागद्वेषादिक भावोको, शुभाशुभ रूपमे दृष्टात द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे बेडी लोहेकी हो या स्वर्णकी हो जीवके बधनमे कोई भेद नही करती, इसी प्रकार पुण्यबध और पापबध, भले ही अपने स्वरूपमे सासारिक फलोपभोगकी अपेक्षा भेद रखते हो, तथापि परमार्थमे दोनो ही जीवके लिए बन्धन स्वरूप है और मुक्तिके कारणोसे विपरीत है। ऐसा वर्णन करते हुए मोह राग द्वेषके इन विविध रूपोको अज्ञान-भाव ही कहा है। इस अज्ञानभावमे ही जीव पुण्य पापमे भेद करता है। **मोहकर्म घातिया है अत पापरूप ही प्रकृति है।** शुभाशुभ राग उसीके दोनो पुत्र है अत पाप ही है। इसे शूद्रिका पुत्रके दृष्टान्तसे समझाया गया है।

(५) **आश्रवाधिकार**—राग द्वेष मोहके बिना जीवका ज्ञानरूप परिणमन ही आश्रवभावको रोकने वाला है, और यह जीव भावाश्रवके अभावको प्राप्त होनेपर द्रव्याश्रवसे स्वय पृथक् होता है। ज्ञानीजीव रागद्वेषोका बुद्धिपूर्वक स्वय त्याग करता है, और अबुद्धिपूर्वक कर्मोदयमे होनेवाले रागद्वेषसे बचनेके लिए बार-बार अपनी निज शक्तिमे ही उपयोग लगाता है। रागद्वेष मोह ही जीवके लिए बधके कारण है अत उनके अभावमे ज्ञानीको अबधक कहा है। जो जीव अपने शुद्धात्माके अवलबनसे च्युत होकर रागादियोगको प्राप्त होते है, वे अवश्य ही कर्मबध करते है उक्त कथनसे यह तात्पर्य निकलता है कि शुद्धात्माका ही अवलबन करना चाहिए।

(६) **सवर अधिकार** मे यह विषय प्रतिपादित है कि जो किसी भी प्रकारके प्रयत्न से, अपने शुद्धात्माको दृष्टिमे रखता है, वही कालातरमे शुद्धात्माको प्राप्त करता है। भेद विज्ञानकी शक्तिमे जो अपनी निजकी महिमामे रत होते है उन्हे ही आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है। जो ऐसा नही करते वे ससारमे भटकते है। शुद्धात्म तत्त्वकी उपलब्धिसे ही कर्मोका सवर होता है। अभीतक जो भी सिद्ध परमात्मा बने हैं, वे भेद विज्ञानके बल पर ही बने हैं, और जो ससारमे भ्रम रहे है वे भेद विज्ञानके अभावके कारण ही भ्रम रहे है।

(७) **निर्जरा अधिकार** मे यह प्रतिपादित किया है कि जिसके मोह, राग और द्वेषका अभाव होता है उस विरागीको उदयमे आनेवाला कर्मभोग, कमबन्धका नही, कर्म निजराका हो कारण बनता है, क्योकि उसके अतस्मे स्वयकी निजज्ञान शक्तिका सवेदन और पर पदार्थके प्रति वैराग्यका भाव नियमसे रहता है। तथापि उक्त कथनसे यदि कोई इस प्रकारके यथार्थ अर्थको ग्रहण न करे, और सम्यग्दृष्टि न होने पर भी अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर पचेन्द्रियके विषयोका रागपूर्वक यथेच्छ उपयोग करे तथा अपनेको निराश्रव ओर निर्बन्ध माने, तथा उससे कर्म निर्जरा होती है ऐसा माने, तो वह आत्मा और—अनात्माके ज्ञानसे शून्य अज्ञानी ही है। आत्मा तो रागद्वेष मोहसे भिन्न एकमात्र ज्ञायक स्वरूप है और उसका यह पद ही सम्पूर्ण विपदाओका अन्त करनेवाला है। पूर्वबद्ध कर्मके विपाकसे ज्ञानीको भी विविध प्रकार की सपत्तिया और विपत्तियोका उपभोग करना पडता है, परन्तु उन दोनो दशाओमे वह उस कर्मका निर्जरक हो होता है, बधक नही होता। वह उस कर्म फलको अनात्म-भाव जानता है अत हर्षविषाद नही करता। ज्ञानी पुरुषको यह उपदेश दिया गया है कि वह सभी शुभाशुभ कर्मोसे भिन्न रहे। यदि कदाचित् वह कर्मोदय जन्य स्थितिका, रागद्वेषकी भूमिकामे, उपभोग करेगा तो नियमसे कर्मबध करेगा। सम्यग्-दृष्टि जीव सदा निश्शक ओर निभय ही रहता है, वह सातो प्रकारके भयोसे रहित होता है। प्रस्तुत अधिकारमे इसका ही विशद वर्णन है।

(८) **बध अधिकार** मे यह प्रतिपादित किया है कि यह सम्पूण लोक, कर्म-वर्गणाओसे भरा हुआ है परन्तु इतने मात्रसे जीव बधनको प्राप्त नही होता,

किन्तु जब उपयोगमे रागादि पूर्वक उसको क्रिया होती है तो वह बधका कारण बनती है। मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और मेरी क्रिया बधका कारण नही है, मात्र इतने अहकारसे निरगल प्रवृत्ति करनेवाले जीव बधसे मुक्त नही होते। जब परोपकारादि की भावना भी शुभराग होनेसे पुण्यके बधनमे डाल देती है, तब किसी के अपकारकी भावना बधनमे क्यो नही डालेगी ? कर्मके अहकारका जो रस है वही कर्मबधका हेतु है। ससारके सभी जीवोके कार्य अपने अपने कर्मानुसार होते हैं। निष्फल, उत्तम फल रहित—अध्यवसायके द्वारा विमोहित जीव ही अपनेको ससारके बधनमे बाँधता है। ज्ञानी इस वस्तुस्वभावको जानता है, इसीसे निर्बन्ध होता है। अज्ञानी वस्तु स्वभावको नही जाननेके कारण बधनमे पडता है। ज्ञानी समग्र परद्रव्यको बुद्धिपूर्वक अपनेसे पृथक् कर स्वात्मस्थितिको प्राप्त करता है यही उसकी निर्बन्धताका मूलमत्र है।

(९) **मोक्ष अधिकार** मे यह प्रतिपादित किया है कि यदि ज्ञानी जीव अपनी प्रज्ञारूपी छैनीको सावधान होकर आत्मा और कर्मकी सधिके ऊपर पटके, तो वह सन्धि टूटना सम्भव है और उसीका अर्थ मोक्ष है। आत्मा स्वय अद्वैत है, तथापि जब तक अपने इस स्वरूप को दृष्टिमे लेकर वह लक्ष्यप्राप्तिकी ओर प्रयत्नशील नही होता तब तक मुक्तिका प्राप्त नही होता। मोक्षार्थी-बुद्धिमान पुरुषको, यह विचार करना चाहिए कि मै एक शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु हूँ तथापि यदि मेरे भीतर इसके अतिरिक्त कोई और भाव दिखाई देते है तो वे मुझस पृथक् हैं, अर्थात् वे मेरे स्वभाव नही हैं, वे मेरे अपराध है, और अपराधी नियमसे बधनको प्राप्त होता है।

(१०) **सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार** मे सर्वविशुद्ध ज्ञानका विशद वर्णन है। जीव यथार्थमे अपने सर्व विशुद्धज्ञानका ही कर्ता होता है, रागादिका कर्तृत्व एव भोक्तृत्व केवल अज्ञानकी ही महिमा है। अज्ञानी कर्मप्रकृतिके स्वभावरूप परिणमन करता है। और ज्ञानी कर्म प्रकृतिके स्वरूपसे भिन्न अपने निज स्वरूपमे परिणति करता है। जब एक वस्तुका दूसरी वस्तुकी सत्तामे कोई सम्बन्ध नही है, तो उसमे कर्ता कर्म पनेकी बात सोचना ही मिथ्या है, तथापि कर्म चूँकि कार्य है और कार्य बिना किये होता नही है, अतएव अज्ञानी जीव अपनी उस अवस्थामे रागादिभावोका कर्ता और भोक्ता होता है। साख्यमतकी तरह सर्वथा अकर्ता नही है। नय विवक्षासे कर्तृत्व अकर्तृत्व नित्यत्व और क्षणिकत्व आदि विविध भावोका बहुत स्पष्टतया प्रतिपादन इस अध्यायमे किया गया है। साधुजन अपने पूर्वकृत कर्मोको दूर करनेके लिए अपनी ज्ञान चेतनाके आधारपर किस प्रकार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि करते है उसका भी वर्णन इसमे किया है। इसमे इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि केवल बाह्य लिंग धारण करनेसे जिनकी अन्त चक्षु मुँदी हुई हैं, वे मोक्षको प्राप्त नही होते है किन्तु मोक्षका एक मात्र पथ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र त्रयात्मक आत्म-परिणति ही है।

ग्यारहवें एवं बारहवें अधिकारो मे विविध मिथ्यामतोके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तोकी समालोचना तथा उनकी विपरीतताका स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए,

स्याद्वादी अपनी विशुद्ध ज्ञानकी महिमासे पूर्ण होता हुआ किस प्रकार जीवित रहता है, इसका प्रतिपादन किया गया है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षा अस्तित्व, और परद्रव्य परक्षेत्र-परकाल, परभावकी अपेक्षा नास्तित्वका तथा तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, आदिका विशद वर्णन—करते हुए आत्माकी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन किया है। आत्मा नाना शक्तियोंके रहते हुए भी नाना प्रकारके गुणोंकी पर्यायोंसे चित्रित होनेपर भी, निज द्रव्य पर्यायमय, चैतन्य मात्र वस्तु है, इसका सुन्दरतासे प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थके अन्तमे इस सम्पूर्ण ग्रंथका मथितार्थ आचार्य श्री ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि जो प्राणी अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके अभ्याससे आत्म-संयम द्वारा अपने उपयोगको स्थिर करता है और बार-बार स्वात्मभावना करता है वह अन्तर-बाहर, ज्ञानपक्ष और क्रियापक्षकी परस्पर मित्रताको प्राप्त हुआ, आत्माकी विशुद्ध भूमिकाको प्राप्त करता है। ग्रन्थकार कहते है कि स्याद्वाद वाणीके द्वारा प्रकाशित मेरे शुद्धस्वभावकी महिमाका जब मेरेमे उदय हो गया है तो मुझे बन्ध मोक्षकी चर्चामे भी प्रयोजन नही है। मेरा यह सुविशुद्ध श्रेष्ठभाव सदाकाल प्रकाशमान रहो। स्वरूपमे ही गुप्त आचार्य अमृतचन्द्रको अब कोई कार्य शेष नही है।

सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मदर्शन—ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य समयसारका दर्शन कराना है। समयसारका अर्थ शुद्धात्मा है। उसका दर्शन अनेकान्त स्वरूप जिन वचनमे रमण करने वाले सम्यग्दृष्टिको होता है, ग्रन्थमे यह स्पष्ट प्रतिपादित है।[1]

शुद्धात्म दर्शन क्या अशुद्ध (ससारी) दशामे हो सकता है? इस प्रश्नका समाधान आचार्य करते है कि आत्मा स्वय निर्विकल्प है, पहिले उसका ज्ञान विकल्पो द्वारा (व्यवहार नयसे) ही होता है।[2] पश्चात् विकल्प छोडकर, परम रहित चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको, जो अपनेमे देखते है, उनके व्यवहारनयके विकल्प छूट जाते है और शुद्धनयके विषयभूत पूर्ण ज्ञान घन, अपने एकत्व स्वरूप, परद्रव्य तथा परद्रव्य निमित्तक भावोसे भिन्न, आत्माका उन्हे दर्शन होता है। वही सम्यग्दर्शन है अथवा समयसारका दर्शन है।

मोक्षमार्ग यद्यपि रत्नत्रय स्वरूप है तथापि उसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्रको मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही लिखा गया है।[4] जिस सम्यग्दर्शनकी यह महिमा है उसके महत्वका प्रतिपादन ही ग्रन्थका मुख्य विषय है। अविरतिके साथ भी यदि सम्यग्दर्शन है तो उसका भी मोक्षमार्गमे

१ उभयनयविरोधध्वंसिनि —समयसार कलश ४

२ व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्याम —समयसार कलश—५

३ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो —समयसार कलश—६

४ दर्शनज्ञान चारित्रात् (रत्नकरण्ड)

प्रथम स्थान है, परन्तु उसके बिना विशाल आगम ज्ञान तथा घोर तपश्चरणके साथ किया जानेवाला महाव्रत, समिति, गुप्ति स्वरूप व्रताचरण भी मोक्षमार्गमे स्थान नही पाता, यह जिनागम है ।[1]

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार ग्रन्थकी चारित्र चूलिका गाथा २३७ मे मोक्षमार्गमे श्रद्धानपूर्वक आगमज्ञान तथा चारित्रके यौगपद्यको ही स्वीकार किया है ।[2] सिद्ध है कि मोक्षमार्ग रत्नत्रय स्वरूप है । उस रत्नत्रयकी प्राप्तिमे सम्यग्दर्शन आद्य है, और चारित्र भी उसकी अन्तिम आवश्यक भूमिका है । दोनोका मणिकाचन सयोग है, प्रथमकी शोभा दूसरेसे है और दूसरेकी शोभा प्रथमसे है । यद्यपि सम्यग्ज्ञानके बिना भी ये दोनो रत्नत्रय नाम नही पाते, परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका होना अनिवार्य है । इसमे दोनोकी स्थितिके मध्य वह आ ही जाता है । अत रत्नत्रय स्वरूपता बन जाती है ।

आचार्य ने इस ग्रन्थमे सम्यग्दृष्टिका उल्लेख ज्ञानी शब्दसे और मिथ्यादृष्टिका अज्ञानी शब्दसे किया है । फलत यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थमे सम्पूर्ण वर्णन ज्ञानी और अज्ञानीका है । ज्ञानी ही मोक्षका पात्र है, अज्ञानी नही, यह ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है । सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी शब्दका प्रयोगकर ग्रन्थकारने सम्यग्ज्ञानको उठाया है । अन्य सभी ग्रन्थोम सम्यक्त्व और चारित्रका ही विशेष महत्व स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित है । सम्यग्ज्ञानका वर्णन मात्र चार अनुयोगोके स्वरूप प्रतिपादनके साथ ही समाप्त हो जाता है पर समयसार और उसके टीकाकार सम्यग्दर्शनको और उसके साथके चारित्रको ज्ञानभावके नामसे हो व्यवहृत करते है[3] ।

सम्यग्दृष्टि अबंधक है—

ग्रन्थमे सर्वत्र मोह राग द्वेषक परित्यागका उपदेश है। मोह मिथ्यात्वका वाचक है, तथा रागद्वेष, क्रोध मान, माया, लोभको कहा गया है । इसी व्याख्याके कारण सम्यग्दृष्टिको अबधक कहा गया है । यह अध्यात्म ग्रन्थ है, इसमे ज्ञानी या सम्यग्दृष्टि सामान्य शब्द ही आया है, किस गुणस्थानका सम्यग्दृष्टि, कितनी-कितनी प्रकृतियोका अबधक है, इसका विवेचन नही है । तथापि जो वर्णन जिस गुणस्थानके सम्यग्दृष्टि पर ग्रन्थान्तरोके अनुसार बैठता हो उसी पर उसे लगा समझना चाहिये । जो सज्जन यह भेद नही करते, वे या तो सारा उत्कृष्ट वर्णन चतुथ गुणस्थानके अविरत सम्यग्दृष्टि पर ही लगाते है, या दूसरी ओर कुछ सज्जन इस समस्त वर्णनको

१ संयम सम्यग्दर्शन ज्ञानपुर सर चारित्र —प्रवचनसार टीका गाथा २४१ (अमृतचन्द्रकृत)

२ ण हि आगमेण सिज्झदि —प्रवचनसार गाथा २३७ की टीका

३ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं —समयसार गाथा १५५ की टीका देखिये

उत्कृष्ट साधनारत ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज पर ही लगाते हैं जो परिपूर्ण निष्कषाय भावके कारण कर्मबंधक ही नही है। प्रकारान्तरसे पचमसे दशम गुणस्थान तकके सम्यग्दृष्टि दोनोकी दृष्टिसे बाहर ही रहते हैं।

आचार्य जयसेन ने लिखा है कि ग्रन्थमे मुख्य वर्णन वीतराग सम्यग्दृष्टिको लक्ष्यमे लेकर है तथा गौण रूपसे चतुर्थादि गुणस्थानोका भी है[1], यह बात यथार्थ है। अतः जो वर्णन जिस गुणस्थान पर बैठता हो उसे उस ही गुणस्थानका मानकर पढ़ना व समझना चाहिये।

समयसारका वास्तविक अध्येता कौन ?

कुछ सज्जनोकी मान्यता है कि समयसार ग्रन्थ श्रावकोके अध्ययनके लिये नही है, उन्हे इसका स्वाध्याय ही नही करना चाहिये। इसके लिए आचार्य जयसेनका उक्त उद्धरण प्रमाणमे देते हैं, पर उक्त उद्धरणका प्रतिपादन स्वाध्याय करने वाले पात्रोके विवेचनका नही है, किन्तु जिनका ग्रन्थमे वर्णन है उनका है। यद्यपि अनेक स्थलो पर 'मुनि' 'यति' शब्द बार-बार ग्रन्थमे आये हैं अत ग्रन्थमे उनको सम्बोधित किया है यह सच है, पर इसका अर्थ यह नही है वे मुनि ही ग्रन्थको पढें अन्य जन श्रावकादि न पढ़ें।

कलश ११, २२, २८, ३२, ३३, ३४, ४२, ४८, १११, १२६, १२८, १३८, १४३, १४५, २०१, ३२४ आदिमे मोहीजन, लोक, मुमुक्षु, अज्ञान-विमूढ, जगत् आदि शब्दो द्वारा सामान्य जनोको भी सम्बोधित किया गया है। यद्यपि आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ द्वारा मुख्यतया मुनिजनोकी स्थिति सुधारनेका ही प्रयत्न किया है, जिससे वे अपनी वर्तमान स्थितिसे आगे बढ़ें, मात्र शुभ क्रिया रूप व्रतादिको ही मोक्षमार्ग मान कर अटक कर न बैठें, तो भी जो मूल सिद्धान्त इसमे प्रतिपादित हैं उनके अनुभव करने, समझने और आचरण करनेकी प्रेरणा सामान्य जनोको भी दी गई है।[2] गुणस्थान भेदसे वर्णन न करनेका कारण यह है कि अध्यात्मकी दृष्टिसे आत्मा "शुद्ध चैतन्य-मात्र" है और शुद्ध चैतन्यकी दृष्टिमे न गुणस्थान हैं न मार्गणास्थान है। अत अध्यात्म शास्त्रोमे गुणस्थान मार्गणास्थानादिकी अपेक्षा वर्णन नही होता। समयसार-की गाथा ५०/५५ मे तथा उसकी सस्कृत टीकामे भी यही लिखा है।

गुणस्थान प्रक्रियासे वर्णन न होने पर भी, यदि अध्यात्मके वर्णनको गुणस्थानो पर बिठाकर समझना ही है तो आगम ग्रन्थोके अनुसार वह भली भाँति समझा जा

१. अत्र तु ग्रन्थे ' वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्याग्रहणं सराग सम्यग्दृष्टीना गौणवृत्त्या-
—समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा १९३-२०१

२. किं ग्रन्थान्तरमुम्बनाकुलाधियस्तास्वाच्च्यवन्ते जना " —कलश २१५
एते किमज्ञानिनो''' .... (कलश २२२)
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा'' ' ... . (कलश २३९)

सकता है। ज्ञानी अज्ञानीका वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने जो प्रेरणाएँ दी हैं वह अज्ञानीको ज्ञानी बननेके लिए दी हैं, अत ग्रन्थके अध्ययनके अधिकारी अज्ञानी भी है, चाहे वे श्रावक हो, या मुनि हो। यहाँ ऐसा प्रश्न करना उचित नही होगा कि क्या मुनिको अज्ञानी कहना उचित है ? क्योकि सम्यक्त्वभावसे रहित श्रावक भी हो सकता है और सम्यक्त्व रहित मुनि भी अपने पदसे गिरे हुए हो सकते हैं। अत. दोनोको ज्ञानभावकी भूमिकामे लाकर सम्यग्दर्शन अर्जन करनेकी प्रेरणा ग्रन्थकारने दी है।[1]

इस कथनका यह भी तात्पर्य नही है कि मात्र मिथ्या दृष्टि अज्ञानी जनोको ही ग्रन्थमे सबोधित किया गया है, पचम, षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीवोको नही ? ऐसा निर्णय करना भी सही न होगा। कारण यह कि इसमे उच्चतम श्रेणीगत यतियोकी उत्कृष्ट दशाका जो भी वर्णन है, और उसे प्राप्त करनेकी प्रेरणा है, वह छठे गुण-स्थानवर्ती मुनियोके लिए ही है। श्रावककी भूमिकामे यह कभी सभव ही नही है कि वह पूर्ण शुद्धापयोगके मार्ग पर आरूढ हो सके, तथापि ऐसा भी नही है कि जिन शुद्धापयोग मुनियोकी पवित्र अवस्थाका वर्णन ग्रन्थमे है, उस ग्रन्थके पढनेका भी वह अधिकारी नही है। जिनागममे श्रावकके लिए अध्यात्म ग्रन्थोके अध्ययनके निषेधका वर्णन किसी भी आचार्यने नही किया। श्रावकको अध्यात्म ग्रन्थोंके पठन-पाठनके लिये अपात्र मानना किसी व्यक्ति विशेषकी, या वर्ग विशेषकी, निजी मान्यता हो सकती है, वह आगमकी मान्यता नही है। जहाँ भी सिद्धान्तके रहस्य ग्रन्थोके पढने का अधिकारी श्रावक को नही माना वे अध्यात्म ग्रन्थ नही प्रायश्चित्तादि, ग्रन्थ हैं वे तो सामान्य मुनि-जन भी नही पढते मात्र आचार्य पढते हैं जिन्हे प्रायश्चित्तादि देने का अधिकार है।

'स्वसमय' 'शुद्ध-आत्मदर्शन' या 'स्वानुभूति'—

ग्रन्थके प्रारम्भमे ही अनात्मदर्शीको आत्मदर्शन करनेकी प्रेरणा दी गई है। समयसारकी गाथा २ की टीकामे अमृतचन्द्राचार्य समयकी व्याख्यान करते हुए लिखते हैं कि अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त सकर होने पर भी आत्मा, स्वरूपसे अप्रच्यावित (अभिन्न) एक टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव 'जीव' नामा पदार्थ है। जब वह अपने ज्ञानदर्शन स्वभावकी नियतवृत्ति रूप स्वभावकी एकताके रूपमे वर्तता है तब "स्वसमय है" और जब अनादि अविद्याके कारण अपने उक्त स्वभावसे च्युत हो, पर द्रव्यय प्रत्यय राग, द्वेष, मोह आदि भावोके साथ एकतारूपसे वर्तन करता है, उस समय पर-समयमें स्थित है, अत. "पर समय" है।[2] समयसार गाथा ५ की टीकामे लिखा गया है कि मैं

१ "पश्यन्स्वकर्तुमुनयश्च अनाश्च तत्त्व"। कलश २०१ में दोनो को एक साथ सम्बोधित किया है।
इत्यज्ञानविमूढाना ज्ञानमात्रं प्रसाधयन (कलश २६२)

२ अत्यन्तमनन्त द्रव्यसकरेपि स्वरूपादप्रच्यवनात्
टकोत्कीर्णचित्स्वभावो 'जीवो' नाम पदार्थ. स समय।
अय खलु यदा" ' ' समस्त परद्रव्यात्प्रच्युत्यदृशि ज्ञप्ति स्वभाव नियम वृत्तिरूपात्म तत्त्वैक गतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेनयुगपज्जानन् गच्छश्च स्वसमय इति।

अपने स्वरूपसे एक, तथा परसे भिन्न ऐसे शुद्ध आत्माके स्वरूपका दर्शन आपको कराऊँगा।

यद्यपि अनादिसे दूध पानीकी तरह कर्म पुद्गलोके साथ आत्मा एकत्वको प्राप्त है तथापि द्रव्यके स्वभावकी निरूपणाकी दृष्टिसे वह इन सब **विभाव भावोसे भिन्न** तथा सम्पूर्ण अन्य-द्रव्योसे भिन्न उपासनाके योग्य **शुद्ध** (मात्र ज्ञायक **स्वभाव**) है।[1]

आत्मा **निश्चयसे** स्वत: सिद्ध है, अनाद्यनत है, अविनश्वर है, नित्य है, स्वपर प्रकाशन समर्थ, ज्ञान स्वभावी है, रागादि सम्पूर्ण उपाधिरहित अत्यन्त निर्मल है, परम आनन्द मूर्ति है, शुद्ध चेतनारूप समयसारभूत, अन्य समस्त द्रव्योसे उनके गुणोसे उनकी पर्यायोसे सर्वथा भिन्न, निज सत्तासे अपने गुण पर्यायोसे सर्वथा अभिन्न एक अखण्ड द्रव्य है। यह आत्म 'द्रव्यके **स्वभावका वर्णन**' है। तथापि वह अनादिसे ही कर्मबन्धनबद्ध होनेसे नाना योनियोमे जन्म तथा मृत्युके दुख भोग रहा है। उसके ज्ञानादि समस्त गुण विकृत हो रहे है, आच्छादित हो रहे है। रागादि विभावमय परिणत है, अशुद्ध चेतना रूप पर समय स्थित अनेकरूप दिखाई दे रहा है। यह **उसकी पर्याय दशाका वर्णन है।**

कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायका होना है। अत यह आवश्यक है कि जिस जीवके स्वभावका ऊपर वर्णन किया है वह पर्यायसे भी यदि स्वभावरूप परिणत हो तो वह अनन्तकालको शुद्ध पर्याय परिणत शुद्ध चेतनारूप सिद्ध परमात्मा बन मोक्षको प्राप्त हो जाय, अनन्त दुखोसे मुक्त हो जाय। ससारके सम्पूर्ण दुखोसे पार होकर शुद्ध स्वरूप सिद्ध दशा प्राप्त करनेके लिये ही सर्वप्रथम आचार्य आत्माको उसके सहज शुद्ध स्वभावका दर्शन कराते हैं। वे इस ग्रन्थमे जिस समयसार भूत शुद्धात्माका दर्शन करानेकी प्रतिज्ञा करते हैं वह शक्ति उन्होने जिनवाणीके सतत अभ्याससे, सम्यग्-युक्तियोके अवलम्बनसे, गुरु सेवासे प्राप्त उनके प्रसादसे उनके कथनानुसार निरन्तर अभ्यस्त स्वसवेदन ज्ञानसे, प्राप्त की है। समयसार गाथा ५ की टीकामे आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि जिन परसमय स्थित प्राणियोको मै स्वसमयका दर्शन कराऊँगा वे भी उसे **स्वसवेदन प्रत्यक्ष** से परीक्षा करके ही स्वीकार करें।

साराश यह है कि अनादिसे मोहोदयसे पीडित, आत्मज्ञान शून्य जनाको आत्म-तत्त्वका दर्शन ग्रन्थमे राया है, उस आत्माके अनुभवन करनेकी प्रेरणा दी है। उस

यदा तु अनाद्यविद्या तन्त्रतया आत्म तत्त्वात् प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्यय मोहराग-द्वेषादिभावैक–गतत्वेन वर्तते तदा परसमय इति प्रतीयते।

—समयसार आत्मख्याति गाथा २ की टीका।

१ स ससारावस्थायाम् अनादिबधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलै सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभाव निरूपणया अशेष द्रव्यान्तरेभ्यो भिन्नत्वेनापास्यमान 'शुद्ध' इत्यभिलप्यते।

—समयसार आत्मख्याति गाथा ६ की टीका।

आत्मानुभवन रूप आत्म पर्यायको ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। सर्वत्र सम्यग्दर्शनकी ही महिमाका प्रतिपादन है। आत्मानुभवन सम्यग्दर्शनका प्रारभिक स्वरूप भी है और उसका अन्तिम स्वरूप भी है अत जगह जगह आत्मानुभव करनेको ही ग्रन्थमे प्रेरणा है। उदाहरण स्वरूप निम्नस्थल देखिये :—

स्वानुभूत्या चकासते	कलश	१
अनुभूते· परमविशुद्धि·	,,	३
ते समयसार ईक्षन्त एव	,,	४
परममर्थमन्त पश्यताम्	,,	५
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनम् सम्यग्दर्शनम्	,,	६
प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्	,,	७
उद्योतमानम् दृश्यतामेकरूपम्	,,	८
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव	,,	९
आत्मस्वभावम् परभावभिन्नम्	,,	१०
अनुभवतु तमेव द्योतमानम् समन्तात्	,,	११
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा	,,	१२
आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया	,,	१३
सततमनुभवायोनन्त चैतन्यचिह्नम्	,,	२०
अचलितमनुभूतिम् भेदविज्ञानमूलाम्	,,	२१
रसयतु रसिकानाम् रोचन ज्ञानम्	,,	२२
अनुभव भवमूर्ते पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्	,,	२३

इसी प्रकार अनक स्थलो पर स्वयमियमनुभूति, महसाध्यक्षेण, अन्तस्तत्वतो पश्यन्त, स्वसवेद्यमबाधितम्, व्यक्त—चतन्यम् ज्ञानीजनोऽनुभवति आदि शब्दोमे अमृतचन्द्राचार्यने कलशोमे अनुभव शब्दका, स्वसवेदन शब्दका तथा स्वसवेदन प्रत्यक्ष शब्दका उपयोग किया है जिसमे यह स्पष्ट है कि उन्होने आत्मानुभव, भेद-विज्ञान स्वसवेदन प्रत्यक्षको ही सम्यग्दर्शन कहा है। इस प्रकारके उद्धरण पूरे ग्रन्थमें भरे हुए है। प्रकारान्तरसे आत्मानुभूतिकी ही प्रेरणा सवत्र प्राणियोको दी है। अज्ञानी दशामें अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्थामे जो परके साथ एकत्वकी अनुभूति थी, सम्यग्दर्शन होने पर वही परसे भिन्न निजके एकत्वकी शुद्धानुभूति हुई, यही सम्यग्दर्शन है। इसे ही ज्ञानानुभूति शब्द द्वारा व्यवहृत किया है। यह—ज्ञानानुभूति शुद्ध नयात्मिका है अर्थात् शुद्धनयका विषय है।[1]

जब तक आत्मा पर्यायमे शुद्ध स्वरूप बन नही गया तबतक उसको उस सहज शक्तिरूप स्वभावकी श्रद्धा आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि इसी श्रद्धाके बलसे तथा अपने सम्यग्ज्ञानके आधारसे शुद्धात्माकी अनुभूति करता है। इसीलिये इसे ज्ञानानुभूति

१ आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्ध्वा।

समयसार, आत्मख्याति कलश–१३

भी कहते हैं। यद्यपि प्रवचनसार गाथा २५४ की टीकामे अमृतचन्द्र आचार्य महाराजने स्वय यह लिखा है कि गृहस्थके शुद्धात्मानुभूति प्रकाशन नही होता, उसे तो राग सयोगसे अशुद्धात्माका ही अनुभव होता है।[1] इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ को शुद्धात्मानुभवन नही होता, अशुद्धात्मानुभवन होता है, तथापि इसी प्रवचनसार गाथा २३७ की टीकामे अमृतचन्द्राचार्य यह भी लिखते हैं कि असयतको भी यथोदित आत्मतत्त्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान और यथोदित आत्मतत्त्वानुभूतिरूप ज्ञान है, तथापि सयम शून्य श्रद्धान वा ज्ञानसे सिद्धि नही होती।[2]

पूज्य अमृतचन्द्राचार्य कृत प्रवचनसारकी टीका गाथा २३७ और २५४ मे परस्पर अन्तर दिखाई देता है, पर यथार्थमे अन्तर नही है। आचार्य परस्पर विरुद्ध कथन नही करते। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

चतुर्थ-पचम गुणस्थानमे, आत्माका जैसा रागादि रहित प्रमत्ताप्रमत्तादि विशेषण रहित, अखण्ड, एक, परसे भिन्न, शुद्ध स्वरूप आचार्य श्री ने प्रतिपादित किया है, वह शक्ति अपेक्षा द्रव्य स्वभाव निरूपणकी मुख्यतासे वैसा ही है, अत मेरा स्वरूप उक्त प्रकार है ऐसा अपनी आत्माका अनुभवन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके बल पर होता है। यद्यपि यहाँ अवस्था जन्य शुद्धता ता पर्यायमे प्रगट नही है, अवस्थामे राग है, अत पर्यायापेक्षया रागसे युक्त आत्माका अनुभवन है, तथापि यथोदित आत्मस्वरूप पर दृष्टि है और अपने स्वरूपके ज्ञान श्रद्धानके आधारपर अपने स्वरूप का शुद्धात्मरूपमे अनुभव करता है। गाथा २३७ मे ऐसे ही आत्मानुभवनकी बात कही गई है। रागादिसे भिन्न जो शुद्धात्मस्वरूप शक्ति रूपसे था, वह प्रकट होकर महामुनीश्वरके पर्यायमे भी शुद्धता प्रकट हुई, अत वे ही उसका अनुभवन कर सकते हैं। यह गाथा २५४ को टीकाका तात्पर्य है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका ज्ञेय है, और यह ज्ञेय वह स्वय है, अन्य पदार्थ नही, अत अपने शुद्धात्माके अनुभवनको बात असगत नही है। द्रव्यदृष्टिसे वैसा अनुभव तो किया जा सकता है पर पर्यायगत शुद्धताका अनुभवन तभी होगा जब आत्मा राग रहित होगा। जैसी-जैसी आत्माकी स्थिति होगी, पर्यायगत अनुभव भी उसी प्रकार ही होगा। साराश यह है कि गाथा २३७ मे श्रद्धानके बलपर

---

१ गृहिणा तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोपि स्फटिकसपर्केणार्कतेजस इवैधसा रागसयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

—एसा पसत्थभूता ···आदि गाथा २५४
प्रवचनसार, आत्मख्याति टीका

२. असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूप श्रद्धान यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा कि कुर्यात् तत सयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ते सिद्धि ।

—ण हि आगमेण सिज्झदि···· इत्यादि
प्रवचनसार गाथा ३७ आत्मख्याति टीका

ज्ञान द्वारा अपने शुद्ध द्रव्य पर उपयोग होनेसे तत्काल शुद्धात्माका अनुभवन है, यह प्रतिपादन है। गाथा २५४ मे पर्यायमे शुद्धता समस्तविरतिको प्राप्त करने वालोको ही होती है, अत. वहाँ उनको शुद्धानुभवी कहा, गृहस्थको नही। अत. दोनो कथन विवक्षाभेदसे अविरुद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए। साराश कि चतुर्थ गुणस्थानमे सम्यक्त्वसे अविनाभावी अनुभूति सम्यग्ज्ञानकी पर्याय है और महामुनियोंको चारित्र गुणकी पर्यायगत शुद्धताकी अनुभूति है। यह अनुभूति ११व-१२वें गुणस्थानमे पूणरूपसे है वहाँ पूर्ण निष्कषाय होनेसे पर्यायमे शुद्धात्माकी उपलब्धि है। एक ही आचार्य दो स्थानो पर दो बातें लिखते हैं तो उनकी विवक्षाको भी समझ लेना आवश्यक है। पिछले पृष्ठोमे अनुभूति प्रतिपादक समयसार कलशोके जो अनेक उदाहरण दिये हैं, उनका भी सामंजस्य उक्त विवक्षाओ पर बैठा लेना चाहिए।

स्वानुभूति और शुद्धोपयोग—

असयत सम्यग्दृष्टि भी अपनी श्रद्धा तथा आगम ज्ञानके बलपर एकत्व विभक्त, अखण्ड, निर्विकल्प, रागादि रहित, परम विशुद्ध, परमपारणामिक भावस्वरूप अपनी आत्माका अनुभव अवश्य करता है। अनुभवनकालमे उनका उपयोग शुद्धात्माभिमुख होनेसे उसके उपयोगको शुद्धोपयोग भी कहा गया है। यद्यपि उपयोग विभागमे वह मुख्यतासे शुभोपयोगी है, तथापि शुद्धात्माभिमुखी है, अत. लक्ष्यभूत ध्येयकी शुद्धता पर उपयोग होनेमे शुद्धोपयोगी शब्दका भी व्यवहार उसके लिए आगममे है[1]। प्रवचनसारमे आचार्य कुन्दकुन्दने श्रमणको शुद्धोपयोगी कहा है[2] सुविदितपदार्थसूत्र सयम, तप सयुक्त विगत राग, सुखदुखमे समता वाला श्रमण शुद्धोपयोगी है ऐसा प्रतिपादित किया है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त विवक्षाओंसे कहे गये गृहस्थ और महाव्रती, इन दोनो गुणस्थानो या भूमिकाओके शुद्धोपयोगियोमे अन्तर है। असयत श्रावक जिस समय कालादिलब्धि वश सम्यक्त्व प्राप्तकर, आगमकथित आत्माके द्रव्य स्वभावको लक्ष्य बनाकर उसपर अपना उपयोग स्थिर करता है, तब शुद्ध आत्म द्रव्यका, तत्काल उपयोगमे, अनुभव करने पर उसे शुद्धोपयोगी कहा है। अनन्तानुबधी कषायके अभावसे जो आत्म पर्यायमे शुद्धिका जन्म हुआ है उतना उतना वह पर्यायमे भी शुद्धताका सदा अनुभव करता है, अतः शुद्धोपयोगी है, यह जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिका भाव है। सयमी साधुके तीन कषायोके अभावसे उनके उपयोगकी पर्याय अधिक शुद्ध है। अत. उनको शुद्धोपयोगी पर्यायगत विशेष

---

१ अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्माभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा लभते।
—समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा-१२०

२ सुविदिदपदत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥
—प्रवचनसार अध्याय १ गाथा १४

शुद्धिके कारण कहा गया है मात्र तात्कालिक उपयोग पर नही। सयमीके इस वृद्धि-गत शुद्धोपयोगका फल केवलज्ञान है। यह प्रवचनसार गाथा १४ का तात्पर्य है।

इस तथ्यको एक भिन्न प्रकारसे विचार करे तो जीवका लक्षण उपयोग या चैतन्य ही कहा है 'उपयोगो लक्षणम्' यह तत्वार्थसूत्रकारकी उक्ति है। यह ज्ञान दर्शन उपयोग दो प्रकारका है—क्षयोपशम (लब्धि) रूप और उपयोगरूप। क्षयोपशम तो बहुत समय रहता है किन्तु उपयोगात्मक दशा बदलती रहती है। शुद्धोपयोग शब्दमे उपयोग शब्द इस अर्थको कहता है कि वह जीव वर्तमान कालमे शुद्ध पदार्थ पर उपयोग सहित है। ऐसे शुद्ध आत्मपदार्थ पर उपयोग असयत सम्यग्दृष्टिका भी होता है। भले ही गार्हस्थिक स्थितिमे वह अल्प समय ही अपना उपयोग उस शुद्धात्म द्रव्य पर स्थिर रख सके, साधुजन अपना उपयोग उसपर अधिक समय तक स्थिर रख सकें, तथापि दोनो उपयोगोमे अपने लक्ष्यभूत शुद्धात्माकी दृष्टिसे कोई अन्तर नही है।[1]

तथापि लब्धिरूप अर्थात् क्षयोपशम रूपसे ज्ञानका वह योग्यता सम्यक्त्वके सद्भावके कारण (कभी उपयोग अन्यत्र हट जाने पर भी) सदा रहती है, वह चाहे असयत हो, देश सयत हो या साधु हो। अन्य पदार्थोका ज्ञान भी वह ज्ञानभावकी भूमिकामे ही करता है मोहकी भूमिकामे नही।[2]

आत्मपर्यायमे निष्कषाय भावकी अपेक्षा शुद्धता देखे तो जिसके जितनी कषायका अभाव हो गया उसमे उतनी-उतनी शुद्धता है। आगे वह क्रमवर्धित है, अत उसकी अपेक्षा अन्तर है ऐसा कथन आगमानुमोदित है। तथापि जो शुद्धता अनन्तानुबधी और मोहके अभावमे होती है वही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शनकी यह शुद्धता असयत वा सयत दोनोमे समान है। असयत सम्यग्दृष्टिसे सयतमे जो अन्तर है वह अन्यान्य कषायोके अभावजन्य सयमपनेकी शुद्धताका अन्तर है।

गुणस्थानकी प्रक्रियाकी स्थिति—

आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रने जिस शुद्धात्माके अनुभवको सम्यग्दर्शन कहा है, उस आत्माको गुणस्थान, मार्गणा स्थानरूप उन्होने देखा ही नही। उससे भिन्न ही आत्माके दर्शनको सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि, देश सयत, सकलसयत ये भेद गुणस्थानोकी दृष्टिसे है, तथापि इन भेदोकी चर्चा करना सम्यग्दृष्टिके अनुभवको भूमिकामे अनुपयोगी है।

जीव स्वभावकी दृष्टिसे सिद्ध और निगोदिया जीव समान है। 'सव्वे सुद्धाहि सुद्धणया' नेमिचन्द्राचार्यके द्रव्य सग्रहमे कथित इस उल्लेखसे उक्त बात प्रमाणित है। आगमकथित गुणस्थान भेदकी अपेक्षा भेद अवश्य है, तथापि अनुभवकालमे दृष्टा-की दृष्टिमे वे है ही नही। वह तो एकमात्र अखण्डचैतन्य पुज विशुद्ध आत्मद्रव्यको

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

२ अमृत कलश ६७।

ही देख रहा है, अन्य सब कुछ रहते हुए भी उसको तात्कालिक दृष्टि मे वे सब नही हैं, गौण है। इसका अर्थ ऐसा नही है कि उपयोगमे दोनोकी सत्ता है, किन्तु जो शुद्धात्म तत्त्व है उसीका अस्तित्व उपयोगमे है, अन्यका नही है। तथापि अन्यके स्वत अस्तित्वका निषेध नही है। अन्यत्र उपयोग होनेपर उनकी स्वीकारता उसके ज्ञानमे है, तथापि अनुभवन कालमे उनकी सत्ताकी उपलब्धि नही है। यदि उस कालमे भी उपयोगमे वे आ जावें तो शुद्धात्मा परसे उपयोग तत्काल हट जायेगा। इसका मूल कारण यह है कि उपयोग एक समय एक ही पदार्थको विषय करता है। एक साथ दो उपयोग नही हो सकते। "छदुमत्त्थाण ण दुण्णि उवओगा" आचार्य नेमिचन्द्रके इस वचनसे यह स्पष्ट है। तथापि यदि सम्यग्दृष्टि अन्य कालमे अन्यान्य पदार्थो पर भी उपयोग ले जाता है तो उन्हे स्वात्मभिन्न अनुपादेय ही मानता है इसमे उसके सम्यग्दर्शनमे कोई बाधा नही है।

उक्त कथनका तात्पर्य यह हुआ कि असयत या देश सयत सम्यग्दृष्टिकी भी आगम कथित जीव द्रव्यके स्वरूप पर श्रद्धा सयतके समान ही है तथा यथोदित आत्माका शुद्धानुभवन भी तीनोका समान है, क्योकि अनुभवन कालमे लक्ष्यकी शुद्धता तीनोमे समान है, अनुभवनकी स्थिरताका काल एक दूसरेका हीनाधिक है। सयम भावकी अपेक्षा तीनामे महान् अन्तर है। उसे सयम पर्यायगत भेद ही मानना चाहिए। सम्यक्त्व पर्यायगत भेदमे समानता ही स्वीकार करना चाहिए। चारित्र मोहका उदय चारित्रसे च्युत करता है, सम्यक्त्वसे नही, जैसे एक आँखमे पीडा हो तो दूसरी आँख निरोग भी रह सकती है। अत सरागीके साथ वीतरागीके सम्यग्दर्शन गुणमे क्षति नही होती।[1] तब तीनो सम्यग्दृष्टि है तो दृष्टिका अन्तर कैसे रह सकता है। सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि ये दो भेद भी सम्यग्दर्शनके उन स्वामियोकी अपेक्षा है जो सरागी और वीतरागी हैं। इसका अर्थ तो यही होता है कि सम्यग्दर्शन दोनोको होता है। उसके सद्भावमे ही वे सयत है, अन्यथा नही परन्तु सयमभाव ही सम्यग्दृष्टिको मोक्ष द्वार तक पहुँचाता है, तथापि—सम्यक्त्वकी उक्त महिमा सुनकर सयम रहित जीवनका महत्त्व आँकना गलत होगा। चतुर्थ गुणस्थानकी सम्पूर्ण महिमा सम्यक्त्व भावकी महिमा है। उसके साथ होने वाला असयतत्व ही उसकी सबसे बडा कमजोरी भी है, जब तक उसे दूर न करेगा तब तक उसका ससार नही छूटेगा। सयमी शुद्धोपयोगी ही अपने क्रम वर्धित शुद्धोपयोगके फलस्वरूप केवल ज्ञानी बनता है।

चतुर्थ गुणस्थानमे लक्ष्य शुद्धात्मा पर है, और पूर्ण सयमी अपने लक्ष्यको प्राप्त है। उसने दृष्टिमे श्रद्धाके विषयभूत शुद्धात्माको जो लक्ष्य बनाया था, उस लक्ष्यकी पर्यायगत प्राप्ति सयमीको ही सभव है, असयमदशामे सम्यग्दृष्टिको नही। यहाँ सयमीसे तात्पर्य विगतराग सयमीसे है। सम्यग्दृष्टित्व पूर्वक ही विगतरागपना सम्भव है।

---

१ पञ्चाध्यायी अध्याय २, श्लोक ६९१-९२-९३।

स्वानुभूति व शुद्धात्मोपलब्धि—

सम्यग्दृष्टि जीवको अपने ज्ञानके आधारसे जो स्वानुभव होता है वह उसकी शुद्ध स्वात्माकी **ज्ञानमे उपलब्धि** है। प्रवचनसार गाथा १८९ की टीकामे लिखा है।

"किन्त्वत्र साधक तमत्वात् निश्चयनय एव उपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वात् स एव साधकतमः अतोऽवार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः" अर्थात् सम्यग्दृष्टिका साध्य शुद्धात्मा है। निश्चयनय आत्माकी शुद्धताका द्योतक है अत वह साधकतम है। अशुद्धताका द्योतक व्यवहार नय है जिससे अशुद्धात्मकी प्राप्ति है, अत सिद्ध है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्म लाभ है। जिसका फल मोह ग्रन्थिका भेदन है। निश्चयनयका विषयभूत शुद्धात्मा है अत उसके आश्रयसे ही मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व होता है।[1]

स्वसंवेदन, स्वानुभूति—शुद्धात्मोपलब्धि-स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग शब्दोका अध्यात्ममे सर्वत्र उपयोग है, तथा इन सबका अविनाभाव सम्यग्दर्शनके साथ है। अत इनका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थानसे हो जाता है, तथापि सयमभावके साथ ये सब गुण अपनी चरमोत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त करते हैं। आगममे इन चारो शब्दोका प्रयोग संयमी साधुओके लिए भी बहुत बार अत्यन्त स्पष्ट शब्दोमे किया गया है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके लिए शुभोपयोगकी मुख्यता है। शुद्धोपयोग उसके गौण है,[2] अत उसकी गणना शुभोपयोगीमे की गई है, तथा षष्ठादि गुणस्थान वाले सराग चारित्र वाले साधुको भी दोनो उपयोगोकी सम्भावना होनेके कारण गौणरूपमे शुभोपयोगी भी कहा है। इससे आगे सप्तमादि गुणस्थानोमे साधुको शुद्धोपयोगी ही कहा गया है। बुद्धि-पूर्वक उपयोगमे शुद्धता ही है अत उन्हे शुद्धोपयोगी माना है, पर पूर्ण रागादिसे रहित अवस्था ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानकी ही है। अत पूर्ण शुद्धोपयोगी उन्हें ही कहा है। तेरहवें चौदहवे गुणस्थानमे होनेवाला केवलज्ञान उस पूर्ण शुद्धोपयोगका फल है अत. पूर्णरूपमे निश्चल स्वानुभूति,—पूर्णरूपसे शुद्धात्मोपलब्धि, केवली भगवान्‌को ही है। चतुर्थ गुणस्थानमे जिसका बीजारोपण हुआ था उसका अकुर आगे-आगे बढता गया और केवली अवस्थामे वह पूर्ण फलवान् वृक्षवत् हो गया। बीजमे वृक्षकी पूर्ण शक्तिको स्वीकारता है पर शक्तिकी व्यक्ति वृक्ष बननेपर ही है। बीजमे फल नही लगते अत फलोपभोगकी दृष्टिसे वह शून्य है, तथापि फलवान् वही बनेगा। दृष्टाने उसकी इस शक्तिकी पहिचान कर उसका अनुभव किया है। इसीमे बीजारोपण कर उसकी सतत रक्षा करता है ऐसा पुरुषार्थी ही यथा समय बीजजन्य वृक्षको तथा उसके विविध फलोको प्राप्त करता है।

१. प्रवचनसार गाथा १९४

२ प्रवचनसार, तत्वप्रदीपिका टीका, गाथा २५४

इस सम्यक्त्व बीजकी महिमा आचार्य—समन्तभद्रके शब्दोमे इसी प्रकार है—वे लिखते हैं कि ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति-स्थिति-वृद्धि और फलोदय सम्यक्त्वके बिना नही होते।[1] इसीसे सम्यग्दृष्टिकी 'जिन' सज्ञा है। आचार्य जयसेन तो सासादन गुणस्थानको भी जिनसज्ञा देते हैं।[2]

सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण

सम्यग्दृष्टिको जितने काल अपने उपयोगकी स्थिरतामे स्व का अनुभव होता है वही उसका स्वरूपाचरण है। यह अनुभूति के आधार पर प्रारम्भ है और यही समस्त रागादिके अभावमे वीतरागी साधुके अपने चरमस्वरूपमे है।

'स्वरूपेचरणम् चारित्रम्' यह चारित्रका लक्षण है। यद्यपि पूर्ण स्वरूप रूप आचरण सयमीके ही सम्भव है, गृहस्थके नही, तथापि स्वानुभूति कालको स्वरूपमरण काल मानकर ही सम्भवत उसे स्वरूपाचरण ग्रन्थोमे कहा है।

चारित्रके चार भेद इस युगके प्रख्यात विद्वान् प० गोपालदासजी वरैयाने जैन सिद्धान्त प्रवशिकामे किये है—स्वरूपाचरण, देशसयम, सकलसयम, यथाख्यातसयम। इन सबके आवरण करने वाली क्रमश अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषाय मानी गयी है। आचार्य कुन्दकुन्दने अष्टपाहुडमे चारित्रके दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण। सम्यक्त्वके साथ होने वाले चारित्रको उन्होने सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है[3]।

पञ्चाचारके वर्णनमे दर्शनाचारका जो स्वरूप है सम्यक्त्वाचरणका भी वही स्वरूप प्रतिपादित है।[4] सयमाचरणके भेद सागार-निरागार अर्थात् देशसयम और सकलसयमके रूपमे चारित्र प्राभृत गाथा २१ मे दर्शाये हैं।

आचार्य जयसेनने समयसारकी गाथा १७७-१७८ की व्याख्या मे एक प्राचीन गाथा उद्धृतकी है जो अनन्तानुबन्धी आदि कषायोके कार्यों पर प्रकाश डालती है।

आद्याः सम्यक्त्व चारित्रे, द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतम्।
तृतीया सयम तुर्या. यथाख्यात कृषादयः॥

अर्थात् प्रथम अनन्तानुबन्धी कषायें सम्यक्त्व और चारित्र दोनो का घात करती हैं। द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषायें अणुव्रत अर्थात् देशसयमका घात करती है। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायें सयम अर्थात् महाव्रतका घात करती है और चौथी सज्वलन कषायें यथाख्यात सयमका घात करती है। इसके अनुसार अनन्तानुबन्धी

१ विद्यावृत्तस्य सभूति — ······ —रत्नकरण्डश्रावकाचार

२ चारित्र चूलिका प्रवचनसार गाथा १ की जयसेनाचार्यकृत टीका।

३ जिणणाण दिट्ठि सुद्धं··· इत्यादि चारित्रपाहुड गाथा सख्या ५ तथा तच्चेवगुण विशुद्धं····इत्यादि गाथा सख्या ८ चारित्रपाहुड

४ चारित्रप्राभृत गाथा ११ और १२।

कषाय सम्यक्त्वका भी घात करता है तथा चारित्रका भी घात करती है। अन्य ग्रन्थकार भी ऐसा ही निरूपण करते है।[१]

ग्रन्थान्तरोमे भी अनन्तानुबन्धीको द्विमुखी कहा है। द्विमुखी सर्प दोनो ओरसे काटता है, इसी प्रकार यह कषाय दोनोके घातका काम करती है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि चारित्र तो केवल दशव्रत महाव्रत रूप सागार अनगारका है जो दो प्रकार है, फिर अनन्तानुबन्धी कोनसे चारित्रका घात करती है? इसीका समाधान स्व० प० गोपालदासजीने जैन सिद्धान्त प्रवेशिकामे किया है। जयसेनाचार्यने उक्त गाथामे भी तीन नाम अन्तके दिये हैं पर प्रथम चारित्रका नाम नही दिया, तथापि उसका अस्तित्व प्रतिपादन किया है। सभवत गुरु गोपालदासजीने उक्त गाथाके आश्रयसे तथा चारित्र प्राभृत (आ० कुन्दकुन्द) के आश्रयसे ही उक्त चार भेद चार नामोमे अकित किये है। 'सार्वधर्म' नामक अपनी पुस्तकमे भी उन्होने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। विद्वद्वर्य स्व० प० मक्खनलालजी शास्त्रीने आगम मार्ग प्रकाशक नामक अपनी वृहदाकार पुस्तकमे इसकी अनेक प्रमाणोमे पुष्टिकी है।[२]

प्रशम-सवेग-अनुकम्पा रूप प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टिके नैतिक सदाचारकी द्योतक है। ये गुण सम्यक्त्वीके अवश्य पाये जाते हैं। यही चारित्र उसका है जो मिथ्यादृष्टिके मोहोदयमे नही होता। अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र मोहमे अन्तर्गभित है। अत वह सम्यक्त्वके अविनाभावी स्वरूपाचरण या सम्यक्त्वाचरणका घात करती है पचाध्यायी ग्रन्थमे सम्यग्दृष्टिके इन गुणोका वर्णन विस्तारसे श्लोक सख्या ४२६ से ४४६ तक किया है वहाँ देख सकते है।

आचार्य जयसेनने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है —

'कालादिलब्धिके वशसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होने पर यह जीव सहज शुद्ध पारणामिक भाव लक्षण **निज परमात्मा द्रव्यके सम्यक् श्रद्धानज्ञान और आचरण की पर्यायके रूपमे** परिणमन करता है। उसी परिणमनको आगम भाषामे औपशमिक क्षायिक-क्षायोपशमिक तीन भाव कहते हैं। वही अध्यात्म भाषामे शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम कहाता है जिसका शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नामसे कहते है[३]।'

---

१ कर्मानन्तानुबधियत् घातिशक्तिद्वयोपेत मोहन दृक्चरित्रयो।

पचा० अध्याय २ श्लोक ११३९।

तथा—एद चत्तारिवमम्मत्त चरित्ताण विरोहिणो दुविह सत्ति सजुत्तादा—षट्खण्डागम धवला भा० ६ सूत्र—२३ की टीका।

२ आगम मार्ग प्रकाशक (प० मक्खनलालजी कृत) अध्याय ३-४-५ पृ० ८१ से १५४ तक।

३ तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति, तदाय जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यकश्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्चपरिणमनमागमभाषया औपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक भावत्रय भण्यते अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्माभिमुख परिणाम 'शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्यायसज्ञा लभते।

—समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०

अतएव यह स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टिके पारिणामिक भाव लक्षण स्वरूप निज आत्म द्रव्यके, श्रद्धा-ज्ञान-आचरण तीनो एक साथ होते है। इसे आगममे औपशमिक या क्षायिक अथवा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन तीन भावरूप कहा है। इसीको अध्यात्म भाषामे आत्माभिमुख परिणाम कहते हैं। "शुद्धोपयोग" भी इसीका नामान्तर है। सम्यग्दृष्टि जीवके यह न हो तो सयमका भवन खडा नही हो सकता। प्रकारान्तरसे पर-विषय-विमुखता और स्वात्म पदार्थकी ओर उन्मुखता ही उस चारित्रका स्वरूप है। यह स्थिति स्वानुभत्यावरण कर्मके क्षयोपशममे असयत सम्यग्दृष्टि की भी होती है। यह पञ्चाध्यायीमे विस्तारके साथ वर्णित है।[1] सम्यग्दृष्टि जीवके स्वानुभूति, स्वसवेदन प्रत्यक्ष और स्वरूपाचरणका वर्णन करने वाले उसमे और भी अनेक श्लोक हैं जो विस्तारके भयसे यहाँ नही दिये जा रहे हैं।

यह विशेषरूपसे विचारणीय है कि मिथ्यादृष्टिका श्रद्धान मिथ्या श्रद्धान है, उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है, उसका चारित्र मिथ्या चारित्र है। ये मिथ्या-दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही उसकी अनादि कालीन ससार सततिके कारण है, यह आगम है।[2] इसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षकी पद्धति स्वरूप है। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ ही ज्ञानको सम्यग्ज्ञान सज्ञा प्राप्त हे। तब यह स्वय सिद्ध है कि उसका पूर्व मिथ्याचारित्र भी अब सम्यग्चारित्र है। यदि यह स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न सहज ही स्पष्ट होता है कि अविरत सम्यग्दृष्टिका चारित्र कौन सा चारित्र है? क्या यह मिथ्या चारित्र है? मिथ्या चारित्र तो मिथ्यात्व दशामे ही कहा जा सकता था। सम्यक्त्वोत्पत्ति पर मिथ्याचारित्र बना रहे क्या यह सम्भव है? तब प्रश्न होता है कि क्या वह सम्यग्चारित्र है? यदि यह कहा जाय कि चारित्र तो पञ्चमादि गुण-स्थानोमे होगा, अभी तो वह अविरत है, चारित्र उसमे नही आया, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सम्यग्दृष्टिके अविरत दशामे क्या चारित्र गुण नष्ट हो गया? जो चारित्र गुण प्रथम गुणस्थानमे मिथ्या था, सम्यक्त्व दशा होने पर वह मिथ्या नहीं रहा। वह सम्यग्चारित्र हुआ नही? तब चारित्र गुणका उसमे अभाव ही मानना पडेगा। किन्तु जिस गुणका मिथ्यात्व दशामे अभाव नही हुआ मात्र विरुद्ध परिणमन ही हुआ, उसका सम्यक्त्व होन पर सर्वथा अभाव हो गया ऐसा माना जाय तो फिर पच-मादि गुणस्थानोमे क्या चारित्र गुणकी असत्से उत्पत्ति होगी, यह तो युक्ति व आगमसे विरुद्ध है। फलत यहाँ मानना होगा कि उस अविरत सम्यग्दृष्टिको ज्ञान और चारित्र दोनो सम्यक् हैं। वह चारित्र सयमका नाम न पा सकेगा, सयमरूप चारित्र व्रतावस्थामे ही होगा। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रके दो भेद-पृथक-पृथक स्वीकार किये है, सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण, इसके समर्थनमे अन्य प्रमाण भी देखिये—

१ पञ्चाध्यायी अध्याय २, श्लोक ४२६ से ४४६

२. यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धति —रत्नकरडश्रावकाचार श्लोक ३

षट्खडागम खड १ भाग ९ पुस्तक ६ के २२ वें सूत्रकी टीकामे इसका स्पष्ट विवेचन है। मूलपाठ इस प्रकार है :—

पापक्रिया निवृत्तिश्चारित्रम्। घादिकम्माणि पाप। तेसि किरिया मिच्छत्ता-ऽसजम कषाया तेसिमभावो चारित्रम्। इसका अर्थ यह है कि पापक्रियाओकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। घातिया कर्म पाप रूप हैं। पापक्रियाये तीन हैं, मिथ्यात्व असयम, कषाय। इनके अभावको चारित्र कहते हैं।

श्री धवलाके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व पाप है, अविरति पाप है तथा कषाय पाप है और कषायोमे अनतानुबन्धी कषाय है वह भी पाप है, पापक्रियाकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय रूप पापकी निवृत्ति हुई है। अत उसके चारित्र अवश्य है यह उक्त प्रमाणसे प्रमाणित है। अन्य कषायोंके अभावमे वही चारित्र सयमाचरण रूप हो जाता है। यदि षट्खण्डागम धवलाकारको मात्र सयमभाव ही चारित्र नामसे इष्ट होता तो मिथ्यात्वको असयमको तथा कषायोमे अनन्तानुबन्धीको पापरूप न लिखते। या फिर वे चारित्रका लक्षण पापनिवृत्ति न करते, सयम ही चारित्र है, ऐसा लिखते। अत सिद्ध है कि चारित्र व्यापक शब्द है जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके अभावसे अविरत सम्यग्दृष्टिके भी है और अन्य कषायोके, तथा तज्जन्य असयमके अभावसे ऊपर गुणस्थानोमे भी होता है। अनन्तानुबन्धीका व्यापार चारित्रके विषयमे निष्फल नही है अनन्त कालीन असयमके प्रवाहकी धारा बहाने वाली कषायको निष्फल कहना विरुद्ध है। यह भी धवलामे प्रतिपादित है[1]।

आचार्य कुन्दकुन्दने जैसे आचरण या चारित्रके दो भेद सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण किये है उसी प्रकार धवलाकारको भी इष्ट है, यह उक्त उद्धरणसे सिद्ध है।

अत यह स्वीकार करने योग्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके सयम भावके बिना भी सम्यग्चारित्र होता है। उसे आचार्य कुन्दकुन्द सम्यक्त्वाचरण कहते है[2]। तथा उसे ही पञ्चाध्यायीकार तथा अन्य ग्रन्थकार स्वरूपाचरण कहते है। नाममे अन्तर है। पर सम्यग्दृष्टि अविरतीके भी सम्यग्चारित्र गुणके अस्तित्वमे सभी आचार्य सहमत हैं।

स्वसवेदन और उसकी प्रत्यक्षता—

आचार्य अमृतचन्द्रने तत्वार्थसारके प्रथम अध्यायमे मतिज्ञानके छ भेद गिनाये हैं। उनमे सर्वप्रथम स्वसवेदनको ही गिनाया है। तत्पश्चात विज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान ये पाच भेद गिनाये है[3]।

१ ण चाणन्ताणुबन्धिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादि अणन्तोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्त विरोहा —षट्खण्डागम, धवला पु० ६ सू० २३ टीका

२ चारित्रप्राभृतकी गाथा ३ से १२

३ स्वसवेदनमक्षोत्थ विज्ञान स्मरण तथा
प्रत्यभिज्ञान मूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ॥ —तत्वार्थसार श्लोक १९

स्वात्मसवेदन ही सम्यग्दर्शन है और वह स्वात्म सवेदन या स्वसवेदन "प्रत्यक्ष" है, ऐसा अन्य ग्रन्थोमे भी वर्णित है। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो क्या वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है? आत्मा तो अरस, अरूप, अगध, अशब्द और अस्पर्श है। वह इन्द्रियसे प्रत्यक्ष तो हो नही सकती। न स्वात्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और न पर का आत्मा इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष जाना जाता है। इन्द्रिय मनोज्ञान दोनोकी गणना परोक्ष प्रमाणोमे है, प्रत्यक्षमे नही। अवधि, मन-पर्यय ज्ञानको एकदेश प्रत्यक्ष तथा केवलज्ञानको सर्वदेश प्रत्यक्ष कहा गया है। मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। ऐसा सूत्रकारका उपदेश है अत मति श्रुतज्ञानी इन्द्रिय मनोज्ञानसे आत्माको प्रत्यक्ष नही करता। अवधि मन पर्यय भी रूपी पदार्थोंको ही जानते हैं अरूपीको नही, अत वे भी आत्माको प्रत्यक्ष करनेमे समर्थ नही हैं। अब एकमात्र केवलज्ञान ही पाँच ज्ञानोमे है जो मूर्त अमूर्त सभी पदार्थोंको युगपत् सर्वदेश प्रत्यक्ष करता है अत वह केवलज्ञानका ही प्रत्यक्ष विषय है। केवलज्ञानी स्वात्मा और परमात्मा दोनोको प्रत्यक्ष जान सकते है। पर स्वात्मज्ञान तो सम्यग्दृष्टिको जो चतुर्थ गुणस्थान वाला है उसे भी होता है, यद्यपि वह मति श्रुतज्ञानी ही है। सहज ही प्रश्न होना है कि फिर उसे स्वका प्रत्यक्ष सवेदन कैसे होता है। **इसका समाधान पञ्चाध्यायोकारने किया है।** वे लिखते है कि मति ज्ञानावरणके भेदोमे एक स्वानुभूत्यावरण भी हे जिसका क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होने पर ही होता है, उसके पूर्व नही होता। यह स्वानुभूत्यावरण स्वानुभूति न होनेमे निमित्त है। इसकी गणना मतिज्ञानके अन्तर्गत हो स्वीकारकी गई है। तथापि उसके लिए स्वसवेदन प्रत्यक्ष शब्दका ही उपयोग ग्रन्थमे सवत्र किया गया है[1]।

इस पर प्रकाश डालने वाले अनेक आगम प्रमाण नीचे दिए जा रहे है—

श्री **समयसार जी सवर अधिकार** गाथा १८९ की टीका समाप्तिके बाद श्री जयसेनाचार्यने दो गाथाए और लिखी है और उनकी टीका भी की है। सभवत उन दो गाथाओमे दूसरी गाथाको टीका इस विषय पर प्रकाश डालती है[2]। जिसका अर्थ यह है कि "शुद्ध निश्चय नयसे, रागादि विकल्प रहित स्वसवेदन रूप भाव-श्रुतज्ञान,

---

१ अवश्य सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षति
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमे —पञ्चा० अ० २ श्लोक ८५७
तथा तत्त्वार्थसार अ० श्लोक १९-२०

२ यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहित स्वसवेदनरूपम् भावश्रुतज्ञानम् शुद्धनिश्चयेन परोक्षमिति भण्यते, तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्ष, तेन कारणेन आत्मा स्वसवेदन ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति। केवलज्ञानापेक्षया पुन परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तु नायाति। किन्तु चतुर्थकालेऽपि केवलिन किमात्मान हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणा परोक्ष एव, पश्चात्परमसमाधिकालेप्रत्यक्षो भवति। तथा इदानी कालेऽपीति भावार्थं। एव परोक्षस्यात्मन: कथ ध्यान क्रियते, इति प्रश्न परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतं॥
—समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा १९९

केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है, तथापि सर्वसाधारणको होने वाला जो इन्द्रिय मनोजनित सविकल्पज्ञान होता है उसकी अपेक्षा वह प्रत्यक्ष है। इस कारण आत्मा स्वसवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है, केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है। सर्वदा परोक्ष ही है ऐसा नही कहा जा सकता। सोचो कि चतुर्थ कालमे भी केवली भगवान् क्या आत्माको हाथमे लेकर दिखलाते है? वे भी दिव्य ध्वनिसे कहते है। दिव्यध्वनि सुननेके कालसे सुनने वालोके लिए आत्माका स्वरूप परोक्ष ही होता है, तत्पश्चात् श्रोता लोग परमसमाधि स्वीकार करते है। उस ध्यानस्थ अवस्थामे वह उनको प्रत्यक्ष होता है–अनुभव गोचर होता है, वैसा आज भी हो सकता है। इस प्रकार परोक्ष आत्माका किस प्रकार ध्यान किया जा सकता है, इसका समाधान करते हुए दो गाथाएँ समाप्त हुई।)

ऊपरके शब्द जयसेनाचार्यकृत सस्कृत टीकाके भाषानुवादकार श्री आचार्य ज्ञानसागर महाराजकृत अनुवादसे ज्योके त्यो लिये गये है। इससे प्रमाणित है कि सम्यग्दृष्टिके रागादि विकल्प रहित स्वसवेदन ज्ञान होता है, और वह मतिज्ञान रूप परोक्षके अतर्गत इन्द्रिय मनोजनित ज्ञानकी अपेक्षा जो सविकल्प है उससे भिन्न निर्विकल्परूप प्रत्यक्ष है। भगवान् केवलीको दिव्यध्वनिमे आत्माका स्वरूप सुनकर ध्यानस्थ अवस्थामे श्रोताओको वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष होता है अर्थात् अनुभवमे आता है और ऐसा स्वसवेदन प्रत्यक्ष **आज भी हो सकता है।**

इसी तरह श्री **नियमसार**जीमे जीवाधिकारकी गाथा ११-१२ मे जो आचार्य पद्मप्रभ मलधारीदेवकी सस्कृत टीका है, उसमे जहाँ शुद्धाशुद्ध ज्ञानके स्वरूपके भेद बताये है वहाँ लिखा है कि—

(१) अत्र सहजज्ञान शुद्धन्तस्तत्त्व परमतत्त्व व्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम्। केवलज्ञानं सकल प्रत्यक्षम् अवधिज्ञान मनपर्ययज्ञानश्च विकल प्रत्यक्षम्।

(२) **उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेक निज परम तत्त्व निष्ठ—सहज ज्ञानमेव।**

(३) अपि च पारिणामिक भाव स्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहज ज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति।[1]

उक्त लेखका तात्पर्य यह है कि 'प्रत्यक्ष' तीन प्रकारका है (१) स्वरूप प्रत्यक्ष (२) सकल प्रत्यक्ष (३) विकल प्रत्यक्ष।

(१) स्वाभाविक ज्ञान जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप है परमतत्त्वमे व्यापक होनेसे **स्वरूप प्रत्यक्ष** है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। तथा अवधि, मन —पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष है।

१ केवल मिंदियरहिय गाथा ११ नियमसार जीवाधिकारकी सस्कृत
गाथा १२ टीका

(२) इन ज्ञानोमे साक्षात् मोक्षका मूल एक निज परमतत्त्व निष्ठ सहजज्ञान ही है। तथा—

(३) सहजज्ञान पारिणामिक भाव रूप स्वभावके कारण, भव्य जीवका परम स्वभाव होनेसे उस सहजज्ञानके अतिरिक्त और कुछ उपादेय वस्तु नही है।

यहाँ स्वसवेदनज्ञानको स्वरूप प्रत्यक्ष लिखा गया है। इस सहज पारिणामिक स्वरूप निज शुद्धात्मकी अनुभूतिको आचार्यने प्रत्यक्ष ही कहा है।

(४) समयसारकी अपनी टीकाके प्रारभिक मगलाचरणमे भी आचार्य अमृतचन्द्रने जिस समयसार (शुद्धात्म तत्त्व) की वन्दना की है उसे **'स्वानुभूत्या चकासते'** अर्थात् वह स्वानुभूतिमे स्वय प्रकाशमान है, ऐसा निरूपित किया है।

(५) श्री **प्रवचनसारके मगलाचरण**की टीका करते हुए अमृतचन्द्राचार्य लिखते है—**एष स्वसवेदन-प्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माह श्री वर्द्धमान देव प्रणमामि।** यह मै दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप **स्वसवेदन प्रत्यक्ष** आत्मा हू सो मै श्री वर्द्धमानदेवको प्रणाम करता हू।

उक्त उद्धरणोमे भी आचार्य अमृतचन्द्र अपने स्वसवेदनज्ञानको 'प्रत्यक्ष' शब्दसे ही उल्लिखित करते है। इसी गाथाकी अपनी सस्कृत टीकामे श्री **जयसेनाचार्यने भी** ग्रन्थके प्रारभमे यह लिखा है—

(६) एषोऽह ग्रन्थकरणोद्यतमना **स्वसवेदन प्रत्यक्ष.।** अर्थात् ग्रन्थ करनेके उद्यत मन वाला मै यह स्वसवेदनसे प्रत्यक्षीभूत हूँ। यह कहना यहा सगत न होगा कि "यह स्वसवेदन ज्ञान मुनियोका ही होता है क्योकि दोनो टीकाकार यति पदारूढ हैं, श्रावकके लिए तो ऐसा विशेषण नही दिया गया है" क्योकि इसी टीकामे 'शिवकुमार' जिनके निमित्त ग्रन्थका प्रारभ किया है उनके विशेषणोमे भी यह लिखा है—

अथ कश्चिदासन्नभव्य शिवकुमार नामा स्वसवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृत विपरीतचतुर्गतिससारदु खभयभीत, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशय ।

शिवकुमार महाराजको भी 'स्वसवित्ति' थी। अत तज्जन्य परमानन्दैक लक्षण सुखका अनुभवी था अत वह ससार परिभ्रमणके दुखसे भयभीत था, समुत्पन्न परम भेद ज्ञानके प्रकाशका अतिशय जिसे प्राप्त था—ऐसा वर्णन जयसेनाचार्यने किया है।

(७) समयसार गाथा ५ की आत्मख्याति टीकामे एकत्व विभक्त आत्माके दर्शन करानेकी प्रतिज्ञा, जहाँ ग्रन्थकारने की है, वहाँ यह भी बताया है कि **स्वानुभव प्रत्यक्ष** द्वारा परीक्षा करके ही स्वीकार करना। **किन्तु यदि दर्शयेय तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेणपरीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं।**

(८) **प्रवचनसार** गाथा ३३ की टीकामे श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं—

संसारी विवेकीजन पुर्नानशास्थानीय संसार पर्याये प्रदीप स्थानीयेन रागादि विकल्प रहित परमसमाधिना निजात्मान पश्यति ।

यहाँ उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि केवली सूर्य समान केवल ज्ञानसे भगवान् आत्माको देखते है। इसी प्रकार ससारी विवेकीजन रात्रिमे प्रदीपकी तरह रागादि विकल्प रहित निजात्माको, परम समाधि रूप भाव श्रुतज्ञानसे देखते हैं। इसीकी उत्थानिकामे यह भी स्पष्टीकरण किया है—

(९) "**यथा निरावरण सकल व्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेन आत्मपरिज्ञान भवति तथा सावरण-एक देश व्यक्ति लक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्ति बीजभूतेन स्वसवेदन ज्ञान रूप भावश्रुतेनापि आत्मपरिज्ञानं भवति**" जैसे निरावरण सकलार्थ प्रकाशक केवलज्ञानसे आत्माका परिज्ञान होता है उसी प्रकार केवलज्ञानके लिए बीजभूत (कारण-भूत) सावरण एक देश प्रगट रूप स्वसवेदन ज्ञानरूप भाव श्रुतज्ञानसे भी आत्म परिज्ञान होता है।

(१०) **प्रवचनसार** गाथा ८६ की टीकामे आचार्य जयसेनने लिखा है—**तथैवानुमानेनवा तथाहि अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्ध बुद्धैक स्वभाव परमात्मास्तीति कस्माद्धेतो निर्विकार स्वसवेदन प्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति ।**

इस देहमे निश्चयनयसे शुद्धबुद्धैक स्वभाव परमात्मा हे। यह निर्विकार स्व-सवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु से अनुमानित होता है, सुखादिकी तरह। अनुभव ता प्रत्यक्ष ही होता है। "**पच्चक्खो अणुभवो जम्हा**"　　—वृहत् नयचक्र—२६६

(११) समयसार गाथा ७३ की टीकामे अमृतचन्द्र स्वामी लिखते है—**अहमयमात्मा प्रत्यक्षम् अक्षुण्णमनत चिन्मात्र ज्योति. एक**　। यह 'प्रत्यक्ष' मै आत्मा पवित्र अनन्त चैतन्यज्योतिस्वरूप अनाद्यनन्त नित्य उदयको प्राप्त विज्ञानघन स्वभाव वाला एक हूँ। अमृत कलशोकी परमाध्यात्म तरङ्गिणी नामक टीका शुभचन्द्राचार्य कृत सस्कृत भाषामे है। "उसके रागाद्या वा इत्यादि" ३७ वें कलशकी टीकामे 'सर्व एवास्यपु स ' शब्दके अर्थमे लिखा हे—'**अस्य प्रत्यक्षस्य** पु स ' अर्थात् इस प्रत्यक्ष आत्माको जो रागादि भाव भिन्न ही है।

(१२) बृहद्द्रव्यसग्रहमे मिथ्यादृष्टिका जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उससे सम्यग्दृष्टिका प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजपरमात्माका श्रद्धान है, यह स्पष्ट हो जाता है।[1]

(१३) मतिज्ञान परोक्षज्ञान है, उसकी गणना प्रत्यक्षमे नही है तब उसके भेद स्वरूप स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमसे होने वाली स्वानुभूति जो सम्यग्दृष्टिके होती है, उसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जाय, ऐसा प्रश्न पञ्चाध्यायीमे भी उठाया गया हे।[2] उसका

१. सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्ति-कायसप्ततत्त्व नवपदार्थेषु ' यस्य श्रद्धान नास्ति स मिथ्यादृष्टि —बृहद्द्रव्यसग्रह गाथा १३ की स० टीका।

२. पञ्चाध्यायी अ २ श्लोक सख्या ४६०-४६१

समाधान भी इस प्रकार दिया है कि मतिश्रुतज्ञान पर पदार्थके जाननेमे परोक्ष है, परन्तु स्वसवेदन करनेमे प्रत्यक्ष है। दर्शन मोहनीयके उपशमादिसे स्वानुभूतिमे मतिज्ञान प्रत्यक्ष है।[1]

यह स्वानुभूति ही 'धम है' जो सम्यक्त्व स्वरूप है, शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप है, जिसका फल अक्षय क्षायिक सुख है।[2] आत्मानुभूति ही आत्मख्याति है और आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है।[3]

इन सभी आगम प्रमाणोसे यह प्रमाणित है कि सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव, या स्वसवेदनको प्रत्यक्ष ही माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ जैसे प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यादि गुण होते है उसी प्रकार स्वसवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभवज्ञान, वैराग्य, भेद विज्ञान, ज्ञान चेतना[4] आदि गुण भी उससे प्राप्त होते है और वे गुण उससे ऊपरके सभी गुणस्थानोमे भी होते है। यह सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है।[5]

आत्माके जिस यथार्थ स्वरूपका सम्यग्दृष्टिने दर्शन किया है, वही उसके लिए साध्य है। वर्तमान पर्यायमे मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी रहित होनेसे तन्मात्र ही शुद्ध है। सयमभावके अवलम्बनसे उसी लक्ष्यकी साधना करता है तथा निष्कषाय भावकी ऊपर-ऊपर अभिवृद्धि होती है, अत पर्याय शुद्ध भी बनता जाता है, वह लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर बढता है और बारहवे गुणस्थानमे तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानमे वे सभी गुण, जो प्रत्येक आत्मामे शक्ति रूप थे, पर्यायरूपमे अभिव्यक्त हो जाते है। यह पुरुषार्थ सम्यक्त्वके साथ सयमभावका है, जिसे यथाख्यात चारित्र कहा है।

सम्यग्दर्शन ही सब पुरुषार्थो की जड है। अत सभी प्रयत्नोसे सर्वप्रथम उसे प्राप्त करना चाहिए। उसके प्राप्त होने पर आनेका मार्ग सुगम हो जाता है।

इस प्रकार स्वानुभूति, स्वसवेदन, स्वात्मोपलब्धि, स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग, स्वात्मसवेदन-प्रत्यक्ष आदि जो वर्तमानमे चर्चित विषय हैं, उनका विवेचन आगमके प्रमाणोके साथ किया गया। विद्वज्जन इन प्रमाणोके आधार पर उक्त विषयोको समझने तथा जिज्ञासुजनोको समझानेका प्रयत्न करेंगे।

१ सत्यमाद्यद्वय ज्ञान परोक्ष परसविदि। प्रत्यक्ष स्वानुभूते तु दृङ्मोहोपशमादित —पञ्चा० ४६२ अ २

२ धर्म सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्ध स्वानुभवोऽथवा।—पञ्चा० २ श्लोक ४३२

३ ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेन एको जीव एव प्रद्योतते। एवमसौ एकत्वेन द्योतमान. शुद्धनयत्वेन अनुभूयतए व। या तु अनुभूति. सा आत्मख्यातिरेव आत्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव इति समस्तमेव निरवद्यम्।—समयसारगाथा १३ की अमृतचन्द्रीय टीका—

४ एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमा।
सम्यक्त्वमात्र मारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्गुणा ॥९४०॥
स्वसवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्य भेदविज्ञान मित्याद्यस्तीह किं बहु ॥९४१॥

५. सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मन ॥१९८॥—पञ्चा० अ० २

तृतीय संस्करण

अध्यात्म अमृतकलश का द्वितीय सस्करण सन् १९८१ मे प्रकाशित हुआ था। एक-दो वर्षसे ग्रन्थकी प्रतियाँ समाप्त हो जानेसे पाठकोकी माँगको पूरा नही किया जा सका। इस बातका अनुभव करके प्रकाशक सस्थाने इसका तृतीय सस्करण प्रकाशित करनेकी इच्छा प्रगट की और मैंने अपनी सहमति दे दी।

प्रथम आवृत्तिके बाद कुछ चर्चित विषय मेरे सामने पाठकोकी ओरसे उपस्थित हुए और उनका समाधान व स्पष्टीकरण मैने द्वितीयावृत्तिकी प्रस्तावनामे किया है। आचार्य अमृतचन्द जी का जीवन परिचय तथा उनके विशिष्ट विचारोका परिचय भी दिया गया था जो अब तृतीयावृत्तिमे भी दिया जा रहा है।

इन प्रश्नोके समाधानमे मैने आगम पर दृष्टि रखी है तथापि वर्तमानमे कुछ ऐसे भी ग्रन्थ पाये जाते है जो भट्टारकीय युगमे लिखे गये है। यह स्पष्ट है कि भट्टारक पदपर ब्राह्मण भी प्रतिष्ठित हो जाते थे क्योकि भट्टारकीय सस्थाके नियमके अनुसार उस गद्दीका अधिकारी आजन्म ब्रह्मचारी होना चाहिये और जब जैन समाजमे ऐसा कोई व्यक्ति नही मिलता था तो कुछ ब्राह्मण लोग भी उस नियमको स्वीकृत उस गद्दी पर अधिष्ठित हुए। उन्होने जैनाचार्योंके नामसे भी अपने कल्पित ग्रथ प्रसारित किए। यह भी स्मरणीय है कि कुछ भट्टारक गद्दियाँ पूर्व आचार्योके नामपर भी चली आ रही है। चार-पाँच सौ वर्ष पूर्वसे भी उन गद्दियोमे बैठनेवाले भट्टारक स्वयको उसी नाम से घोषित करते आ रहे है। इसीसे ग्रथोकी प्रामाणिकतामे भ्रम होता हुआ चला आ रहा है। इसलिए पूजा-पद्धति एव आचार-विचारके नियमोमे ब्राह्मणी पद्धतिका मिश्रण हो गया है और उनका पृथक्करण करना लोगोको सम्भव नही रहा फिर भी आज दि० जैन विद्वान् जो जिनवाणीके मर्मज्ञ हुए है या वर्तमान मे है उन्होने इसका विश्लेषण किया है और उन ग्रन्थोमे ब्राह्मणत्वकी झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

दि० जैन आचार्य प्रणीत ग्रन्थोमे जो विषय वर्णित है उनकी खरी कसौटी वीत-रागता-अहिंसा-अपरिग्रह, भोगोपभोगका निषेध तथा अनेकात आदि है। इन कसौटियो पर कसकर ही वर्तमानमे चालू तथा प्राप्त प्रश्नोका समाधान मैने अपनी बुद्धि एव अनुभवके आधार पर किया है। विद्वत्जन उस पर विचार करेंगे और कोई त्रुटि हो तो मुझे भी सूचित करेंगे।

इस टीकामे व प्रश्नोमे कही-कही पुनरुक्तता पाठकोको भाषित होगी पर यह बात जानना चाहिये कि अध्यात्ममे पुनरुक्तता दोष नही मानी जाती। अनादि कालसे अज्ञानमे पडे हुए जीवको एक बारके सम्बोधनसे ज्ञानकी उपलब्धि नही होती है अत. बार-बार प्रकारातरसे उन पुनरुक्त प्रश्नोके भिन्न-भिन्न शैलीसे उत्तर देकर वस्तुकी यथार्थताका बोध करानेका ही सभारम्भ किया गया है। यदि एक बारमे किसीको वस्तु तत्त्वको उपलब्धि हो जाय और वह आत्महितमे लग जाय तो उसे आगे पढनेका आयास करना ही न पडेगा। अत जिनको एक बारमे तत्त्वोपलब्धि नही होती उनके अनादि-कालीन मोह परिणामोको दूर करनेके लिए पुनरुक्ति भी लाभदायक है उसे दोष नही माना जाता।

इस तृतीयावृत्तिके प्रकाशनके लिए श्रीचन्द्रप्रभु दि० जैन मन्दिर, कटनीके संस्थापक परिवारो के सदस्य स० सि० धन्यकुमार, अभयकुमार, जयकुमार जी तथा मन्दिर समिति के सदस्योके तथा स०सि० मुरलीधर कन्हैयालाल जैन ट्रस्टके सदस्योके भी हम आभारी हैं।

श्रीमान् प० धन्यकुमारजी भौंरे कारजाने इस तृतीयावृत्तिके प्रकाशन होनेके पूर्व ही इस ग्रन्थको आद्योपान्त देख लिया है और उनके द्वारा दिये गये सुझावोका भी इस प्रकाशनमे उपयोग किया गया है। उनकी इस कृपाके लिए हम धन्यवाद देते हैं। सहयोग देनेवाले अन्य सज्जनोका भी हम आभार मानते हैं।

जगन्मोहनलाल शास्त्री

सतना
११ मई १९९१

ग्रंथकार आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरिका परिचय

•

प्राय ग्रन्थके आदिमे मगल-निमित्त-हेतु-प्रयोजन-तथा कर्ताके उल्लेखकी प्राचीन परम्परा है। आचार्य अमृतचन्द्रने इस आध्यात्मिक टीकामे समयसार (शुद्धात्मा) की ही वन्दनाकी है। मगलाचरणके बाद उन्होने अपने चैतन्य स्वरूपकी एकतासे अभिन्न तथा परसे भिन्न, समयसारका प्रतिपादन करनेके प्रयोजनमे उक्त टीका ग्रन्थका प्रारभ किया है। इस तरह केवल मगल और प्रयोजन मात्रका उल्लेख कर अन्य हेतु आदि कारणोका इसीमे समावेश कर दिया है। कर्त्ताका परिचय देनेमे वे स्वय मौन हैं।

ग्रन्थके अन्तमे भी उन्होने अपनी कोई परिचयात्मक प्रशस्ति नही लिखी, किन्तु निम्न श्लोक देकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है—

'स्वशक्ति ससूचितवस्तुतत्त्वै· व्याख्याकृतेय समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे·' ॥

अर्थात्—जिन शब्दोने इस समयसारकी व्याख्याकी है उन्होने अपनी सहज योग्यतासे ही वस्तुतत्त्वको प्रतिपादित किया है। अमृतचन्द्रसूरि स्वय अपने स्वरूपमे निष्ठ है, अत उसकी इसमे कोई कृति नही है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पचास्तिकायकी टीका भी अमृतचन्द्राचार्य कृत है। उसके अन्तमे भी उन्होने केवल उक्त श्लोक लिखकर टीकाकी समाप्ति कर दी है।

इन दोनो ग्रन्थोकी टीकाओके अन्तमे लिखित उक्त श्लोकसे टीकाकारका केवल नाम ही प्रकाशमे आता है। प्रवचनसार भी कुन्दकुन्दाचायकी कृति है और उसकी टीका भी श्री अमृतचन्द्राचार्यने लिखी है। इस टीकाके अन्तमे जो अन्तिम छन्द उन्होने लिखा है उसके आदिके दो पादोसे भी केवल उनके नामकी सूचना मिलती है—

व्याख्येय किल विश्वमात्मसहित व्याख्यातु गुम्फे गिराम्।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरितिमा मोहाज्जनो वल्गतु ॥

अर्थात्—लोक अपने मोहसे अमृतचन्द्रसूरिको इस टीकाका व्याख्याता न कहे, किन्तु वाणीके गुच्छकोकी यह कृति है। यह अपने और विश्वके हितके लिए ही है। इस कृतिसे, स्याद्वाद विद्याके बलसे, तथा विशुद्ध ज्ञानकी कलासे निराकुल शाश्वत आत्मतत्त्वको प्राप्त कर एक स्वतत्त्व ही सबके हृदयमे बोले।

तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय भी आचार्य अमृतचन्द्र जीकी स्वतन्त्र रचनाएँ है। तत्त्वार्थसारके अतमे निम्नलिखित श्लोक निबद्ध है—

वर्णा पदाना कर्त्तारो, वाक्यानातु पदावलि।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि पुनर्वयम् ॥

वर्णोके द्वारा पद, पदोके द्वारा वाक्य और वाक्योसे यह शास्त्र बना है, वे ही इसके कर्त्ता है हम इसके कर्त्ता नही हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमे भी यही लिखा हे—

वर्णै: कृतानि चित्रै: पदानि तु पदै: कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृत पवित्र शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ॥

अर्थात्-विविध वर्णोसे पद, पदोसे वाक्य और वाक्योसे यह पवित्र शास्त्र बना है, इसे हमने नही बनाया। इन दोनो रचनाओमे उन्होने अपना नाम भी प्रकाशित नही किया।

प्राय ग्रन्थकार ग्रन्थके आदिमे या अन्तमे अपनी गुरु परम्परा, सघका नाम ग्रथके बनानेका निमित्त और रचनाका समय आदिका उल्लेख करते है, जिससे ग्रन्थकारका परिचय प्राप्त हो जाता है। परन्तु अमृतचन्द्रसूरि अपनी आध्यात्मिकताकी गभीरतासे स्वरूपमे ही स्थित रहे, अत परिचय प्राप्त करनेसे उन्होने हमे वचित कर दिया। कही-कही कार्य विशेषके उल्लेखमे टकित शिलालेखोमे भी तत्कालीन आचार्योका परिचय प्राप्त हो जाता हे, परन्तु अमृतचन्द्रजीके सम्बन्धमे वह भी अप्राप्य है। कभी-कभी अन्य ग्रन्थकारोके ग्रन्थो, भाष्यो वा टीकाओमे भी भिन्न ग्रन्थकारोके उल्लेख मिल जाते हैं, इनके सम्बन्धमे वह भी उपलब्ध नही है, अत अमृतचन्द्रसूरिका प्रामाणिक परिचय देनेमे हम असमर्थ हैं। इनकी आध्यात्मिक निष्ठा, जिसका कि परिचय उनकी रचनाओसे स्वय मिलता है, उनका अन्तः परिचय देती है। आचार्यमहाराजके परिचयके लिए वही पर्याप्त है, फिर भी उपलब्ध प्रमाणो और सकेतोका सहारा लेकर उनका लौकिक परिचय यहाँ प्रस्तुत करनेका हम प्रयत्न कर रहे है।

ग्रन्थ प्रशस्तियोके आधारसे—

वीर स० २४३९ मे परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बईकी ओरसे प्रवचनसारका प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थके अन्तमे दो प्रशस्तियाँ छापी गई है, जिनका शीर्षक है— 'अथ टीकाकारस्य प्रशस्ति'। परीक्षण करनेपर यह बात सामने आई कि दोनो प्रशस्तियाँ टीकाकारोकी नही है, किन्तु दोनो टीकाओके विभिन्न प्रतिलिपिकारोको हैं। वे ही इस ग्रन्थके अन्तमे उक्त शीर्षकोसे छाप दी गई है। उनमेसे दूसरी प्रशस्ति, जो आचार्य जयसेनकी प्रशस्ति कही जाती है, वह वस्तुत- चारुभट नामके किसी श्रावक प्रतिलिपिकारकी है। इसके प्रारम्भमे उसने सबसे प्रथम आचार्य कुमुदचन्द्र, तत्पश्चात् मूल सघमे श्री वीरसेनाचाय, इनके बाद सोमसेन और उनके शिष्य जयसेन आचार्यकी वन्दनाकी है। इस परसे यह सभावनाकी गई है कि यह आचार्य जयसेनकी प्रशस्ति होगी जो कि समयसार तथा प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिके टीकाकार हैं। फिर भी यह निश्चय रूपसे कहना सम्भव नही है, क्योकि जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकाओके अन्तमे स्वय अपनी कोई प्रशस्ति नही लिखी। इसी प्रशस्तिके लेखक चारुभटने उक्त प्रकारसे पूर्वाचार्योंकी परम्परामे जयसेनाचायकी वन्दना करनेके पश्चात् अपने स्वयका परिचय इस प्रकार दिया है कि मै साहु मालूका पौत्र तथा साहु महीपतिका पुत्र चारुभट हूँ। अपने पिताकी

भक्ति वशात् समयप्राभृतको पुष्ट करता हूँ तथा अपने गुरु त्रिभुवनचन्द्रकी बन्दना करता हूँ। इस प्रशस्तिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि चारुभट प्रतिलिपिकार ही था। हो सकता है कि उसे जयसेनाचार्यकी पूर्व परम्पराका ज्ञान हो अत उसने प्रारम्भमे उनकी वन्दना-की हो। इस प्रशस्तिके आधार पर विद्वानोने जयसेनाचार्यकी गुरु परम्पराका निर्णय किया है। यदि यह प्रशस्ति आचार्य जयसेनने स्वय लिखी होती तो वे न तो अपनी गुरु परम्पराके साथ स्वय अपनी वन्दना करते और न अपने परिचयमे अपने पितामह और पिताके नामके साथ अपना गृहस्थावस्थाका नाम देते। ऐसी परम्परा जैनाचार्योंकी नही है।

इसी प्रकाशनमे जो प्रथम प्रशस्ति छापी गयी है वह गोपाचल (ग्वालियर) देवपत्तनके पट्ट पर बैठने वाले काष्ठासघके त्रयमाथुरान्वय, पुष्कर गणके भट्टारकोसे सम्बन्धित है। इस प्रशस्तिमे सर्व प्रथम नयसेन भट्टारकका नाम है, पश्चात् उनकी शिष्य परम्परामे धर्मचन्द्र भट्टारक तक दस पीढियोके नाम दिये गये है। प्रतिलिपिकार ब्र० हरिराज इस परम्पराकी सातवी पीढीके भट्टारक पद्मकीर्तिके शिष्य हैं इसका भी उल्लेख उन्होने इस प्रशस्तिमे किया है।

यह प्रशस्ति वि० स० १४६९ मे वीरमदेवके राज्यकालमे लिखी गई है। इसमे उल्लिखित भट्टारक परम्परामे आचार्य अमृतचन्द्रसूरिका नाम नही है। **ऐसी स्थितिमे यह प्रशस्ति अमृतचन्द्रसूरिकी हैं, और वे काष्ठासघके हैं, यह किसी प्रकार फलित नहीं किया जा सकता है।** वस्तुत दोनो प्रशस्तियाँ प्रतिलिपिकारोकी है। भ्रमसे उन्हे टीकाओके अन्तम लिखी देखकर टीकाकारोकी प्रशस्ति मानकर शीर्षक दे दिया गया है।

डा० उपाध्येका मत—

प्रवचनसारका एक प्रकाशन वि० स० १९९१ मे हुआ। इसकी विस्तृत भूमिका प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डा ए एन उपाध्येने अग्रेजीमे लिखी है। इसमे उन्होने प्रवचनसारके टीकाकर्त्ता आचार्य अमृतचन्द्रसूरिका परिचय देनेका प्रयत्न किया है। डा० उपाध्येके सामने भी ऐसे कोई प्रामाणिक तथ्य नही थे, जिससे वे कोई अन्तिम और यथार्थ निर्णय देनेमे समर्थ हो सके हो। उस भूमिकामे जो कुछ लिखा है उसका शब्दश- हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अमृतचन्द्राचार्यने प्राकृतम भी लिखा है? सभवत- उन्होने लिखा हो उसका आधार यह है कि—

१ उनकी टीकाएँ इगित करती हैं कि वे प्राकृतके अच्छे ज्ञाता थे।

२ समयसारकी टीकाकी किसी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमे एक प्राकृत गाथा लिखी मिलती है जो सम्भवत- उनके द्वारा रची गयी होगी।

३ मेघविजय गणी अपने प्राकृत श्रावकाचारमे लिखते हैं कि अमृतचन्द्रने कुछ प्राकृत गाथाएँ भी लिखी हैं।

एक गाथा जिसे अमृतचन्द्रकी रचना कहा गया है, ढाढमी गाथा कही गई है, **जिसके लेखकके बारेमे कुछ भी पता नहीं है**, सिवाय इसके कि वह काष्ठासंघसे सम्बन्धित रहा होगा। यदि मेघविजय गणीकी यह मान्यता सत्य मानते हैं कि 'सम्भवतः ढाढसी गाथाके लेखक अमृतचन्द्र होगे' तो उस स्थितिमे सम्भव है कि वे काष्ठासघसे सम्बन्धित रहे होगे।" परन्तु यह **सब काल्पनिक आधार पर ही आधारित है।** एक टीकाकारके रूपमे अमृतचन्द्रजी की स्थिति वास्तवमे महान् है। आध्यात्म कविके रूपमे वे अद्वितीय और अनुपमेय है। किसी भी पूर्व अथवा पश्चात्के जैन लेखककी उनसे तुलना नही की जा सकती" (प्रवचनसार अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ९४)

ढाढसी गाथाका परीक्षण—

डा ए एन उपाध्येने अपने उक्त लेखमे "एक ढाढसी गाथा समयसारकी किसी प्रतिके अन्तमे पाई जाती है" ऐसा उल्लेख मेघविजयगणीके लेखके आधार पर किया है। वह कौन सी गाथा है और कहाँ की प्रतिमे वह पायी गई है, उसका उल्लेख न तो मेघविजयगणीने किया और न डा० उपाध्येने ही किया। आजतक समयसारके बाइस प्रकाशन हो चुके है, उनमे किसीमे भी ऐसी कोई गाथा नही पाई जाती। अतः यह सम्भावनाकी जाती है कि उपाध्येजीको स्वय भी उस गाथाका कोई पता न था। किसी अन्य टिप्पणके आधार पर ही उन्होने अपने आलेखमे उसका समावेश कर लिया।

"ढाढसी गाथा" नामक ३८ श्लोकोका एक प्रबन्ध, श्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित "तत्त्वानुशासनादि सग्रह"मे सम्मिलित है। इसके ऊपर इस प्रकारका शीर्षक छापा गया है—

"अज्ञातनामकाष्ठासघ भुक्ताचार्यकृता ढाढसी गाथा"

मात्र इस शीर्षकसे ये गाथायें काष्ठासघसे सम्बन्धित मान ली गई हैं। सभवतः ये गाथायें उपाध्याय महोदयके सामने नही आईं। यदि आई होती और वे इन्हे पढते, तो इस शीर्षकको गलत ही मानते। ढाढसी गाथाका लेखक कौन है, यह भले ही उन गाथाओके आदि और अन्तमे नही बताया गया, तथापि गाथाओमे कथित विषय वस्तु स्वय इसका प्रमाण है कि—लेखक सघ भेदोके पक्षपातसे रहित कोई तटस्थ व्यक्ति ही है। उस प्रबन्धमे उन्होने लिखा है कि—"काष्ठासघ, मूलसघ तथा निष्पिच्छ सघ कोई तारने वाले नही है। आत्माको आत्मा ही तारता है अतः आत्माका ही ध्यान करना चाहिये।"

> सघो को वि ण तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
> अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झाएह॥

—ढाढसी गाथा न० २०

लेखकने यह भी लिखा है कि सर्व प्रथम मणि, धातु, रत्न, लेप, शिला तथा काष्ठमय प्रतिमाएँ जो पुण्यवान भव्य पुरुषोने प्रतिष्ठितकी हो, वे ध्यानके आलबन

भूत है, सो प्राथमिक अवस्थामे इनके अवलम्बनसे ध्यान करना चाहिये, पीछे बार-बारके अभ्याससे निरालम्ब ध्यान भी करना चाहिये। ऐसा करनेवाला लीलामात्रमे सिद्धिको प्राप्त होता है।

मणिरयणधाउलेवा सिलकट्ठमयघडिय पुण्णवन्तेहिं।
सालबझाणमित्तं पयट्ठिया तेहिं भव्वेहिं ॥ १३ ॥
पढमालम्बेषा य पच्छादो भावणा निरालबे।
थूलच कदब्भासो मुहुसज्जाइज्ज लीलाए ॥ १४ ॥

—ढाढसी गाथा प्रबन्ध से

इस प्रकार ढाढसी गाथा प्रबन्ध के लेखकने अपना प्रबन्ध निष्पक्षरूपसे आत्म-ध्यानकी प्रेरणास्वरूप छत्तीस गाथाओमे लिखा है। अन्तमे सैतीसवी गाथा है जिसमे उक्त छत्तीस गाथाओंके बाँचने और पढनेकी प्रेरणा दी है। वस्तुतः यहाँ ग्रथकी समाप्ति हो चुकी है, तथापि उसके अन्तमे अडतीसवें नम्बर पर निम्न एक गाथा और छापी गई है जो आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके प्रथम अध्यायमे क्रमाक अस्सीसे ली गई है—

जो जाणदि अरहन्त दव्वत्थ गुणत्थ पज्जयत्थेहिं।
सो जाणइ अप्पाण मोहोखलुजाइ तस्सलय ॥

इस गाथामे यह बताया है—"जो अरहन्तको द्रव्यगुण पर्यायसे जानता है, वही आत्माको जानता है। उसीका मोहक्षय होता है।" ढाढसी गाथामे जिस सालम्ब और निरालम्बकी प्रेरणा ध्यानकी गई है उसीके समर्थनमे कुन्दकुन्द आचायकी यह गाथा टिप्पणके रूपमे दी गई होगी। इससे यह भी अनुमानित होता है कि उक्त प्रबन्धका लेखक मूलसघके अग्रणी आचार्य कुन्दकुन्दका अनुगामी है, या कमसे कम उनके साहित्यका अध्येता और समर्थक है।

पट्टावलियोंके आधारसे—

नंदि सघकी पट्टावलीमे यह उल्लेख है कि यह पट्ट विक्रम सवत् ४ मे आचार्य भद्रबाहुसे प्रारम्भ हुआ। इनकी शिष्य परम्परामे वि० स० १४२ मे लोहाचार्य हुए और लोहाचार्यके बाद यह पट्ट दो शाखाओमे विभक्त हो गया। एक पूर्वपट्ट हुआ जो मूल सघके नामसे प्रसिद्ध हुआ और दूसरा उत्तर पट्ट। काष्ठासघकी पट्टावली लोहाचार्यसे प्रारम्भ होती है जो त्रेपन पीढी तक चली है। अन्तिम भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति जी वि० स० १९५२ मे दिवगत हुए। उनके बाद यह पट्ट समाप्त हो गया।

कारजाके काष्ठासघ मदिरमे श्री मुनीन्द्रकीर्त्तिजीका चित्र आज भी गद्दीपर स्थापित है। इस मन्दिरमे एक पुरानी पोथी है, जिसमे लाडबागडगच्छ की विरुदावली पेज १२८ पर अकित है। यह विरुदावली सवत् १७७३ मे लिखी गयी है। इसमे लोहाचार्यसे लेकर प्रतापकीर्ति तककी तीस पीढियाँ अकित है। यह पट्टावली त्रेपन पीढियो वाली पूर्वकी पट्टावलीसे भिन्न है। **काष्ठासघकी इन दोनो पट्टावलियोमे भी**

आचार्य अमृतचन्द्र सूरिका नाम नहीं है, काष्ठा संघ की मान्यता यही है। अत. यह निश्चित होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र काष्ठासघसे सम्बन्धित नहीं थे।

आचार्य अमृतचन्द्र सरिका काल—

आचार्य अमृतचन्द्रका काल विक्रम स० ९६२ का है तथा वे नन्दि सघसे सम्बन्धित थे। यह निम्नलिखित आधारो पर निश्चित होता है।

सन् १९०४ मे पचास्तिकायका एक प्रकाशन प० पन्नालालजी बाकलीवालके सम्पादकत्वमे हुआ था। उसकी भूमिकामे उन्होने लिखा है कि 'अमृतचन्द्रसूरि वि० स० ९६२ मे नन्दिसघके पट्टपर हो गये हैं।' प० मनोहरलालजी द्वारा सम्पादित प्रवचनसार, सन् १९१३ मे प्रकाशित हुआ है उसमे भी उन्होने यही मत व्यक्त किया है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृष्ठ १३७ पर श्री जिनेन्द्रवर्णीने अमृतचन्द्रसूरि का काल नन्दिसघ पट्टावलीके अनुसार वि० स० ९६२ से १०१५ तकका लिखा है, और इस प्रकार सूचित किया है कि वे नन्दिसघके पट्टपर ५३ वर्ष पर्यन्त रहे।

तेरहवी शताब्दीके सुप्रसिद्ध विद्वान् प० आशाधरजीने अपनी अनगार धर्मामृत की टीका वि० स० १२८५ मे पूर्ण की। अपने इस ग्रथमे उन्होंने दो जगह अमृतचन्द्र-सूरिका समयसारकी टीकाके कर्त्ताके रूपमे उल्लेख किया है। अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थसिद्धयुपायके 'लोकेशास्त्राभासे' आदि श्लोकका भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध हे कि अमृतचन्द्राचार्य आशाधरजीसे पूर्व हो चुके हैं।

पद्मनन्दि पर्चविंशतिकाके कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दिका समय वि० स० १०७५ के बाद तथा वि० स० १२४० के पूर्व माना गया है।

ये आचार्य पद्मनन्दि आचार्य अमृतचन्द्रसूरिके समयसारमे प्रभावित थे। इसी पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकारकी एक टीका कन्नड भाषामे है जो किसी पद्मनन्दि व्रतीके द्वारा लिखी गई है। उन्होने लिखा है कि—"इस ग्रन्थके कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दि आचार्य अमृतचन्द्र रूपी चन्द्रमाकी चन्द्रिकाके द्वारा विकसित नेत्रकमलोसे अवलोकित, अशेष अध्यात्म तत्त्वके वेदी थे। उनके मूल शब्द ये हैं—

"श्रीमदमृतचन्द्रचद्रिकोन्मीलितनेत्रोत्पलावलोकिताशेषाध्यात्मतत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना ।"

पद्मनन्दि पर्चविंशतिकाकी अग्रेजीकी लिखी हुई प्रस्तावनामे इसकी विस्तारसे सिद्धिकी है। उक्त कथनसे अमृतचन्द्रसूरिका काल वि० स० १०७५ के पूर्व सिद्ध होता है।

आचार्य अमितगतिका काल वि० स० ९७५ से १०२५ तक माना गया है। उनकी कृतियोमे भी आचार्य अमृतचन्द्रसूरिकी रचनाका प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है, अत सिद्ध है कि आचार्य अमृतचन्द्र अमितगतिसे पूर्ववर्ती है।

६ 'धर्मरत्नाकर' नामक ग्रन्थके लेखक एक जयसेन नामके आचार्य हुए हैं। उन्होने अपने ग्रन्थमे आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थकी ५६ गाथाये ज्यों की त्यो उद्धृत की है। इस ग्रन्थकी समाप्ति वि० स० १०५५ मे हुई है, ऐसा ग्रन्थके निम्नलिखित अन्तिम श्लोक से सिद्ध है—

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतायात सबलीकरहाटके॥

अत- यह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि वि० स० १०५५ से पूर्ववर्ती है।

७ डड्ढा नामक कविके द्वारा रचित एक सस्कृत पचसग्रह' ग्रन्थ है। इसके श्लोक आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकर ग्रन्थमे उद्धृत है, अत इस कविका काल आ० जयसेन से पूर्व है। इस सस्कृत पचसग्रहमे आचार्य अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारके श्लोक उद्धृत हैं, अत सिद्ध है कि जयसेनसे पूर्व डड्ढा कवि, तथा इनसे पूर्व अमृत-चन्द्राचार्य हुए हैं।

इन सभी प्रमाणोसे यह सिद्ध है कि नन्दिमघकी पट्टावलीमे आचार्य अमृत-चन्द्रका काल जो वि० स० ९६२ दिया गया हे, वह निर्विवाद ह। परमाध्यात्म तर-गिणीको प्रस्तावनामे पडित गजाधरलालजी ने, तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी प्रस्ता-वनामे प० उग्रसेनजी, रोहतक ने, तथा 'तीर्थकर महावीर ओर उनकी आचार्य परम्परा नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थम स्व० प० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने भी उक्त मतका ही समर्थन किया है।

टीकाओमें गाथा संख्याओका अन्तर

आचार्य कुन्दकुन्दकी रचनाओमे समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय, इन तीनो ग्रन्थोके ऊपर आचार्य अमृतचन्द्रजीको एव आचार्य जयसेनजीकी सस्कृत टीकाएँ पायी जाती हैं। परन्तु दोनो टीकाकारोकी टीकाओम, मूलग्रन्थकी गाथाओकी सख्यामे अन्तर पाया जाता है। प्रवचनसारमे छत्तीस गाथाओका, समयसारमे सत्ता-इस गाथाओका और पञ्चास्तिकायमे आठ गाथाओका अन्तर है, अर्थात् अमृतचन्द्र जीने इन इकहत्तर गाथाओकी टीका नही लिखी। जयसेनाचार्यजी ने इन सभी गाथाओकी टीका लिखी है।

प्रवचनसारकी भूमिका लिखते हुए डा ए एन उपाध्येने इन गाथाओकी टीका अमृतचन्द्रसूरि द्वारा न किये जाने पर कुछ अपनी आनुमानिक स्थापनाएँ दी हैं, वे इस प्रकार हैं—

प्रवचनसारकी एक टीका अमृतचन्द्राचार्यकी है जिसमे क्रमशः ज्ञानतत्व नामक प्रथमाधिकारम ९२, द्वितीयाधिकारमे १०८, और तृतीयाधिकारमे ७५ गाथाएँ है। कुल २७५ गाथाएँ है। आचार्य जयसेनके सामने आचार्य अमृतचन्द्रकी टीका थी पर उन्होने क्रमश- १०१, ११३ ओर ९७ गाथाएँ मानकर, कुल ३११ गाथाओकी टीका

लिखी है। कन्नड टीकाकार बालचन्द्र तथा प्रभाचन्द्रने भी जयसेनका ही अनुगमन किया है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय हैं—

(१) किन्ही औद्देशिक मानदण्डोके आधारपर यह निर्णय करना कठिन है कि कौन सी गाथाएँ मूल लेखककी हैं, और कौन सी गाथाएँ पश्चात् जोडी गई हैं।

(२) किसी गाथापर शका करनेके लिए इतनी साक्षी ही पर्याप्त है कि वह गाथा किन्ही अन्य ग्रन्थोमे उपलब्ध होती है। किन्तु यह निर्णयात्मक साक्ष्य नही हो सकता, क्योकि सभवत परम्परासे आगत बहुत सी गाथाएँ स्वतन्त्र रूपसे भी शामिल कर ली जाती हैं। ऐसी स्थितिमे सुरक्षित रास्ता तो यह होगा कि अतिरिक्त गाथाओके स्वभाव और विषय वस्तुके बारेमे देखा जाय, तथा देखा जाय कि ग्रन्थमे उनका क्या स्थान है।

(३) प्रवचनसारके प्रथमाध्यायमे ९, दूसरेमे ५ और तीसरेमे २२ गाथाएँ अतिरिक्त हैं। प्रथम द्वितीयाध्यायकी छूटी गाथाएँ नमस्कारात्मक या मध्यम स्वभाव वाली है। वे रहें, या न रहे, कुछ विशेष सामग्री नही जोड़ती। किन्तु भाग २ की ४ थी गाथा व तीसरे अध्यायकी ३ से १७ तककी गाथाएँ जो आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा ग्रहण नही की गईं, वे अतिरिक्त जानकारी देनेवाली गाथाएँ हैं।

(४) ध्यानमे रखना होगा कि इन गाथाओ द्वारा जो अतिरिक्त जानकारी दी गई है वह कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंकी विषय वस्तुसे मिलान खाती है या नही ? यदि उनके अन्य ग्रन्थोसे असबद्ध विषय है, तो इन गाथाओको शकित दृष्टिसे देखा जा सकता है। यदि सबद्धता है तो उन्हे स्वीकार करने योग्य माना जा सकता है। पारम्परिक स्थापनाओमे पुनरुक्ति असामान्य नही मानी जाती।

(५) मुझे इस तर्कमे कुछ अधिक बल नही दिखाई देता कि ये गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्दकी लिखी हुई, बनाई हुई या सगृहीत नही है, क्योकि उनकी विषय-वस्तु, कुन्दकुन्दकी विषयवस्तुमे मेल खाती है।

—डा० उपाध्ये द्वारा लिखित (प्रस्तावना पृ० ४८-४९)

आलोचनात्मक प्रकाश—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अमृतचन्द्रने इन गाथाओ-को अपनी टीकाओमे क्यो शामिल नही किया ? विश्वसनीय मूल और शाब्दिक अनुवाद करना उनका लक्ष्य न था। उनकी टीका ऐसे शाब्दिक भाष्यके समान है जिसमे उन्होने प्रवचनसारकी विषय वस्तुको विस्तार दिया है, और अतिरिक्त जान-कारियाँ क्रमिक ढगसे दी है। यदि उनका यही लक्ष्य होता तो मध्यस्थ गाथाओको शामिल करनेकी चिन्ता वे न करते।

अमृतचन्द्रके द्वारा अपने ग्रन्थोमे बहुतसी अन्य पुरानी प्राकृत गाथाओको स्थान दिया गया है। कुछ गाथाएँ हैं जो उन्होने अपने प्रवचनसारकी टीकामे सम्मिलित नही की हैं, किन्तु उनकी जानकारी उन्हे थी। हाँ कुछ कारण समझमे नही आया कि ये गाथाएँ अमृतचन्द्रने अपनी टीकामे क्यो शामिल नही की, जब कि गाथाओका

भाव उन्होने अपने दूसरे ग्रन्थोमे लिया है। उदाहरणके लिये प्रवचनसार भाग २ गाथा २, का भाव तत्त्वार्थसार भाग ३ श्लोक ४ से, तथा प्रवचनसार भाग ३ की गाथा-१२-१८-१९, पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमे श्लोक १११-११२-६७-६८ से मिलती हैं। भाग ३ की गाथा १।२ बहुत प्राचीन हैं, कई प्राचीन ग्रन्थोमे पायी जाती है।

यह कहना उचित न होगा कि हम यह सोचें कि उन्होने किसी पूर्वाग्रह वश ऐसा किया होगा क्योकि ऐसा सोचनेके लिए हमारे पास अत्यल्प साक्ष्य हैं। तीसरे समूहकी ये गाथाएँ श्वेताम्बर मान्यताके विरुद्ध पडती है। जैसे साधुके लिए भिक्षा-पात्रका होना, उसी भवमे स्त्रीमुक्ति होना आदि।

मेरा तात्कालिक अनुमान तो यह है कि अमृतचन्द्र अत्यधिक आध्यात्मिक होनेके कारण साम्प्रदायिक विवादसे दूर रहना चाहते होगे, और इसीलिये अपनी टीकाको कुन्दकुन्दके उच्चविचारोके साथ सभी सम्प्रदायोके लिए स्वीकार्य बनानेके भावसे, स्पष्ट और साम्प्रदायिक कटु आलोचनात्मक आक्रमणसे वे बचे रहे अतः उन्होने उन गाथाओकी टीका नही की। (—प्रवचनसार—अग्रेजी प्रस्तावना पृष्ठ ४८ से ५१)

उक्त प्रस्तावनाके तथ्योकी समीक्षा

प्रवचनसारकी वे गाथाएँ जो अमृतचन्द्रसूरि द्वारा ग्रहण नही की गयी, ३६ है। यहाँ उनपर विचार आवश्यक प्रतीत होता है। देखना है कि क्या वे मूलग्रन्थकी गाथाएँ हैं या क्षेपक हैं।

प्रथमाध्यायमे ९ गाथाओकी टीका नही हुई। ये गाथायें नमस्कारात्मक है जो बीच-बीचमे आई है। वस्तुत. प्रवचनसारके प्रथम अध्यायमे आये ज्ञानतत्वप्रज्ञापन, शुद्धोपयोग अधिकार, ज्ञानाधिकार, सुखाधिकार, शुभपरिणामाधिकारके प्रसगमे, इन गाथाओका कथन या वर्णन प्रासगिक नही है। यदि आचार्यकी यह पद्धति होती, तो इसी ग्रन्थके दूसरे और तीसरे अध्यायमे १०८ तथा ७५ गाथायें हैं, वहाँ भी इसी क्रमसे बीच-बीचमे १८–२० नमस्कारात्मक गाथायें आती—पर ऐसा नही पाया जाता।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने मूलग्रन्थकी गाथाओकी व्याख्या की है, क्षेपक गाथाओकी नही की। यह हो सकता है कि उनके सामने जो प्रति हो, उसमे ये क्षेपक गाथाएँ ही न लिखी गई हो। **किसी अन्य प्रतिमे वे क्षेपक गाथाएँ हो, और वह प्रति** जयसेनाचार्यके सन्मुख हो, अत· उन्होने उनकी भी टीका कर दी हो।

आचार्य कुन्दकुन्दकी ग्रन्थ रचना शैली भी ऐसी नही है कि वे ९२ गाथाके प्रकरणमे विषय वर्णनके बीच-बीचमे बार-बार नमस्कारात्मक गाथा लिखें, अत सम्भवत ये मूलग्रन्थकी गाथायें नहीं हैं, वरन् क्षेपक गाथायें है जो किसी लिपिकारने अपनी प्रतिमे कभी लिख ली होगी, समयान्तरमे ये ग्रन्थमे जुड गई।

इन ३६ गाथाओमे कौन मूल लेखककी हैं, यह निर्णय कठिन नहीं है। जिन गाथाओके मध्यकी गाथायें छूटी मानी जाती हैं, उनके पूर्व और उत्तरकी दोनों गाथाओके बीच विषय सम्बन्ध यदि टूटता है तो उस गाथाको ग्रथका अश अवश्य माना जा सकता है। यदि विषय सम्बन्ध नही टूटता, गाथा कुछ अलग ही विषयका प्रतिपादन करती हैं, या पुनरुक्त रूपताको लिए हैं, तो वे क्षेपक हैं। मूलग्रन्थकी नही है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अन्य ग्रन्थोमे उन गाथाओका उपलब्ध होना यही प्रमाणित करता है कि वे अन्यत्रकी हैं। यदि वे अन्य ग्रथ, कुन्दकुन्द स्वामीके कालसे पूर्वके आचार्यों द्वारा रचित हैं, तो वे उद्धृत होनेसे क्षेपक ही हैं। यदि उनके बादके ग्रथकारोके हैं तो भी वे क्षेपक हैं। मूलग्रन्थमे सम्मिलित कोई गाथा यदि कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थमे निबद्ध हो तो लेखककी मूलकृति है, जैसे—"तिसिद बुभुक्खिद" आदि प्रवचनसारमे क्षेपक है वह पञ्चास्तिकायमे १३७ न० पर मूल गाथा है।

इसके सिवाय भाग २ की कुछ गाथाओको, 'मध्यमस्वभाव वाली हैं' ऐसा उपाध्याय महोदयने लिखा है, तथा यह बताया है कि वे यदि ग्रन्थमे रहे तो कुछ सामग्री नही जोडती और न रहे तो कोई कमी नही खटकती।

विचारना यह है कि जो गाथायें कुछ सामग्री नही देती और जिनके अभावमे कोई कमी नही रहती क्या वे आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रौढ रचनाके सामने स्वय अपनी अनावश्यकताको प्रदर्शित नही करती ? फिर भी यदि वे किसी प्रतिमे पाई जाती हैं तो उन्हे किसी अध्ययनार्थी लेखककी स्वेच्छामे, अन्यत्रमे संगृहीत क्षेपक गाथाएँ माननेके लिए आपका उक्त कथन ही पर्याप्त है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य कृत समयसारकी आत्मख्याति और तत्त्वप्रदीपिकामे २७ गाथाओका अन्तर है। आत्मख्यातिमे २७ गाथाएँ कम हैं और तत्त्वप्रदीपिकामे २७ अधिक हैं। पचास्तिकायमे भी दोनोमे ८ गाथाओका अन्तर है। इन तीनो ग्रथोमे ७१ गाथाओका अन्तर इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अमृतचन्द्रसूरिने परीक्षण करके ही अपनी टीकाके लिए मूलगाथाओका ग्रहण किया और उन पर ही टीका लिखी है। इन अतिरिक्त गाथाओका अन्त परीक्षण करने पर, ये क्षेपक गाथाएँ ही हैं, यह तथ्य महान् इतिहासज्ञ स्व० स्वनामधन्य प० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा सयोजित वा सम्पादित प्रसिद्ध ग्रथ 'पुरातन जैन वाक्य सूची' मे भी प्रतिपादित है।

श्री प० बलभद्रजीने पूज्य एलाचार्य उपाध्याय विद्यानन्दिजीके सान्निध्यमे, समयसारका एक प्रामाणिक सस्करण, कुन्दकुन्द भारती देहलीसे सन् १९७८ मे प्रकाशित किया है। उसकी भूमिकामे यह स्पष्ट किया है कि तात्पर्यवृत्तिकी अतिरिक्त गाथाओमे कई गाथाएँ अप्रासागिक है, पुनरुक्त है, और अन्य ग्रथोकी हैं। इस सस्करणका सशोधन बाइस प्रकाशित प्रतियोमे, तथा पैंतीस ताडपत्रीय या हस्तलिखित प्रतियोसे किया गया है। इसमे अतिरक्त क्षेपक गाथाको मूल नही माना गया। दिनाक २७-१०-८० को पूज्य

आर्यिका ज्ञानमतीजी द्वारा सचालित शिक्षण शिविर देहलीमे श्री प० बलभद्रजी न्याय-तीर्थसे मेरी प्रत्यक्षवार्ता भी हुई। उन्होने यह बताया कि हस्तलिखित समयसार (मूल) की दो प्राचीन प्रतियाँ मिली। एक अजमेरसे दूसरी मूडबिद्रीसे। इन दोनो प्राचीन प्रतियोंमे समयसार की वे २७ गाथाएँ नही पायी गयी। पचास्तिकाय और समयसारकी क्षेपक गाथाओकी भी यही स्थिति है। उनमे भी पूर्वगाथाके भावके समर्थनमे ऐसी ही उत्थानिका देकर क्षेपक गाथाएँ पायी जाती हैं। समयसारमे मात्र एक शब्द का परि-वर्तनकर गाथा ३२ को ही क्षेपक गाथाके रूपमे से उल्लिखित किया गया है, वह गाथा इस प्रकार है—

> **जो मोह तु जिणित्ता णाण सहावाधिय मुणदि आदं।**
> **तं जिद मोहं साहुं परमट्ठ वियाणिया विंति ॥३२॥**

ऐसी ही दो गाथा समयसारमे मूलगाथा ११५ के बाद क्षेपकरूपमे छपी है, इनके मात्र पूर्वार्ध शब्द परिवर्तित हैं उत्तरार्ध वही है जो इस प्रकार हैं—

१. जो सग तु मुइत्ता णाण सहावाधिय मुणदि आद।

२ जो धम्म तु मुइत्ता णाण सहावाधिय मुणदि आदं।

उपरोक्त ४ और ५ डा ए एन उपाध्येने जो अतिरिक्त जानकारी देनेवाली गाथाएँ लिखी हैं वे कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोकी विषय वस्तुसे मिलान खाती हैं, अतः वे गाथाएँ कुन्दकुन्दकी नही हैं इस तर्कमे अधिक बल नही दिखाई देता, ऐसा लिखा है।

विचारणीय यह है कि लेखकके लिये यह आवश्यक नही है कि उसने दूसरे ग्रथोमे जो विषय लिखा है वह विषय अपने सभी ग्रथोमे उसने लिखा ही जाये। आचार्य अमृत-चन्द्रको भी उन गाथाओको लिखने और टीका करने मे क्या बाधा थी ?

आलोचनात्मक प्रकाशमे डा० उपाध्येने अतिरिक्त जानकारी देनेवाली गाथाओ-को टीकामे शामिल न करनेका कारण उनकी आध्यात्मिक निष्ठा और प्रवृत्तिके कारण वे साम्प्रदायिक विवादसे दूर रहना चाहते होगे, यह अनुमान किया है। आचार्य अमृत-चन्द्रका जो आध्यात्मिक जीवन था उससे ऐसा अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। परन्तु उसका यह कारण भी डा सा के पूर्व कथनमे स्वय बाधित है, जहाँ वे लिखते हैं "कि उन्हे कोई पूर्वाग्रह नही था उन्होने उन गाथाओके भाव अन्य ग्रथोमे लिये हैं।" जब अन्य ग्रन्थोमे वही भाव लिए हैं तब साम्प्रदायिक विवादसे वे दूर रहना चाहते थे, यह कथन स्वय बाधित है तत्त्वार्थसार भी अमृतचन्द्राचार्य कृत ग्रन्थ है, उन्होने उसमे श्वेताम्बर मान्यताओको विपरीत मिथ्यात्वमे ही शामिल किया है—

> **सग्रन्थोऽपि निर्ग्रन्थ ग्रासाहारी च केवली।**
> **रुचिरेवं विधायत्र विपरीत हि तत्स्मृतम् ॥५-६॥**

इससे श्वेताम्बर मान्यताओका स्पष्ट खण्डन होता है। डा० उपाध्येने प्रवचनसारमे अतिरिक्त गाथाओंका वर्गीकरण करके जो निष्कर्ष निकाला है, यदि वे समयसार और पञ्चास्तिकायकी अतिरिक्त गाथाओ पर भी ध्यान देते, जो अमृतचन्द्राचार्य द्वारा सटीक नही हुई हैं, तो उक्त निष्कर्ष न निकालते, किन्तु उन्हे स्वयं भी क्षेपक गाथाके रूप में ही स्वीकार करते।

डा० उपाध्येके लेख अपनी कथित मर्यादाके भीतर ही हैं। उनके लेख से कहीं यह ध्वनित नही होता—कि" आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार चारित्र चूलिकामे स्त्री मुक्ति निषेध सम्बन्धी गाथाओंको मूलमे शामिल कर उन पर टीका इसलिए नही लिखी कि 'आचार्य अमृतचन्द्रको स्त्री मुक्ति निषेधका प्रसग इष्ट प्रतीत नही था'।

आ० अमृतचन्द्रने पद-पद पर दिगम्बरत्वको ही स्पष्टत मोक्षमार्ग माना है, सवस्त्रताको नही। जो पुरुषकी वस्त्रादि उपाधियोको अन्तरग बहिरग छेद मानता हो, वह ग्रन्थकार स्त्री मुक्तिके निषेधको इष्ट न मानता हो, यह मानना भ्रम है। इस प्रकरणमे क्षेपक १०-११ गाथाएँ स्त्री मुक्तिके निषेधकी है, सभी गाथाओमे स्त्रियोकी प्रमाद दशाको ही उसका हेतु बताया गया है। आ० अमृतचन्द्र इससे सहमत थे। उन्हे भी स्त्री मुक्ति अमान्य थी। प्रवचनसार गाथा ४४ में केवलीके स्थान निषद्या, विहार, धर्मोपदेशकी क्रिया स्वाभाविक है, यह वर्णन किया है। इस प्रसगमे कुन्दकुन्द स्वामीने दृष्टान्त दिया है—

'मायाचारोव्व इत्थीणं।' आचार्य अमृतचन्द्रने इसकी टीकामे लिखा है—**'यथा महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविध योग्यता सद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनावगुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते।'** अर्थात् स्त्रियोको प्रयत्नके बिना भी उस प्रकारकी योग्यताके सद्भावसे स्वभावभूत ही मायाके आवरणसे आवरित व्यवहार प्रवर्तित होता है। क्या इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए आचार्य, उनकी मुक्तिका निषेध इष्ट न मानेंगे ?

आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे गाथा १६ मे मुनियोंका आचार कैसा होना चाहिये यह स्पष्ट किया है—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः॥

"निश्चय मार्गका अनुसरण करने वाले, पर वस्तुके सम्पर्क जनित करम्बित आचारसे पराङ्मुख मुनियोकी, परसे सम्पूर्ण विरति रूप अलौकिक वृत्ति होती है।"

इससे स्पष्ट है कि सस्वस्त्र मुक्ति अमृतचन्द्राचार्यकी मान्यतामे नही है, फिर स्त्री मुक्तिके निषेध करने वाली गाथाओकी टीका करनेसे उनके विरत होनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

प्रवचनसारमें करणानुयोग चूलिका, की गाथा २२२ मे, बहिरंग उपाधिका त्याग, अन्तरंग छेदके प्रतिषेधके लिए ही है, यह बताया है। २२१ गाथामें बाह्य उपाधि ही अन्तरंगच्छेदका कारण है इसका ही विस्तार है। दोनोके बीचमे कोई टूट नही है, सुसम्बद्धता है। इन दोनोके बीचमें ही ३ अतिरिक्त गाथाएँ हैं, जिनमे वस्त्र-भाजन आदि रखने पर आरम्भ होता है, यह प्रतिपादन है। जो उन दोनो गाथाओमे कथित विषयकी पुनरुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्दने स्वय २२१ के कथित विषयका विस्तार गाथा न० २२२/२२३ मे किया है, अत मध्यकी तीन गाथाएँ अतिरिक्त हैं, और क्षेपक हैं। मूलग्रन्थकी नही हैं, किसी अन्य ग्रन्थकी हैं जो उक्तार्थके समर्थन रूप हैं। इन अतिरिक्त गाथाओमे स्त्री मुक्तिके निषेधके समान पात्र रखनेका भी निषेध किया है। यदि यह माना जाय कि अमृत चन्द्राचार्यको स्त्री मुक्ति निषेध इष्ट न था तो यह भी मानना होगा कि भिक्षा पात्रको रखनेका भी निषेध उन्हे इष्ट नही था।

जबकि गाथा २२४ मे बताया है कि जो देहको भी परद्रव्य होनेके कारण परिग्रह मानता है, वह साधु अन्य वस्तुको परिग्रह क्यो न मानेगा? गाथा २२५ मे यह बताया है कि जिनमार्गमे यथाजातरूप-गुरुवचन-विनय और सूत्राध्ययन ये ही उपकरण हैं। आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसकी टीकामे यह भी स्पष्ट किया है कि श्रामण्य पर्यायके लिए सहकारीको ही उपकरण माना गया है, अन्यको नही।" वस्तुतः बहिरग नाग्न्य-रूप पुद्गल, वचनपुद्गल-शब्दात्मकसूत्र पुद्गल और विनीतताके अभिप्रायरूपचित्त पुद्गल, में कोई भी आत्मधर्म नही है।

दोनों गाथाएँ परस्पर सुसबद्ध हैं। इस प्रकरणमे स्त्रीमुक्ति विधान व निषेधका प्रकरण ही नही हैं। इन दोनोके बीच अतिरिक्त स्त्रीमुक्ति निषेधक गाथाएँ अप्रासगिक हैं। अतः वे क्षेपक ही हैं। इन अतिरिक्त गाथाओकी विषयवस्तु आचार्य अमृतचन्द्रको इष्ट नही थी, ऐसा यदि निर्धार किया जायगा, तो यह भी मानना होगा कि प्रवचन-सार, समयसार, पञ्चास्तिकायकी अतिरिक्त सभी गाथाओकी विषयवस्तुसे भी वे सहमत न थे। तब तो यह भी कहना होगा कि जैनधर्मके अनेक सिद्धान्त वे नही मानते थे। क्या यह मानना यथार्थ होगा? हम देखते हैं कि उनके ग्रन्थो मे सभी सिद्धान्तोंको पूर्ण मान्यता दी गई है तथा उनका प्रतिपादन किया गया है।

यथार्थ यह है कि पुरातन समयमे व्यक्ति अपने पठनपाठनकी दृष्टिसे ग्रन्थकी प्रतिलिपि कर लेता था। यदि प्रकरणके अनुसार उसी अर्थकी प्रतिपादक कोई अन्य गाथाएँ कही मिली तो उन्हे भी अपनी प्रतिमे लिख लेता था। 'उक्त च' करके उद्धृत गाथा तभी लिखी जाती थी जब लेखक आचार्य अपनी बातकी पुष्टिको किसी अपनेसे पूर्वज प्रसिद्ध आचार्यके ग्रन्थका प्रमाण देते थे। प्रतिलिपिकार जिन गाथाओको उद्धृत करते थे उसमे 'उक्तं च' शब्दका उल्लेख करना आवश्यक नही था। वे प्रायः ग्रन्थका नाम भी नही देते थे। इससे यह फलित होता है कि वे अधिक गाथाएँ इसी प्रकार कभी जुड गई होगी। वे मूलग्रन्थ की नही हैं किन्तु क्षेपक हैं, अतः उनकी टीका

अमृतचन्द्राचार्यकृत भाष्यमे नही पाई जाती । जयसेनाचार्य यह निर्णय नही कर सके कि ये गाथाएँ मूल हैं या क्षेपक, तथापि जो सामने थी सबपर उन्होने टीका लिख दी । आचार्य जयसेनने अपनी समस्त टोका आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाका आलंबन लेकर हो की है । उनका आचार्य अमृतचन्द्रके प्रति बहुमान था ।

आचार्य अमृतचन्द्र दिगम्बरता के कट्टर पोषक थे, उसे ही वे मोक्षमार्ग मानते थे । सवस्त्र मुक्ति माननेवाले ही अगत्या स्त्रीमुक्तिका विधान करते हैं क्योंकि सवस्त्र मुक्तिमें स्त्री पुरुषको मुक्ति भेदको स्वीकारताका कोई हेतु शेष नहीं रह जाता ।

आचार्य अमृतचन्द्रने कहाँ-कहाँ अपने भाष्यमें सवस्त्र मुक्तिका निषेधकर, दिगम्बर अवस्थाको ही मोक्षका साधन माना है, इसके पुष्ट प्रमाण उनकी टीकाके शब्दोमे प्रवचनसार चारित्र चूलिकामें देखिये ।

चारित्र चूलिकाकी गाथा २०४ की टीकामें लिखा है—

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति ।

गाथा २०५-२०६ की टीकामें वे लिखते हैं—

आत्मनो हि तावत् आत्मना यथोदित क्रमेण यथाजात रूपधरस्य जातस्य अयथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभाव: । तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसन भूषण धारणस्य मूर्धजव्यञ्जन पालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव तदेतद्बहिरंग लिङ्गम् ।

इसका हिन्दी अर्थ प० हेमराजजी पाडे कृत, जिसे आधुनिक भाषाका रूप प० मनोहरलालजीने दिया है, वह इस प्रकार है—

यथाजातरूप (निर्ग्रन्थपने) पदको रोकनेवाले राग-द्वेष-मोह भाव हैं । उनका जब अभाव होता है तब यह आत्मा आप हीसे परिपाटी (क्रम) के अनुसार **यथाजात रूपका धारक होता है** । उस अवस्थामें इस जीवके रागादि भावोके बढ़ानेवाले जो **वस्त्र आभूषण हैं, उनका अभाव** तथा सिर दाढ़ी के बालोकी रक्षाका अभाव होता है। निष्परिग्रह दशा होती है । पाप क्रियासे रहित होता है और शरीर मण्डनादि क्रियासे रहित होता है । अर्थात् जैसा मुनिका स्वरूप बाह्य दशा कर होता है वैसा ही बन जाता है यह द्रव्यलिंग जानना ।

जो श्रामण्य मुनिपदका अभिलाषी है उसे किस प्रकारसे द्रव्यलिंग धारण करना चाहिये उसका यह वर्णन है । उसे यथाजातरूपधारी होना चाहिये । यथाजात शब्दका अर्थ यह है कि **बालककी उत्पत्तिकी अवस्था जैसी भूषणवस्त्र रहित नग्न होती है वैसा रूप उसका होना चाहिए** यही व्याख्या अमृतचन्द्रसूरिने की है । प्रवचनसार श्लोक २१५ की टीकामें वे लिखते हैं—श्रामण्य पर्याय सहकारि कारण शरीर वृत्ति

हेतु मात्रत्वेनादीयमाने भक्ते क्षपणे गिरीन्द्र कन्दरप्रभृतावावसथे 'विहार कर्मणि श्रामण्यपर्याय सहकारि कारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने **केवल देह मात्रे उपधौ**

यहाँ मुनि पर्यायके लिए सहकारी क्या-क्या है जिन्हे साधु ग्रहण करता है, उसकी चर्चा की गई है। भोजन-उपवास-विहार, गिरि कन्दरा आवास तथा मुनि-पर्यायके लिए सहकारी कारण होनेसे केवल देहमात्र उपधिका निषेध नही है। इससे सिद्ध है कि अन्य कोई उपधि श्रामण्य पर्यायके लिए आवश्यक नही है वस्त्रादि सभी उपधियोका प्रतिषेध है। वस्त्रको मुनिपर्यायका विरोधी माना है, उसे उपधि नही बताया, देहमात्रको ही उपधि लिखा गया है इस कथन से भी वस्त्रका स्पष्ट निषेध हुआ।

प्रवचनसार श्लोक २२२ मे लिखा है कि

आत्मद्रव्यस्य द्वितीय पुद्गलद्रव्याभावात् सर्व एव उपधि. प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्ग। अयतु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहण-विसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमान. सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वात् छेद प्रतिषेध एव स्यात्।

आत्मद्रव्यके लिये पुद्गलद्रव्य मात्र द्वितीय वस्तु है, तब सभी उपधि प्रतिषिद्ध हैं। श्रामण्यपर्यायके लिये सहकारी कारण शरीर है शरीरकी वृत्ति सयम साधक हो, इसके लिए आहार नीहारका ग्रहण, विसर्जन आदि है, अत. उसे स्वीकार करते हैं। शरीर सयमसाधक होनेसे उसका त्याग सभव नही है अत तत्साधक अनिवार्य आहारका ग्रहण ही स्वीकार किया है वस्त्रादि नही।

श्रामण्य पर्याय सहकारि कारणत्वेनाप्रति सिध्यमानमानेऽत्यन्तमुपात्त देहेऽपि परिग्रहोऽय न नामानुग्रहार्ह:, किन्तु उपेक्ष्य एव। (गाथा २२४)

मुनि पर्यायके लिए सहकारी कारण शरीर को ही उपधिमान मानकर उसका निषेध नही किया फिर भी वह अत्यन्त उपात्त (स्वय प्राप्त) देह भी परद्रव्य होनेसे उसे भी परिग्रह माना और यह बताया कि उसपर अनुग्रह करना योग्य नही है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह भी उपेक्ष्य ही है। मात्र उससे मुनिपदकी साधना कर लेना चाहिए। जहाँ शरीर मात्र भी परिग्रह उपेक्ष्य है वहाँ अन्य वस्त्रादि परिग्रहको स्वीकारने-की मान्यता कैसे दी जा सकती है?

इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात् परम—नैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम्। (गाथा २२४) **सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरगलिङ्ग भूता. कायपुद्गला:।** (गाथा २२५)। **केवलदेहमात्रस्योपधे:।** (गाथा २२८)

इत्यादि अनेक स्थलोमे यथाजातरूप तथा परमनैर्ग्रन्थ्यको ही मान्यता दी है। तत्वार्थसारमे भी इसी प्रकारके अनेक उद्धरण हैं, जहाँ स्पष्ट रूपसे वसनादि रहित यथाजात दिगम्बर रूप ही साधुका है, अन्य उपधिका निषेध है ऐसा प्रतिपादन अमृतचन्द्राचार्यने किया है। चूँकि स्त्री वस्त्रका त्याग नही कर सकती अतः उनको महाव्रतित्व ही नही है। यह अमृताचन्द्राचार्यको इष्ट न होता तो वे वस्त्रका निषेध मोक्षमार्गके लिये अनिवार्य कैसे मानते ? **अतः यह शंका भी निर्मूल है कि अमृतचन्द्राचार्यको स्त्री मुक्तिका विरोध इष्ट नहीं था इसलिए उन्होंने जयसेनाचार्य टीकामें स्वीकृत उन वस गाथाओंकी टीका नहीं की।**

आचार्य अमृतचन्द्रजीको जो इष्ट नही होता वे उसका डकेकी चोट खण्डन करते। दबी भाषामे या मौन भाषामे उसका समर्थन करते यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है। उनकी लेखनीमे सौष्ठव, हेतु परकता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, आगमोक्तता उनके सभी वाक्योंसे टपकती है।

आचार्य अमृतचन्द्रकी टोकायें कितनी प्रौढ़-रसन्नान, सुसबद्ध अपने विषयका अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन करनेवाली हैं, उनके सम्बन्धमे एक जैनेतर विद्वान्‌ने अपने उद्‌गार एक विद्वद् गोष्ठीमे सम्मानपूर्वक प्रकट किये थे। उनसे पूछा गया कि आप भारतके माने हुए सस्कृतके दिग्गज विद्वान् हैं, सभी सस्कृत साहित्य आपकी दृष्टिपथमे आया ही होगा, आपको सस्कृतकी सर्वश्रेष्ठ कृति कौनसी लगी ? इस प्रश्नके उत्तरमे उन्होने कहा था—

'कालिदास और माघकी कृतियाँ यद्यपि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं, तथापि जैन साहित्यकारोंमे एक अमृतचन्द्रसूरि हुए है, जिन्होने आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार पर सस्कृत टीका बनाई है। वास्तवमे यह टीका नही है अपितु समयसार पर महाभाष्य है। इसकी उच्चकोटिकी भाषाकी छटा हृदयग्राही है तथा विद्वतापूर्ण है। मैं सस्कृत साहित्यकी रचनाओमे इसे सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। यह केवल भाष्यकलाके ही कारण नही, बल्कि इसलिये भी कि ससारमार्ग दूर करने वाले अध्यात्मको इन्होने अपनी रचनामे साहित्यके नवरसो युक्त नाटकके रूपमे प्रस्तुत किया है। यह कार्य कितना जटिल है इसका विचार जब करता हूँ तो मैं इसे उनकी इस कृतिको आश्चर्यकारी मानता हूँ जो सस्कृत साहित्यमे अपूर्व है, अद्वितीय है।

भगवान् महावीर तीर्थंकर द्वारा समुपदिष्ट पूर्ण अपरिग्रहत्वको पराकाष्ठा दिगम्बरत्वमे ही है। भगवान्‌के इस दिव्य सदेशको आचार्य कुन्दकुन्दने सूत्रबद्ध किया, तथा आचार्य अमृतचन्द्रने उन सूत्रोंका अवगाहन कर जो अमृतका रस अपनी टीका या कलशोसे प्रसारित किया है उसके दर्शन टीकामे पदपद पर होते हैं। इस स्थितिमे स्त्री मुक्ति या सपरिग्रहीकी मुक्तिकी मान्यताके खण्डनकी गाथाओकी टीका करनेसे विरत होकर प्रकारान्तरसे उस मान्यताका मौन समर्थन आचार्य अमृतचन्द्र करेंगे यह कल्पना ही विचित्र लगती है।

'अध्यात्म' शब्द शुद्धआत्माके सिवाय अन्य सबका निषेधक है। शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्ष है। आत्म-भिन्न पदार्थों तथा उनके प्रति लगावसे शुद्धात्म प्राप्ति कदापि सभव नही है। आचार्य अमृतचन्द्र इसके पूर्ण समर्थक थे। उनके सम्बन्धमे अन्यथा सोचना ही भ्रमपूर्ण है। आचार्य अमृतचन्द्रको उनके पश्चात् होने वाले सभी आचार्योंने आध्यात्मिक जगत्मे सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। आचार्य अमृतचन्द्रका लौकिक दृष्टिसे परिचय इस लेखमें उल्लिखित अनेक प्रमाणोके आधार पर सिद्ध हो चुका है कि वे नदिसघके आचार्य थे और उस पद पर वि० स० ९६२ से १०५३ तक आरूढ़ रहे। उनका यथार्थ आत्मपरिचय उनकी टीकाओ तथा कलशो का शब्द शब्द दे रहे हैं।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

ग्रन्थ-अधिकार-अनुक्रमणिका

●

नोट—प्रश्नो और उसके समाधानोंकी सूची अन्यत्र प्रकाशित है।

卐 श्री वर्द्धमानाय नम 卐

अध्यात्म-अमृत-कलश

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसार कलशोकी स्वात्म-प्रबोधिनी टीका

●

टीकाकार का मगलाचरण

दिव्येन ध्वनिना येन, सर्वप्राणि हितं कृतम् ।
दुष्षमे पंचमे काले, तं वीरं प्रणमाम्यहम् ॥

इस दुष्षम पचमकालमे जिन्होने अपनी दिव्य-ध्वनिके द्वारा, ममस्त प्राणियोका महान् उपकार किया है, उन श्री वीर जिनेश को मैं नमस्कार करता हूँ।

●

कलशकार का मगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

अन्वयार्थ—(**चित्स्वभावाय**) चैतन्य ही है स्वभाव जिसका ऐसे (**समयसाराय भावाय**) शुद्धात्मस्वरूप पदार्थको जो (**स्वानुभूत्या चकासते**) अपनी स्वानुभूतिसे प्रकाशमान होता है तथा (**सर्वभावान्तरच्छिदे**) जो सम्पूर्ण पदार्थान्तरोसे सर्वथा भिन्न है, (**नम**) उसे नमस्कार करता हूँ। अथवा सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञायक केवलज्ञानकी प्राप्तिके अर्थ नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—मैं अमृतचन्द्र (नामक आचार्य) समय (सम् + अय) सम् अर्थात् अपने निज एक स्वभावको लिए हुए, अयते=जाता है—परिवर्तित होता है, उसे 'समय' कहते हैं[1] ऐसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप पदार्थोंमे जो अपने लिए सारभूत, अपने गुण पर्यायोसे सयुक्त, उत्पाद-व्यय-रूप होकर भी अपने ध्रौव्य स्वभावको न छोडनेवाला, ऐसा जो समयसार भूत शुद्ध आत्मा, उसकी ग्रन्थके प्रारम्भमे वन्दना करता हूँ।

यह शुद्धात्मा निजके स्वानुभवसे प्रकट परिचयमे आता है। वह स्वय चैतन्य (ज्ञायक) स्वरूप—उपयोगमय स्वरूपवाला है। अन्य समय (पदार्थ) शुद्ध होते हुए भी जड स्वरूप हैं, ज्ञानदर्शन उपयोगसे भिन्न हैं। इसीलिए शुद्धात्मा स्वरूप समयसार सम्पूर्ण भावान्तरो, पदार्थान्तरोंसे सर्वथा रहित है। यद्यपि षट् द्रव्योमे पुद्गल जड और रूपी द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारो भी जड हैं, किन्तु अरूपी हैं। इन पाँच द्रव्यो का व्यवच्छेद (निराकरण) तो हो ही जाता है, क्योकि ये आत्मा नही हैं। परन्तु हमारी तरह अन्य अनन्त आत्माएँ जो ज्ञायकस्वरूप, स्वय चैतन्य भावको लिए हैं उनका भी निराकरण होता है, क्योंकि वे भी हमारे लिए भावान्तर है, मेरी निजात्मासे भिन्न हैं। स्वानुभूतिमे केवल स्व-स्वरूप की ही अनुभूति होती है। पर (अन्य) आत्माओंकी नही होती। अत उनकी भी यहाँ निराकरण किया है। शेष बचा जो निज शुद्धात्मा उसके प्रति नमन है।

(१) **प्रश्न**—यहाँ प्रश्न होता है कि मगलाचरणमे अपनी निज शुद्धात्माकी वदना की, सो वर्तमान अवस्था में आचार्य अमृतचन्द्रजी भी ससारी अवस्थामें हैं, शुद्धात्मा तो नहीं हुए। यदि शुद्धात्मा हैं तो वदना क्यो करते हैं ? कोई शुद्धात्मा अपनी वन्दना करे ऐसा तो शास्त्रमे उल्लेख नही है। वंद्य-वंदक भाव तो दो मे होता है। यहाँ स्वय वद्य और स्वय वदक हैं, यह कैसी बात है ?

समाधान—नमस्कार इष्टदेवको किया जाता है। इस अध्यात्म ग्रन्थको प्रारभ करते हुए आचार्य अपनी वर्तमान अशुद्ध पर्यायका अनुभव करके वदना करनेवाले वदक बने, और द्रव्यार्थिक नयसे वर्तमानमे भी अपने आत्मद्रव्यको कर्म, नोकर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्मसे भिन्न, शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दमय मानकर उस आत्माकी वदना की। अत. उसे वंद्य बनाया। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यशक्तिकी दृष्टिसे सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे तथा सम्पूर्ण पर निमित्तजन्य अपने विकार भावोंसे रहित, शुद्ध अपने एकत्वमे स्थित है। यद्यपि वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, किन्तु पर्यायदृष्टिको गौणकर, द्रव्य कैसा है, ऐसा द्रव्य दृष्टिसे देखें तो वह शुद्ध है। जैसे सुनार सोनेकी अशुद्ध डलीमे भी शुद्ध सोनेका अनुभव—कसौटी पर कसकर कर लेता है। यह जान लेता है कि इस चार तोलेकी डलीमे तीन तोला शुद्ध सोना है, और एक तोला अन्य पदार्थोंका मिश्रण है जो सोना नही है। यद्यपि उसकी वर्तमान पर्याय उस अशुद्धस्वर्णकी डली स्वरूप है तो भी भेद ज्ञान की पैनी दृष्टिसे, वह शुद्ध स्वर्ण कितना है, यह जान लेता है। इसी प्रकार भेद विज्ञान जिनको प्राप्त है, अत. जिनकी दृष्टि पैनी है, ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव अपने उस भेदज्ञानके आश्रयसे, अपने स्वरूपको शुद्ध द्रव्यके रूपमे पहिचान लेते हैं, और उसमे सम्बन्धको प्राप्त कर्म-नोकर्म भावकर्मको, ये मेरे निजमे दिखाई देने पर भी, मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं, ऐसा जान लेते हैं। उपरान्त

१. समयत एकीभावेन स्वगुण पर्यायान गच्छतीति निरुक्तेः ।—समयसार गाथा २ (आत्मख्याति टीका)

जैसे सुनार उस मिश्रणको दूर करनेका प्रयत्न कर शुद्ध सोना निकाल लेता है, उसी प्रकार भेद-ज्ञानी शरीर, द्रव्यकर्म तथा तदुभयनिमित्तजन्य रागादि भावकर्मोंको अपने स्वरूपसे भिन्न जानकर, उन्हे अपनेसे भिन्न करनेका प्रयत्न (चारित्र ग्रहण रूपमे) करके, आत्माको शुद्ध बना लेता है। आचार्य अपनी वर्तमान पर्यायको छोड शुद्धपर्यायको पाना चाहते हैं। अध्यात्मीका वही इष्टदेव है, अतः यहाँ उसकी वन्दना की है।[1]

'सर्वभावान्तरच्छिदे' का यह भी अर्थ है कि ज्ञान स्वप्रकाशक तो है ही परन्तु व्यवहार नयसे पर प्रकाशक भी है। जब आत्मा शुद्धपर्यायको अपनेमे प्रकट कर लेता है तब संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसके ज्ञानके ज्ञेय बन जाते हैं, अर्थात् उन सबको जान लेता है। आचार्य इस अर्थमे भी इस पदका प्रयोग करते हैं कि मैं अपनेमे उस केवलज्ञानको प्रकट करनेके लिए भी उस शुद्धात्मा की वन्दना करता हूँ।

भगवान् सिद्ध परमात्मा जो सिद्धालयमे विराजमान हैं वे भी कभी ससारी थे, और अपने समस्त विकारोका नाश कर अनन्तगुणोके धाम बने है। वे भी समस्त भावान्तरोसे भिन्न किन्तु सम्पूर्ण भावान्तरोके ज्ञाता है, अत वे समयसार रूप बने हैं। समयसारकी वन्दनासे उनकी भी वन्दना स्वय हो जाती है। अपनी स्वानुभूतिके आधारसे सम्यग्दृष्टि जीव उनके भी स्वरूपका अनुभव करता है और उन जैसा केवलज्ञानी बनना चाहता है, अत उनकी वन्दना करता है।

व्यवहारनयसे उन सिद्ध परमात्माओकी वन्दना इष्ट है, और निश्चयसे निज परमात्मा (शुद्धात्मा) जो द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध—द्रव्यके रूपमे सिद्धात्माओके स्वरूप-सम हैं उनकी, वन्दना करते हैं।

यह अध्यात्मशास्त्र है। **अध्यात्मशास्त्र निश्चयनय प्रधान है, व्यवहारनय इसमें गौणरूपसे वर्णित है। इसीलिए इसका निजशुद्धात्माकी वन्दना का अर्थ ग्रंथके अनुरूप है तथापि गौणरूपसे** इष्टदेव सिद्ध परमात्माके प्रति भी वन्दनाका भाव निहित है।

जिसे आत्माकी पवित्रता इष्ट है जो शुद्धता प्राप्तकर सिद्ध (निष्पन्न) हो गये हैं, जिनमे सम्पूर्ण स्वरूपकी सिद्धियाँ हैं, असिद्धता नही है, उसे उन आत्माओके प्रति स्वयमेव आकर्षण (स्नेह) होगा। अतः उनकी वन्दना भी शुभराग है। सो यद्यपि शुभराग शुभबन्धका हेतु है तथापि वह अशुभ रागादिसे निवृत्तकर निजके पुरुषार्थको जगानेमे कारण होता है, अत. **कथंचित् उपादेय है। सर्वथा हेय नहीं, न सर्वथा उपादेय है।** परन्तु निजका पुरुषार्थ जो स्वानुभूति-स्वात्मज्ञान स्व-रमणरूप है, वही साधन रूपमे **सर्वथा उपादेय** है। इसीलिए अध्यात्म शास्त्रमे उसे प्रमुख बनाकर ही वर्णन करते हैं।

श्रीशुभचन्द्राचार्यने परमाध्यात्म तरङ्गिणीमे समयसार शब्दमे रत्नत्रय तथा पच परमेष्ठी का अर्थ भी घटितकर सबकी वन्दना की है ॥ १ ॥

आगे शुद्धात्मके स्वरूपकी प्रतिपादक अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके प्रति, आचार्य अपनी भावना प्रकट करते हैं—

१, एक आत्मामें उपास्य भाव व उपासक भाव ऐसा द्वविध्य अन्यत्र कलश १५ में स्वीकार किया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्त्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(**प्रत्यगात्मन.**) पर द्रव्योसे भिन्न अपने स्वरूपके एकत्वमे स्थित आत्माके (**अनन्त धर्मणस्तत्व**) अनन्तधर्मोके रहस्यको (**पश्यन्ती**) प्रकाश करनेवाली (**अनेकान्तमयीमूर्तिः**) अनेकान्तस्वरूपता ही जिसकी मूर्त्ति है ऐसी जिनवाणी, (**नित्यमेव**) सदाकाल (**प्रकाशताम्**) ससारके प्राणिमात्रके हृदयमे प्रकाशित हो ।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्रकी वाणी वस्तुमात्रको 'अनेक धर्मात्मक' प्रतिपादन करती है। आत्मतत्त्व भी अपने स्वरूपास्तित्वको सदाकाल धारण करता है, इसलिए अस्तिधर्म रूप है। वह परास्तित्वको कभी स्वीकार नही करता, अत परका उसमे नास्तित्व भी है। इसी प्रकार आत्म-तत्व भी अनेक धर्मात्मक है। इस रहस्यको जिनवाणी प्रकाशित करती है। यह अनेकान्तस्वरूप जिनवाणी समस्त प्राणियोके हृदयमे इस सत्यको प्रकाशित करे।

यह आशीर्वादात्मक मगलाचरण है।

(२) **प्रश्न**—अनेकान्त क्या वस्तु है ? और जिनवाणीकी क्या कोई मूर्ति है ? वह मूर्ति हृदयमे कैसे प्रकाश करती है ?

समाधान—जो एक नही—बहुत है– उसे 'अनेक' शब्दसे कहा जाता है, 'अन्त' शब्दका अर्थ धर्म या गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपनेमे अपने स्वरूपके अस्तित्वको रखता है, अत· अस्तिरूप भी है। और वह पर द्रव्यके अस्तित्वको कभी स्वीकार नही करता—इसलिए परकी उसमे नास्ति भी रहती है।

यदि स्वरूपता भी पदार्थमे हो और पररूपता भी हो, तो उसकी स्वरूपता नही टिक सकती। जैसे हाथी अपने गुणधम आकार प्रकारके अस्तित्वको रखता है, उसका त्याग नही करता अतएव वह हाथी है, साथ ही साथ उसमे घोड़ेके गुणधर्म आकार प्रकारादि नही रहते इससे उसमे घोडापने का अभाव अर्थात् नास्तित्व है। यदि हाथी है तो वह घोडा नही है, यदि उसमे घोडापना है तो वह हाथी नही रहेगा।

इसी प्रकार जीवमे जीवका गुणधर्म है वह उसका अस्तित्व है—और पुद्गलादि द्रव्यो तथा उनके गुणधर्मोका अस्तित्व उसमे नही है—अत परका नास्तित्व है। फलत जीव अनेक धर्म-वाला है।

जीव अनादिसे अनन्तकालतक अपने द्रव्यरूपका त्याग नही करता अर्थात् वह अजीव अचेतन कभी नही होता। सदाकाल अपने अस्तित्वमे रहता है अतः वह 'नित्य' है।

परिणमन स्वभावी वही जीव ससारमे कर्मनिमित्तसे नर नारकादिरूप पर्यायोमे सदा उलटता-पलटता है, सदाकाल एक ही अवस्थामे नही रहता, इससे वह 'अनित्य' रूप भी है। सिद्धावस्थामे भी प्रति समय अर्थ पर्याय रूप परिणमन होनेसे वे भी कथचित् अनित्य रूप है। इस प्रकार वह नित्य-अनित्यरूप अनेक धर्मात्मक है। इसी प्रकार आत्मद्रव्य एक है, अखण्ड है, असख्य

प्रदेशात्मक होकर भी कभी उसके प्रदेश भिन्न नहीं होते अतः द्रव्यकी दृष्टिसे 'एक' रूप है।

वही आत्मा प्रदेश भेदोकी अपेक्षा—तथा गुणभेदकी अपेक्षा—अथवा बदलनेवाली नाना अवस्थाओको अपेक्षा 'अनेकरूप' भी है। फलत. एक-अनेकरूपसे है। इन तीन उदाहरणोंसे आत्मा परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोका आधारभूत धर्मी है अतः अनेकान्तात्मक है।

यह अनेकान्तात्मकता केवल आत्मामे ही नही है, किन्तु छहो द्रव्योमे अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यानित्यत्व, एकानेकत्वादि अनेक धर्मरूपसे पाई जाती है। अध्यात्मशास्त्र होनेसे यहाँ आत्माकी अनेकान्तात्मकताकी चर्चाकी गई है।

जैनमतसे भिन्न मतावलम्बी पदार्थको अनेकान्तात्मक न मान कर कोई उन्हे अस्तिरूप कहते हैं, कोई नास्तिरूप। इसी प्रकार कोई वादी आत्माको एक रूप ही मानते है, और कोई अनेक रूप। कोई वादी आत्माको नित्य मानते है, तो कोई उसे क्षणिक अनित्य रूप मानते है। ये सब एक एक धर्म स्वरूपताको पदार्थमे स्वीकार करनेके कारण 'एकान्तवादी' हैं।

जिनेन्द्र सर्वज्ञने पदार्थोको अपने केवलज्ञान द्वारा प्रत्यक्षरूपसे अनेक धर्मात्मक पाया है। अतः जैसा पदाथका स्वरूप है, वैसा प्रतिपादन किया है। उनकी वाणी सत्यार्थ प्ररूपक होनेसे सर्वजीव मात्रके लिए हितकर ह। इसी हित भावनासे उस अनेकान्तमयी जिनवाणी सरस्वतीकी आशीर्वादात्मक वन्दना की है।

(३) **प्रश्न**—सरस्वतीका वर्णन लोकमे हसवाहिनी, मयूरवाहिनी, वीणा-पुस्तक धारिणी, महिलाके रूपमे किया जाता है, सो क्या वह यथार्थ नही है।

समाधान—जिनवाणी **कोई मूर्तिमान देवी या मानवी महिला नहीं है**। वह तो **शब्दात्मक** है। वक्ता अपने ज्ञानका दान वाणीके माध्यमसे करता है। वस्तुतः यह कथन भी व्यवहारका है।

यथार्थमे ज्ञानका दान नही हो सकता, अन्यथा दाता ज्ञान रहित हो जायेगा। ज्ञानी अपने ज्ञान तत्त्वको श्रोताको शब्दके माध्यमसे समझाता है और श्रोता उसके निमित्तसे अपने ज्ञानको स्वपुरुषार्थसे विकसित करता है। 'वाणी' शब्द शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे स्त्रीलिंग है, अतः कविजनोने उसे स्त्रीका रूपक दे दिया है, वह स्त्री नही है। रूपकको यथार्थ मान लेना भाषा साहित्यकी पद्धतिकी अनभिज्ञता है।

अतः वाणी वाणीरूप, शब्दात्मक है। वह वाणी प्रकाश रूप रहो ऐसा मगल वचन कहा है। भवनवासिनी देवियोमे किन्हीके नाम बुद्धि-लक्ष्मी-सरस्वती पाए जाते हैं, तथा उनकी मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं पर यहाँ उनकी वन्दना नही है, न वे ज्ञानका दान देती हैं। ज्ञान आत्मगुण है वह ससारी जीवोमे ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे तथा अरहन्तमे उसके क्षयसे प्रकट होता है।

(४) **प्रश्न**—लोकमे यह पद्धति है कि बड़े पुरुष छोटोको आशीर्वाद देते हैं। यहाँ पर जिनवाणोको आशीर्वादात्मक वचन कैसे कहे।

समाधान—यह वचन वाणीके लिए नही है, किन्तु आचार्य जगत्के भव्य प्राणियोके लिए आशीर्वाद देते है कि भगवान्की यह धर्मोपदेश रूप जिनवाणी सबके ज्ञानके विकासमे निमित्त

कारण रूप बने, अर्थात् इस अनेकान्त स्वरूप प्रतिपादक वाणीके द्वारा **जगत्के जीवोंका कल्याण हो, ऐसा वचन हो मंगल रूप है।**

(५) **प्रश्न**--भगवान्की वाणी शब्दात्मक होनेसे जड रूप है। अत. न तो वह **ज्ञानको** ज्ञानीसे भिन्नकर श्रोताओमे ज्ञान भर सकती है और न श्रोता अन्य ज्ञानीके ज्ञानसे ज्ञानी **बन सकते हैं** ? तब **वचनमे ज्ञान प्रकाशकपना कैसे सभव है**। और जो **बात सभव नहीं है वैसा मिथ्या** (असभव) **आशीर्वाद** आचार्य **क्यो देते हैं** ?

समाधान--यह सत्य है कि वाणीजड रूप है। जड रूप वाणीमे ज्ञान रूपता नही है। भगवान् केवली ज्ञान स्वरूप हैं। उनकी विशुद्धात्मामे जडरूप वाणीका कोई अस्तित्व नही है। यह नियम मात्र भगवान्की वाणीको लागू नही है, किन्तु हमारी आपकी वाणी भी जडरूप है और हमारे आपके ज्ञानसे, उसका विरुद्धजातीय पदार्थ होनेसे, कोई तादात्म्य सम्बन्ध नही है, तथापि वक्ता अपने अभिप्रायको प्रकट करनेके लिए वाणीका उपयोग करता है। शब्दोमे कुछ सहज योग्यता है जो वक्ताके **आन्तरिक भावको व्यक्त करनेमे निमित्त बनती है**। जैसे रोने-चिल्लाने-हंसने-तथा उल्लासकी अवस्थामे प्रकट शब्द, न केवल मनुष्योमे किन्तु पशु-पक्षी जो अनक्षरी भाषा बोलते है उनमे भी वक्ताके आन्तरिक भाव, विषाद व हर्षको प्रकट करते है। इसी प्रकार मनुष्य प्राणी, भाषा रूप साकेतिक अक्षरोसे भी सकेत ग्रहण कर अभिप्रायको जान लेता है। परीक्षामुख ग्रन्थमे आचार्य माणिक्यनन्दिजीने कहा है—

'सहजयोग्यता संकेत वशाद्धि-शब्दादयोऽर्थप्रतिपत्तिहेतव'

अर्थात् स्वाभाविक योग्यता तथा स्थापित सकेतके कारण शब्दादिक अर्थके परिज्ञान करनेमे निमित्त होते है। शब्दोमे यह सहज योग्यता है कि मनुष्य उनमे अपने भावका सकेत कर ले, और उस सकेतित शब्दोको सुनकर श्रोता उस भावको समझ ले। विभिन्न भाषाओकी उत्पत्ति मनुष्य जातिके विभिन्न स्थापित सकेतो पर ही बनी है। अनक्षरी भाषामे अक्षर नही होते पर ध्वनि विशेषमे भाव विशेषके सकेत रूप बननेकी सहज योग्यता है, अत वाणी अभिप्रायको व्यक्त करनेमे निमित्त कारण है।

भगवान् यद्यपि निरिच्छ है, वे इच्छापूर्वक दिव्यध्वनि नही बालते। ता भी वचन योग द्वारा जिन वर्गणाओका ग्रहण होता है उनमे तत्त्व प्रतिपादनकी सहज योग्यता होती है[१]। इसलिए वह भगवान्की अनेकान्त स्वरूप तत्त्वको प्रतिपादन करनेवाली दिव्यध्वनि ही शुभकार्यमे निमित्त होनेसे पूज्य है। वह नित्य ससारके प्राणियोके कल्याण रूप होनेमे निमित्त कारण बने ऐसा यह मगल वचन है ॥ २ ॥

इन दोनो श्लोकोसे मगलाचरण करके ग्रन्थकार ग्रन्थके बनानेके फलकी कामना करते हैं।

---

१ केवलिना प्रयत्नमतरेणापि तथाविध योग्यता सद्भावात् स्थानमासनम् विहरणम् धर्म देशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। —प्रवचनसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ४४

आगे कलश २७८ भी देखिये।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परम विशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ।।३।।

अन्वयार्थ—(**शुद्ध चिन्मात्रमूर्ते**) शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टिसे मैं शुद्ध चैतन्यका पिण्ड हूँ सो मेरे (**पर परिणति हेतोर्मोहनाम्नः अनुभावात्**) परपरिणतिके निमित्त कारण, मोहनीय कर्मके उदयसे (**अविरतम्**) अनादि कालसे (**अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः**) भावित रागादिकी व्याप्तिसे जो कलुषित हो रहो है ऐसी (**मम अनुभूते.**) मेरी अनुभूतिकी (**समयसार व्याख्यया एव**) समयसार ग्रन्थकी व्याख्याके आश्रयसे या समयसार जा शुद्धात्मा उसकी व्याख्यासे (**परम विशुद्धिः भवतु**) परमविशुद्धि हो ।।२।।

भावार्थ—प्रत्येक आत्मा आत्म द्रव्यके स्वरूपकी दृष्टिसे, शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभावी सदासे है और सदा काल रहेगा। यद्यपि अनादि कालसे अनन्तकाल निगोदकी अवस्थामे व्यतीत हुआ तथापि **आत्म द्रव्यने अपना स्वभाव नहीं छोड़ा**। यदि छाड देता नो वह **आत्म द्रव्य न रह कर द्रव्यान्तर बन गया होता**। तथापि वह अनादि कालसे कर्म निमित्त जन्य रागादि विकार सयुक्त है, और इसीसे इसकी अपने स्वभावसे भिन्न, रागादि विकार सयुक्त परिणति हा रही है। फिर भी वह आत्मद्रव्य अपने द्रव्य स्वभावके कारण परपरिणतिके निमित्त कारणभूत मोह कर्मके दूर होनेपर, अपने सहज शुद्ध स्वभावमे परिणत हो सकता है।

इस स्पष्ट सिद्धान्तके कारण श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि अनेकान्त सिद्धान्तके आधारपर मेरा आत्मा वर्तमानमे शुद्धाशुद्ध रूप है। वह ऐसे—कि मेरा द्रव्य (पर्यायको गौण कर देखें) **तो स्वरूपसे ही शुद्ध है**। द्रव्यकी शुद्धता (स्वभावशक्ति अपेक्षा) कभी नही मिटी, परन्तु चूँकि **द्रव्य** पर्यायरहित कभी नही होता, अत उसकी पर्यायें अनादि कालसे, मोह कर्मके उदयके निमित्त **से**, रागादि क्रोधादि विकारयुक्त अशुद्ध रूप हो रही हैं। सो इस ग्रन्थकी व्याख्या करनेका **जो** भाव है उससे मेरी **परिणति बदलकर परम शुद्ध हो जावे। यही ग्रन्थकी व्याख्याका फल चाहते हैं।**

श्रोताओकी परिणति भी इस ग्रन्थके अनुमननसे विशुद्धताको प्राप्त हो, वह उसका **आनुषंगिक फल है**। पर ग्रन्थकार तो उसका फल निज आत्म विशुद्धिरूप ही मानते हैं।

यहाँ जैसे ग्रन्थकारने आत्माको द्रव्य दृष्टिसे या निश्चय स्वभाव दृष्टिसे शुद्ध चैतन्य मात्र **कहा**, उसी प्रकार व्यवहारनयसे उसे अशुद्ध पर्यायवाला भी कहा। पर्यायाश्रितता सामान्यरूपसे **द्रव्यमे** सदा रहती है और सदा रहेगी। पर्यायरहित द्रव्य कभी नही रहता, तथापि पर्याय परि**वर्तन स्वरूप है**। सदा एक पर्याय नही रहती इसीसे द्रव्य उत्पाद-व्यय रूप अनित्य कहा गया है। जहाँ द्रव्य अपनी अवस्था परिवर्तनके कारण अनित्य है वही द्रव्यार्थिक दृष्टिसे नित्यस्वरूप भी है। **द्रव्यके अभावमें** पर्यायें निराधार नही रहती। नाना पर्याय परिवर्तन जिसमे होते हैं यदि वह मूलभूत वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाय तो पर्यायें भी विनष्ट हो जायगी। **मूल वस्तुके अभावमे**

पर्यायें निराधार किसमे प्रगट होगी ? इस प्रकार दोनोका सर्वथा अभाव होनेसे जगत् शून्य होगा। पर ऐसा न कभी हुआ, न होगा।

न सतो विनाशः नाऽसदुत्पत्तिः।

सत् = जिसका अस्तित्व है उसका सर्वथा नाश नही होता। और जो असत् है = (कभी नही था,) उसकी उत्पत्ति नही होती। यद्यपि पर्याय विशेषकी अपेक्षा वर्तमान पर्याय पूर्वमे नही थी पर उसकी उत्पत्ति हुई है। अत असत्की उत्पत्ति तो हुई ऐसी शका नही करनी। कारण यह है कि वर्तमान पर्याय पूर्व कालमे नही थी यह सत्य है, परन्तु वह जिस द्रव्यमे हुई है उसमे शक्ति रूपमे सत् थी। अतः असत् की उत्पत्ति नही होती। यह सिद्ध सिद्धान्त है।

इसलिए आचार्य श्री अपनी वर्तमान स्वानुभूति सन्मुख दशाको साधक दशा, और उसकी परमविशुद्धि दशाको साध्य दशा बनाकर स्वयकी द्रव्यकी शुद्धताके बलसे, अशुद्धपरिणति रूप दशाको मिटाकर परम विशुद्ध दशाको प्राप्त करना चाहते है। समयसार रूप शुद्धात्माको लक्ष्यकर किए जानेवाले व्याख्यानका मुख्य उद्देश्य उनका यही है। यह स्वयके लिए भी आशीर्वादात्मक मंगल वचन हैं ॥३॥

उक्त समयसार रूप शुद्धात्माका दर्शन किसे होता है उसे आचार्य निम्न पद्य द्वारा प्रकट करते हैं—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिन-वचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो जीव (**उभयनयविरोधध्वंसिनि**) व्यवहार-निश्चयादि दोनो नयोकी परस्परकी विरुद्धताको मिटा देनेवाले (**स्यात्पदाङ्के**) स्यात् पद अर्थात् 'कथचित्' पदसे चिह्नित (**जिनवचसि**) जिनेशके वचनोमे (**रमन्ते**) रमण करते है (ते) वे (**स्वय वान्तमोहा**) स्वयम् मोहका वमन अर्थात् त्याग करते है और (**सपदि एव**) शीघ्र ही (**अनवम्**) अनाद्यनन्त (**अनय-पक्षाक्षुण्णम्**) नयके पक्षपातसे रहित (**उच्चै पर ज्योति**] उच्च ज्योतिस्वरूप (**समयसारं**) शुद्धात्मस्वरूप समयसार को (**ईक्षंत**) देखते हैं।

भावार्थ—दूसरे कलशमे यह बताया था कि जिनवाणी अनेकान्त तत्त्व प्रतिपादिका है। पदाथमे परस्पर विरोधी जैसे दीखनेवाले अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि सभी धर्म पाए जाते है। वस्तुत उनमे विरोध नही है। किसी अपेक्षासे वे दोनो वस्तुमे पाये जाते है। स्यात् पद दोनो नयोमे दिखाई देने वाले विरोधका ध्वस करता है।

(६) **प्रश्न**—विरोधी धम एक वस्तुमे नही रह सकते क्योकि उनमे विरोध है, शीत और उष्णकी तरह।

समाधान—नही उनमे विरोध वास्तविक होता तो एक वस्तुमे न रह सकते। जो एक साथ रहते है उनम विरोध कैसा ?

चेतनत्व-अचेतनत्व दोनो परस्पर विरोधी हैं[१]। वे दोनो धर्म एक द्रव्यमे नही पाए जा सकते। परन्तु एक ही द्रव्य अपनी अखण्डतासे एकरूप, तथा प्रदेशभेद या पर्यायभेद या गुणभेद-से अनेक रूप पाया जाता है। अत. उसकी एकता, अखण्डता तथा त्रिकाल ध्रुवस्वभावकी नित्यतामे तथा उसीके पर्यायभेदरूप अनित्यता तथा अनेकतामे **कोई विरोध नहीं पाया** जाता। उन धर्मोको जानने व कथन करनेकी पद्धति भिन्न-भिन्न होती है अत. वे अनेक नयके विषय हैं, ऐसा कहा जाता है।

इसी तरह पदार्थका जो **स्वाश्रित वर्णन होता है उसे निश्चयनयका विषय कहते हैं** और उसीका जब परके आश्रयसे या **पर्यायाश्रित वर्णन को व्यवहारनय** का वर्णन कहते है।

स्यात्पद चिह्नित जिनवाणी कहती है कि वह पदार्थ कथचित् (स्यात्) नित्य है, ध्रुव है, एक है और कथचित् अनित्य है--अध्रुव है--अनेक है। अपेक्षा भेदसे उभय धर्म जो विरोधी न होकर भी अपने स्वरूपमे विरोधी जैसे दीखते है, एक ही पदार्थमे पाये जाते है।

'प्रमाणनयैरधिगम.' उमास्वामी आचार्यका यह एक सूत्र है जो यह बताता है कि पदार्थोका ज्ञान करनेके दो उपाय है--प्रमाण और नय। जो पदार्थके सर्वांशपर दृष्टि रखनेवाला ज्ञान है वह प्रमाणज्ञान है, और जो पदार्थको खण्ड-खण्ड रूपमे एकदेशको ग्रहण करता है वह नय है। नय एकदेशको विषय करनेपर भी 'वह वस्तुका एकदेश है' ऐसा मानता है। उस एकदेशको सर्व-देश वस्तु नही मानता। यदि वैसा माने तो वह दुर्नय या एकान्तवाद होगा। एकदेशको मुख्य करके जानना और शेषाशको मुख्य न करते हुए भी उसे स्वीकार करना यह सन्नयका कार्य है। इस प्रकार प्रमाण तथा नाना नयो द्वारा वस्तुका सही परिज्ञान किया जाता है।

नयोंके साथ 'स्यात्' या 'कथचित्' शब्दका प्रयोग ही उसकी सन्नयताका या सत्यताका द्योतक है। 'कथचित्' या 'स्यात्' पद सन्देहका वाचक नही है, किन्तु अपेक्षावादका द्योतक है। वह कहता है कि एक दृष्टिकोणसे पदार्थ नित्य है, दूसरे दृष्टिकोणसे देखो तो अनित्य है। दृष्टि-कोण दोनो सही हैं क्योंकि वे दूसरे दृष्टिकोणके विषयको जानते हुए भी उस समय उसे गौण करते है--मुख्यता और गौणता, ज्ञाता या **वक्ताकी तात्कालिक इच्छापर है।**

नयका अवतार इसीलिए हुआ है कि हमारे जो प्रयत्न पदार्थको जानने या कहनेके लिए होते हैं--वे क्रमको लिए होते हैं। युगपत् पदार्थको जानना केवलज्ञानका विषय है। हम उन्हे क्रम-क्रमसे जानकर फिर उन्हे **एकत्रकर पूरे पदार्थका बोध करते** है जिसे प्रमाणज्ञान कहते हैं। और जब उन्हे क्रमसे जानते हैं तब वह **नयज्ञान** कहलाता है।

इसी प्रकार परको प्रतिपादन करनेके लिए हम अपने क्रमजन्मा शब्दो द्वारा ही जब पदार्थ के किसी अशका कथन करते हैं, तब वह नय विवक्षा होती है। उस समय हम विवक्षित अशसे पदार्थका वर्णन करते हुए भी अविवक्षित अशको अन्तरगमें स्वीकार करते हैं, इसीका सूचक 'कथचित्' या 'स्यात्' शब्द है। उसे इन शब्दोमें कहा जाता है कि 'पदार्थ कथचित् नित्य है' यह **'कथचित्' शब्द** इस बातका सूचक है कि यही एकमात्र पदार्थका रूप नही है, कुछ और भी है, जो यहाँपर अविवक्षित है।

---

१ जीवमें चेतनत्व और अजीव में अचेतनत्व है, ऐसा सामान्य कथन सर्वत्र है, तथापि जीवका ज्ञान गुण चेतन है, अन्य गुण चेतन गुणसे भिन्न होनेके कारण अचेतन हैं, ऐसा कथन भी कथंचित् सुसंगत है।

इस प्रकार नित्य—अनित्यके विरोधको 'कथंचित्' या 'स्यात्' पद मिटा देता है और श्रोतामें सम्पूर्ण पदार्थको जाननेके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करता है।

(७) **प्रश्न**—नयकी विविधता तो उलझन है, उसमे यही निर्णय नही होता कि पदार्थको नित्य मानें या अनित्य मानें ?

समाधान—नयोमें उलझन नही है। पदार्थका स्वरूप ही विविधताको लिए है। उसे विविध रूपमें दर्शा देना नयका कार्य है। वह उलझाता नही है बल्कि उलझी हुई समस्या को सुलझाता है। बिना इसके पदार्थको ठीक-ठीक समझा नही जा सकता।

नयोको आधुनिक शब्दोमें कहे तो उसे द्रष्टा या वक्ताका "दृष्टिकोण" कह सकते हैं। जैसे रुई भरी रजाई या ऊनी वस्त्र उपयोगी हैं या अनुपयोगी ? इस प्रश्नका एक उत्तर कुछ भी नही हो सकता। यह कहना ही होगा कि शीत ऋतुमें उपयोगी हैं, ग्रीष्म ऋतुमें अनुपयोगी। फलत कथंचित् उपयोगी हैं कथंचित् अनुपयोगी भी हैं। तो निर्णय हुआ कि उपभोक्ताकी आवश्यकताके अनुसार वह उभय रूप हैं। और जिसे किसी भी ऋतुमें उनकी आवश्यकता नही है ऐसे दिगम्बर जैन साधुओकी दृष्टिसे सभी ऋतुओमें अनुपयोगी हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वयमें अनेक धर्म रखता है। वे धर्म अपने-अपने स्वरूपकी दृष्टिमें परस्पर विरोधी जैसे हैं, पर चूंकि एक साथ पाये जाते हैं अत अविरोधी भी हैं।

इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रने पदार्थोंके सम्पूर्ण रूपको जानकर उनके क्रमिक अक्रमिक ज्ञान व वचनकी दृष्टिसे उन्हे प्रमाण और नयका विषय बताते हुए उनके पारस्परिक विरोधको दूरकर स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली अनेकान्त पद्धतिका प्रतिपादन किया है। जो द्रष्टा उनके वचनोंसे प्रीति तथा उनमें प्रतीति करता है वह आत्मतत्त्वको भी उसकी पवित्रताके रूपमें देख सकता है। यद्यपि द्रव्य दृष्टिसे आत्मा अनादिसे शुद्ध है, पर पर्याय दृष्टिसे वह अशुद्ध है। अत जिनवचनका ज्ञाता उसके शुद्ध स्वरूपको नयविवक्षासे देख सकता है। एकान्तवादी सुनयके अभावमें दुर्नय द्वारा उसका स्वरूप नही पा सकते क्योकि वह दुर्नयका विषय नही है। जो जीव देशना तथा अध.करण आदि लब्धियोको प्राप्त कर, स्वय मिथ्यात्वको त्याग कर जिनेन्द्रके वचनोसे प्रीति करते हैं, उनमें क्रीडा करते है, वे शीघ्र ही परम-ज्योति परमात्मा-स्वरूप समयसार रूप निजशुद्धात्माको जो मिथ्यानयो द्वारा अखण्डित है, शीघ्र ही प्राप्त करते हैं। अथवा जो जिनवचनमे रमण करते हैं, प्रीति करते हैं, उसे स्वीकार करते हैं, उनमे रुचि करते है, वे स्वय मोहका वमन कर शीघ्र ही उच्च ज्ञान ज्योति रूप समयासारको प्राप्त करते है। जिनवचनमें रमण करनेका अर्थ जड वाणीमें रमण करनेका नही है, किन्तु जिनवाणी द्वारा सकेतित—प्रज्ञापित तत्त्वमें रमण करना है जो अनेकान्त स्वरूप है। सम्यग्दृष्टि केवलज्ञान ज्योति को शीघ्र प्राप्त करते हैं ऐसा भाव जानना चाहिए ॥४॥

आगे निश्चय और व्यवहारनयकी उपयोगिताका प्रतिपादन करते है—

व्यवहरणनयः स्यात् यद्यपि प्राक्पदव्याम्
इह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्ब ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कार-मात्रम्
परविरहितमन्तः पश्यताम् नैष किंचित् ॥५॥

अन्वयार्थ—(यद्यपि इह प्राक् पदव्याम्) यहाँ पूर्व अवस्थामे अर्थात् प्रथम पदवीमे (**निहित पदानाम्**) जिनकी स्थिति है उनके लिए (**व्यवहरणनय**) व्यवहारनय (**हस्तावलम्बः**) हस्तावलम्ब (स्यात्) है (**इति हन्त**) पर यह खेदकी बात है। अथवा किन्ही विद्वानोके अनुसार "दत्त हस्तावलम्ब." ऐसा पाठ माना जाय तो यह अर्थ होगा कि प्राक् पदवीमे वह हस्तावलबन करता है, सहारा देता है, किन्तु (**तदपि**) वह भी (**चिच्चमत्कार मात्रम्**) **चैतन्य के** चमत्कारसे परिपूर्ण (**पर विरहितम्**) परद्रव्यो तथा पररागादिभावो से भिन्न आत्माके स्वरूपको निश्चयनयसे (**अन्तः पश्यताम्**) अपने मे देखनेवालोके लिए (**नैष किंचित्**) व्यवहारनय कुछ भी उपयोगी नही है ॥५॥

भावार्थ—जबतक यह प्राणी साधक दशामे अशुद्धावस्थामे है तबतक व्यवहारनयसे जीवादिका स्वरूप जानना उपयोगी है। व्यवहारनयसे जीव चार गतियोमे है, एकेन्द्रियादि पचेन्द्रिय पर्यन्त भेदवाला है चौदह जीवसमासोमे भी जीवको जानना चाहिए। चौदह मार्गणास्थानोमे जीवकी पहिचान करना चाहिए।

यद्यपि ये सब कर्मके उदयादि निमित्तसे होनेवाली जीवकी अशुद्ध अवस्थाएँ हैं, शुद्ध जीव नही है, तथापि व्यवहारनयमे **परसापेक्ष अवस्थामे भी जीव व्यवहार होता है। यदि पूर्वावस्थामे व्यवहारनयाश्रित जीवकी व्याख्या स्वीकार न की जाय तो जीवदया या जीवहिंसा दोनों अपनेमें अवस्तु हो जायेगी[१] और ऐसी अवस्थामें जीवको जीवका सही स्वरूप समझाना भी अशक्य हो जायगा।**

ससारी अवस्था जीवकी कर्म सापेक्ष है, अत पर सापेक्षतासे वस्तुका कथन करना या ज्ञान करना व्यवहार नय है। निश्चयसे तो पराश्रिततासे रहित स्वय शुद्ध ज्ञायकभाव स्वरूप ही जीव है। यह स्वरूप द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे ही देखा जा सकता है। अशुद्ध पर्यायार्थिक नयसे दिखाई देनेवाला जीवका स्वरूप उसका यथार्थ त्रैकालिक रूप नही है। यही कारण है कि अध्यात्म ग्रन्थोमें व्यवहारनयको अयथार्थ-अभूतार्थ-असत्यार्थ भी कहा गया है। तथापि इसका यह अर्थ नही है कि व्यवहारनयका विषयभूत ससारी जीव ही असत्यार्थ है, अर्थात् उसका अस्तित्व ही नही है। ऐसा माननेसे ससार का अभाव हो जायगा। और जब ससार नही तो मोक्षका भी अभाव होगा।[१] फिर भी व्यवहारको असत्यार्थ कहने का क्या तात्पर्य है वह सूक्ष्मदृष्टिसे विचारने की बात है।

व्यवहार नय नय है। नय वस्तु स्वरूपका प्रतिपादक होता है भले ही एक देशका हो। यह जीव समारमे अनादिसे है और कर्म सयुक्त है, तथा तन्निमित्त जन्य नर नारकादि पर्यायोमे पाया जाता है। उसकी ये सब अवस्थाएँ सत्यार्थ हैं, इनका अभाव नही है, तथापि ये अवस्थाएँ कर्म-निमित्त विकारी पर्यायें हैं, अतः जीवके स्वभाव रूप नहीं हैं। जब जीव द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित होगा तब वह शुद्ध परिणमन स्वरूप कहलायगा।

(८) **प्रश्न**—वह शुद्धपरिणमनवाली अवस्था आजतक जीवमे पाई नही गई। अतः **उसे ही काल्पनिक कहना** चाहिए। जो अवस्थाएँ अनादि से अपनी सत्तामे पाई जाती हैं—उन्हे असत्यार्थ न कहकर सत्यार्थ कहना चाहिए।

(१) ववहारस्स दरीसण " " —समयसार गाथा ४६ की आत्मख्याति टीका देखिये।

समाधान—ऐसा नही है, यद्यपि वे **अनादिसे** हैं परन्तु कर्म निमित्त जन्य है। वे शुद्ध जीवरूप तो **नहीं हैं, अशुद्धावस्थाएँ** है। ऐसी अवस्थामे यह विचार सहज उत्पन्न होता है कि जब ये अवस्थाएँ विकारी हैं—तब पर सयोगको दृष्टिको ओझल करें तो फिर जीवका सही शुद्ध स्वरूप दिखाई देगा। इसी दृष्टिको निश्चयनय कहते है। भेदक दृष्टिसे **अशुद्धावस्थामें भी वस्तुकी शुद्धताका भान किया जा सकता है।**

उदाहरणके तौर पर विचारिये। कोई व्यक्ति **पानी** मिला हुआ दूध पी रहा है। यदि वह कुशल है तो दूध पानी की विकारी मिश्रित दशाका स्वाद लेते हुए भी, यह स्वाद पानी मिश्रित दशाका है, यह दूध शुद्ध नही है ऐसा जान लेता है। यद्यपि संसारी जन सामान्यतया उसे "यह दूध है" ऐसा मानकर ही खरीदते हैं, दूध मानकर हो पीते हैं, पर यह सब कथन भेदज्ञानके अभावमे, दूध पानीको मिश्रित दशामे भी उसमे दूध व्यवहार करनेका है। जिस तरह यह व्यवहार कथन शुद्ध दूधकी पहिचान नही कराता, अत **भेदज्ञानी उस दूधको दूध** नही **मानता किन्तु** इसमे **तीन पाव दूध तथा एक पाव पानी है** ऐसा **निर्णयकर दूधको ही दूध कहता** व जानता हे **उसका वह कथन निश्चयनयाश्रित है।**

इसी प्रकार जीवमे अपना ज्ञायकस्वभाव भो अनादि, अनन्त है और उसीमे कर्म निमित्त जन्य विकार सयुक्तता भी अनादि से है। कभी दोनो जुदे नही हुए, तथापि कुशल भेदज्ञानी, जिसने निश्चयसे जीव क्या है ? ऐसे जीवकी शुद्ध पहिचान आगम या गुरुज्ञानके बलपर की है उसे अपने शुद्धजोवका स्वय सवेदन हो जाता है।[1] वह उसे ही निश्चय जीव मानता है। ऐसी दृढ प्रतीतिवाला जीव ही 'सम्यग्दृष्टि' कहलाता है और वही कर्मजन्य विकारोको दूरकर अपनेमे शुद्ध अवस्था प्रकट करता है। यही उसका परम पुरुषार्थ है।

अत सिद्ध हुआ कि ससारी अवस्थाएँ अर्थात् विकारी अवस्थाएँ तद्रूपमे सत्यार्थ है, तो भी वे शुद्धजीव नही हैं, अत शुद्ध दृष्टिमे वे सत्यार्थ नही हैं। जो जीवकी शुद्ध सत्तासे सम्बन्ध रखे वह 'सत्यार्थ', जो परविरहित जीवकी सत्तासे सम्बन्धित न हो वह 'असत्यार्थ' है। इसी तरह जो पदार्थ जैसा अपने सही स्वरूपसे है, उसे वैसा बताये वह नय 'यथार्थ' है। पर जो जैसा पदार्थ है वैसा न बताकर पर निमित्त जन्य विकृत पदार्थको वस्तुरूप कहे वह 'अयथार्थ' है। इसी तरह 'भूत' शब्द भी सत्यके तथा हितके अर्थमे आता है। जो प्राणीके हितार्थ हो वह 'भूतार्थ', और जो हितरूप न होवे वह 'अभूतार्थ' है। तत्वदृष्टिसे व्यवहारनयका विषय स्वय असत्यार्थ, अयथार्थ, और अभूतार्थ सिद्ध हो जाता है।

जीवका कल्याण अपनी विकारावस्था दूर कर शुद्धावस्था प्रकट करनेमे है। यह कार्य वही कर सकता है जो अपने सही स्वरूपका बोध वर्तमान दशामे भी कर सके। स्वर्ण खानिसे निकली दशामे ही पाषाणादि मिश्रित है, कभी अलग नही हुआ। उसे पाकर स्वर्णकार अपनी

---

१ यहाँ संवेदनका अर्थ श्रद्धान या मानसिक प्रत्यक्ष है। मानसिक प्रत्यक्ष को, केवलज्ञानापेक्षया, परोक्ष ही परमार्थसे कहा है। तथापि इन्द्रिय मनोजनित विकल्पकी अपेक्षा, स्वसवेदन ज्ञान प्रत्यक्ष हो माना गया है।

—समयसार सवर अधिकार की अन्तिम गाथा—'कोविदिदच्छो साहू' की तात्पर्यवृत्ति टीका देखिये।

भेदक दृष्टिसे 'इस पत्थरमें सोना है' ऐसा बोध **कर लेता** है। फिर अग्नि **संस्कार** आदिसे **उस पाषाणांशको दूरकर** स्वर्ण **निकाल** लेता है। खानिसे निकले पाषाणमे वह **'स्वर्ण' व्यवहार करता** है। पर **परमार्थसे जानता है कि यह इस अवस्थामें शुद्ध** स्वर्ण नही है, स्वर्ण **मिश्रित है** इसमे **स्वर्ण प्रयत्न साध्य** है।

इसी प्रकार ससारी जीव अपनी वर्तमान कर्मसयुक्त तथा भावकर्म सयुक्त दशामे भी, ये मेरेमे पाये जानेवाले विकार मेरे नही हैं, इनसे भिन्न उपयोग स्वभावी मैं हूँ, ऐसा भेदज्ञानसे जान लेता है। जो ऐसा जानता है, मानता है, और अनुभव करता है, वही शुद्धदशा प्रकट कर सकता है। निश्चयनयसे वस्तुकी यथार्थताका बोध करनेवाला, पदार्थके अयथार्थ, विकारी स्वभावको विषय करनेवाले व्यवहारनयको, और उसके विषयको सत्यार्थ न होनेमे, अपने कल्याणार्थ 'अवस्तु' ही मानता है। फिर भी आचार्य कहते है कि जीवोको, **प्राथमिक** बोध**की अवस्थामें वह** नय **अवलम्बन-स्वरूप है**। उसके **अवलम्बनसे** जीव **अजीवका भेद जानकर**, जीव**के शुद्धस्वरूपको जाननेका मार्ग प्रशस्त होता है।**

जिनकी यथार्थ, निश्चय पदार्थको जाननेकी अभिलाषा है—ऐसे **आत्मकल्याणके अभिलाषी जीवोंको** ही व्यवहार **नय निश्चयके जाननेके लिए हस्तावलम्बरूप** है। वे ही यथार्थ पदार्थको जान लेते हैं। अत. प्राकपदवीमे उसे हस्तावलम्बरूप कहा, पर चूँकि उसका विषय यथार्थ तत्वरूप नही है, इसीलिए आचार्य उसके प्राक्पदवीमे ग्रहणपर भी खेद प्रकट करते हैं। **यथार्थके ज्ञाताके लिए व्यवहारनय और उसका विषय उपादेय नहीं है**। साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधनरूपमे अवलम्बन किए पदार्थ अप्रयोजनभूत हो जाते हैं। इस न्यायसे परसे तथा परनिमित्त जन्य विकारोसे रहित चैतन्यके चमत्कारसे युक्त आत्मदर्शीके लिए व्यवहारनय व उसका विषय अप्रयोजनीय है ॥५॥

निश्चयनयसे आत्माका यथार्थरूप क्या है आचार्य उसे पद्य द्वारा प्रकट करते है—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

अन्वयार्थ—(**पूर्णज्ञानघनस्य**) अपने समस्त आत्मप्रदेशोमे जो ज्ञानरूपसे ठोस है (**व्याप्तु:**) अपने गुणोमे तथा पर्यायोमे व्याप्त रहनेवाले (**शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य**) शुद्धनयकी अपेक्षा जो अपने ही एक स्वभावमे स्थित है। इस प्रकार (**यदस्यात्मन**) जो इस आत्माका (**द्रव्यान्तरेभ्य पृथक् दर्शनम्**) अन्य समस्त द्रव्योसे पृथक् दर्शन है, (**एतदेव नियमात् सम्यग्दर्शनम्**) यही निश्चयसे सम्यग्दर्शन है। (**आत्मा च तावान् अय**) जितना सम्यग्दर्शनका विषय है उतना ही तो आत्मा है, अन्य सब अनात्मा है, जड़ स्वरूप है। जब कि ऐसा निर्णय है तब (**इमाम् नवतत्त्वसंततिम्**)

जीव-अजीव-आश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष, पुण्य-पाप ऐसे नव-पदार्थोंको श्रद्धाको जिसे व्यवहारत- सम्यग्दर्शन कहा था, (**तत्**) उस नवतत्वकी कथन परिपाटीरूप व्यवहारको (**मुक्त्वा**) छोड़कर यह विचार करो कि (**आत्मायमेकोस्तु नः**) मेरा आत्मा ता इन नवपदार्थों से भिन्न अपने स्वरूपमे एकत्वको लिए हुए है, जो अपने एकत्वमे ज्ञानानदी स्वभावमे स्थित है, **वही मैं हूँ**, अन्य नही ॥६॥

भावार्थ—चैतन्य धातुकी मूर्ति आत्मा सब तरफसे लम्बाई, चौडाई मोटाईमे घनात्मक ठोसरूपसे, **चैतन्य रससे परिपूर्ण है। अपने गुणपर्यायोमें व्याप्त रहनेवाला शुद्ध द्रव्य** है। ससार दशामे केवल पर्याय ही अशुद्ध है। यद्यपि पर्याय द्रव्य से भिन्न नही होती अत इस अपेक्षा द्रव्य भी अशुद्ध है। पर पर्यायको गौणकर द्रव्यको उसके स्वभावकी दृष्टिसे जिसे निश्चयनय कहते हैं, देखें, तो वह अशुद्ध नही है।

आत्मा कर्म प्रदेशोमे अनादिसे लेकर अबतक अनन्तकालसे सयुक्त है, तथापि आत्माके असख्य प्रदेशोमेसे एक भी प्रदेश कर्मरूप (पुद्गलरूप) नही बना, और न पुद्गलके परमाणु आत्मा प्रदेश रूप बने।

इसी तरह आत्माने पुद्गलके गुण अचेतनत्व-रूपित्व आदि कभी ग्रहण नही किए, तथा पुद्गलने आत्माके चेतनत्व अमूर्त्तत्व गुण भी कभी ग्रहण नही किए। यह प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है इसलिए **स्वभावकी अपेक्षा** प्रत्येक द्रव्य अकेला है। इसे ही **निजके एकत्व मे स्थित कहते हैं।** जीव भी द्रव्य है अत वह इसका अपवाद नही हो सकता। वह भी अपने 'एकत्व' मे नियत है अन्यत्व या द्वित्व भाव से सर्वथा दूर है। इसी से वह सम्पूर्ण द्रव्यान्तरोसे सर्वथा पृथक् है।

आत्माको इस प्रकारके शुद्ध स्वभाव रूप यथार्थ देखें और **प्रतीति करें तो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।** वह शुद्ध स्वभावकी प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन ही आत्मा है। आत्मामे अपने सम्यग्दर्शन गुणसे भेद नही है। ऐसी अवस्थामे व्यवहार नयसे जो नौ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं उसका यहाँ अवकाश ही नही है। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि नवतत्वोको केवल अपनी शुद्ध स्वभावी आत्मा पर ही है। उसकी दृष्टिमे अन्य पदार्थ अपने स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं।

जीव जब परद्रव्यो से भिन्न है ता न अजीव है, न बध-संवरनिर्जरा-मोक्ष रूप है, पुण्यरूप है न पापरूप, वह तो इस सबसे **पृथक् ज्ञानानंदी स्वभाव वाला केवल एक द्रव्य है।**

(९) **प्रश्न**—जीव जडसे भिन्न है ऐसा तो सभी आस्तिक मत मानते है, तब सभी सम्यग्दृष्टि माने जाना चाहिए।

समाधान—जडसे भिन्न मानकर भी सभी आस्तिकमत जीव और जड़के स्वभावको नही जानते। वे लक्षण भेद सही-सही नही कर पाते। जीव किमात्मक है। इसमे वे विवाद करते हैं। कोई आत्माको अणुमात्र मानते है। कोई लोक व्यापी मानते हैं। कोई ज्ञान भावसे रहित मानते हैं' कोई अनाद्यनन्त अपरिवर्तनीय मानते है। कोई क्षण क्षणमे परिवर्तनशील मानते हैं। **इस तरह** नाना तरहके विवाद है। इसस उन्हे सम्यग्दर्शन नही, क्योकि ये तत्त्वको यथार्थ दृष्टिसे नही देखते। उनका दर्शन 'सम्यक्' विशेषण सहित नही है, फलतः मिथ्यादर्शन ही है। यदि वे उसके सत्य स्वरूपका श्रद्धान करें तो अवश्य सम्यग्दृष्टि होगे। आगे इसी अर्थको प्रकट करते हैं—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

अन्वयार्थ—(**अतः**) इसलिए (**शुद्धनयायत्त**) शुद्धनयकी अपेक्षासे (**तत्**) वह आत्मा (**प्रत्यग्ज्योतिः चकास्ति**) सपूर्ण द्रव्योंसे भिन्न चैतन्य ज्योति वाला प्रकाशमान है। यद्यपि वह (**नवतत्त्वगतत्वेऽपि**) व्यवहारनयसे नवतत्त्वोमे व्याप्त है तो भी (**यत् एकत्वं न मुञ्चति**) वह अपनी एकताका—अद्वैत स्वरूपका त्याग नही करता। इसीलिए सबसे पृथक् चैतन्यज्योति वाला अनुभवमे **प्रकाशमान होता है** ॥७॥

भावार्थ—जो नय अखण्ड एक पदार्थमे गुणोकी अपेक्षा, पर्यायोकी अपेक्षा व विभिन्न **पदार्थोंके** सयोग वा सयोगज विभावोको अपेक्षा आत्मद्रव्यको खण्ड खण्ड, अनेक, परसयुक्त, विकारी रूपमे देखता है, उस नयको ही व्यवहार नय कहते हैं। इसकी दृष्टिमे जीवमे अजीव (देहादि नोकर्म तथा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म) है। कर्मका आस्रव-बधादिरूप, रागी, द्वेषी मोही आदि सभी अवस्थाएँ हैं। उनके कारण वह अनेक रूप है।

आत्मामात्रको देखनेकी दृष्टि बनावे तो इन सबके भीतर रहता हुआ भी आत्मा, इन सबके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न प्रतीयमान अनुभवमे होता है।

आत्माको व्यवहारसे देखने पर उसके शुद्ध स्वरूपका भान नही होता, किन्तु परसे मिला हुआ चैतन्य प्रतिभास होता हे। जबकि जीवके साथ सयुक्त होने पर भी वे सब पर-'पर' ही है जीवके 'स्व' नही है। सज्ञा-स्वलक्षणकी अपेक्षा गुणभेद भी दीखता है पर उनकी आत्मासे पृथक् कोई सत्ता नही है। पर्याय भेदसे भो उस द्रव्यको खण्ड-खण्ड नही किया जा सकता क्योकि पर्याय नाशवान् है, द्रव्य नित्य है। पर्यायें क्रमवर्त्ती हैं—द्रव्य अखण्ड अक्रमरूप सत्ता वाला हे। अतः इनकी अपेक्षा भेदकी कल्पना-आपेक्षिक है—यथार्थ नही। जबकि द्रव्यका स्वरूप **वास्तवमें वैसा है, काल्पनिक नहीं।** यदि वह काल्पनिक होता तो खण्ड-खण्ड रूप सत्तामे स्कध की तरह बिखर जाता। यथार्थमे परके साथ रहकर भी वह वियुक्त ही है ॥ ७ ॥

आत्मदर्शन किस प्रकार करना चाहिए यह बताते हैं—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानम्,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपम्,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**अथ इदम् आत्मज्योतिः**) यह आत्मज्योति जो शुद्ध स्वरूपमे है (**चिरमिति**) चिर कालसे अनादि कालसे (**वर्णमालाकलापे निमग्नं कनकम् इव**) नाना वर्णवाली धातुओ या पाषाणादि किट्टिकाओमे डुबे हुए सुवर्ण की तरह (**नवतत्त्वच्छन्नम्**) नव पदार्थोंमे आच्छादित है। अत. वह ज्योति (**उन्नीयमानम्**) शुद्ध नयसे प्रकट की गई (**सततविविक्तम्**) समस्त परद्रव्यो और भावोसे भिन्न

(**एकरूपम्**) अपने एक शुद्ध स्वरूपमे (**उद्योतमानम्**) प्रकाशमान् है। ऐसी उस आत्मज्योतिको (**प्रतिपदम् दृश्यताम्**) प्रतिक्षण देखो अथवा (**प्रतिपदम् उद्योतमानम्**) प्रतिपर्यायमे प्रकाशमान सोलह वानीमे प्रकाशवान स्वर्णकी तरह उस शुद्ध द्रव्यको देखो तो आत्मदर्शन होगा ॥८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन शब्दका शब्दार्थ है—वस्तुको भले प्रकार, **जैसा उसका शुद्धस्वरूप है उस प्रकारसे देखना,** अर्थात् वैसी दृढ श्रद्धा रखनी।

(१०) प्रश्न—जब किसी प्रकारके पदार्थको शुद्ध स्वरूपमे देखना सम्यग्दर्शन है तब आत्माके शुद्ध स्वरूपको ही देखनेकी बात सम्यग्दर्शनमे क्यो कही जाती है ?

समाधान—अध्यात्म-शास्त्रका यही अर्थ है जो आत्माके आश्रयसे वर्णन करना। फिर अन्य द्रव्यकी चर्चा उसमे कैसे जोडी जाय। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जानेगा तो अपनेमे शुद्ध दशा प्रकट करनेका प्रयत्न करेगा। पुद्गलादि द्रव्योको शुद्ध रूपमे जान कर भी न उन्हे शुद्ध करनेका प्रयत्न कर सकता है और न उन द्रव्योकी शुद्धतासे आत्माको लाभ हो सकता है। यद्यपि शुद्धात्माका जाननेवाला परद्रव्योको भी शुद्ध रूपमे ही जानता है, तथापि यदि उन्हे जाने और अपने स्वरूपको न जाने तो उसे इसका लाभ प्राप्त नही है, इसीलिये शुद्धात्माके बोधमे निजशुद्धात्माकी ही बात ली गयी है, परात्माकी नही। परमात्माको जो शुद्धावस्थामे है, शुद्ध जाननेका अर्थ अपनी शुद्धताके प्रति प्रीति ही है।

(११) **प्रश्न**—तब परमात्माका वदन स्तवन आदि क्यो करना चाहिए। स्वात्मदर्शन ही इष्ट है ?

समाधान—जिसे अपनी आत्माकी शुद्धता इष्ट है उसे शुद्धताको प्राप्त आत्माओके प्रति रुचि स्वयमेव आती है, अत उनकी वन्दना स्तवन-पूजन आदि करता है। आत्माकी शुद्धताका बोध करनेके लिए यह भी आवश्यक होता है कि पर द्रव्योको भी शुद्ध स्वरूपमे जाने।

(१२) **प्रश्न**—परद्रव्य, परभाव, और परनिमित्त जन्य विकारी भाव, ये अपने-अपने स्वरूपमे यथार्थ हैं ?

समाधान—हाँ, तथापि जीवको केवल उसके निजके स्वभावसे ही देखना है। उसमे अन्यका अभाव है, अत आत्माके स्वभावमे उनका मिश्रण शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे असत्यार्थ है। हाँ उनका वर्णन व्यवहारकी भाषामे करते है। सम्यग्दृष्टि भी करते है। वे भी ऐसा कहते है कि 'मेरा मकान है' 'मेरी स्त्री है' 'मेरी भूमि है' मेरी सम्पत्ति है, पर यह सब वस्तुत 'मेरी नही है' ऐसा मात्र व्यवहार चलानेको व्यवहारियोकी भाषामें कहा जाता है, यह भी वह जानता है। अत **ऐसी भाषा व्यवहार करते हुए भी तत्वज्ञानी सम्यग्दृष्टि ही है। उसकी दृष्टि तो अपने निजस्वरूपको सम्यक् देखने जानने व अनुभव करनेकी है। परके रहते हुए भी** उनपर **दृष्टि नहीं है**—क्योकि निजमें परका सर्वथा अभाव है। निजकी सत्तासे सम्बन्धित अपने ज्ञायक स्वभावको ही वह सत्यार्थ और निजकी सत्तासे भिन्न समस्त द्रव्य-क्षेत्र काल भावको असत्यार्थ मानता है **क्योकि** वे उसकी सत्तासे अनुस्यूत नही हैं।

(१३) **प्रश्न**—सत्यार्थ असत्यार्थको स्पष्ट कोजिए।

समाधान—यहाँ सत्यार्थका अर्थ निजके लिए उपादेय तथा असत्यार्थका अर्थ निजके लिए अनुपादेय है। ससार की उत्पत्ति तो परसयोग (जोडने) से होती है और **मुक्ति पर सयोग तोड़ने**

से होती है। थोडे शब्दोमे कहे तो 'जोड़-तोड' दो शब्दोमे ही संसार मोक्षका स्वरूप है। मुक्तिका अर्थ छूटना है। छूटना बिना बधके नही होता, अत तब बध भी सत्य है ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। कहना होगा कि वह अपने स्वरूपमे सत्य है, पर मोक्षमार्गके लिए अनुपादेय (हेय = त्याज्य) है। अतः उसके लिए वह बाधक है अत असत्य है। कुछ नही है।

(१४) **प्रश्न**—पर्यायदृष्टि सम्यग्दृष्टिकी है कि नही, अन्य दृष्टि न भी हो।

समाधान—पर्यायें ससारी जीवकी परनिमित्त जन्य अशुद्ध हैं, अशुद्धपर दृष्टि रखनेपर अशुद्धात्मा[1] पाएगा। शुद्धपर दृष्टि होनेपर शुद्धात्माको पाएगा। पर्यायें अनेक हैं, द्रव्य एक है। आत्मा ससारमे नानापर्यायोमे परिवर्तित हो रहा है पर सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि पर्यायों को गौण करके आत्माके त्रिकालोद्भव अपने शुद्ध स्वरूप पर है।

दृष्टांत १—पनघट पर पानी भरनेवाली पनिहारिने जैसे आपसमे बात करती हुई अपने माथेपर दो-दो तीन-तीन घट रखकर चलती हैं। वे बातें करती है, उत्तर देती हैं, पर प्रति पदमें ध्यान इस बात पर है कि घट न गिर जावें। उन्हे सम्हालती रहती हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ससारमे रहते काम करते हुए भी, अपनी दृष्टि केवल निज उपादेयपर रखता है। उसकी सम्हालमे भूल नही करता।

दृष्टात २—निष्णात नृत्य करनेवाली नृत्यकारिणी पूरे रगमचपर फिरती है, नानाचेष्टायें करती है, पर सगीत तथा वाद्योके स्वरोके साथ पैरोका मेल न बिगड जाय इसका पूरा ध्यान रखती है। जहाँ ताल टूटता है उसके पैरोकी क्रियाये भी ताल टूटनेका सकेत देती हैं, बेताल वह कभी नही होती। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ससारमे विविध चेष्टारूप नृत्य करता है पर अपनी अन्तरात्माके सगीतकी ध्वनि उसके भीतर गूँजती रहती है, उसे वह स्वप्नमें भी नही भुलाता।

निज स्वभावकी दृष्टि जिसे प्राप्त हुई है वह तो अनादिकी भूलको-भ्रमको-निद्राको नशाको छोडकर सावधान-जागृत हुआ स्वात्मबोधको प्राप्त हुआ है। वह अब कैसे उस अनुभव निधिको पाकर फिर उसे भूलकर रक बनेगा ? अतः सब कुछ जानता हुआ भी कुछ नही जानता, सब देखता हुआ भी कुछ नही देखता। एक अपनेको ही जानता और देखता है।

(१५) **प्रश्न**—प्रमाण-नय-निक्षेप पदार्थोके अनुगमनके कारण हैं। यदि सम्यग्दृष्टि केवल आत्माको जानता है तो प्रमाणसे जानता है ? या नयसे ? या निक्षेपसे ? या उनके किन्ही भेद-प्रभेदोसे। यदि इनसे नही जानता तो उसका जानना प्रमाणविरुद्ध-नयविरुद्ध-निक्षेपविरुद्ध होनेसे अप्रमाण है। कल्पित है। मिथ्या है।

इसका समाधान निम्न पद्यसे श्रीअमृतचन्द्राचार्य स्वय करते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।

(१) सुद्धं तु वियाणंतो सुद्ध चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ।।—समयसारगाथा १८६

अन्वयार्थ—(सर्वंकषे अस्मिन् धाम्नि अनुभव उपयाते) सम्पूर्ण तेजोको नीचा कर देनेवाले **इस आत्मानुभवके** तेजके अनुभव आने पर **(नयश्री न उदयति)** नयोकी लक्ष्मीका उदय नही होता **(प्रमाणम् अस्तमेति)** प्रमाण भी अपने भेद प्रभेदो सहित अस्त हो जाते है। **(निक्षेप चक्रम् अपि)** चारो निक्षेपोका समुदाय **(क्वचित् याति)** कही चला जाता है **(इत्यपि न विद्म)** हम यह भी नही जानते। **(अपरम् किम् अभिदध्मः)** और ज्यादा क्या कहें उस समय **(द्वैतमेव न भाति)** दूसरा कोई पदार्थ सामने नही आता। अद्वैत आत्मा ही प्रतिभासित होता है ॥९॥

भावार्थ—यहाँ सम्यग्दृष्टिके अनुभवकी बात है। सोने वालेसे पूँछे—कि क्यो भाई सो रहे हो ? यदि उत्तर देता है कि—हाँ, तो समझो झूठ बोलता है, सो नही रहा। यदि सोता होता तो उत्तर कैसे देता ? वह तो जाग रहा है। इसी प्रकार **निजविशुद्धात्माका जब** अनुभव **अपने पूर्ण** तेजसे **उदित होता है तब वह सर्वंकषधाम** है। अर्थात् ऐसा तेज है, जिस तेज के सामने दूसरे तेज नही ठहरते। तब उसके सिवाय सब अस्त हो जाते हैं। अस्त हो जानेका यह **तात्पर्य नहीं है कि उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। नहीं, उनका अस्तित्व उसकी दृष्टिमे उस समय नहीं आता। यदि आवे तो समझ लो** वह **अनुभव की यथार्थ** भूमिका **पर नहीं** है।

सम्यक् ज्ञानी पुरुष आत्मरुचिमे जागते है, अनात्मरूप पदार्थोंमे सोते हैं। मिथ्याज्ञानी अनात्मरूपमे जागते व आत्मरूपमे सोते हैं।

यह यथार्थ है कि अनुभव सही वही है जिसमे अनुभूत पदार्थके सिवाय अन्य कुछ दिखाई न दे। यदि उपयोग क्षणभरको भी लौटता है तो उतने क्षण वह अनुभव विहीन है।

जब कोई व्रती या अव्रती सामायिक या जाप जपने बैठता है और अपने चित्तको पञ्च-परमेष्ठीकी भक्तिमे लीन कर देता है या तत्त्वविचारणामे लीन हो जाता है, तब उसे यह पता नहीं लगता कि वह कहाँ है ? क्या कर रहा है। यदि उसका मन लौटकर पीछे देखता है कि कहाँ है वह, तो समझ लीजिए कि उसी क्षण वह अपने ध्यानसे अलग हो गया, क्योकि ध्याताने ध्येय छोड़कर अपनी ध्यान-पद्धतिपर विचार करना प्रारम्भ कर दिया है। कहना चाहिए कि ध्याता अपने पूर्ण ध्यानमे हो तो केवल ध्येयपर ही दृष्टि टिक जाती है, अन्य सब पदार्थ दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं।

दृष्टिसे ओझल हो जानेका यह अर्थ नही है कि उनका अभाव हो जाता है। अथवा जिस प्रमाण-नय-निक्षेपकी अपेक्षा वह अनुभव करता है वह अनुभव **प्रमाण-नय-निक्षेपके विरुद्ध हो गए, ऐसा नहीं है।** ध्येय उसका प्रमाणसिद्ध है अथवा किसी नय विशेषका विषय है, या किसी निक्षेप की अपेक्षा लेकर चल रहा है। पर जो चल रहा है, उस समय दृष्टि (विचारणा) केवल उसकी ध्येयपर ही है। वह किसी प्रमाण या नय निक्षेपका विषय है, इसके विचार करनेका अवकाश ही वहाँ नही है। तटस्थ व्यक्ति उस अनुभव करने वालेके अनुभवके अतिरिक्त उसके स्थान, समय, प्रमाण, नय आदिका विवेचन कर सकता है। पर विवेचन करने वाला उस अनुभवसे दूर है। इसका कारण यह है कि उपयोग एक समयमे एक ज्ञेयपर रहता है, अनेकपर नही।

(१६) **प्रश्न—**तब तो अनेक पदार्थोंका कभी ज्ञान ही सभव नही है जब कि हर समय एक ज्ञानका विषय एक ही होगा।

समाधान—बात तो ऐसी ही है। पर हमे अनेकका ज्ञान होता है यह भी नही है। इसका यह अर्थ है कि **ज्ञानोपयोग भी वे अनेक हो** जाते हैं **और** उनकी **अत्यन्त शीघ्रगामी चंचलताको हम स्वयं भी नहीं पकड़ पाते।** अत- अनेक **क्षणवर्ती** नाना **उपयोगोको** एक **उपयोग मानकर** उसके **विषयको यह ज्ञान नानारूप जानता है,** ऐसा मानते हैं। ससारी जीवके क्रमवर्नी ज्ञानकी यही स्थिति है। हाँ, केवलीका ज्ञान ही एक क्षणमे नानापदार्थोंका एक साथ ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु संसारीका नही।

यह सिद्ध हुआ कि जैसे सूर्यका तेज प्रकट होने पर चन्द्रमा इतना फीका पड जाता है कि कि "आक-पात-सम-रक" हिन्दी भक्तामरमे कहा है। दोपक बिजली लेम्प आदि सम्पूर्ण पास रखे हुए प्रकाश भी उसके तेजमे विलीन हो जाते है और लोगोको केवल एक ही प्रकाश दीखता है। तारागण तो प्रयत्नके बाद भी अपना अस्तित्व तक नही बता पाते, इसी तरह शुद्धात्माके अनुभवके समय उसके सिवाय अन्य कुछ प्रतिभासित नही होता, अकेला (अद्वैत) वही प्रकाशमान होता है।

श्री प० दौलतरामजीने छहढालामे इसी बातको लिखा है—

'परमाण-नय-निपेक्षको न उदोत अनुभवमें दिपे'।

(१७) **प्रश्न**—अनुभवके समय उसे प्रमाण नय निक्षेप न दिखें तो न दिखें, पर वह अनुभव क्या अप्रमाण है? यदि नही तो किस प्रमाण या नयका विषय है?

समाधान—वह शुद्धनयका विषय है। इसी बातको आचार्यश्री निम्न पद्यमे प्रकट करते है :—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**आत्मस्वभावम् परभावभिन्नम्**) आत्माका स्वभाव परभावोंसे भिन्न है: (**आपूर्णम्**) वह अपनेमे परिपूर्ण है (**आद्यन्तविमुक्तम्**) आदि अन्तरहित अर्थात् अनाद्यनन्त है। (**एकम्**) एक-अर्थात् द्वैतभावसे रहित है (**विलीन संकल्प विकल्पजालम्**) सकल्प और विकल्पोके भेदोके जालसे रहित है (**प्रकाशयन्**) आत्माके ऐसे स्वरूपको प्रकट करता हुआ (**शुद्धनयः**) शुद्धनय (**अभ्युदेति**) उदयको प्राप्त होता है। अर्थात् जब शुद्धनय प्रकट होता है तब आत्माका ऐसा शुद्ध निजस्वरूप प्रतिभासित होता है ॥१०॥

भावार्थ—आत्मा अपने स्व,(निज) भावमे है। वह पर द्रव्योंके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है। जो जिसका 'स्व' है वह परसे भिन्न होना ही चाहिए, यह तर्कसंगत बात है। इसीलिए आत्मा, पर द्रव्यो तथा पर-द्रव्योंके भावोंसे पृथक् हो है। तथा कर्म-नोकर्म-निमित्तजन्य जो विकारभाव आत्मामे होते हैं वे भी उसके 'स्व' भाव नही है, अतएव उनसे भी आत्मा भिन्न है।

परभावोको या रागादिभावो को आत्मासे अलग कर दिया जायगा तो **आत्मा शून्य हो जायगी, ऐसी आशंका नहीं** करनी चाहिए। क्योकि वह अपनेमे अपने स्वभाव **भावसे आपूर्ण (भरी हुई) है**, कही भी कोई जगह उसमे स्वभावसे शून्य नही है। घडा यदि आपूर्ण भरा हो तो उसमे **और** जलकी गुजाइश नही है, और भरा जाय तो वह गिर जायगा। इसी प्रकार आत्मा नामका **पदार्थ** कुछ रिक्त हो तो परभाव उसमे प्रवेश पा सकेंगे। पर ऐसा होता नही है, क्योकि वह **अपने असाधारण गुण चैतन्य रूपी जलसे** भरा **पूर्णघटके समान है। भावान्तर उसके पास आवे तो वे बिखर जायेंगे, उसमें उन्हें स्थान न मिलेगा।**

वह आत्मस्वभाव, **आत्मामें शक्ति रूपमें, अनादिकालसे** है और **अनन्त काल** तक रहेगा। कभी जुदा न होगा। **अनादिसे कर्म-नोकर्मको सयोगी दशामें उसका स्वभाव विकार रूप परिणत है** पर वह वर्तमान विकारी पर्याय है। **द्रव्यका स्वभाव द्रव्यमें शक्तिरूपमें सदासे है।** स्वभाव उत्पन्न नही होता, यदि उत्पन्न हो तो **वह नैमित्तिक भाव होगा स्वभाव नहीं होगा।**

आत्मा एक है, इसका अर्थ है कि वह 'शुद्ध' है। जो अपनेमे एक होता है वही लोकमे भी शुद्ध कहा जाता है। जैसे शुद्ध घी, शुद्ध दूध इत्यादि। पर को सगतिसे ही वह अशुद्ध कहा जाता है, क्योकि मिश्रणसे उसकी विकृतावस्था हो जाती है। तथापि घी व दूध मिश्रित दशामे भी घी और दूध है, वे अन्य द्रव्य नही बन जाते। यदि वह अन्य द्रव्य बन जावे तो जो बन जावे वह तद्रूप ही हो जायगा। वह अशुद्ध घृत भी न कहलायगा। इसी प्रकार दूधमे यदि पानी मिल जायगा तब मिश्रित दशामे भी वह जितना दूध मिला है उतना तो दूध ही है जितना पानी मिलाया है उतना पानी ही है। न दूध पानी बना, न पानी दूध बना। यदि तीन पाव दूधमे एक पाव पानी है तो अविवेकी उसे एक सेर दूध कहेगा, पर विवेकी जान लेता है कि दूध तो उसमे तीन पाव ही है। इसी प्रकार आत्मा, कर्म-नोकर्मके साथ भले ही एक क्षेत्रावगाही हो तथापि ज्ञानी उसमे आत्मा कितनी है और सयोगी पदार्थ कितना क्या है इसकी पहिचान कर लेता है।

दूधमे शर्करा मिला देनेपर दूध-पानी दोनोका स्वाद मीठा हो जाता है, पर ज्ञानी जानता है कि मीठा स्वाद शर्कराका है, सोधा स्वाद दूधका है, और पनीला स्वाद इसमे पानी का है। **अज्ञानी तीनोको** एकमेव **समझ कर पी जाता है**, भेदभाव नही जानता।

ज्ञानी जानता है कि क्रोधकी अवस्थामे 'मैं परपुरुषपर वैरभाव करता हूँ तो मेरा शरीर थर-थर काँपता है।' इसमे मैं क्रोध कर रहा हूँ यह जानना तो मेरा ज्ञानभाव है, क्रोध करना बुरा है यह भी ज्ञान जानता है। क्रोध मेरा विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नही, क्योकि वह न सदासे है और न सदा रहता है। वैर भी मेरा विकारी भाव है। क्रोधके विकारसे उसका जन्म हुआ है, क्योकि मैंने इस व्यक्तिमे अनिष्ट कल्पना की। शरीर जड नोकर्म है, मैंने जब विकारको अपनाया तो शरीरमे भी विकृति हो गई है। ज्ञानीको ऐसा विचार आता है और वह स्वभाव-परभाव-विकारीभाव सबको ज्ञानके बलपर पहिचान लेता है। अज्ञानी ये सब नही जानता। वह तो क्रोधमे ऐसा भी कहता है कि "मै अपनेसे तुमको एक कर दूँगा" तुम्हे पीस दूँगा। मिटा दूँगा। यह तो तीव्र क्रोध है जिसके कारण गलत बात कहता है। और मैं गलत हूँ ऐसा जानता भी नही है। ज्ञानी, पर मे निजकी कल्पना जिसे सकल्प कहते हैं, तथा कषायके या ज्ञेयके आधारपर होनेवाले विकल्प, इन सब सकल्प विकल्पोसे रहित शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा जानता है।

शुद्धनयके बलसे उसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार (अनुभव) प्राप्त होता है अतः आत्माको **परसे भिन्न निजके एकत्वसे** अधिक परिपूर्ण अनाद्यनन्त **संकल्पविकल्पसे रहित,** ज्ञायक स्वरूप शुद्ध शान्त रूपमे देखता है।

सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, उनका जाननेवाला ज्ञान है। **ज्ञान ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। वह स्वयंको भी जानता है।** दीपक जैसे परको प्रकाशित करता है और स्वय दीपकको देखनेके लिए अन्य दीपककी आवश्यकता नही है इसी प्रकारं ज्ञान भी स्वपर प्रकाशक है।

पदार्थोंका निर्णय ज्ञान ही करता है ज्ञानके बिना उनका अस्तित्व भी है, यह कैसे जाना जायगा ?

ज्ञान सही भी होता है और गलत भी। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाने, वह सही (सत्य-सम्यक्-प्रमाण) ज्ञान है, और पदार्थ कुछ अन्य प्रकार है और ज्ञान उसी अन्य प्रकारसे जाने वह गलत (असत्य-असम्यक्-मिथ्या-अप्रमाण) ज्ञान है।

सत्यज्ञानसे निर्णीत पदार्थबोध **हितकर** है। **असत्यज्ञानसे** निर्णीत पदार्थबोध धोखा देनेवाला होनेसे **अहितकर** है। यह प्रमाण ज्ञान पदार्थको सम्पूर्ण रूपसे अपना ज्ञेय बनाता है, पर नय उसके एकाशका ही विषय बनाता है। दोनो ज्ञान सत्य हैं। वस्तुके एक देशका प्रतिपादक भी नय सत्याशका प्ररूपक है। साथ ही अन्य अनेक सत्याश जो वस्तुमे है उनका वह निषेधक नही है। कलश चारकी व्याख्यामे भी इनका सक्षिप्त स्वरूप कहा जा चुका है।

द्रव्य जितने हैं वे सदा काल अनाद्यनन्त अपने-अपने स्वभावका ही स्पर्श करते है—अन्य भिन्न द्रव्योका नही। चाहे वे स्वजातीय द्रव्य हो या विजातीय द्रव्य हो। अत. द्रव्यार्थिक नय उसके अनाद्यनन्त शुद्धस्वभाव वाले अशको ही बताता है। वर्तमानमे जो कर्मनिमित्तजन्य विकारी पर्यायें है उनका प्रतिपादन नही करता न उनका निषेध करता है। वह अपनी बात करता है। **पर्यायार्थिक नय क्रम-क्रमसे होनेवाली** परिवर्तनशील अवस्था पर **दृष्टि रखता है, द्रव्यपर नहीं। दोनों नय द्रव्य** और **पर्यायके भेदको लक्ष्य मे रखकर विषयका प्रतिपादन करते है। दोनो अंश** सत्य हैं।

अनादिसे जीवकी **एकान्तसे पर्याय दृष्टि हैं अत. पर्यायको ही** द्रव्य **मानता है** इस एकान्तका फल यह है कि वह अपनी मानव पर्यायकी उत्पत्तिमे अपनी उत्पत्ति और पर्यायके नाशमे अपना भी सर्वथा नाश समझता है और इस **मिथ्या** धारणासे हर्ष-विषादको प्राप्त होता है। प० दौलत-रामजी अध्यात्मके बड़े विद्वान् थे। विक्रमकी १९वी शताब्दीमे हुए है। अपनी छोटी किन्तु धमके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए रसायन स्वरूप पुस्तक छह ढालामे लिख गए है—

तन उपजत अपनी उपज जान।
तन नसत आपनो नाश मान॥

इसे अज्ञान लिखा हे। मिथ्यादृष्टिकी ही ऐसी मान्यता होती है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं तो एक ज्ञायक स्वभावी अमूर्तिक आत्मद्रव्य हूँ। शरीर पौद्गलिक जड़भूत द्रव्य है, अजीव है, मेरे स्वरूपसे भिन्न हे। ससारी अवस्थामे इसकी प्राप्ति बधनरूपमे—कारागृह रूपमे है। यदि किसी व्यक्तिको उसके अपराधोके फलस्वरूप कारागृहमे बन्द किया गया है, वह उसे अपना आनन्दका दिन माने तथा कारागृहसे मुक्तिके दिनको शोकदिवस माने तो लोकके व्यवहारी

सज्जन पुरुष उसे अज्ञानी समझेंगे। इसी प्रकार कर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्ट जिस शरीरके माध्यमसे प्राप्त होते है उस कर्मदण्डके फलस्वरूप शरीरकी प्राप्तिमे 'हर्ष' और उसके वियोगमे 'विषाद' माननेवाला पुरुष भी उसी कोटिमे है, वह उससे उबर नही पाया।

(१८) **प्रश्न**—तीर्थंकरका जन्मकल्याणक मनाया जाता है क्या वह गलत मान्यता है[1]।

समाधान—नही। तीर्थंकरका वह अन्तिम जन्म है इस जन्मसे ही उन्होने जन्मका अन्त किया है। इस प्रसन्नताका सूचक वह कल्याणक माना जाता है। चौबीसमेसे उन्नीस तीर्थंकर अपने जन्म दिवस पर ही ससारसे विरक्त हुए हैं। अर्थात्—देहसे ममत्व छोडा है।

ज्ञानीको जन्म दिवस पर यह सोचना चाहिए कि मेरे इतने वर्ष व्यर्थ गए। मुझे आत्म-कल्याण करना चाहिए न कि देहके जन्मका उत्सव करना चाहिए। देहकी प्राप्तिमे हर्ष मानना अनन्त जन्मोको निमत्रण देना है।

(१९) **प्रश्न**—जबकि आत्मा वर्तमानमे प्रत्यक्ष ससारी सदेही कर्म नोकर्म भावकर्म सयुक्त है तब इसे असत्य कैसे माना जाय ?

समाधान—यह असत्य नही है। परन्तु जीवकी यह विकारी पर्यायमात्र है। जीवका स्वरूप नहीं है। इस सयुक्तताको दूर करना हो तो उससे पूर्व यह जानना भी तो उचित है कि ये सयुक्त हैं[2]। इन सयोगोको भिन्न करना है, तब मेरी निर्मल दशा प्रकट होगी। ससारी दशा कर्मनिमित्तजन्य होने से नैमित्तिक विकारी दशा है। स्वाभाविकी दशा तो इन सयोगोके दूर होनेपर प्रकट होगी। वह अन्यत्रसे आयगी नही। द्रव्यका स्वभाव जो छिपा है, वह प्रकट होगा। उदाहरण स्वरूप ऐसा समझे—एक श्वेत वस्त्र है। उसे लालरगसे रँग दिया गया है। इस अवस्थामे उसकी श्वेतता रक्तिमामे परिवर्तित है। वर्तमान मे उसकी लालिमा सत्य है, यथार्थ है, पर क्या यह वस्त्रका त्रैकालिक स्वरूप है ? या लालरगके निमित्तसे नैमित्तिक अवस्था है। यह एक प्रश्न है।

आप स्वय कहेगे कि लालिमा वर्तमानमे सत्य होते हुए भी सर्वथा सत्य नहीं, क्योकि वस्त्र सदासे ऐसा नही है, और रग दूर होनेपर भी लाल नही रहता। अत वह उसकी परके कारण विकृत दशा है। अब दूसरा प्रश्न होता है कि साबुन या अन्य द्रव्योके द्वारा धुलाई करनेपर वस्त्र सफेद हो जाता है। तो यह विकृत दशा है क्या ? उत्तर मिलेगा, नही। वह स्वरूपसे श्वेत था अत साबुन-सोडा आदिके योगसे उसका ऊपरी रग दूर हो गया अत श्वेत है। प्रश्न—जैसे रगकी लालिमासे लाल था, वैसे क्या अब साबुन की सफेदीसे वस्त्र सफेद रँग गया है क्या ? उत्तर होगा, नही, सफेदी उसका स्वभाव था जो लालरग दूर कर देने पर प्रकट हुआ है।

---

१ आगे कलश १५५ की टीका भी देखिये।

२ भावकर्म, रागादिभाव आत्माके स्वभाव भाव नही। कर्मोदय के निमित्त से आत्मामे उत्पन्न हुए हैं, अत कर्म सयोग मे होनेसे इन सयोगजभावो को यहाँ सयुक्त कहा गया। जिनका वियोग हो जाता है वे सयोगी ही थे, इस नियम से भी उन्हें सयुक्त कहा जायगा। तथापि आत्मसत्ता से भिन्न स्थिति न होने से उनमे आत्मा के साथ कथचित् तादात्म्य संबध भी कहा जा सकता है।

(२०) **प्रश्न**—यदि श्वेत स्वभाव वस्त्रका था तो कहाँ छिपा था ? हमने वस्त्रके एक-एक ततुके रेशे-रेशेको अलगकर देखा था। सफेदीउस अवस्थामे दिखाई नही दी, फिर यह कहाँसे आ गई ?

समाधान—स्वय विचारिये कि यदि श्वेतता शक्ति को अपेक्षा भी उसके स्वभावसे मिट गई होती तो प्रयोगसे भी प्रकट न होती।

इसी प्रकार जीव यद्यपि वस्त्रकी तरह पहिले श्वेत नही था। शुद्ध नही था। उसके साथ कर्मादि सयोग तो है और जब सयोग दूर हो जाता है तो सिद्धावस्थामे वह सयोगजन्य विकारोसे पृथक् शुद्ध स्वभावी प्रकट हो जाता है। इससे सिद्ध है कि जो प्रकट हुआ है वह शक्ति अपेक्षा द्रव्यमे पूर्व ही था।

सम्यग्दृष्टि इसी प्रकार शुद्धात्माका भेद ज्ञानके बलपर अनुभव करता है। उसकी इस भेदक दृष्टिको ज्ञाता पुरुष 'शुद्धनय' कहते हैं।

ऐसे अपने शुद्ध स्वभावका अनुभव करने वाला भले ही अनुभवन कालमे 'मै शुद्धनयका अवलबन कर रहा हूँ' ऐसा न जाने, पर अनुभव करने वाली वह दृष्टि 'शुद्धनय' की दृष्टि है ऐसा आचार्य कहते हैं। तथा ससारी प्राणियो को उपदेश करते है कि इस शुद्धनयका अवलबनकर शुद्धात्माका अनुभव करो।

(२१) **प्रश्न**—जब जिनेन्द्रका उपदेश अनेकान्त रूप है, क्योकि पदार्थ स्वरूप स्वय अनेकान्त है, और इसीलिए अनादिकालसे जिनकी पर्यायैकान्त दृष्टि थी उसे छोडनेका उपदेश किया है फिर उन्ही आचार्यो ने **पर द्रव्यसे भिन्न पर (रागादि) भावोसे भिन्न** आत्माका शुद्धनयसे अनुभव करनेका उपदेश दिया सो यह तो विपरीत ही हुआ। **यह निश्चयका एकान्त है दोनो एकान्त मिथ्यात्व हैं ?**

समाधान—तुम्हारा कथन यथार्थ नही है। कारण यह कि **आचार्य निश्चयके** एकान्तका **उपदेश नहीं** दे रहे, यदि ऐसा होता तो **एकान्त अद्वैतका समर्थन करते**। जो व्यक्ति आत्माको वर्तमान दशामे भी पूर्ण शुद्ध माने, वह निश्चयका एकान्तवादी है। आचार्य तो यह कहते है कि तू अपनी **पर्यायैकान्तताको छोड़ इस तरफ दृष्टि दे**। बिना ऐसा **उपदेश किये पर्यायमूढ़ता नहीं** जाती और यथार्थ **द्रव्य** स्वरूप नही **भासता**, इसमे इसपर **जोर दिया** है। इसका यह तात्पर्य नही निकालना **कि पर्यायका सर्वथा अभाव** कराया। किन्तु पर्यायको **गौणकर इतना ही नहीं, द्रव्य पर्याय भेदको भी**, जो कि यथार्थ है, **गौणकर, अभेददृष्टि** से **थोड़ा अपने स्वरूपका भी तो विचार कर**। जब अपना **स्वरूप जाननेमे** आया, **तब कहते हैं** कि 'यह तेरा **स्वरूप** है।' अब **पर्यायको देख तू कहाँ है ? और तेरा** क्या **कर्तव्य है ? उसी कर्तव्य की पालना** ही **चारित्र है। इस तरह** स्वरूप **दर्शन कराकर**, अशुद्ध **पर्याय मिटा** कर, शुद्ध **पर्यायको प्रकट करानेका उपदेश है।**

आचार्य कहते हैं कि एक बार तो अपनी दृष्टि स्वरूपको पहिचाननेको कर। 'शुद्धनय' के अवलोकनसे देखे बिना वह स्वरूपकी पहिचान होगी नही। जब तू उसका अवलोकन करेगा तो क्या दीखेगा उसका वर्णन करते हैं—

> नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
> स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
> अनुभवतु तमेव द्योतमान समन्तात्
> जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस शुद्धनयमे **(अमी बद्धस्पृष्टभावादय)** ये बद्धस्पृष्ट आदि विशेषण **(एत्य प्रतिष्ठाम् न हि विदधति)** आकर प्रतिष्ठाको प्राप्त नही होते **(किन्तु उपरि तरन्त)** किन्तु ऊपर तैरते ही नजर आते है। **(जगत् अपगतमोहीभूय)** अत जगत्के प्राणियो, मोह रहित होकर **(समन्तात् द्योतमानम्)** सब ओरसे प्रकाशमान **(तमेव सम्यक् स्वभावम्)** उस यथार्थ आत्मस्वभाव को **(अनुभवतु)** अनुभव करो ॥११॥

भावार्थ—शुद्धनयका स्वरूप शुद्धपदार्थको दृष्टिमे लेना है। यह बात ऊपर बताई जा चुकी है। उस शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा कर्म-नोकर्मसे न बधी है न छूटी है अर्थात् आत्मामे उनका प्रवेश नही है। किन्तु अपनेसे ही अनन्य (अभिन्न) है। यद्यपि पर्यायें (नर-नारकादिरूप) आत्मामे हैं तथापि वे स्थिर नही, आगन्तुक हैं। यदि वे स्वभावरूप होती तो सदाकाल अनन्य रहती। पर ऐसा नही होता। अत आत्मा अनन्यरूप है। **अपनी विविध अवस्थाओके रूपोंमे सदैव एक स्वभावसे नियत है।** वह अनियत स्वभाव नही है कि कभी उपयोगस्वभाव हो, कभी जडस्वभाव, **किंतु सदैव ज्ञायक स्वभाव है।**

यद्यपि आत्मा अनन्तगुणस्वभाव रूप है, तथापि अखण्ड है। गुण आदि विशेषणोसे खण्ड-खण्ड रूप नही है। **सर्वगुणव्यापक सामान्य रूप विशाल वस्तु है।** आत्मा **जब अपने ही गुण पर्याय-भेदोंसे भेदरूप नहीं है, तब परसे संयोगीभावोके प्राप्तिकी चर्चा ही नहीं करनी चाहिए, अतः उनसे असयुक्त है।**

इस प्रकार आत्मामे यद्यपि व्यवहारनयमे कर्मबद्धता-शरीरस्पर्शता विविध पर्यायोमे विविधरूपता—**अनियतता** विविधगुणोके विशेषणोसे विशेषता तथा ससारी अवस्थामे कर्म-नोकर्म तथा कर्मोदयनिमित्त रागादि भावकर्मसे सयोगरूप परिणति भी है तथापि यदि आत्माको **शुद्ध-नयकी अपेक्षासे** इन सब विशेषणोसे भिन्न, एकमात्र स्वभाव दृष्टिसे देखें, तो ये विशेषण ऊपर-ऊपर रह जायेंगे, स्वभावमे इनकी स्थितियाँ—(महत्ता) नही है।[1] अत- इन स्थितियोको, जो पाई भी जाती हैं, दृष्टिसे ओझल करके देखनेसे जीवका सम्यक्स्वभाव दृष्टिगोचर होगा?

(२२) **प्रश्न**—जो विशेषण जीवमे दिखाई देते है उन्हे आझल कैसे किया जाय? **यह तो** ऐसे ही है कि जैसे कोई कहे कि तेरे घरमे सर्प है पर तू ऐसा समझ कि तेरा घर सर्प रहित है। ऐसा माननेसे तो धोखा होगा। वह सर्पसे बचनेका कोई प्रयत्न नही करेगा?

---

१ शुद्ध नयका स्वरूप समयसार (गाथा १४) मे इस प्रकार बताया गया है—

> जो पस्सदि अप्पाण अबद्ध पुट्ट अणण्णय णियद ।
> अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणय वियाणाहि ॥१४॥

समाधान—ऐसा नही है, जो **दिखाई देता है उसे आत्मस्वभाव तो न समझो। यदि कोई सर्पको भी घरका ही अङ्ग मान ले** तो सर्प को **क्यो निकालेगा** ? उसे वह तभी निकालेगा जब उसे अपने घरसे भिन्न (**बाधक**) **समझेगा**। इसी प्रकार कर्म-नोकर्म आत्मासे सयुक्त और भावकर्म आत्मा मे दिखाई देते हैं, मात्र इतनेसे ही उन्हे आत्माका स्वभाव मान ले तो उन्हे दूर करनेका प्रयत्न क्यो करेगा ? अत **संयोगी भावोंमे और संयोगज विकारी भावोंमे परत्वबुद्धि कर उनके रहते हुए भी उन्हें इसलिए ओझल करो कि वे हैं तो, पर मेरे निज स्वभावसे भिन्न हैं। मेरे स्वभावमे उनकी महिमा नहीं**, किन्तु **आत्माकी महिमा उनसे भिन्न है।**

(२३) **प्रश्न**—कर्म-नोकर्म तो पुद्गलजन्य हैं अत उनकी दृष्टिसे ओझल कर आत्माकी पहिचान की जा सकती है, पर **रागादि तो कर्मके भाव नहीं, कर्ममे नहीं होते, आत्माकी सत्तामे होते हैं। जो आत्मसत्तासे अभिन्न सत्तावाले हैं उन्हें दृष्टिसे ओझल कैसे किया जाय** ?

समाधान--भावकर्म भी जड स्वरूप है, शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है। यद्यपि वे **आत्मामें उत्पन्न होते हुए पाए जाते हैं** तथापि **उनकी उत्पत्ति भी परसयोग जन्य ही है।**

(२४) **प्रश्न**—सयोग दो द्रव्योका ही होता है। भावकर्म स्वतत्र सत्ता वाले छह द्रव्योमे कोई द्रव्यजाति नही है, तब उनका आत्मासे सयोग कैसे कहा जाय। वे तो आत्म-सत्तासे एकात्मक होनेसे यथार्थमे तादात्म्यरूपसे आत्मामे हैं।

समाधान—यह सही है कि 'द्रव्ययोरेव सयोग'। दो द्रव्योका पारस्परिक **सबंध संयोग-संबंध** कहलाता है, परन्तु सयोगी अवस्थामे जो **आत्मामे रागादि विकार होते हैं वे क्या आत्म-स्वभाव हैं** ? यदि नही हैं तो वे क्या है ? इसका विचार गभीरतासे कीजिए। **वे आत्म स्वभाव नहीं हैं, पुद्गलमे भी पाये नहीं जाते हैं।** तो उनकी क्या स्थिति है ? किस द्रव्यमे वे गिने जायेंगे ? यह विचारणीय है। स्थिति यह है, कि द्रव्य कर्मके भेदोमे राग-क्रोध-मान-माया आदि नामधारी कर्मभेद है। ये नाम उनके क्यो हैं ? इसलिये कि उन **प्रकृतियोमे तत्** तत् प्रकारकी **अनुभाग शक्तियाँ है।** इसलिए अपनी-अपनी शक्तियोके **आधारपर वे कर्म ही** रागकर्म, **क्रोधकर्म हैं।** उनकी **उदयावस्थामे जीवके गुण विकारी हो जाते हैं** ऐसा ही **निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।** अतः कर्म तो जडद्रव्य ही हैं उनके **अनुभागरूप भावकर्मको भी, संयोगज होनेके कारण, जड़रूप कहा गया है।**

(२५) **प्रश्न**—भावकर्म तो आत्माके विकारी भावोको कहते है। आपने जडकर्मके साथ उनका सबध बताया है तब यथार्थमे उनकी सत्ता कहाँ है।

समाधान—भावकर्म दो प्रकार है। **जड़द्रव्यमें भी वह वैभाविकभाव हैं।** आप यथार्थमे पूछते हो तो यथार्थ तो **निश्चयनय** कहलाता है। उसे **शुद्धनय** भी कह सकते है। वह तो **वस्तुको अपने** निज **स्वरूप की दृष्टिसे ही देखता है।** अत न **शुद्ध पुद्गल द्रव्यमें रागादि अनुभाग शक्ति पाई** जाती, और न **शुद्ध जीव में रागादि भाव पाए जाते। परमाणु** शुद्ध पुद्गल **द्रव्य है** उसमे रागादि शक्ति नही, इसी प्रकार **सिद्ध भगवान्में** भी रागादि नही है। यह तो **जीवके और कर्मके परस्पर संयोगजनित अवस्थामें अपने-अपने द्रव्यके विकारभाव हैं।** जब हम शुद्धनयसे **शुद्ध-जीवको** देखते हैं तो **वे** शुद्धजीवके स्वभावमे नही दिखाई देते अत. उनको जड कहा।

(२६) **प्रश्न**--शुद्धात्मामे भले ही रागादि न पाया जावे अशुद्धात्मामे तो उसका अस्तित्व है ही।

समाधान—अवश्य है। और उस दृष्टिसे वह सब सत्य ही है, असत्य नही। तथापि **क्या वे ज्ञानात्मक है**। नही, शुद्ध **चैतन्य स्वरूपसे** भिन्न **अज्ञान स्वरूप है**। अत शुद्ध **चैतन्य ही चैतन्य है**। बाकी सब जो शुद्ध **चैतन्य नहीं हैं वे अचेतन जड हैं। इसीसे रागादिको जड़ कहा है।** दूसरी पद्धतिसे विचार कीजिए तो जो 'स्व' नही है वह पर है। उदाहरणसे समझिए। मार्गमे जाने वाले एक देशव्रती श्रावकको सोनेकी मुहर मिली, उसने वहाँ आने जाने वालोसे पूछा—यह किस की है। सभीने कहा—हमारी नही है। व्रती सोचता है कि इनमे इसका कोई स्वामी नही है। तथापि यह पर है। किसकी है ? किसीकी हो, अपनी नही है। अत उसे छोडकर आगे चल देता है। यह व्रतीका निर्णय है। अव्रती तो यह भी निर्णय कर सकता है कि जब इसका **अन्य स्वामी नहीं तो मैं ही इसका स्वामी हूँ**। पर **उसका यह जानना सत्य है क्या** ? नही है। इसी प्रकार जो मेरे शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे भिन्न है, वह चेतन न होनेसे अचेतन है, जड है।

वैभाविक शक्ति सिद्धात्माओ मे भी है, पर वहाँ उनका वैभाविक परिणमन नही है। रागादिरूप वैभाविक परिणमन कर्मोदय निमित्तक है। वह ससारी जीवमे ही है। इसीलिए रागादि रूप विकारी परिणमन, आत्मस्वभाव नही है। अत **शुद्धनयके** द्वारा अपनी आत्माके सही **शुद्ध स्वरूपमें वर्तमान दशामें पाए जाने वाले आत्म-भिन्न विकारोको ओझल करके देखो। ऐसा करनेसे ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी, अन्यथा नही।**

एक दृष्टान्त। किसी नगरमे आप जैनधर्मशाला खोज रहे हो, तो मार्गमे आस पास सैकडो मकान-दुकानें-धमशालाएँ-मदिर-गाडी घोडे-मोटरें-ठेले देखते जाते हैं। तथापि आपकी दृष्टि उनपर नही टिकती, उन्हे अपने लक्ष्य 'जैनधर्मशाला' से भिन्न जान छोडते जाते है। वे भी तो इसी नगर मे है, इस तर्कपर आप उन्हे धर्मशाला मानकर वहाँ सामान नही रखते। यदि भूलकर किसी-के मकानको धर्मशालाके स्वरूपमे मिला लें और घुस जावे, तो निकाल दिए जायँगे। यदि फिर भी न चेतेंगे तो राजकीय दण्ड पावगे, जेल जायँगे, या पागल समझे जायँगे। वहाँ तो सबको देखते हुए भी यह धर्मशाला नही है, ऐसा मानकर छोडते जायँगे, और जब धर्मशाला आ जायगी तब उसे ठीक-ठीक पहिचानकर उसका आश्रय करेंगे।

इसी प्रकार आत्मस्वरूप पहिचानने चले हो, तब मार्गमे जो भी स्वभाव भिन्न पदार्थ दिखाई दें उन्हे जीव न मानकर, छोड दो। और उन सबसे भिन्न जब अपना अखड ज्ञायक स्वभाव दीखे, उसे ही निज स्वरूप पहिचान उसका आश्रय करो, ऐसा आचार्यका उपदेश है।

(२७) **प्रश्न**—कर्म, नोकम भावकर्मसे भिन्न अबद्ध अस्पृष्ट आत्म-स्वभावको मान लेना तो उचित है, यह बात समझमे आ गई। परन्तु **पर्यायभेद गुणभेद** ये तो **आत्मामे ही हैं** इनसे **भिन्न करना तो, सर्वथा अनुचित है।** आपने आत्मामे **'अनन्य' 'अविशेष'** 'नियत' असयुक्त ये चार **विशेषण** दिए है, जो कि **उचित नहीं प्रतीत** हाते। आत्मा अन्य द्रव्योकी तरह **सामान्य-विशेषात्मक है। प्रमाण ज्ञान** तो पदार्थको ऐसा ही जानेगा। श्रीमाणिक्यनन्दि आचाय यही प्रतिपादन करते हैं-

"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"।

अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमे सामान्य और विशेष दोनो धर्म पाए जाते है और ऐसा पदार्थ ही 'प्रमाण' का विषय है। प्रमाण सच्चे ज्ञानको कहते है। कहा है—**"सम्यक्ज्ञान प्रमाणम्"।**

इसके विरुद्ध जो मत पदार्थको एकान्तसे सामान्य रूप या मात्र विशेष रूप मानते हैं वे नित्यैकान्तवादी है—या एकान्तसे अनित्यवादी है, और जैनागम उनका कथन प्रमाणकोटिमे नही गिनता। ऐसी अवस्थामे आत्माको सामान्य, गुणभेद पर्यायभेदसे रहित मानना एकान्तवाद है। ऐसे निश्चयैकान्तको मानना आगम विरुद्ध है। यह कथन जैनाचार्योंके विरुद्ध है ?

समाधान—ऐसा होता यदि **'शुद्धनय' नयरूप न होकर—एकान्त पक्षको ग्रहण करता।** आचार्य अमृतचद्र स्वामीने इसी कलशमे कहा है कि **बद्ध स्पृष्टादि विशेषण आत्मामे ऊपर-ऊपर तैरते हैं, स्वभावमे प्रवेश नहीं करते, प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करते। ये द्रव्यमे नहीं हैं ऐसा नहीं कहा। उन्हें दृष्टिसे ओझल करके शुद्धात्माको देखनेका उपाय बताया है। होते हुए भी, उन्हें ओझल** (गौण) **करनेको कहा है। उनके अस्तित्वका निषेध नहीं किया।** आत्मस्वभावको उसकी अखडताको, तब तक नही जाना जा सकता **जबतक आप व्यवहार दृष्टि को गौण न करें।** व्यवहार नयसे आत्मा नर-नारकादि रूप पर्यायोमे अन्य-अन्य रूप देखी जाती है। भिन्न-भिन्न देहोमे तत्प्रमाण होनेसे सकोच विस्तारके कारण 'अनियत' स्वरूप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणोके कारण 'भेद रूप' है। कर्मोपाधि जनित विकारोसे राग-द्वेष सहित होनेसे 'सयुक्त' हे। तथापि यहाँपर आचार्य आपकी अनादि कालीन व्यवहारपरक-भेदपरक तथा सयोगी दृष्टिको गौण करके, आत्माको असयुक्त, अभेद रूपमे देखनेकी प्रेरणा करते हैं। उसे समझनेसे अपने स्वभावका बोध होता है। और फिर वर्तमान अशुद्धावस्थाको जो कि आचार्यश्रीको अशुद्धनयकी अपेक्षा सम्मत है, दूर कर, इस अवस्था मे आत्माकी **शुद्धताको** आत्मा **प्राप्त कर सकता है।** ऐसा आत्म-वस्तुका **स्वरूप** अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अभद तथा असयुक्त जानकर हय-**उपादेयका भव करके, हेयका त्याग व उपादेयका ग्रहण करानेका उपाय स्वरूप शुद्धनयका प्रतिपादन किया है।** व्यवहारका एकान्त छुडाया है, तथा शुद्धनयका विषय जो अब तक न समझा और न समझना चाहा था, उसे ग्रहण कराया है।

अब आचार्य उस परमात्मा स्वरूप आत्माको एक बार देखनेकी प्रेरणा करते हैं—

भूत भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधीः
यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२

अन्वयार्थ—(**अहो यदि कोऽपि सुधीः**) अरे ! यदि कोई बुद्धिमान पुरुष (**हठात् मोह व्याहत्य**) अपने त्रिकरण रूप जबरदस्त पुरुषार्थसे मोहको दूर कर (**भूत भान्तम् अभूतम्**) भूतकालीन, वर्तमानकालीन, और भविष्यकालीन तीनो समयोके (**बन्धं**) कर्मबंधको (**रभसात् निर्भिद्य**) भेद ज्ञानके बलसे शीघ्र भेदकर (**अन्त. कलयति**) अपने अन्तरगको देखता है। तो उसे (**नित्य कर्मकलङ्कपङ्कविकलः**) सदा अनाद्यनन्त एक ज्ञायक स्वभाव वाला, कर्मके कलको (**दोषो**) से रहित (**आत्मानुभवैकगम्यमहिमा**) अपनी आत्माके स्वानुभवसे ही जिसकी महान् महिमा जानी जा सकती है (**अयमात्मा**) ऐसा यह आत्मा (**स्वयं शाश्वतः देवः**) जो स्वय शाश्वत देव है, परमात्मा है, (**ध्रुवम् व्यक्तम् आस्ते**) निश्चयसे प्रकट अनुभवमे आयेगा ॥१२॥

भावार्थ—ससारी प्राणी देह तथा कर्मसे सयुक्त और रागादि भाव कर्मरूप परिणत वर्तमानमें है, तथापि उन्हे दृष्टिसे (भेदक दृष्टिये) **गौण करे**। उदयमे आने **वाले रागादिको** पुरुषार्थसे **अपने-**से भिन्न जाने, अर्थात् उपयोगमे रागादि विभाव भाव न लावे, ऐसा करने वाला बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि देखे कि शेष मेरे भीतर क्या बचा ? तो उसे ज्ञात होगा कि सर्वथा अभाव नही हुआ है, किन्तु जो बचा है वह अपना निज स्वभाव बचा है। वही तो शुद्ध आत्मा है। ऐसा देख सकनेकी जिसे योग्यता प्राप्त है वही भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि है। उसे स्वय अपना स्वानुभव होता है, और वह देखता है कि परमात्मा तो मैं स्वय हूँ, अर्थात् परमात्मस्वभाव मेरे भीतर पडा है। अभी मैंने इसके साथ कर्म-नोकर्म भावकर्मको मात्र **दृष्टिसे गौण किया** था तो मुझे **आत्मनिधि तो दिखाई** दे गई। अब यदि अपनी सत्ताके साथ जो कर्म आदिका **सयोगीभाव** है, उस सयोगको मिटा सका **तो** मेरी **शाश्वतिक परमात्मदशा सदाको प्रकट हो जायगी**। जो परमात्मा बन चुके है, वे पूज्य हैं, पर वे तो पर-परमात्मा हैं। **मेरा निज परमात्मा तो मेरेमे है। तब मै उसका आदर क्यो न करूँ ?** मेरा लाभ तो उसके आदरमे है। पर-परमात्मा तो आदर्श हैं इससे उनका आदर करते हैं। पर-परमात्मा और निज परमात्मामे समान स्वरूपता है। स्वरूप दृष्टिसे कोई भेद नही है **तब मैं दीन होकर क्यो फिर रहा हूँ**। मेरे आँगनमे मेरी निधि गडी है, दिखाई दे रही है तब मिट्टी दूरकर उसे क्यो न उखाड लूं, दीन दरिद्र बनकर पराई आशा क्यो कर रहा हूँ। देखो ? कैसा पुरुषार्थ आचार्य ससारी प्राणीका जगा रहे है। निधिपर मिट्टीकी तरह ही आत्मापर कर्म नोकर्म आदि हैं इसीसे उन्हे ऊपर ऊपर तैरनेवाला पूर्व कलशमे लिखा था।

(२८) **प्रश्न**—रागादि भाव तो भीतर तैर रहे हैं, **कर्म**-नोकर्म भले ही ऊपर तैरते हो। तब दोनो को ऊपर तैरनेवाला क्यो कहा जाता है ?

समाधान—इन सबका **स्वभावसे भेद है। स्वभावमे इनका प्रवेश नहीं है। यदि** रागादि स्वभावमे प्रवेश कर जाते **तो स्वभावका समूल नाश हो** जाता, तब सिद्धावस्थाको कोई प्राप्त नही कर सकता। अनादिसे **विभाव परिणत होकर** भी यदि **स्वभाव** शक्तिरूप **जागृत है** तो फिर यही **कहा जायगा** कि **ये जीवमे ऊपर ही तैरते हैं। उनकी अपेक्षा छोडनेपर जीवको** स्वय **जो स्वानुभूति होती है वही सम्यग्दर्शन है।**

आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

> **आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या**
> **ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।**
> **आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-**
> **मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥**

अन्वयार्थ—(**शुद्धनयात्मिका**) शुद्ध नय स्वरूप (**या आत्मानुभूतिः इति**) यह जो आत्मानुभूति है (**इयमेव किल**) यही निश्चयसे (**ज्ञानानुभूतिः**) ज्ञानानुभूति है। (**इति बुद्ध्वा**) ऐसा जानकर (**आत्मानम् आत्मनि सुनिष्प्रकम्पं निवेश्य**) अपनी आत्माको अपनी आत्मामे अचलरूपसे स्थित कर देखने पर मालूम होगा कि यह आत्मा (**समन्तात् नित्यम् अवबोधघन**.) सब ओरसे सदा ज्ञानमय ही (**एक. अस्ति**) एकमात्र है ॥१३॥

भावार्थ—पिछले कलशमे शुद्धनयसे आत्मानुभूतिकी बात कही थी और उसे सम्यग्दर्शन रूप बताया था। अब इस कलशमे कहते हैं कि शुद्धनयकी दृष्टिसे जो आत्माकी अनुभूति हुई, वही ज्ञानकी अनुभूति है। क्योकि आत्मा परसे भिन्न होनेपर जब केवल एकत्वभावको प्राप्त हुआ तब संयोगसे भिन्न होनेपर स्वय अपने निज एकत्वभावमे प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप ही प्रकट हुआ।

आत्मा सब ओरसे ज्ञानघन स्वभाव है। किसी वस्तुको देखें तो वह लम्बाई, चौडाई और मोटाई रूप क्षेत्रमे व्यापक पाई जाती है। इसीलिए किसी वस्तुका क्षेत्रफल लबाई-चौडाई-मोटाई-को गुणन करनेसे होता है। जैसे एक लोह पिड २ फुट लबा, १ फुट चौडा, और २ फुट ऊँचा है तो २ × १ × २ = ४ फुट स्थान घेरा और वह चारो फुट लोहमय है, अन्य रूप नही। इसी प्रकार आत्माको शुद्धनयसे देखनेपर लबाईमे भी ज्ञानरूपता, चौडाईमे भी ज्ञानरूपता, तथा मध्यमे भी ऊँचाई पर्यन्त ज्ञानरूपता है। फलत ज्ञानसे ही ठोस है, कुछ अन्य द्रव्य उसके क्षेत्रमे नही है, इससे उसे अवबोधघन कहा। इस तरह आत्माको इस कलश द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपता प्रदान की। द्वादशाग रूप समस्त श्रुतमे यही एकतत्त्व प्रतिपादित है जो उपादेय है। हेय तत्त्वोका भी विवेचन द्वादशागमे है, पर वह सब हेय रूप ही जानना उचित है ॥१३॥

अब आचार्य उस सहज चैतन्यके आलबनकी प्रेरणा करते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**अखण्डितम्**) खण्ड-भेद रहित (**अनाकुलम्**) किसी अन्यकी आकुलतासे रहित (**अन्तर्बहि: अनन्तम् ज्वलत्**) अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारसे अनन्त दीप्तिको धारण करने-वाला (**सहजम् सदा उद्विलासम्**) स्वभावसे ही सदा उन्नत है विलास जिसका (**चिदुच्छलननिर्भ-रम्**) चैतन्य की उठती तरगोसे भरा हुआ (**सकलकालम् यत् उल्लसत् लवणखिल्यलीलायितम् एकरसम् आलंबते**) नमककी डली जैसे एक क्षारभावसे परिपूर्ण है उसी तरह यह भी, उसी एक चैतन्यरससे सदा परिपूर्ण एक रसरूप है (**परम् महः**) ऐसा परम-उत्कृष्ट तेज (**नः अस्तु**) हमे प्राप्त होवे ॥१४॥

भावार्थ—जिस ज्ञानानन्दमय आत्माको ज्ञानानुभूति रूप कहा था, उस ज्ञानानुभूति रूप परम तेज की प्राप्ति हमे होवे, ऐसी भावना करते हैं। कैसा है वह ज्ञानतेज ? जो ज्ञेयाकारोको जानते हुए भी उनसे खण्डित नही होता, अपने एक निजस्वरूपमे ही रहता है। ज्ञेयभेदसे ज्ञानमे भेद नही होता।

जैसे दीपक या सूर्यका प्रकाश, सन्मुख रखे, समस्त पदार्थोंका जुदा जुदा ज्ञान करा देता है, पर स्वय नानारूप नही होता। घटज्ञान, पटज्ञान आदि व्यावहारिक भेद केवल कथन मात्र हैं, ज्ञान तो एक ही है। जैसे गगाजल विविध पात्रोमे रखनेसे नानारूप कहा जाता है पर है तो एकमात्र एक स्वरूप ही गगाजल। इसी प्रकार ज्ञानमे भेद न होनेपर भी ज्ञानमे केवल भेद व्यव-हार है, पर परमार्थसे तो ज्ञान खडित नही है। इसी प्रकार रागादि भावोके कारण संसारी जीवमे

आकुलता होती है पर वह आकुलता रागादि रूप है, ज्ञानरूप नही। राग तो अज्ञानभाव है। अज्ञानभावकी आकुलता ज्ञानभावमे यथार्थमे आरोपित नही हो सकती।

इस तरह अखण्ड-अनाकुल चैतन्य रससे परिपूर्ण अन्तरग बहिरग अपनी **अनन्तदीप्तिसे प्रकाशमान सदा एक रस चैतन्य तेज हमे प्राप्त हो।**

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ॥
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**एष ज्ञानघन आत्मा**) आत्मा इसप्रकार ज्ञानघनस्वरूप है जो (**सिद्धिम् अभीप्सुभि**) सिद्धि प्राप्त करनेवालोके द्वारा (**साध्यसाधकभावेन द्विधा**) साध्य साधक ऐसे दो रूप होने पर भी (**एक**) जो एक है ऐसा आत्मा (**समुपास्यताम्**) उपासना करने योग्य है।

भावार्थ—आत्मा ज्ञानघन है, चैतन्य धातुका ठोस पदार्थ है। उस आत्मा की सिद्धि हमे प्राप्त हो ऐसी जिनकी इच्छा है वे साध्यसाधक भावसे दो प्रकार भी अपनी एकत्वप्राप्त आत्मा की उपासना करें।

आत्माकी वर्तमान अपूर्ण अवस्था तो उपासक है। अपने जिस पूर्ण स्वरूपकी वह उपासना करती है, वह उपास्य है। अर्थात् एक ही आत्मामे शुद्ध निश्चयनयसे कथित सिद्ध समान निज शुद्धात्मद्रव्य ही उपास्य है, अर्थात् प्राप्त करने योग्य है, सेवा करने योग्य है, आदर करने योग्य है, पूज्य है। उसकी वर्तमानपर्याय दृष्टिसे जो अशुद्धावस्था, सयुक्तता है वही उपासक है। उक्त कथन के अनुसार, स्वय उपास्य और स्वय उपासकभावको प्राप्त होनेसे साध्य-साधक दो प्रकारकी कही जानेवाली भी आत्मा अपने स्वरूपमे एकत्वको लिए हुए है अत एकरूप है। उस एकरूपताकी उपासना करो। निर्विकल्प, निर्भेद, अखण्ड आत्मा, शुद्धोपयोग परिणति द्वारा प्राप्य है।

आत्माके द्वैविध्यको बताकर अब उसका त्रैविध्य बताते हैं :—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वय ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वात् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥
परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥
आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) यह आत्मा (**दर्शन-ज्ञान-चारित्रै स्त्रित्वात् मेचकः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो रूपोको धारण करनेसे मेचक है। अर्थात् तीनरूप (**नानारूप**) है। तथा (**स्वयं एकत्वत. अमेचक**) स्वय अपने स्वरूपकी एकताके कारण अमेचक है—नानारूप

नही है। तथा (**प्रमाणत समम्**) प्रमाणसे मेचक अमेचक युगपत् दोनो ही है ॥१६॥ (**एकोऽपि**) एक होने पर भी (**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभि परिणतत्वत**) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीन रूप परिणत होता है, अत (**त्रिस्वभावत्वात्**) तीनरूप परिणमन करनेके कारण (**व्यवहारेण**) पर्यायार्थिकनयमे (**मेचक**) नानास्वरूप है ॥१७॥ (**परमार्थेन तु**) परमार्थदृष्टिसे, शुद्धनिश्चयनयस देखा जाय तो (**व्यक्तज्ञातृत्व-ज्योतिषैककः**) प्रकट रूप जो अपनी ज्ञानज्योति उसके कारण एक रूप होनेसे तथा (**सर्वभावान्तर-ध्वंसि स्वभावत्वात्**) सम्पूर्ण द्रव्यान्तर तथा तन्निमित्तजन्य विकारी रागादिभावोका ध्वस-अभाव स्वभाव होनेके कारण अमेचक है ॥१८॥

(**आत्मन मेचकामेचकत्वयो चिन्तया एव अलम्**) अथवा आत्मा मेचक है या अमेचक अर्थात् भेदरूप है या अभेदरूप—इसकी चिन्ता ही छोड हो। इससे कुछ लाभ नही है। (**दर्शन-ज्ञानचारित्रै साध्यसिद्धि न च अन्यथा**) आत्मसिद्धि तो ज्ञान-दर्शन-चारित्रसे हो होती है अन्यथा नही होती ॥१९॥

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यकी अपेक्षा तो आत्मा अमेचक अर्थात् एक स्वभाव या अभेदरूप ही है। स्वभावमे नानाभेद नही होते। तथापि ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप पर्यायमे परिणमन करता है अतः पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे तीन पर्यायरूप है, भेदरूप है अत मेचक है।

मेचक शब्द पचवर्णरत्नके लिए आता है। कहा भी है कि—"**पञ्चवर्णं भवेद्रत्नम् मेचकाख्यम्**" अर्थात् पाँचो वर्णवाले रत्नको मेचक रत्न कहते हैं। प्रकारान्तरसे '**मेचकशब्द विविधरूपता**' के अर्थमे आता है। यहाँ मेचक शब्दका विविधरूपता ही अर्थ लिया गया है। आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता है अत. उसे भेद दृष्टि या पर्याय दृष्टिसे मेचक कहा गया है। वह अपने निज एक स्वभावमे ही रहता है, अन्य स्वभावरूप नही परिणमता, अतएव परमार्थसे ज्ञानज्योतिमात्रको धारण करने तथा विभावो तथा अन्य द्रव्य स्वभावोंसे भिन्न रहनेके कारण 'अमेचक' है।

इस प्रकार अमेचक और मेचकत्वकी चर्चा आपेक्षिक दृष्टिसे करनेके बाद आचार्य कहते हैं कि दानो पक्षोकी चर्चाको वादाविवादका विषय बनाकर उसमे ही मत उलझे रहो, उससे कोई लाभ नही है। तुम्हे तो 'आत्मप्रसिद्धि' करना है अर्थात् आत्माको अपनी हो प्रसिद्धि प्राप्त हो जावे, ऐसा तुम्हारा उद्देश्य है, तो तुम दर्शन-ज्ञान-चारित्रका प्रतिपालन कर उसे प्राप्त करो, विवादकी चर्चासे दूर रहो।

नय पक्ष दोनो हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनों सही हैं। एक नय अपने पक्षका प्रतिपादन करते हुए भी, अपर नयकी सत्यताको भी जानता है, तथा दूसरा नय भी ऐसा ही करता है। तथापि अनेक जन एक नयको दृष्टिमे रखकर उसके विषयको सत्य तथा अपरको असत्य कहते हैं और विवादमे पड जाते हैं। मूल उद्देश्य तो नयो द्वारा उसका स्वरूप जानकर आत्माको पवित्र बनानेका है, उसे भूल जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि **अभेदनयकी दृष्टि तो आत्माके त्रिकाल अभेद** स्वरूपको वर्णन करती है, अत आत्माका रूप तो वह है। **भेदनय** अपेक्षामे भेद करता है वह अपेक्षा पर्यायकी है। यद्यपि आगममे **पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय** कहा है और उसे **असत्यार्थ कहा है, सो ऐसा न समझना कि वह सर्वथा मिथ्यावस्तुको प्रतिपादन करता है अत व्यवहारनय का प्रयोक्ता मिथ्यादृष्टि है**। किन्तु ऐसा समझना कि व्यवहारनय व्यवहारी जनोको वस्तुकी

विशेषताओ अर्थात् पर्यायोको दिखाकर शुद्ध अभेद आत्माकी पहिचान कराता है इसलिए **वह भी व्यवहारी जनों का बोध** प्राप्त करनेके लिए **परमोपकारी** और **कल्याणकारी** है।

यहाँ प्रश्न होता है कि फिर उसे आगममे असत्य क्यो कहा ? उत्तर यह है कि उसे ही परमार्थ समझना असत्य है। ऐसा समझना चाहिए कि यद्यपि आत्मामे भेद नही है—**अभेदरूप है, पर उस अभेदरूपको समझनेके लिए**—उसीकी **ज्ञानदर्शनादि पर्यायोसे उसे जानना** है। जिस **अभेद** को जानता है वह तो सत्यार्थ है वह ध्येय है और जिन भेदोसे जाना जाता है उनकी उपयोगिता तब तक है, जब तक वह अभेदरूप आत्माका बोध नही कर सका। बोध करनेके बाद उसे अभेद स्वय सत्यरूप प्रकाशित होता है और भेद स्वय लुप्त हो जाता है। उसे वह वस्तुमे नही दिखाई देता। इस दृष्टिसे उसे असत्य कहा है। ऐसा यथार्थ अभिप्राय समझकर विवाद न कर व्यवहारका अवलबन कर उसे समझना फिर परमार्थ एकत्व समझमे आ जावेगा। क्योकि आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणामस्वरूप ही है उनसे भिन्न नही है ॥१६-१७-१८-१९॥

साध्यसिद्धिका उपाय फिर बताते है—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया-
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**कथमपि**) किसी नय विशेषकी अपेक्षासे (**समुपात्तत्रित्वमपि**) तीनपनेको प्राप्त करके भी (**एकतायाः अपतितम्**) अपनी एकताको न छोडनेवाली (**इदम् आत्मज्योति**) ऐसी यह आत्मज्योति जो (**अच्छम् उद्गच्छत्**) स्वच्छताके ऊपर छलाँग मारती है तथा जो (**अनंत चैतन्यचिह्नम्**) अनाद्यनन्त चैतन्य लक्षण वाली है उसे हम (**सतत अनुभवाम**) निरन्तर अनुभव करते हैं। उस साध्य आत्माकी सिद्धिका एक यही प्रकार है (**अन्यथा साध्यसिद्धि**) आत्मानुभवके सिवाय दूसरे प्रकारसे साध्यकी सिद्धि (**न खलु न खलु**) नही हो सकती, नही हो सकती ॥२०॥

भावार्थ—शुद्धनय रूपसे आत्मा एक "ज्ञायक स्वभाव" है। पर्याय परिवर्तनकी दृष्टिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव है। ये तीनो पर्यायमे कहनेमे तीन है परन्तु आत्मा उन तीनोसे भिन्न नही है। फलत चाहे आत्माको एक स्वभावी कहो या त्रिस्वभावी कहो कोई फरक नही है। उसके **ये तीन पर्यायगत स्वभाव काल्पनिक नहीं है यथार्थ है, पर है उनकी सीमा पर्याय रूपमे, पर्यायको गौण करें तो ये तीनो भेद नहीं हैं।**

(२९) **प्रश्न**—जैसे द्रव्यार्थिक नयसे पर्यायको गोण कर 'असत्यार्थ' कहते है वैसे पर्यायार्थिक-को प्रमुख करनेपर अभेद दृष्टि भी गौण है, तब क्या उस समय द्रव्यका भी असत्यार्थ कहा जा सकता है या नही। न्याय तो समान होना चाहिए।

समाधान—न्याय समान है तथापि पर्यायार्थिककी दृष्टिमे द्रव्य यद्यपि गौण है पर असत्यार्थ नही है, क्योकि द्रव्य तो त्रैकालिक सत्य है। वह प्रत्येक पर्यायके साथ रहता है परन्तु **पर्याय सदाकाल त्रैकालिक नहीं रहती। अत. वह क्षणिक होनेसे त्रिकाल अबाधित स्वरूप सत्य नहीं है**

द्रव्य पर्यायका स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ कोई किसी पक्षको या पक्षकारको सत्य, या किसी पक्ष या पक्षकारको असत्य नही कहा जा रहा है। किन्तु पदार्थ व्यवस्था ही इसी प्रकार है कि **द्रव्य त्रिकाल** सत्य है, और **पर्याय तत्काल** मात्र सत्य है, बादमे नही। **अतः असत्य कही गई। यदि पर्याय सामान्यकी अपेक्षा देखा जाय तो बिना पर्याय द्रव्य त्रिकालमें कभी नहीं रहता। पर पर्याय तो अनेक हैं, वे क्रमवर्ती हैं, सदा विनश्वर हैं, जबकि द्रव्य त्रिकाल एक है, अक्रमवर्ती है, सदा अविनश्वर है।**

इसीलिए आचार्य कहते है कि अपेक्षा दृष्टिसे ही आत्माकी त्रिविधता है, परमार्थसे तो वह उन तीनोसे अभिन्न ही है। समझनेके लिए तीनपना है, वस्तुमे तो तीनोमे एकपना अभेदपना है। इसलिए ही **कथमपि** शब्दका उपयोग किया है। व्यवहारापेक्षया त्रित्व (तीनपना) प्राप्त करके भी आत्मा अपनी एकता द्रव्यरूपतासे गिरती नही है—उसे छोडती नही है। जब कि पर्याय विशेषको अन्य-अन्य समयोमे छोड देती है। वह ज्योति स्वरूप प्रकाशमान आत्मा परकी भिन्नताके कारण स्वच्छ रूपमे ही प्रकाशमान है। उसमे परद्रव्यका, उसके स्वरूपका, उसकी पर्यायोका, और तत्पर्याय निमित्त जनित विकारी भावोका भी प्रवेश नही है—अत अविकारी है। अनादिकालसे ही अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपको धारण करने वाली उस आत्माका निरन्तर अनुभव मैं करता हूँ, आप भी करो। ऐसा करनेपर ही आप उस शुद्धात्माके दर्शन कर सकोगे; पा सकोगे, तद्रूप परिणतिको प्राप्त कर सकोगे।

यदि आपने व्यवहारका आलवन कर निश्चयका स्वरूप नही जाना, उसमे प्रवेश नही किया, मात्र व्यवहारमे निमग्न रहे तो आपको आत्मसिद्धि किसी भी प्रकार नही प्राप्त हो सकती। द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुके होनेपर भी अपनी अशुद्ध पर्यायसे भिन्न, तथा पदार्थान्तिरसे भिन्न, तथा गुणभेदसे भिन्न असाधारण चिह्न उपयोगमयी आत्माका प्रतिभास, उक्त पद्धतिपर ही हो सकता है अन्यथा नही ॥२०॥

जो उक्त प्रकारसे इस आत्माकी अनुभूति प्राप्त करते है वे ही अविकारी बनते हैं ऐसा कथन निम्न पद्यमे करते हैं—

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावैः स्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**स्वतो वा अन्यतो वा**) स्वय बुद्ध होकर या अन्य ज्ञानी द्वारा प्रतिबोध पाकर (**कथमपि हि**) किसी भी उपायसे भी (**भेदविज्ञानमूलाम् अनुभूतिम्**) भेदज्ञान हेतुक स्वानुभूतिको (**अचलितम्**) स्थिरतापूर्वक (**लभन्ते**) प्राप्त कर लेते हैं। (**त एव**) वे ही (**प्रतिफलननिमग्न-अनंतभावैः स्वभावैः**) अपनेमे प्रतिबिंबित हुए अनन्त स्वभाव वाले पदार्थोसे (**मुकुरवत् संततं अविकाराः स्युः**) दर्पणकी तरह अविकारी होते हैं ॥२१॥

भावार्थ—आत्माको विकारोसे रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप बनानेका उपाय एकमात्र भेदविज्ञान है। यह भेदविज्ञान किन्ही जीवोको जन्मान्तरमे प्राप्त संस्कारोके बलसे स्वयं हो जाता

है, और किन ही जीवोका अन्य भेदविज्ञानी वीतरागी गुरुके उपदेशसे वस्तुस्वरूप समझनेपर होता **है।** जैसे भी हो—उन सब प्रयत्नोसे जो जीव भेदविज्ञान अर्थात् शरीर तथा कर्म दोनोसे भिन्न **स्वरूप** आत्माका बोध प्राप्त करता है उस ही अचल रूपसे स्वानुभूति होती है।

जिसे स्वानुभूति प्राप्त हो जाती है वे ही जीव सम्यग्दृष्टि है। उन्हे आत्माका सच्चा दर्शन हुआ है। ऐसे ही जीव जब उस स्वानुभूतिमे अविचलित रूपसे स्थित हो जाते है तब **ऐसे वीतराग सम्यक्त्वके धारी पुरुष लोकालोकको अपने ज्ञानमे प्रतिबिंबित पाते हैं।** ऐसा होनेपर वे उन पदार्थोंके **प्रतिबिंबित होनेपर भी विकारी नहीं होते।**

जैसे स्वच्छ दर्पणमे सन्मुख रहने वाले विविध प्रकारके पदार्थ प्रतिबिंबित होते है। काले-पीले-नीले-लाल-हरित सभी पदार्थ दिखाई देते है तथापि दर्पण काला-पीला-नीलादि विविध वर्ण-विकारोको प्राप्त नही होता, किन्तु उस समय भी अन्य समयोकी तरह केवल स्वच्छ ही रहता है। दर्पण यदि स्वय लाल पीला हो जाय तो पदार्थोंका प्रतिबिंब उसमे नही आ सकता। फिर भी दर्पणमे लालिमा पीतिमा निमग्न है ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार विशुद्धात्मानुभूतिके बलसे जिन्हे वीतराग चारित्र पूर्वक केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई है। उनके ज्ञानमे समस्त लोक अलोकके चराचर पदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिफलित है, और वे ज्ञानमे निमग्न दिखाई देते है, तथापि ज्ञान उन सबसे भिन्न अपने विशुद्ध स्वभावमे है, वह उनके प्रतिबिंबोसे मलिन नही हुआ है।

ज्ञानमे ज्ञेय प्रतिबिंबित हो यह ज्ञानका स्वभाव है, विकार नही। विकार परनिमित्त होनेपर प्रकट होता है। यद्यपि वह प्रकट स्वयमे स्वयके कारण होता है, परके कारण नही तथापि पर निमित्त न हो तो उत्पन्न नही होता।

(३०) **प्रश्न**—जब बिना कर्मोदयके विकार उत्पन्न नही होता, तब उसका कारण तो कर्मोदय रूप पर पदार्थ ही है। यदि स्वयके कारण उत्पन्न हो तो सिद्ध भगवान्मे भी स्वयके कारण विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नही है। इस प्रश्नका समाधान कर चुके है फिर भी सुनिए। कर्म जड पुद्गल द्रव्य है, उसकी उदय रूप अवस्था कर्ममे होती है, अत कर्ममे ही उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशमादि आदि पर्यायभेद बताए गये हैं। यदि कर्मका उदय जीवमे भी उदयरूप हो, कर्मकी उपशमावस्था जीवमे उपशमावस्था हो तो कर्मका क्षय होनेमे जीवका भी क्षय हो जायगा। अत सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमे अपनी-अपनी पर्याय स्वयकी योग्यतासे होता है, तथापि उन पर्यायोमे परकी अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्तका अवलबन कर जीव अपनेमे विकारी पर्याय उत्पन्न करता है यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार कराता है ऐसा कथन उपचरित कथन—व्यवहार नयका कथन है। निश्चयका कथन ऐसा नही है। सिद्ध भगवान्मे भी वैभाविकी शक्ति है जो ससारी दशामे थी। ससारी दशामे निमित्तकी अनुकूलतामे उसका विभावरूप परिणमन होता था, अब शुद्धावस्थामे उसका स्वभावरूप परिणमन होता है। अत. उनमे विकार नही होता। विकार जीवकी पर्याय है। जीव ही कर्ता है। परन्तु वह कर्मोदयको निमित्त बनाकर विकार करता है। कर्त्ता स्वय है। पर्याय परिणमन पदार्थका स्वभाव है। यदि उसे द्रव्यका स्वभाव न माना जाय तो ससारी जीव 'जीव द्रव्य हो न रहेगे, क्योकि उनमे स्वय कोई परिणमन होता नही—परिणमन उनका स्वाभाव ही नही—वह तो पर (कर्म) के कारण होता

है—वह कराता है, इस प्रकार की मान्यता से द्रव्यपनेके अभावका प्रसग आयेगा। जितने द्रव्य है वे स्वयके कारण उत्पाद-व्यय ध्रुव स्वभाव वाले है। स्वभाव परकी अपेक्षा नही करता। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमन करानेमे अकिचित्कर है, मात्र निमित्त हो सकता है, कर्त्ता नही।**

(३१) प्रश्न—जैसे रात्रिमे दीपकका प्रकाश हमारे पठन-पाठनमे निमित्त है। पुस्तक निमित्त है। पाठक भी निमित्त है। इन निमित्तोके होने पर शिष्य विद्या पढता है, इनके बिना वह नही पढ सकता। यही कारण है कि "इस पाठकने विद्या पढाई", "पुस्तक ने ज्ञानोत्पन्न किया।" "दीपकने पुस्तक दिखाई" यह कहा जाता है। यह सब कथन मिथ्या है क्या ?

समाधान—यह सब व्यवहार-कथन है, परमार्थ नही। परमार्थसे तो **जीवने अपनी योग्यता-से** पढा। दीपक रहने पर भी यदि वह देखना नही चाहता, पुस्तक रहने पर भी उसे नही पढता, पाठककी मौजूदगीमे भी यदि अपना उपयोग नही लगाता तो बताइए ये निमित्त क्या करेंगे ? इनके बिना नही पढ सकता था ये सही है, पर ये पढाते है, यह गलत है। फल यह निकला कि निमित्त कारण तब निमित्त कारण कहलाते है जब उनका अवलबन कर जीव अपना कार्य करे। करना उसे है, परको नही करना। **अपने काम करनेमे जिसे अपने अनुकूल समझे उन निमित्तोंका अवलबन कर ले, पर करना उसे स्वय पड़ेगा। पर निमित्त कारण आपका काम नहीं कर जायेंगे।**

साराश यह कि परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सबध है। कर्त्ता कर्म संबध परके साथ व्यवहार मात्र है, परमार्थ नही।

(३२) **प्रश्न**—तब **व्यवहारसे निमित्त कर्त्ता है यह तो यथार्थ है ?**

समाधान—व्यवहारमे निमित्तको कर्त्ता कहा जाता है, यथार्थमे कर्त्ता है नहीं।

(३३) **प्रश्न**—तब व्यवहार नयका कथन मिथ्या है केवल निश्चय ही सत्य है। ऐसी स्थिति-मे व्यवहारको नयत्व कैसे प्राप्त होता है ? उसमे और **मिथ्याज्ञानमे क्या** अन्तर है। यदि अन्तर है तो दोनो नयोका विषय सत्यार्थ मानना चाहिए।

समाधान—मिथ्याज्ञानमे और व्यवहार नयमे महान् अन्तर है वह इस प्रकार है :—

मिथ्याज्ञान मिथ्याको सम्यक् कहता है और सम्यक्को मिथ्या कहता है। **व्यवहार नय ऐसा नहीं कहता।** वह परमार्थसे **मिथ्याको भी किसी निमित्तकी अपेक्षा सम्यक् कहते हुए उसकी अयथार्थताको जानता है।** जैसे 'घीका घडा' कहने वाला मिथ्या ही कह रहा है, क्योकि घीका घडा नही है, वह मिट्टीका घड़ा है। पर व्यवहारमे उसे 'घीका घडा' **घीके रखनेके निमित्तसे कहते हैं। सम्यक् व्यवहारी जानता है कि यथार्थ तो इससे विपरीत है। यह यथार्थमे मिट्टीका है, घीका नहीं है, तथापि लोकका व्यवहार चलानेके लिए ऐसा व्यवहार करता है।** कथन करनेवाला और सुनने वाला दोनो व्यवहार करते हुए भी व्यवहारकी असत्यताको और परमार्थकी यथार्थता-को जानते हैं, इसीसे वह व्यवहार नय कहलाता है। यदि व्यवहारी अपने व्यवहारकी असत्यताको न पहिचाने, और उसे ही परमार्थ मान ले तो वह मिथ्याज्ञानी हो जायगा।

उदाहरणसे समझें—मेरा शरीर, मेरा मकान, मेरी पत्नी, मेरा धन, मेरी जमीन, ये सब व्यवहार कथन जैन भी करते है और अन्य भी। सम्यग्दृष्टि भी करते है और मिथ्यादृष्टि भी। अन्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा यह कथन परमार्थसे तो सत्य नही है, ये सब पर

पदार्थ हैं, मेरे किंचित् भी न कभी थे, न है, न होगे। तथापि व्यवहारमे ऐसा कथन किया जा रहा **है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं** विचारता। वह तो—**ये मेरे है, मै इनका यथार्थ स्वामी हूँ ऐसा मानता है, अतः उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।**

मिथ्याको—असत्यको सत्य माने वह मिथ्यादृष्टि, और परमार्थको ही सत्यार्थ जाने, तथापि व्यवहारी जनोमे **आपेक्षिक** रूपसे **उसका दूसरे रूप व्यवहार करे वह व्यवहारनयका ज्ञाता है। व्यवहारनय यथार्थ सत्यार्थको जानता हुआ उसे गौण कर आपेक्षिक सत्य कहता है अत व्यवहार-नय भी नयत्व को प्राप्त है और सम्यक्नय है।** उसे आपेक्षिक सत्य कह सकते है मिथ्याज्ञान आपेक्षिक सत्य भी नही है यही दोनोमे महान् अन्तर है। एकका स्वामी सम्यग्दृष्टि है अपरका मिथ्यादृष्टि है।

शुद्ध स्वात्मानुभूति सम्यग्दर्शन है[1], और भेद विज्ञान उसकी जड है। यह स्वात्मानुभूति तथा भेद विज्ञान शुद्ध निश्चयके अवलबनसे होता है वह सम्यग्दर्शन स्वरूप है। **व्यवहार नया-श्रित** जो जीवका लक्षण है उससे ससारी **अशुद्ध जीवका बोध** होता है, **व्यवहार चारित्रके पालनके लिए** ससारी **जीवोका ज्ञान भी आवश्यक है।** उनके **जाने बिना दया या अहिंसाका यथार्थ पालन नहीं हो सकता।** अत **व्यवहारनयको उपयोगिता अपने स्थानपर है और निश्चयनयको उपयोगिता अपने स्थानपर। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो स्वानुभूतिमे रमण करते हैं वे परपदार्थोके ज्ञाता होकर भी विकारी नहीं होते।**

दर्पणके सामने आग जल रही हो तो प्रतिबिम्बरूपमे दर्पणमे देखी जा सकती है, ठीक उसी रूपमे ज्वाला छोडती हुई जैसी कि अग्निपदार्थमे है। तथापि उष्णतादि गुण अग्निमे ही हैं, दर्पणमे नही। इसी प्रकार स्वच्छज्ञानीके ज्ञानमे नानापदार्थ 'जो अनेक ससारी प्राणियोके विकारके निमित्त कारण है' ज्ञेयरूप होकर भी उसके लिए विकारके निमित्त नही बनते।

जबतक स्वात्मभिन्न पदार्थोमे अपनेसे भिन्नताका बोध नही हुआ, तबतक मोहमदिराके नशेमे अपनेको भूला हुआ प्राणी परपदार्थ स्त्री-शरीर-धन-परिवार-बाग-बगीचे आदिमे ये मेरे है, मै इनका स्वामी हूँ, अथवा भविष्यमे मै इनका स्वामी होऊंगा, ये मेरे अधीन होगे, मेरे भोगोपभोग योग्य होगे, अमुक दुकान-मकान-बाग-बगीचा मेरा था, मै इनका स्वामी था, इस प्रकार भूत वर्तमान-भविष्यके सकल्प-विकल्पोके झूलेमे झूलता रहता है। आचार्य इसपर दु.ख प्रकट करते हुए उपदेश करते है—

त्यजतु जगदिदानी मोहमाजन्मलीढ-
रसयतु रसिकाना रोचन ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः-
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

---

१. 'अशेषद्रव्यातरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत'।

—समयसार गाथा ६ (आत्म० टीका)।

'सम्यक्त्व स्वानुभूति स्यात्'। —पञ्चाध्यायी २ (४०३)।

'स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणा'। —पञ्चाध्यायी २ (४१५)।

अन्वयार्थ—(जगत्) यह समस्त जगत् याने जगत्के प्राणी **(इदानीम्)** अब **(आजन्मलीढं मोहम् त्यजतु)** अनादिकालसे चले आए अपने मोहको छोड़ें। तथा **(रसिकानाम् रोचनम्)** आत्म-रसके रसिक पुरुषोको रुचनेवाले **(उद्यत् ज्ञानम्)** इस उत्पन्न भेदविज्ञानको **(रसयतु)** चखें। **(इह)** इस जगत्मे **(क्वापि काले)** किसी भी समय **(एक आत्मा)** यह एकमात्र आत्मतत्त्व **(अनात्मना साकम्)** आत्मभिन्न पदार्थोके साथ **(कथमपि)** किसी भी प्रकार **(तादात्म्यवृत्तिम्)** एकात्मकताको **(न किल कलयति)** नही प्राप्त होता यह निश्चित है ॥२२॥

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशोमे, **'स्वक्षेत्रमें'** अपनी-अपनी पर्यायोमे, **'स्वकालमें'** अपने-अपने भावोमे, **'स्वभावमें'** अपने गुणसमुदायमे **'स्वद्रव्यमें'** रहता है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके प्रदेशोको नही अपनाता, न अपने प्रदेशोका परित्याग करता है। दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप नही परिणमता, न दूसरे द्रव्योको अपनी पर्यायरूप परिणमाता है। **अपने-अपने स्वभावमें रहता है पर-स्वभाव नहीं अपनाता। अपने गुणपर्यायरूप द्रव्यमें रहता है,अन्य द्रव्यरूप नहीं बनता।**

जब ऐसी स्थिति है तब परद्रव्योके प्रति जो मोह है, **उन्हें अपनाने की बुद्धि है, उसका त्याग करो**, और आत्मरसके जो रसिक हैं उन्हे पसन्द आनेवाले आत्मानन्दका रस ही **चाखो**। वही कल्याणकारी है, यही सम्भव है। परका अपनाना तो असम्भव है। जो हो नही सकता, उसे करनेवाला पुरुष अन्तमे पछतायगा। ससारमे दु:खका मूलकारण परको अपनाना—और परके कर्तृत्वका भ्रम है। **अनादिकालीन यह भ्रम ही जीवको घुमाए है।**

(३४) **प्रश्न**—जीवको मोहकर्म घुमा रहा है। अनादिकालसे कर्मने इसे पराधीन कर रखा है अत: आठकर्मको नाश करना चाहिए। जब कर्म नष्ट होगे तो ज्ञान स्वय पैदा होगा। ऐसा कहना क्या यथार्थ है ?

समाधान—ऐसा कथन व्यवहारनयका है, यथार्थ नहीं है। परमार्थमे तो जीव न जडकर्म-को घुमाता, न जडकर्म आत्माको घुमाते है, जीव **अपनी भूलसे पराधीन है। उसे परने अपने अधीन** नही **कर रखा**, वह **परके साथ** सम्बन्धकर स्वय **उसके आधीन होनेसे पराधीन** है। **परस्पर** सश्लेष तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इतना फँसाव है[१]। जैसे हथकडीकी कडियो को आपसमे मिलाकर ताला लगा देते है पर कैदीका हाथ उनमे फँसा है। हथकडीने नही फँसाया। बन्धन तो हथकड़ीकी एक कडीका दूसरी कडीसे है, दोनोमे ताला फँसाया है, फिर भी उनमे हाथ फँसा है, ताला हाथमे नही लगा। **इसी प्रकार आत्मा कर्मके साथ नहीं बँधी।** आत्माका कर्मके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप श्लिष्ट सम्बन्ध ही बध कहा जाता है, तथा कर्म का कार्मण वर्गणाओ के साथ स्कधात्मक सम्बन्ध होता है[२]। अतः निश्चयकी दृष्टिमे कर्मका सम्बन्ध कर्मके साथ है[३] ऐसा कहा जाता है। कर्मवर्गणाओके साथ दूसरी **कर्मवर्गणा बँधी हैं। जीव जबतक स्वेच्छासे परद्रव्यको अपनाता है तबतक पराधीन होकर स्वय दु:ख भोगता है।**

जब आत्मा अनात्माके साथ एकरस नही हो सकता तब उसका प्रयत्न ही मिथ्या प्रयत्न,

१. पंचास्तिकाय गाथा ६५-६७ की टीका देखिये।

२. समयसार गाथा ६९-७० की टीका देखिये।

३. समयसार गाथा १६९ आत्मख्याति टीका देखिये।

है, अत मोहका—भ्रमका त्यागकर अपनेमे सावधान होकर आत्मानन्दका अकथनीय सुख उठावें। जब एक बार वह आनन्द अनुभवमे आ जायगा तब ससारके सब रस फीके लगेगे। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रियके विपयोके प्रति आकाक्षा नही रखता, यही उसका निष्काक्षित अग है जो सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है।

कविवर दौलतराम जीने कितना सुन्दर कहा है—

जब निज आतम अनुभव आवै।

रस नीरस हो जात ततक्षण, अक्ष विषय न सुहावै। जब निजआतम अनुभव आवै।

आचार्य भव्य प्राणियोको उस आत्मानुभवके रसको चखनेकी प्रेरणा करते है। उन्हे ऐसा लगता है कि किसी प्रकार भी हो यह जीव एक बार उसका अनुभव तो करे। यदि एक बार भी कर लेगा तो फिर कभी छोडेगा नही। इसी भावको निम्न पद्यमे प्रकट करते हैं।

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसन्त स्व समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(**अयि**) अरे बन्धु! (**कथमपि मृत्वा**) किसी भी प्रकारसे रवपचकर (**तत्त्व-कौतूहली सन्**) कुतूहल मात्रसे भी तत्त्वका जाननेकी इच्छा करके (**मुहूर्त**) एक मुहूर्त मात्रके लिए ही सही (**मूर्त्ते पार्श्ववर्ती भव**) शरीरका पडोसी बन जा। (**अथ**) तथा (**पृथक् विलसन्तम्**) शरीरसे भिन्न जिसका विलास है ऐसे (**स्व समालोक्य**) अपनी आत्माको देखकर (**अनुभव**) उसका तद्रूपमे अनुभव कर। (**येन**) ऐसा करनेसे (**मूर्त्या सह एकत्वमोहम्**) शरीरके साथ जो तेरे एकपनेका मोह भाव है उसे तू (**झगिति त्यजसि**) शीघ्र ही छोड देगा ॥२३॥

भावार्थ—**'अयि' शब्द बहुत प्रिय और मीठा शब्द है।** साहित्यमे उसका प्रयोग 'अयि कोमलालापे' पक्ति द्वारा कोमल प्रिय सम्बोधनमे किया है। आचार्य ससार-सागरमे डूबते हुए प्राणीपर दया करके बडे मिष्ठ शब्दोमे उसे सम्बोधन करके समझाते है कि—

ए मेरे बन्धु! जरा थोडी देरके लिए तो मेरी बात मान ले। साल दो सालको? नही। एक-दो माहको? नही। दिन दोको? नही, मात्र एक मुहूर्तको अर्थात् ५ १० मिनिटको ही मान ले। तुझे विश्वास न हो तो केवल कौतूहलवश होकर मान ले। यदि तुझे हमारी बात सत्य न जँचे तो छोड देना। एक बार मान तो ले। क्या मान लें? यह मान ले कि शरीर तू नही है—शरीर तेरा नही है। उसकी सत्ता तुझसे सर्वथा भिन्न है। वह तू नही है, वह तेरा पड़ोसी ही है।

(३५) **प्रश्न**—भिन्न तो नही दिखाई देता।

समाधान—भाई पडोसी अपने पडोसमे दिनभर पडा रहता है दूसरोको पता नही चलता कि ये घरका स्वामी है, या पडौसी है? इसी तरह शरीर के साथ तेरा ऐसा सयोग है कि उसके प्रदेशमे तू है, और तेरे प्रदेश-प्रदेशमे वह है। इससे तुझे शरीरसे भिन्न अपना स्वरूप प्रतीत नही हो रहा है। पर मान तो सही कि यह तेरा घरका स्वामी नही है—पड़ौसी है। परम्परा से ही

तेरी उसके साथ अनादि की घनिष्टता चली आ रही है, तो भी यह तो मानकर चल कि पडोसी मे तेरे कितने भी अच्छे प्रेमके सम्बन्ध हो पर वह पडोसी है। तू तो उसे ही अपना रूप मान बैठा है, अपने **अस्तित्वको ही भूल बैठा** है। उसे **पडोसी तो क्षणभरको ही मान ले। यदि तू ऐसा मानकर चलेगा तो तुझे** तत्काल अपने ज्ञानानन्द विलासी आत्माका स्वरूप बोध हो जायगा। यदि एक बार भी सत्यका दर्शन हो गया तो तेरा उद्धार हो गया।

तू ससारमे दुखी तो इसीलिए है कि परमे निज बुद्धि करता है, और निजको भूल गया है। जैसे कोई आजन्मके लिए सपरिवार कैदको सजा भोग रहा हो, उसे जेलमे सन्तान हो जाय, तो बडे होनेपर वह सन्तान जेलको ही अपना घर मानती है, उसे घरका पता नही है। उसे किसी बुद्धिमान्ने घर और जेलका भेद समझाया, पर उसे तो जेलसे ही मोह था, अत- छोडना न चाहा। भयभीत होता रहा, कि न जाने इस आश्रयको छोडनेपर क्या-क्या दु:ख उठाना पडे, अत वह जेलखाना नही छोडना चाहता था। उसे अनुभव तो सदासे जेलका है, जिसे वह अपना घर मानता है। घरकी स्वतन्त्रताका उसे अनुभव नही है इसमे उसीमे मगन है।

कोई बुद्धिमान् पुरुष उसे उसका गृहदर्शन करा दे, भले ही क्षण भरको करा देवे तो वह शीघ्र जेल छोडने और घर जानेपर तत्पर हो जायगा। इसी प्रकार ससारी प्राणीने सदा शरीर ही देखा है। उसकी इच्छाएँ सदा उसकी साज सज्जामे रही हैं। उसने उसे निजका ही स्वरूप माना—अत उसीकी सेवा करता रहा। किसी बुद्धिमान्ने शरीरको पृथक् और आत्माकी पृथक्ता-की चर्चा की तो उसे न सुहाई। उसने सोचा कि ये अनुभव विरुद्ध बात कह रहे है। आत्मा-शरीर भिन्न-भिन्न नही है। आचार्य ऐसे भोले प्राणोको समझाते है कि भाई एक मूहूर्त (अधिकसे अधिक ४८ मिनिट) के लिए भी मानतो, कि यह शरीर त नही है, ये तेरा पडोसी है। उसका रूप देख और अपना देख, तुझे तत्काल ज्ञात होगा कि शरीरका मोह व्यर्थ है। वह न तेरा है न तू उसका है। दोनो पृथक्-पृथक् है। ऐसा ज्ञान करनेके बाद फिर तुझे आत्माकी महिमा प्रतीयमान होगी।

(३६) **प्रश्न**—आपका यह कथन शास्त्र विरुद्ध है। कारण यह है कि यदि शरीर और आत्मामे भेद होता तो आचार्य भगवान् तीर्थंकरकी स्तुति शरीरके आधार पर क्यो करते ? तीर्थंकर स्तुतिमे तो कहा है—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममनस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुख श्रवणयोः साक्षात् क्षरन्तोमृऽतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधराः तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो तीर्थंकर प्रभु (**कान्त्या एव**) अपनी देहकी कान्तिसे ही (**दशदिशः स्नपयन्ति**) दशो दिशाओको स्नान करा रहे है (ये) जो (**धाम्ना**) अपने तेजसे (**धामोद्दाममनस्विनां**) तेजस्वी स्वाभिमानी सूर्यादिकके भी तेजको (**निरुन्धन्ति**) रोक देते हैं। जो (**रूपेण**) अपने सुन्दर स्वरूपसे (**जनमन.**) जनताका चित्त (**मुष्णन्ति**) चुरा लेते हैं। तथा (**दिव्येन ध्वनिना**) अपनी पवित्र दिव्य वाणीसे (**श्रवणयोः**) दोनो कानोमे (**साक्षात् सुखम् अमृतम् क्षरन्त.**) साक्षात् सुखदायक

अमृत बरसाते हैं। (ते) वे (अष्टसहस्रलक्षणधरा) एक हजार आठ शुभ लक्षणको धारण करनेवाले (तीर्थेश्वरा सूरयः) धर्मके मार्ग प्रदर्शक तीर्थङ्कर प्रभु (वन्द्या) वन्दना करने योग्य हैं ॥२४॥[1]

भावार्थ—यहाँ भगवान् जिनेन्द्रकी स्तुति की गई है। इसमे बताया गया है कि श्री जिनेन्द्र तीर्थङ्कर प्रभुकी क्या महिमा है।

जिनके शरीरकी कान्ति दशो दिशाओमे फैल रही है। जो अपने प्रभामण्डलको चारो ओर बिखेर रहे हैं। अपने तेजके द्वारा ससारके समस्त तेजस्वी पदार्थोको जीत रहे हैं। जिनके तेजके सामने सब फीके पड जाते है। जिनका मनोहारी सुन्दर कामदेवसे भी श्रेष्ठतम रूप जन-जनके मनको मोहित करता है। जिनकी दिव्य मनोहारिणी वाणी कानोमे अमृत उडेलती है, जिसे पशु पक्षी भी मुग्ध होकर सुनते हैं। विबुध जन भी मत्र मुग्धसे हो जाते है। एक हजार आठ शुभ लक्षणोंसे जो लक्षित हैं। ऐसी महिमा वाले जिनेन्द्र किसके द्वारा पूज्य नही है ? अर्थात् वे त्रिलोक पूज्य हैं।

इस स्तुतिमे जो कुछ कहा गया है वह भगवान् तीर्थङ्करकी स्तुतिके रूपमे कहा गया है। यदि आत्मा और शरीरका एकत्व न होता तो शरीरके रूप-तेज-प्रभाव, सहस्र-लक्षणकी बात तीर्थङ्करकी स्तुतिमे क्यो कही जाती।

यह कथन किसी ऐसे नासमझका नहीं है जो मिथ्यादृष्टि है और भ्रमवश शरीर और आत्माको एक मानता है। यह स्तुति जैनाचार्योकी कृतियोमे पाई जाती है जो षष्ठम सप्तम गुण स्थानवर्ती सम्यक् **चारित्री महापुरुष** है। अत **देहसे भिन्न आत्मा है ऐसा प्रतीत नहीं होता।** और भी देखिये—

चौबीस तीर्थङ्कर प्रभुके भिन्न-भिन्न वर्णोका वर्णन शास्त्रमे इस प्रकार वर्णित है—

द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ।
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः
ते संज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धि प्रयच्छन्तु नः ॥

इस शार्दूलविक्रीडित छंदमे भी, जिसे हम पूजा पाठमे रोज पढते हैं, बताया गया है कि—

दो तीर्थङ्कर प्रभु तो कुन्द-पुष्पके अथवा बर्फके या चन्द्रमाके या चन्द्रहारके समान श्वेत वर्ण हैं। दो प्रभु इन्द्रनीलमणिके समान नील वर्ण वाले हैं। दो तीर्थंकर बन्धूक पुष्पके समान लाल वर्णके हैं। दो प्रभु प्रियगफलके समान हरित वर्ण है। शेष १६ तीर्थंकर भगवान् तप्तायमान सुवर्णके वर्णके हैं।

विविध वर्णके ये सब तीर्थंकर जन्म-मृत्यु से रहित है वे ज्ञान सूर्य है। देवादि द्वारा पूज्य हैं। वे भगवान् हमे सिद्धिके प्रदानकर्ता होवें।

१ 'सूरय' यह विशेषण तीर्थंकर प्रभुका ही है। वे मोक्षमार्ग उपदेशक है ऐसा राजमल जी ने अपनी टीकामें लिखा है। जयचन्दजी ने आत्मख्याति की भाषा वचनिका में भी ऐसा ही अर्थ किया है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'सूरय' पद को आचार्य मानकर लिखा है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका मे 'तीर्थङ्करा-चार्य्यस्तुति' शब्द दिये हैं। भिन्न-भिन्न नही लिखे।

ऐसा आशीर्वाद प्राप्त करने स्वरूप मंगलाचरण हैं।

(३७) **प्रश्न—जो जन्म-मरणसे रहित तीर्थंकर पद प्राप्त केवलज्ञानी विविध वर्णके हैं ऐसा यहाँ बताया गया है। यह देह आत्मा एक न होती तो ऐसा वर्णन क्यों किया जाता ?**

समाधान—यह सत्य है कि जैनाचार्योंने ऐसी स्तुति की है। परन्तु यह स्तुति **व्यवहारनयके अवलंबनसे की** है। नयकी अनभिज्ञता होनेसे ही इस प्रकार सन्देह होता है, अत नय **विवक्षा समझ लेनी चाहिए।**

व्यवहारमे देहके आश्रयमे भी आत्माका वर्णन किया जाता है क्योकि **व्यवहारमें हमे शरीर दीखता है—आत्मा नहीं।** अत शरीरके **आश्रयसे भी आत्माका वर्णन करना यह व्यवहार है,** परमार्थ नही। भले ही शरीर दीखता हो, आत्मा न दीखती हो पर लक्षण **भेदसे** परमार्थमे दोनोको पहिचान जुदी-जुदी हो जाती है, ओर उनमे **भेदरूपसे प्रत्येकको जानना निश्चयनयका विषय है।** ऐसा होनेपर भी व्यवहारनयका प्रयोक्ता जानता है कि **मेरा देहाश्रयसे आत्माका वर्णन करना उपचरित है, यथार्थ नहीं है।** ऐसा समझकर जो कुछ कहता है उसका असद्भूत रूप भी **सद्भूतके ज्ञानसाधक होनेसे नयकी श्रेणीमे आता है।**

जैसे कोई अपने पुत्रको "यह राजा है" ऐसे उत्कृष्ट वचनोका प्रयोग करता है। पर वह जानता है कि मैं स्वय राजा नही हूँ, तब मेरा पुत्र राजा कैसे होगा ? है तो वह भी रक ही, तथापि उत्तम लक्षणो और आदतोके कारण उसे अच्छे काम करनेमे उत्साहित करनेको वैसा शब्द प्रयोग करता है, और सभी व्यवहारीजन उसका समर्थन भी करते हैं, पर उनका यह कथन व्यवहारनयका कथन है क्योकि वे परमार्थको जानते हैं कि यह राजा नही, किन्तु अपेक्षासे उसे 'राजा' कहते है।

इसी प्रकार आचार्य यह जानते हैं कि यह तीर्थंकरप्रभुका सच्चा वर्णन नही है, केवल देहका वर्णन है, तथापि जनसामान्यकी दृष्टि उनकी तरफ आकर्षित हो, अत देहाश्रित महत्त्वका वर्णन करते हैं। इसका अर्थ देह-आत्माकी एकता नही, किन्तु जिनकी ऐसी उत्कृष्ट देह है उनकी आत्माकी महिमाका क्या कहना ? ऐसा अभिप्राय सूचन करना है।

निश्चय दृष्टिसे देखें तो शरीरके वर्णनसे आत्माका कोई यथार्थ वर्णन नही होता किन्तु आत्माके अनन्त चतुष्टयादि गुणोके वर्णनसे ही उनकी आत्माका माहात्म्य जाना जाता है। उदाहरणके लिए किसी नगरकी सुन्दरताका वर्णन करनेसे उसके राजाकी महत्ता आँकी जाती है कि वह कितना बडा राजा है। वस्तुत. राजा और नगर भिन्न-भिन्न हैं।

इसी प्रकार शरीरके अतिशयोसे आत्माकी उत्कृष्टताका अनुमान कराया जाता है। वस्तुत. शरीर भिन्न और तीर्थंकरकी आत्मा भिन्न है **इसलिए शरीर स्तुतिसे परमार्थमे तीर्थंकर स्तुति नहीं होती।** जैसे किसी नगरका वर्णन कवि करता है—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

भावार्थ—यह नगर इतना विशाल है कि आकाश-पाताल और भूमि सबके भीतर व्यापक है। वह इस प्रकार कि इसका कोट इतना ऊँचा है कि इसने ऊँचाईमे सम्पूर्ण आकाशको उदरस्थ

कर लिया है। इस नगरके उपवनोकी पक्तियोने सम्पूर्ण भूमितलपर अपना विस्तार जमा लिया है। तथा इस नगरकी परिखा (**खाई जो कोटके चारो ओर सुरक्षा हेतु बनाई जाती थी**) इतनी गहरी है मानो पातालको भी पिए जा रही है ॥२५॥

यह नगरकी विशालताका वर्णन उत्प्रेक्षालकारके आधारपर किया गया है। नगरका कितना भी विशाल वर्णन हो पर वह नगरका है, **नगरके राजाका नहीं** है। नगर**की विशालता और** शोभाके आधारपर **राजाकी** उत्तमताका दर्शन **उपचारमात्र** होगा, **परमार्थ नहीं। परमार्थमे तो राजामे कोट-परिखा-उपवन** नही है।

इसी प्रकार जिनेन्द्रके शरीरके वर्णनका दूसरा उदाहरण देखिए—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रका उत्कृष्टरूप, क्षोभरहित गम्भीर समुद्रके समान है। जैसे समुद्र जब गम्भीर होता है तो वह विकार (**उछाल**) रहित होता है स्थिररूप होता है। समुद्रका सम्पूर्ण अग (जल) स्वाभाविक लावण्य (**खारापन**) लिए होता है। इसी प्रकार जिनेन्द्रका रूप भी सदा अविकारी—स्थिर और स्वाभाविकरूपसे सर्वाङ्ग लावण्य तेजपूर्ण है। वह जयवन्त वरतो ॥२६॥

जिनेन्द्रका यह वर्णन शरीरकी विशेषताओको लेकर किया गया है। शरीर**की स्तुति जिनेन्द्रकी यथार्थ स्तुति** नही है तथापि **व्यवहारनयसे ऐसी स्तुति की जाती है। ऐसे व्यवहारका हेतु तीर्थंकरका विशिष्ट शरीर है। निश्चय** स्तुति **तो आत्मगुणोके आधारपर की गई स्तुति ही हो सकती है।**

भगवान् जिनेन्द्र अपने रागादि विकारोपर विजय प्राप्त करनेवाले मोक्षमार्गी जीवोमे सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्होने इन्द्रिय विषयोको त्यागकर अतीन्द्रिय आनन्द तथा अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त किया है। **मोहादिको** जीता ही नही, उसे **मूलसे मिटा दिया** है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, वीतराग हैं, अनन्तगुणोके पुञ्ज हैं, इत्यादि आत्मगुणोकी स्तुति ही केवलीकी स्तुति वस्तुत है।

(३८) **प्रश्न**—भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं यह तो मान्य है, पर उनके अनन्तगुण कौन-कौन से हैं ?

समाधान—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति, अमूर्तत्व, अरस, अगध, अस्पर्शत्व आदि भगवान्के अनन्तगुण है।

(३९) **प्रश्न**—अनन्त चतुष्टय तो भगवान्के गुण है, पर शेष अमूर्तत्वादि तो धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि द्रव्योमे भी पाये जाते हैं ? इन गुणोसे यदि पूज्यता है तो धर्म, अधर्म, आकाश आदि भी पूज्य माने जाना चाहिये ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्यमे कुछ साधारण गुण होते है, कुछ असाधारण गुण होते हैं। अनन्तचतुष्टय भगवान्के असाधारण गुण हैं। अमूर्तत्वादि जो गुण अन्य द्रव्योमे भी पाए जाते हैं, वे उनके साधारण गुण हैं।

(४०) **प्रश्न**—भगवान्‌की पूज्यता इनमेसे असाधारण गुणोके कारण ही मानी जायगी या साधारण गुणोंके कारण भी पूज्यता है ?

समाधान—भगवान्‌की पूज्यता उनके असाधारण गुणोके कारण ही है। फिर भी साधारण गुण भी उनमे पाये जाते हैं, अत गुणोमे उनकी भी गणना है।

(४१) **प्रश्न**—सचेतन द्रव्य तो जीवमात्र हैं, उनमे ज्ञान-दर्शन, सुखादि स्वाभाविक शक्तियाँ असाधारण रूपमे पाई जाती हैं, अत सभी जीव पूज्य है। भगवान् ही क्यो पूज्य हैं ?

समाधान—वे भगवान् है, हम आप साधारण ससारी जीव हैं, अतः ससारी प्राणी अपने चतुर्गति परिभ्रमणरूप ससारकी दु-खमय परम्परा मिटानेको उनकी पूजा करता है जिन्होने ससार परिभ्रमणसे छूटकर, अनन्त चतुष्टयके रूपमे, अपने ज्ञान दर्शन आदि गुणोको प्राप्त कर लिया है।

(४२) **प्रश्न**—क्या उनकी पूजासे हमारा ससार परिभ्रमण मिट जायगा ? तब तो सभी जिन-भक्त इसी भवमे मोक्ष चले जायँगे ?

समाधान—पूजासे मोक्ष नही होता, मोक्षके लिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-श्रद्धा, आत्म-ज्ञान और तदनुकूल आचरण जीवको करना पडता है।

(४३) **प्रश्न**—यह तो मान्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षके मार्ग हैं, तब भगवान्‌की पूजाका प्रयोजन मोक्ष कैसे माना जाय ?

समाधान—पूजाका अर्थ है, जिन्होने रत्नत्रयके आधार पर अपने ससार परिभ्रमणका अन्त कर लिया है, उनका अनुकरण हमे भी करना है, ताकि हम भी उस मार्गपर चलकर मोक्ष पा सकें। उनके प्रति आदरभाव ही पूजा है।

(४४) **प्रश्न**—पूजा तो अष्टप्रकारी बताई गई है। जल चन्दनादि द्रव्य, पूजा द्रव्य हैं। उनका समर्पण ही पूजा माना गया है। तब आपने अनुकरणको पूजा कैसे लिखा ?

समाधान—उन गुणोकी प्राप्तिकी भावना ही अष्टद्रव्योके समर्पणके समय की जाती है। यह बात पूजाके प्रत्येक पदके मन्त्रके साथ विहित है। उसे समझकर ही पूजा करनी चाहिये।

(४५) **प्रश्न**—तब तो उक्त गुणो की प्राप्ति की भावना ही करनी चाहिये, पूजा-पाठ और द्रव्य समर्पणसे क्या प्रयोजन है ?

समाधान—गृहस्थ अपनी भावनाको वृद्धिगत करनेके लिये, इन बाह्य आलबनोको भी ग्रहण करता है, तथा सामायिक आदिके कालमे बिना द्रव्य अर्पणके भी भावना करता है। दोनो पद्धतियाँ हैं। द्रव्य पूजामे भी अधिक भावना सामायिकादि कालमे होती है, अत- गृहस्थको दोनो पद्धतियाँ अगीकार करनी चाहिये।

(४६) **प्रश्न**—जब द्रव्य-पूजाकी अपेक्षा सामायिक आदि भावपूजा भावनाओकी दृष्टिमें साक्षात् कारण है तब द्रव्यपूजा क्यो की जाय ? यह तो व्यर्थका खर्च तथा आडम्बर है।

समाधान—ससारके विषयोमे, परिवारके मोहमे, उनकी विषय साधनामे, खर्च सार्थक, और पूजामे निरर्थक है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात हुआ। सोचिये क्या इन्द्रिय भोगरूप

विषय और मोहजन्य कार्य ये सार्थक आत्महितके कार्य हैं ? और उनमे द्रव्य बचाकर जिन पूजामे लगाना व्यर्थ व्यय है ? आपका ऐसा सोचना गलत है।

(४७) **प्रश्न**--भगवान् तो वीतराग हैं, न खाते हैं, न पीते है, न भोगते है, तब वह खर्च तो व्यर्थ व्यय ही है। जो खाते पीते है उनके लिये व्यय सार्थक है ?

समाधान--गृहस्थ द्वारा अपना द्रव्य अपने विषय भोगोंसे बचाकर, पूजामे व्यय करना हो, उस द्रव्यका सदुपयोग है। द्रव्यका राग छाडे बिना पूजा बनतो नही और द्रव्यका राग छोडना वीतराग मार्गमे जानेवालेके लिए प्रथमाभ्यास है। रागीजीव खानेपीनेमे, विषय भोगमे खर्च हो वह सार्थक है, ऐसा सोचकर ही ससारके रागकी अभिवृद्धिको जीवनकी सार्थकता मानता है। किन्तु यह सार्थकता होगी ससारी मार्गको बढानेके लिए, मोक्षमार्गके लिए नही।

यदि खाने पीने वालोको समर्पण करना ही पूजा हो तब तो आप रोज अपनी व अपने परिवार की पूजा करते ही है।

(४८) **प्रश्न**--हमारा अभिप्राय ऐसा नही है। अभिप्राय यह है कि वीतराग तो लेते नही और दते भी नही, अत इनकी पूजा निरर्थक है। अन्य देवी देवता तो पूजा ग्रहण भो करते हैं और प्रसन्न होकर देते भी हैं, अत यदि द्रव्य अर्पित करके पूजा करना ही है, तो इन देवी देवताओ की करना श्रेष्ठ है।

समाधान--सरागीकी पूजासे सरागभावकी जागृति होगी और वीतरागीकी पूजासे वीतराग भाव जागृत होगा। आपका हित राग भावमे है, या वीतराग भावमे, यह प्रश्न है। यदि राग ही परिपुष्ट करना है तो यह अपना संसार परिपुष्ट करनेकी बात है, मुक्तिकी चर्चा भी इस मार्गसे अत्यन्त दूर है।

(४९) **प्रश्न**--जैन शास्त्रोमे भी तो वीतराग भगवान्की पूजाके साथ, यक्ष-यक्षिणी, क्षेत्रपाल, भैरव, पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि सैकडो देवी देवताओ की पूजा का विधान, वीतरागी आचार्योंने किया है। तो क्या यह सब वृथा है ?

समाधान--मोक्षमार्गमे यह सरागी देवोका पूजन-सम्मान, श्रद्धा, भक्ति, बाधक हैं, साधक नही। मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व नही। ससार परिभ्रमण का मार्ग है, मोक्षमार्ग नही। दिगम्बर जैन आचार्योंने ऐसा विधान नही लिखा--कुछ शिथिलाचारी भट्टारकोने, जो अपनेको मुनि दिगम्बर और आचार्य लिखते थे, ऐसा विधान किया है। वे लेखक वास्तवमे न मुनि थे, न दिगम्बर जैनाचार्य। अत उक्त कथनी जिनागमके अनुकूल नही है। वीतरागी बननेके लिए सरागीकी पूजा प्रत्यक्ष विरुद्ध कार्य कारणभाव है। लेने-देनेकी बात भी मिथ्या है। देवोके लिए भोगोपभोगका पदार्थ वह है ही नही जो मनुष्योके लिए है। देव अमृतभोजी है। अत पूजा द्रव्य ग्रहण नही करते। तथा स्वर्ग विभूति वहाँकी स्थायी व्यवस्था है, वे उसमेसे किसीको कुछ दे नही सकते अतः देनेकी बात भी मिथ्या है।

(५०) **प्रश्न**--पञ्च-कल्याण प्रतिष्ठा पाठोमे कल्याणकोकी विधियोमे शासन देवोकी पूजाका विधान पाया जाता है। तब उसे मिथ्यात्वकी क्रिया कैसे माना जाये ?

समाधान--प्रतिष्ठा-शास्त्रोमे शासन देवताओको स्थापनाका जो विधान आता है वह उनकी पूजाके लिए नही है। प्रतिष्ठामे प्रधान पूजक सौधम इन्द्र होता है। वह भगवान्की इन्द्र-

ध्वज आदि पूजनमे शासन देवताओको बुलाकर सेवकरूपमे विविधकार्योंके लिये नियुक्त करता है। उन देवताओंकी पूजन नही करता।

इन्द्र या पूजक द्वारा शासन देवताओके लिए अर्घ्यदानको जो बात है वह उन देवताओंकी पूजा हेतु नही है किन्तु जिनेन्द्र पूजामे, जिस प्रकार इन्द्र भगवान्को अर्घ्यदान करता है, उसीप्रकार भगवान्को चढानेके लिए देवताओंको भी पूजन द्रव्य, अर्घ्य आदि देता है। हम लोग भी इसीप्रकार पूजा करते समय उपस्थित श्रावकोको अर्घ्य आदि सामग्री देकर भगवान्की पूजामे सहयोगी बनाते हैं।

कुछ लोगोका तर्क है कि शासन देवता सम्यक्दृष्टि जीव है, जिनेन्द्रके भक्त हैं, इसलिए उनकी पूजन करना अनुचित नही है। यह तर्क असगत है क्योंकि प्रथम तो जैनमात्र व्यवहार-सम्यक्दृष्टि है, उन सबकी पूजा करना भी अभीष्ट मानना पडेगा। दूसरे, इन्द्र अपने आज्ञानुवर्ती-सेवक भवनवासी देवोकी पूजा करे यह कल्पना कैसे सभाव्य है? तीसरी आपत्ति यह है कि ये भवनवासी देव सम्यक्दृष्टि ही होते हो ऐसा कोई नियम नही है। जन्मकी अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव ही भवनत्रिकमे जन्म धारण करते हैं। कोई जीव वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर ले तो भी, ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव, जिनेन्द्र भगवान्के सिवाय अपनी पूजा करनेवालेको क्या सम्यक्दृष्टि या विवेकवान् मानेंगे? अत. शासन देवताओका पूजन कुदेव पूजन है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा सागार-धर्मामृत आदि अनेक ग्रन्थोमे इसका स्पष्ट आदेश है।

सम्यक्दृष्टि देवोको पूजनेकी बात करें तो अनुदिश और अनुत्तरवासी देव नियमसे सम्यक्-दृष्टि होते है। तब मुख्यरूपमे उनका ही पूजन करना होगा। भवनवासी तो वहाँ भी पीछे ही रह जायेंगे। यह विकल्प ही निर्मूल है। देवो ने व्रती मनुष्योकी पूजा तो की है, परन्तु व्रती-श्रावको द्वारा अव्रती देवोकी पूजन सर्वथा असगत है।

कुछ लोग ऐसा तर्क उठाते है कि आचार्य समन्तभद्र, अकलक देव, सीता आदि पुराण पुरुषोकी रक्षा और सहायता शासन देवताओने की थी। उन्हे ऐसा विचार करना चाहिये कि इन पुराण पुरुषोने उस समय शासन देवताओकी आराधनाकी थी या अपने व्रत और धर्मपर दृढ़ रहकर भगवान् जिनेन्द्र का स्मरण किया था? इसप्रकार यह निश्चित है कि सिर्फ वीतरागदेव ही पूज्य है। उन्हींकी पूजासे मोक्षका मार्ग मिलता है। वीतराग देवके अनन्तगुणात्मक स्वरूप और परम पवित्र आत्माकी श्रद्धा-भक्तिसे, उनके आराधक स्वय अनन्त गुणस्वरूप परमात्म-पद प्राप्त करते हैं।

(५१) **प्रश्न**—तब आप बताते क्यो नही कि वे अनन्त गुण कौनसे हैं? आप तो अनन्त चतुष्टयके चार, या सिद्धोके आठ गुण गिनाते हैं, अनन्त गुण कहाँ दिखाई देते हैं? उनके नाम बताइये। नाम न भी बता सकें तो वे गुण अनन्त है इसका प्रमाण तो दीजिये।

समाधान—सही है, आपको अपनेमे व अन्य व्यक्तियोंमे वे गुण नही दिखाई पडते, पर अवगुण तो दिखाई पड़ते हे? उनकी तो नामावली आप गिना सकते हैं।

(५२) **प्रश्न**—अवश्य गिना सकते हैं। दोष तो अनन्त हैं, पर गुण अनन्त नही?

समाधान—जो अनन्त दोष दिखाई देते हैं वे उन आत्मीक गुणोके ही विभाव परिणमन हैं। स्वभाव परिणमनका गुण, और विभाव परिणमनको दोष कहते हैं। वे सभी दोष दूर होनेपर

उनका स्वभावरूप परिणमन ही, अनन्त गुणोके रूपमे आत्मामे प्रगट होगा। भगवान् तीर्थंकरने अपने तप-तेजके बलपर, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके बलपर, उन क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, विश्वासघात, हिंसा, असत्य, कूट-कपट, असदाचार आदि दुर्गुणो पर विजय पाई है, अतः उनका गुणरूप स्वाभाविक परिणमन हुआ है, इसलिये उनके गुण भी अनन्त है।

नामावली तो इसी आधारपर रखी जा सकती है। अत दुर्गुणोके विरुद्ध, अक्रोध, अमान, अमाया, अलोभ, अहिंसा, सत्य, सरलता, सदाचार आदि नाम लिए जा सकते है।

(५३) प्रश्न—ये सब तो निषेधात्मक गुण बताए। विध्यात्मक बताइए ?

समाधान—इन्हीके विध्यात्मक नाम भी रखे जा सकते है जैसे—ऊपर सरलता, सदाचार, सत्य गिनाये गये है वैसे ही दया, क्षमा, सतोष, संयम, तप, त्याग आदि नाम भी रखे जा सकते है। इनमे कुछ गुण सन्मार्ग स्वरूप है और कुछ मार्गातीत होनेपर प्रगट होते है।

(५४) प्रश्न—आप मार्गातीत होनेपर प्राप्त होनेवाले गुणोके नाम बताइये।

समाधान—जो मार्गातीत हो चुके वे अपने सामने नही हैं, जो उस अवस्थामे हैं उनमे वचन व्यवहार नही है, तब नाम कैसे रखे जाये ? आप तो अनन्त दुर्गुणोको ही अनन्त गुणोका विपरिणमन मानकर, उन गुणोकी सख्या निर्धार कर लें। केवल नामोके व्यवहार न कर सकनेकी स्थितिमे, उनके अस्तित्वसे इकार नही किया जा सकता। जैसे गुड-शक्कर-मिश्री-आम खरबूजा द्राक्षा आदि सब पदार्थ मीठे हैं, इतना मात्र आप कह सकते हैं। इनके स्वाद भेदका अनुभव करते हुए भी, नाम नही बता सकते, पर अनुभव गलत नही मानते। ऐसे ही अनुभवके व अनुमानके आधारपर, आत्मामे अनन्तगुण मानना अनिवार्य है। अपने उन अनन्त दोषोको दूरकर गुणोको प्रगट करनेमे जिन्होने पूर्णता प्राप्त की, उन भगवन्तोके गुणोकी उपासना ही आत्मोत्थानके लिए आवश्यक है। चूंकि ससारी प्राणी चर्मचक्षुवाला है, साकार पदार्थको ही देख पाता है, निराकारका मात्र अनुमान कर सकता है, अत उनके निराकार स्वरूपकी स्तुति, प्रशसा या आदरभाव, गुण-दर्शनके आधारपर जो की जाती है, वह निश्चय स्तुति है। वर्तमान देहादिको देखकर उसमे पाई जानेवाली अन्य असाधारण विशेषताओके आधारपर स्तुति, व्यवहारनयसे स्तुति मानी जाती है। यह निर्णय जानना चाहिये। आत्म द्रव्य निश्चय ही देहादि पुद्गल द्रव्यसे भिन्न है, फिर भी उनमे एकता मात्र व्यवहार पक्ष है, इसी बातको आचार्य आगामी कलशमे प्रतिपादन करते हैं।

निश्चयसे शरीरका आत्मासे कोई सम्बन्ध नही है—

एकत्व व्यवहारतो न पुन. कायात्मनोर्निश्चयात्
नुःस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्र निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेत्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

अन्वयार्थ—**(कायात्मनो)** शरीर और आत्माकी **(एकत्वं)** एकता **(व्यवहारत)** व्यवहार-नयसे कही जाती है **(न पुन निश्चयात्)** परमार्थसे एकता नही है। **(वपुष स्तुत्या)** इसलिए शरीरकी स्तुतिसे **(नु स्तोत्रम्)** आत्माका स्तोत्र **(तत्तत्त्वत न)** यथार्थ स्तोत्र नही है। (व्यव-

हारत. अस्ति) व्यवहारसे है। (**निश्चयतः चित. स्तोत्रम्**) निश्चयमे आत्माकी स्तुति (**सा चित्स्तुत्या एव भवति**) **चैतन्यगुणोकी** स्तुतिसे ही होती है। (**अत.**) इसलिए (**तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्**) तीर्थंकरकी स्तुति शरीराधारपर की है इस व्यावहारिक कथनके बलसे (**एव आत्माङ्गयो एकत्वं न भवेत्**) आत्मा और शरीरकी एकता नही हो सकती है।

भावार्थ—शरीर आत्माको मिलाकर उसे जीवपनेका व्यवहार लोकमे किया जाता है तथा इसी लोकभाषामे ग्रन्थकार भी व्यवहारमे ऐसा वर्णन कर देते है। इसका कारण है कि व्यवहारीजनोको यदि उनके व्यवहारकी भाषामे न समझाया जाय तो उपदेश देना ही सम्भव नही है। तथापि व्यवहार वचन कहते हुए भी आचार्य निश्चय तत्त्व ही समझाते है—ताकि यथार्थताका बोध हो जाये। भगवान् तीर्थंकरका चैतन्यस्वरूप आत्मा, मोहादि विकारोसे रहित, अपने स्वरूपसे एकत्वरूप, अखण्ड चैतन्यानद ज्ञायक स्वभाव है यह निश्चय स्तुति है, ऐसा इस छन्द द्वारा स्पष्ट करते हैं—

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकारसे (**परिचिततत्त्वै**) तत्त्वज्ञानियोके द्वारा (**नयविभजनयुक्त्या**) नयविभागकी युक्तिसे (**आत्मकायैकतायाम्**) आत्मा और शरीरकी एकताका पक्ष (**अत्यन्तं उच्छादितायाम्**) अत्यन्त उच्छिन्न करनेपर (**स्वरसरभसकृष्ट**) अपने स्वरससे शीघ्र आकृष्ट हुआ (**प्रस्फुटन्**) प्रकटरूप (**एक एव बोध.**) एक आत्माका ज्ञान (**अद्य कस्य बोधं न अवतरति**) आज किस समझदारकी समझमे न उतरेगा ॥२८॥

भावार्थ—आचार्य कहते है कि पूर्वोक्त कलशोमे यह भलीभाँति दरशा दिया है कि **आत्मा और शरीर वास्तव में भिन्न-भिन्न चेतन-जड ऐसे दो द्रव्य हैं** किसी भी समय, किसी भी प्रकार एक हो नही सकते। उनकी एकता **मात्र व्यवहार है, परमार्थ नही है।** ऐसा **नहीं है कि व्यवहारनयसे वे यथार्थमें एक हैं,** और **निश्चयसे यथार्थमे** पृथक्-पृथक् हैं। **ऐसा अनेकान्त रूप नहीं मानना चाहिए।** दोनो यथार्थ नही होते। क्योकि निश्चयसे वे दो भिन्न-भिन्न द्रव्य है, उनमे मात्र व्यवहारसे बन्धकी अपेक्षा एकता कही जाती है। अनेकता तो द्रव्योमे यथार्थ है और एकता व्यवहारसे है जो सापेक्ष कथन है। ऐसा नयविभागसे समझाए जानेपर हर समझदार व्यक्ति अपने निजरससे परिपूर्ण, कर्म-नोकर्म-भावकर्मसे भिन्न, आत्माका बोध अवश्य कर लेगा।

परभावके त्यागकी दृष्टि आते ही स्वानुभूति प्रकट होती है ऐसा प्रतिपादन करते है—

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटितिसकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता-
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जबतक (**अत्यन्तवेगात्**) वेगपूर्वक (**अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टि**) पर-पदार्थके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि (**अनवम्**) पुरातन (वृत्ति) वृत्तिको (**न अवतरति**) प्राप्त नही हो जावे, (**तावत्**) तबतक (**झटिति**) तत्काल ही (**अन्यदीयै सकलभावै विमुक्ता**) परद्रव्योके सकलभावोंसे रहित (**इयम् अनुभूति**) यह आत्मानुभूति (**स्वयं आविर्बभूव**) स्वय प्रकट हो जाती है ॥२९॥

भावार्थ—परपदार्थ और स्वपदार्थके भेदज्ञान होनेपर दृष्टान्तकी तरह परके त्यागकी दृष्टि स्वय उत्पन्न हो जाती है। जैसे परवस्त्रको भूलमे ले आनेवाला व्यक्ति, जैसे ही 'यह परवस्त्र' है, स्व नही, ऐसा भेदज्ञान करता है, उसी समय परके त्यागनेकी दृष्टि भी आ जाती है। और ज्योही परवस्त्रके त्यागकी दृष्टि आई, तब ही स्व-वस्त्रकी पहिचान हुई, और उसे ग्रहणका भाव हुआ।

इसी प्रकार आत्मा शरीरादिसे भिन्न है, ऐसा भेद-विज्ञान हुआ तो परको पर जाना, तथा जानने मात्रसे ही परका त्याग करना चाहिए यह ऊपरके दृष्टान्तके आधारपर दृष्टिमे आया। यह दृष्टि पुरानी न पडे तबतक स्वानुभूति भी तत्काल प्रकट होती है।

ऐसा बोलनेका मुहाविरा है कि, सूर्य उदय हुआ नही कि प्रकाश फैला। यहाँ शब्दार्थ ऐसा नही लेना कि सूर्योदयके बिना भी प्रकाश हो गया। किन्तु यह अर्थ लिया जाता है कि सूर्योदयके साथ ही साथ प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार स्वपरका भेद जाना तो सहज ही परके प्रति त्यागका भाव आया, जैसे ही परके त्यागका भाव आया तत्काल ही एक साथ 'स्व' क्या है इसका भी अनुभव हो गया। दोनो एक कालमे हो जाते है। पुरानी न पडे का तात्पर्य यह कि परके त्यागका भाव बना रहे उसी समय अनुभूति भी तत्काल आती है।

श्रीभट्टारक शुभचन्द्रजीने अपनी संस्कृतटीकामे 'अनवम्' का अर्थ सत्य किया है।

अनुभूति कैसी है उसका स्वाद बताते है—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभाव
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैं (**सर्वत स्वरसनिर्भरभावम्**) सर्वप्रदेशोमे आत्मरस जो चैतन्यरस उससे भरे हुए (**इह एकम् स्वम्**) इस अपने एक स्वरूपको (**स्वय चेतये**) स्वय सचेतन कर रहा हूँ। (**मोह**) मोहजन्यभाव (**मम कश्चन नास्ति-नास्ति**) मेरे कोई नही है, नही है। मैं तो (**शुद्धचिद्घनमहोनिधि अस्मि**) शुद्ध चैतन्य तेजकी निधि हूँ। अथवा शुद्धचैतन्यरसका महोदधि, समुद्र हूँ ॥३०॥

भावार्थ—अनुभूतिमे यह प्रतीत होता है कि मैं शरीर नही हूँ, मै परिवार नही हूँ, जमीन मकान धन-धान्यरूप भी मैं नही हूँ। इनसे प्रत्यक्ष ही भिन्न हूँ। मैं देखता हूँ तो मस्तकसे पैरतक सर्वत्र एक चैतन्यरस ही मेरेमे भरा है। उसी तेजसे प्रकाशमान हूँ। उसी तेजका पुज हूँ। उसी तेजकी निधि हूँ, जिसमेसे चैतन्य-चैतन्यके हो प्रकाशका प्रवाह चला आ रहा है।

मोह, राग, क्रोधादि भाव ये भी तो मेरेमे उत्पन्न होते हैं, दिखाई भी दे रहे हैं। अन्यत्र तो दिखाई नही देते, अत इनसे भिन्न मैं कैसे हूँ ? ऐसा विचार आता है तब मालूम होता है कि ये भाव मेरेमे हैं, आते है—जाते है, पर ये मेरे स्वभावभाव नही हैं। ये मेरी स्वात्माके स्वामी नही हैं, **ये मेरे न अंशज हैं न वंशज हैं।** मैं तो इनसे सर्वथा भिन्न ज्ञायकस्वरूप हूँ। ये रागादि मेरे चेतन्यसे भिन्न हैं, विरोधी हैं, तब ये अचेतन हैं, इनसे तो चैतन्यभाव मलिन ही होता है। जिस मैलसे वस्त्र मलिन दीखे वह मैल वस्त्रका स्वभाव नही है। वस्त्रमे दीख रहा है, पर उससे तो वस्त्रका स्वभाव—स्वच्छता ही ढक जाती है। अतः वह वस्त्रका विकार है। इसी तरह रागादि-भावोंसे आत्माका चैतन्यस्वरूप आच्छादित हो जाता है, स्वच्छता मिटती है, मलिनता दिखाई देती है, तब यह मलिनता मेरा स्वभाव नही है ? मैं इन **मलिनताओसे** भिन्न ज्ञानमय पदार्थ हूँ। चैतन्यधातु का बना हुआ हूँ। सर्व ओर एक चैतन्य रस ही दृष्टिपथ मे आता है।

ऐसे विचारोसे ही अपनी प्रवृत्ति स्वात्मनिष्ठ होती है। यही कहते हैं—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शन-ज्ञान-वृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**सर्वै. अन्यदीयैः भावैः सह**) सम्पूर्ण अन्य द्रव्योंके भावोंके साथ (**विवेके सति**) भिन्नताका बोध हो जानेपर (**अयम् उपयोग**) यह अपना उपयोग (**स्वयम् एकम् आत्मानम् बिभ्रत्**) स्वयं अपने एक स्वरूपको ही धारण करता हुआ (**प्रकटितपरमार्थैः**) प्रकट किया है परमार्थ जिन्होने ऐसे (**दर्शनज्ञानवृत्तैः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप (**कृतपरिणति**) हुई है परिणति जिसकी ऐसा उपयोग (**आत्माराम एव प्रवृत्त**) अपनी सीमा मे प्रवृत्त होता है। फिर अन्यत्र प्रवृत्त नही होता ॥३१॥

भावार्थ—ऊपरके कथनके अनुसार जब यह अपना **उपयोगात्मक ज्ञान** अपनेको अन्य समस्त पर द्रव्यो और उनके भावोसे भिन्न देखता है तब उसे यह भी प्रतीत होता है कि मैं अब स्वय अकेला हूँ। मेरे साथ ज्ञेय भावमे होकर जो आए थे, वे सब पर थे, मेरे स्वरूपसे भिन्न थे। मेरे साथ तो केवल 'मैं' हूँ। तब आत्मा आत्मविश्वास—आत्मज्ञान और आत्मरमण रूप निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यग्चारित्र रूप परिणतिको प्राप्त हो जाता है। एक बार अपना घर पहिचाना तो फिर परघर नही जाता। फिर वह आत्मा अपनी अनन्त गुणगरिमाके बगीचेमे ही रमण करता है, उनके बाहर फिर नही जाता। यही सच्चा मोक्ष-मार्ग है।

आत्माके साथ उसका निजस्वभाव 'उपयोग' अनादिसे है, अनन्त कालतक रहेगा। इस दृष्टिसे तो वह आत्माका स्वभाव ध्रुवरूप परम पारिणामिक भावरूप है। यह सामान्य ध्रुवाश अपने अस्तित्वमे किसी कर्मके उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदिकी अपेक्षा नही रखता। निगोदसे लेकर सिद्ध भगवान् पर्यन्त जीवमात्रमे वह जीवत्व पारिणामिकभाव सदासे पाया जाता है। यदि आत्मा अपने उस स्वभावपर दृष्टि देवे तो उसका विकास 'केवलज्ञान' रूपमे होता है।

ससारी अवस्थामे ज्ञानके साथ मोहभावकी डाक लगी है, जिससे मोहभाव और ज्ञानभावमे परस्पर भावक, भाव्य, भावरूप प्रवृत्ति देखी जाती है, तथा ममत्व भाव देखा जाता है। जबतक यह भाव्य भावक भाव रहता है तब तक यह जीव पर द्रव्यो मे मोह रागद्वेष या क्रोध मानादि परिणाम करता है। इन सब विकारो से ज्ञान भाव्यमान हो जाता है। यही इस जीवको बध करानेवाली बात है। यदि इस बन्धनसे छूटना है तो विकारोके प्रति निर्ममत्व बनना होगा।

पराधीनतामे यदि रागके विषयभूत इच्छित पदार्थ न मिलें, या उनका वियोग हो जाय तो भी रागीका राग नही छूटता। इसलिए बाह्य त्याग यदि अतरग परिग्रहके त्यागमे साधक बन जाय तभी उसे बाह्य चारित्रकी या व्यवहार चारित्रकी तथा कारणताकी सज्ञा प्राप्त होती है।

यद्यपि ज्ञानमे ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि ज्ञानी जानता है कि ये मुझसे भिन्न ही, स्वलक्षण धारण करनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ हैं। मेरे अन्तस्तत्त्वसे पृथक् होनेके कारण ये बहिस्तत्त्व हैं। इनके साथ ज्ञेय ज्ञायक भाव होनेपर भी मुझे मेरा स्वाद इनसे भिन्न ही प्रतीयमान होता है। मुझे उनसे कोई लगाव नही है। मैं स्वय एक अखण्ड चैतन्य रससे परिपूर्ण आत्मा नाम पदार्थ हूँ। ऐसा विचार आनेपर वह स्वात्मनिष्ठ बनता है।

अब ज्ञानरूपी समुद्रमे निमग्न होनेकी प्रेरणा करते हैं—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका: आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता: ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**विभ्रमतिरस्करिणीं**) भ्रमके परदेको (**भरेण आप्लाव्य**) पूर्ण ताकतके साथ डुबोकर (**एष भगवान् अवबोधसिधु**) यह भगवान् ज्ञान समुद्र (**प्रोन्मग्न**) प्रकट हुआ है। अतएव इसके, (**आलोकम् शान्तरसे उच्छलति**) समस्त लोकमे जिसका शातरस उछाल ले रहा है (**अमी समस्ता लोका सममेव**) उसमे यह सम्पूर्ण जन एक साथ ही (**निर्भर मज्जन्तु**) परिपूर्ण स्नान करो। अर्थात् सर्व ससारके जीव उस शातरसमे निमग्न होवें ॥३२॥

भावार्थ—मोह अवस्था एक विभ्रम थी, उसे परदेका रूपक दिया गया है। जैसे परदेकी ओटमे समुद्र जैसी महान् वस्तु भी दिखाई नही देती, "सीक मात्रकी ओटमे पहाड भी छिप जाता है," इसी प्रकार भ्रमके होनेपर सम्मुख रखे पदार्थ, यद्यपि, वे वहाँ स्थित हैं—पर भ्रमवान्को दिखाई नही देते, या विपरीत दिखाई देते है। यदि भ्रम दूर हो जाय तो उसे यथार्थ दिखाई देगा, और यथार्थ-ज्ञानसे आनन्द व शान्ति मिलेगी। मोहका परदा दूर होनेपर आत्माको ज्ञानसमुद्र दिखाई देता है। वह समुद्र बडी-बडी उछालें भरता है। वह शान्तरससे भरा हुआ है, वहाँ शान्तरस ही उछल रहा है। आचार्य कहते है कि भाई ऐसे ज्ञानसमुद्रमे डुबकी लगाओ, आनन्द आयगा।

जीव अजीव अधिकार (उत्तरंग)

अब ज्ञानकी महिमा बताते हैं—

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात् विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञानं मनोऽऽह्लादयत् ।।३३।।

अन्वयार्थ—(**आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वसात्**)—अनादिकालसे बद्ध मोह कर्मके बन्धनकी विधिका ध्वस करके (**विशुद्ध स्फुटत्**) विशुद्धरूपमे प्रकट हुआ—(**ज्ञानम्**) यह विवेक (**जीवाजीव-विवेकपुष्कलदृशा**) जीव और अजीवके भेदकी पुष्टदृष्टिमे (**पार्षदान् प्रत्याययत्**) सभासदोको भेदका विश्वास उत्पन्न कराता हुआ (**अनन्तधाम**) अनन्त तेजस्वरूप (**आत्मारामम्**) आत्मस्वरूप (**महसाध्यक्षेण नित्योदितम्**) अपने प्रत्यक्षस्वरूपसे नित्य उदयको प्राप्त (**धीरोदात्तमनाकुलम्**) धीर-उदात्त और अनाकुलस्वरूप (**मनोऽऽह्लादयत्**) मनको आनन्द देता हुआ (**विलसति**) शोभता है ।। ३३ ।।

भावार्थ—अनादिकालसे मोहादि कर्मसम्बन्ध जीवके साथ था और उस निमित्तसे जीवका विशुद्ध ज्ञानस्वभाव अप्रकटरूप था । भेदविज्ञानका यह फल है कि वह जीव-अजीवका विवेक कर लेता है । इससे मोहका नाश होता है । विशुद्ध ज्ञान प्रगट होता है ।

जैसे किसी रगमचपर कोई व्यक्ति राजाका स्वाग धरके आवे और दर्शक उसे न पहिचान सकें तब तो उसका नाटक उसके वेषके अनुसार देखकर हर्ष करते हैं। यदि किसी विवेकीने अपनी विवेकदृष्टिसे उसे पहिचान लिया तो वह लज्जित होकर रगमचसे भाग जाता है। 'पहिचानमे आ गया हूँ' ऐसा बोध होनेपर वह पात्र फिर राजाकी भूमिका नही निभा पाता। इसी प्रकार जीव और अजीव दोनो एकाकार होकर ससारी जीवोंके ज्ञानपटलपर आते हैं और संसारका रागरग रचते हैं। यदि कोई विवेकी उनका भेद समझ ले तो वह रागरग फिर नही जमता।

जीव और अजीवके भेदको खोल देनेवाला ज्ञान, शान्तरसमे निमग्न होकर शान्त नृत्य प्रारम्भ करता है। शान्त रसका अभिनय करनेवाला पात्र जैसे 'धीर' हाता है, उदात्त होता है तथा चचल नही होता, गम्भीर होता है, वैसे ज्ञान भी उक्त प्रकारसे मनको आनन्दित करता हुआ शोभायमान हो रहा है।

साराश यह है कि जीव अनादि बन्धनबद्ध था। मोहके दूर होनेपर उसे जब स्वानुभूति हुई तब मोहके आवेगमे जो नाचता था, वह नाचना बन्द हुआ। उसको विवेक दृष्टिने शरीरादि पर द्रव्यो तथा रागादि भावकर्मोंके स्वरूपसे, आत्माके स्वरूपको भिन्न देखकर, जो भूल थी, मद था, वह दूर कर दिया। उसका वह ज्ञान शान्त रसमे निमग्न हो, शान्त रस रूप नृत्य करने लगा। यह ज्ञानकी महिमा है जो उसने सम्पूर्ण स्थिति हो बदल दी।

जिन्हे विवेक दृष्टि प्राप्त नही है, जीवके यथार्थ स्वरूपको नही जानते, वे रागादि क्रोधादि परिणाम और ज्ञान परिणाममे भेद न कर, रागादि परिणामस्वरूप ही जीवको मान बैठे हैं। कर्मोदयकी तीव्र, मन्द, मध्यमस्वरूप स्थितिमे आत्मविकारोको ही अपना रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे आगके अगारोमे लालिमा भी आगका स्वरूप है, और कालापना भी आगका स्वरूप है। इसी प्रकार ज्ञानादि तथा रागादि दोनो जीवके ही स्वरूप हैं। कोई मानते हैं कि देहसे भिन्न कोई आत्मा नही है। जैसे चार पाये और दो सीरा, दो पाटी, ऐसे आठ काठके सयोगसे खाट बनती है, इसी प्रकार शरीर-रागादि ज्ञानादि भाव सबका सयोग ही, आत्मा है, भिन्न कुछ नही है।

उन भेदज्ञान विहीन मनुष्योको यह विवेक नही है कि **रागादि क्रोधादिभाव पौद्गलिक हैं।** कर्मके **उदयादिसे सभाव्य ये तीव्र-मदादि** परिणाम **कर्मोदय निमित्त जन्य परिणाम हैं। विशुद्ध आत्म-परिणाम नहीं है।** देहकी अवस्थाएँ, बाल-यौवन-वृद्धादि पौद्गलिक हैं, वे जीवरूप नही हैं—**वर्तमान सुख-दुखादि अवस्थाएँ पौद्गलिक है, आत्मस्वभाव नही है।** आठ काठके सयोगकी तरह ये शरीरादिकी कर्मजन्य अवस्थाएँ आत्मा नही है, किन्तु जैसे खाटपर सोनेवाला खाटसे भिन्न है, इसी प्रकार शरीरादि सयोग प्राप्त जीव शरीरसे भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। आत्माके सम्बन्धमे जिनकी विविध भ्रान्तियाँ हैं उन्हे आचार्य सम्बोधित करते है। वे कहते हैं कि भाई! अपने विवेकसे जीव और पुद्गलको भिन्न-भिन्न लक्षणोसे पहिचान, और पुद्गल कर्म, नोकर्म-भावकर्मसे भिन्न अपने चैतन्य पिण्ड आत्माका अनुभव तो कर, तुझे उसकी प्राप्ति अवश्य होगी।

इसी बातको निम्न कलशमे दरशाते है—

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥३४॥

अन्वयार्थ—अरे भव्य प्राणी (**अपरेण अकार्यकोलाहलेन विरम**) विविध प्रकारके अप्रयोजन भूत कोलाहलका छोड़ दे। (**किम्**) इस कोलाहलसे, विवादसे, तुझे क्या लाभ होना है किन्तु (**स्वयमपि निभृत सन्**) स्वय निश्चल हो, एकान्तस्थलमे मौन पूर्वक (**षण्मासम् एकम् पश्य**) छह माह तक उस सर्व द्रव्योस भिन्न, एक मात्र स्वसत्तामे निमग्न, आत्माको देखनेका पूर्ण अभ्यास कर। तुझे स्वय प्रतीत होगा कि (**पुद्गलाद् भिन्नधाम्न. पु स.**) पुद्गलसे भिन्न है स्वयका चैतन्य तेज जिसका ऐसे पुरुषकी, ऐसी स्वात्माकी, (**हृदयसरसि**) तेरे हृदय सरोवरमे (**ननु किम् उपलब्धि. किं च अनुपलब्धिर्भाति**) प्राप्ति होती है या नही होती ॥३४॥

भावार्थ—जो जिस उद्देश्यसे प्रयत्न करता है उसमे उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है। ऐसा नियम है। तदनुसार आत्म स्वरूपकी प्राप्तिके लिए भी आचार्य प्रेरणा देते हैं कि हे भव्य जीव! तू छह माहके लिये तो हमारा कहना मान। सारा जीवन तो विषय सेवन और कषायोकी पूर्तिमे लगा देता है। अनादि कालस यह अनन्त ससार इसो प्रकार ही व्यतीत किया है, अब थोडे समयके लिए हमारी बात मान ले। देख, एक बार प्रयत्न कर। एकान्त स्थानमे बैठ जा—आवागमन

बद कर। इससे शारीरिक क्रियाओका निरोध होगा, चचलताका निरोध होगा। मौनावलंबन कर, क्योकि वचन प्रवृत्तियाँ भी चचलता और नानाविकल्पोंके उत्पादनमे सहायक हैं। जब तू इस प्रकारसे एकान्त मौन साधना करेगा, तो शरीर व उसकी क्रियाओसे भिन्न, वचनादिसे भिन्न, पचेन्द्रियोके विषयोसे भिन्न रागादि क्रोधादि विकारोसे भिन्न, वर्णादिसे भिन्न, अमूर्त्त **चैतन्य मूर्ति आत्माकी तुझे अवश्य उपलब्धि होगी**। छह मासका समय तो संस्कारमे पड़े हुए विकारोको दूर करनेके अभ्यासमे लगेगा। यदि उन्हे दूर कर सका तो स्वात्मोपलब्धि तो अन्तर्मुहूर्त मात्रमे होगी।

जैसे यदि कोई बडा मकान ध्वस्त हो जावे और उसमे कोई रत्न दब जावे, तब उस रत्नकी प्राप्तिके लिए एकाग्र होकर यदि कोई प्रयत्न करे, तो उसे दस दिन मकानके मलमाको खोदकर फेंकनेमे लगही जायगा। तब उसे रत्नको प्राप्ति होगी। सो रत्न प्राप्ति तो क्षणभरमे होगी, तथापि उस क्षणको पानेके लिए दस पाँच दिनका समय मलमा हटानेमे लग गया। यदि मलमा न हटता तो मणिका दर्शन सभाव्य न था।

इसी प्रकार स्वात्मोपलब्धि तो एक अन्तर्मुहूर्तमे ही हो जायगी। पर वह अन्तर्मुहूर्त तब प्राप्त होगा जब हृदयमे अनादिकालीन विकारोके सस्कार जो बैठे है, वे दूर हो। उनका हटानेमें यदि छह माह भी लग गए तो भी कुछ समय नही लगा। आचार्य परीक्षार्थ प्रयत्न करनेको भव्य-जीवोको उक्त प्रेरणा देते है। उन्हे विश्वास है कि यदि यह जीव छहमाह भी प्रयत्न कर ले, तो उसे स्वोपलब्धि अवश्य होगी। मिथ्यात्वकी अनुगामिनी अनतानुबधी कषायका सस्कारकाल छह माससे ऊपर जाता है। अत छह मासके प्रयत्न सस्कार टूटेंगे इससे छहमास लिखा गया है।

आचार्य कहते है कि तेरे साथ बन्धको प्राप्त मोहादिकर्म, तेरे ससार परिभ्रमणके कारण होनेसे दुःखरूप है, इनके उदयमे प्राप्त विकारोमे जो स्वभावका भ्रम है, उसे दूर करना है। यद्यपि ये विकार तेरी आत्माकी सत्तामे ही प्रतिभासमान तुझे हो रहे हैं, और व्यवहारकी भाषामे आत्मामे हैं—आत्माके है—ऐसा कहा भी जाता हैं, पर परमार्थसे देखें तो ये आत्मामे पाये जानेपर भी आत्माके स्वभाव नही है, किन्तु कर्मोदय निमित्त जन्य आत्माके विकारभाव है।

जैसे गेहूँके पौधेको 'गेहूँ' शब्दसे कहा जाता है, पर कहनेवाला जानता है कि यह सबका सब गेहूँ नही है। इसमे वृक्षका डठल है, पत्र है, भुस हैं, ये सब गेहूँसे भिन्न हैं। इनको छोड़कर जो शेष बचा है वह गेहूँ है, वही खाने योग्य है। समूचा पौधा खाने योग्य नही है। विवेकी ऐसा मानकर गेहूँका उपयोग करता है, और साथके सम्पूर्ण नि.सार भागको फेंक देता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष लक्षणभेदसे आत्मस्वभावको पहिचानकर, पुद्गलस्वरूप शरीरादि पदार्थको निःसार समझकर, उसे छोड देता है, तथा अपने ज्ञायकस्वभावको पकड़ लेता है। आचार्य यही प्रेरणा देते है—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—(**चित्शक्तिरिक्तम्**) चैतन्य स्वरूप शक्तिसे भिन्न (**सकलमपि**) सम्पूर्ण पदार्थोंको (**अह्नाय विहाय**) अशेषतः शीघ्र छोड़कर तथा (**चित्शक्तिमात्रम् स्व**) चैतन्य शक्तिमात्र अपने

स्वयको (**स्फुटतरम् अवगाह्य**) अच्छी तरह ग्रहण करके (**विश्वस्य उपरि चारु चरन्तम्**) सम्पूर्ण विश्वके ऊपर भले प्रकार विचरते हुए (**इमं परम् आत्मानम्**) इस परमात्म स्वरूप आत्माको (**अनन्तम्**) जो अनाद्यनन्त रूप हैं उसे (**आत्मनि**) अपने भीतर (**साक्षात्कलयतु**) भले प्रकारसे प्रत्यक्ष अनुभव करो ॥३५॥

भावार्थ--आचार्य देव कहते हैं, कि हे भव्य जीवो ! आत्म दर्शन करना चाहते हो तो उसका यह मार्ग है कि तुम्हारे चैतन्य स्वरूपके सिवाय, तुम्हे विश्वमे जो कुछ अपने ज्ञानमे दिखाई दे रहा है उसको सर्वथा त्याग करो। यहाँ त्याग का अर्थ है कि अपनी दृष्टि वहाँसे हटा लो, क्योकि वह सब आत्मा नही है। चित्शक्ति मात्र अर्थात् सिर्फ चैतन्य शक्ति रूप जो कुछ है 'वह तुम हो' इसे भलीभाँति समझो।

ऐसा सचेतन करने पर तुम देखोगे कि तुम्हारा पवित्र आत्मा, इस सम्पूर्ण विश्वसे भिन्न है। वह विश्व रूप नही है, यद्यपि विश्वके पदार्थोमे उसकी भी गणना है, पर वह सारे विश्वसे अपनी सत्ता जुदी रखता है। वह अनादि कालसे इसी प्रकार है और सदा काल ऐसा ही रहेगा। विश्वके किन्ही पदार्थोसे उसका मिश्रण नही हुआ है, न वह उससे एकाकार हुआ है, न होगा। वह तो सदा चैतन्य मात्र रहा है, और रहेगा। वह सदा कालसे अपने ही अनन्त गुणोमे, अपनी ही क्रमभावी अनन्त पर्यायोमे परिणत होता हुआ बरत रहा है। कभी पर गुणपर्याय रूप नही परिणमा, और न अपने गुण पर्यायोका उसने परित्याग किया। ऐसा चैतन्य स्वरूप मेरा है, यह तुम्हे प्रत्यक्ष, भले प्रकार दिखाई देगा ॥३५॥

आत्मा चैतन्यमात्र है यह निम्न पद्य मे प्रदर्शित करते हैं—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्‌गलिका अमी ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**चित्शक्तिव्याप्तसर्वस्वसार**) चैतन्य रूप जो शक्ति उसमे ही व्याप्त है सम्पूर्ण निज सार जिसका (**इयान् अयम् जीव**) ऐसा इतना मात्र तो "जीव" है, तथा (**अत· अतिरिक्ता·**) इस चैतन्य स्वरूप जीवसे भिन्न (**सर्वेऽपि भावा**) सम्पूर्ण भाव (**अमी पौद्‌गलिका·**) वे पुद्गल स्वरूप हैं ॥३६॥

भावार्थ—परसे भिन्न निजके स्वरूपका आचार्य दर्शन कराते हैं। वे कहते है कि हे भ्रात ! जितनी-जितनी चैतन्य शक्ति तुझे अपने भीतर दिखाई दे रही है—उतनी-उतनी तो तेरा सर्वस्व है। वह अन्य किसीका अश नही है। वह तू स्वय है और उस चैतन्य स्वरूपसे भिन्न जो क्रोधादि रागादि भाव दिखाई देते है वे तुम नही हो। तथा देहाश्रित वर्णादि रूप जो दिखाई दे रहा है वह भी तेरे नही है। वह सब भाव पुद्गलमय है।

यद्यपि अपने अज्ञानसे यह आत्मा सारे विश्वको अपनाता है। यह मेरा शरीर है, यह मेरा परिवार है, यह मेरा घर है, यह मेरा खेत है, मेरी दुकान है, मेरा बगीचा है, मेरा कारखाना है, मेरा मुहल्ला है, मेरा गाँव है, मेरा प्रान्त है, मेरा देश है, इस प्रकार सारे ससारसे अपना नाता जोडता है। जिनसे अपने विषय सधते हैं—उनसे "मेरा है" ऐसा सम्बन्ध बनाता है। जिनसे अपना राग पुष्ट नही होता—उनको भिन्न प्रकारसे अपनाता है। कहता है कि ये मेरे शत्रु हैं, मुझसे विरुद्ध हैं, मुझे हानि पहुँचानेवाले हैं, मेरे क्रोध के विषय है, आदिरूपसे उनसे द्वेष रूप सम्बन्ध बनाता है। सम्बन्ध किसीके साथ नही छोडा। सबसे सम्बन्ध बनाता है, भले

ही उन्हें इष्ट पदार्थोंकी श्रेणीमे स्वीकार किया हो, अथवा अनिष्ट पदार्थोंकी श्रेणीमे रखा हो, पर उनसे अपना सम्बन्ध, शत्रु रूपमे या मित्र रूपमे, अवश्य स्थापित कर रखा है। ऐसी उसकी समझ मालूम होती है कि मानो सारे विश्वके साथ उसका ही सम्बन्ध है, सब उसके लिए ही हैं। आचार्य उसके अज्ञान भावको दूर करनेके लिए उसे आत्मदर्शन कराते हैं। वे कहते है कि भाई ! जितना तेरे भीतर चैतन्य-चैतन्य मात्र वस्तु है वह तो तेरा रूप है। उसके अलावा जो है वह तेरा रूप नही है, सब पुद्गल स्वरूप है।

यद्यपि ससारमे छह द्रव्य हैं। सब पुद्गल नही हैं। तुमसे भिन्न अन्य अनेक अनन्तानन्त-जीव है, वे भी चैतन्य शक्तिसे परिपूर्ण हैं। वे भी तुम्हारी तरह सारे विश्वसे भिन्न **अपनी निज चैतन्य सत्तासे अभिन्न हैं।** वे भी जीव हैं, पर वे तुमसे भिन्न—तुम जैसे ही जीव है। उनसे भी तुम्हारी सत्ता पृथक् है। फिर अन्य धर्म-अधर्म-आकाश-काल पुद्गल आदि द्रव्य तो स्वरूपतः तुम्हारी सत्तासे भी भिन्न है। उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना तो अज्ञानता-पूर्ण है ही।

काला-गोरा, सुन्दर-असुन्दर, पुष्ट-अपुष्ट दिखाई देनेवाला पौद्गलिक शरीर है, वह तेरा स्वरूप नही है। साथ ही जो समय-समयपर तेरेमे, परके अवलम्बनसे राग-द्वेष होते हैं, क्रोध-मान-मायादिरूप परिणाम होते हैं, वे भी तेरा स्वरूप नही हैं। भले ही ससारी जीवमे उनकी उत्पत्ति हो, तथापि शुद्धजीवमे उनका अस्तित्व नही है, वे **स्वभावसत्तासे भिन्न सत्तावाले हैं।**

प्रत्येक द्रव्य अपने गुणपर्यायोकी सत्तासे अभिन्न है, तथापि लक्षण भेदसे प्रत्येक गुण और पर्यायकी अपनी-अपनी स्वरूप सत्ता कही जाती है। 'द्रव्य सत्, गुण सत् कर्म सत्' ऐसा आगम वाक्य है, इसलिए आत्माके गुणोकी स्वभावपर्यायें तथा विभावपर्यायें दोनोकी स्वरूपसत्ता जुदी जुदी हैं इससे सिद्ध हुआ कि क्रोधादि रागादि भावोसे ज्ञानभावकी सत्ता भिन्न है। फलत मेरा आत्मा चैतन्य शक्तिकी सत्तावाला है। जैसे अन्य चेतन तथा अचेतन द्रव्योकी सत्ता मुझसे भिन्न है, ऐसे क्रोधादि भी भिन्न स्वरूप सत्तावाले हैं।

इसी तथ्यको नीचेके पद्यमे आचार्य कहते हैं—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतो पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**वर्णाद्याः**) रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि (**वा**) अथवा (**रागमोहादयो वा**) राग-द्वेष क्रोध-मोह आदि परिणाम हैं। वे (**सर्व एव**) सभी (**अस्य पुंस**) इस आत्मतत्त्वसे (**भिन्ना भावा**) भिन्न पदार्थ हैं। (**तेनैव**) इसी कारणसे (**तत्त्वतः**) तत्त्वकी दृष्टिसे (**अन्त पश्यत**) अन्तरग अनुभव करनेवाले पुरुषको (**अमी**) ये रागादि वर्णादिभाव (**नो दृष्टाः स्युः**) नही दिखाई देते, किन्तु (**परं एक दृष्टं स्यात्**) केवल एक आत्मा ही दिखाई देता है ॥३७॥

भावार्थ—जबकि वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शादि शरीरादि पुद्गलद्रव्यके गुण हैं, तो वे पुद्गलद्रव्यमे ही पाए जायेंगे[1], जीवद्रव्यमे दिखाई ही न देंगे। इसी प्रकार राग द्वेष-काम-क्रोध-मोहादिभाव कर्मके उदयके निमित्त पाकर जीवमे होनेवाले औपाधिक विकारीभाव है, कर्मोपाधिके बिना शुद्धजीवके भीतर नही पाए जाते। इससे यह बात स्वय सिद्ध है कि ये इस शुद्धात्मासे भिन्न ही पदार्थ हैं, अत जो आत्मदर्शन करता है उसे एकमात्र आत्मा ही दिखाई देती हे अन्य कुछ दिखाई नही देता।

आत्मदर्शीकी दृष्टि केवल अपने स्वरूपपर ही टिकती हे, उसे अन्य सर्व अपनेसे भिन्न प्रतीयमान होते हैं। इनकी भिन्नताको प्रतीति होना ही "अद्वैत-आत्मा" का बोध है। वेदान्तमे कथित अद्वैतमे और इस जिनोक्त अद्वैतमे भिन्नता हे। वेदान्त कथित अद्वैतमे ब्रह्मके सिवाय अन्यसर्वका सर्वथा अभाव है, उनका अस्तित्व ही नही है। उनके अस्तित्वकी भासना मिथ्या भासना है, ऐसी वेदान्ती मान्यता है। किन्तु जिनोक्त **अद्वैत वस्तु** स्वभावरूप है। एक वस्तुमे परवस्तुका प्रवेश नही हो सकता, अत वस्तु स्वय अपनेमे अद्वैत हे, द्वैतरूप नही। तथैव आत्मतत्त्व भी परसे भिन्न है। परोपाधि जनित विकारोसे भिन्न अपने शुद्ध एकस्वरूपमे निहित हे। अत स्वय 'अद्वैत' है। यद्यपि अपनेमे परका अभाव है, तथापि परके अस्तित्वका यहाँ निषेध नही। पर भी अपने-अपने स्वरूपमे अद्वैतरूप से विद्यमान है।

अनादि कालसे पुद्गल कर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे, तथा विभिन्न गतियोमे विभिन्न प्रकारके शरीरसे सबद्ध होनेसे, इस जीवको अपना स्वरूप उनके साथ मिला हुआ भासता है। उनसे भिन्न होते हुए भी अपने शुद्ध स्वरूपकी भासना उसे नही है। जब स्वरूपके अनुरूप भाव नही भासता तो उसे ही 'भ्रान्ति' कहते हैं।

भ्रान्ति कहो—मिथ्या ज्ञान कहो—एक ही बात है। इस मिथ्या भ्रान्तिसे परमे अपनेपनका जो बोध है वह मोह परिणाम है। ये सब भ्रान्तियाँ ही मिथ्या ज्ञान है। जीवके साथ उन भ्रान्तियोका सम्बन्ध तो है पर वे भ्रान्तियाँ जीवके यथार्थज्ञानके अभावकी सूचियाँ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने पर ये भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती है और जीवको अपना निज रूप, जो एक मात्र ज्ञायक स्वरूप है, उसका बोध हो जाता है। यही "अद्वैत" सम्यक् अद्वैत है। वस्तुत परके अस्तित्वका निषेध नही है, किन्तु स्व अस्तित्वमे परके अस्तित्वका निषेध ह। इस तरह वेदान्तके अद्वैतसे जिनोक्त अद्वैत भिन्न है।

नोकर्म शरीर तो मरणोत्तर कालमे स्वयं भिन्न भासित हो जाता है, पर कार्माण शरीर जो अष्ट कर्मका पिण्ड है, वह आत्माके साथ जन्मान्तर तक जाता हे। तथापि उसके भेद-प्रभेद रूप वर्गवर्गणा, स्पर्द्धक, तथा कर्मवर्गणा, स्थिति अनुभागादिस्थान, ये सब पौद्गलिक है, जीव द्रव्यसे भिन्न हैं।

कर्मके उदय-निमित्त-जन्य रागादि भाव, तथा उपशम क्षयोपशम जन्य भाव भी, आत्माके अनाद्यनन्त पारिणामिक भावसे भिन्न हैं। कर्म सापेक्षताकी अपेक्षा वे भी औपाधिक भाव हैं। जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थानादि सर्व भाव जीवमे होते हुए भी, परोपाधि निमित्तजन्य होनेसे, स्वभाव भावमे अन्तर्गर्भित नही किए जाते है। फलत जीव एक मात्र अपने अनन्तगुणोका पिण्ड, अखण्ड-ज्ञायक स्वभावी, अद्वैत-चैतन्य मात्र है। उसका अनुभव करना ही उचित है।

१, अरसमरूपमगंधं अव्वत्त चेदणा गुणमसद्दं। —समयसार गाथा-४९।

(५५) **प्रश्न**—ग्रन्थान्तरोमे जो जीवके एकेन्द्रियादि रूप, अथवा नर-नारकादि रूप, या मिथ्यादृष्टि सासादनादिरूप भेद, जीवसमास-मार्गणास्थान-गुणस्थान रूपमे किये है, क्या उनका ऐसा लिखना अयथार्थ है ?

समाधान—अयथार्थ नही है, किन्तु वह कथन व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे ये सब भाव उपाधिनिमित्तजन्य होनेसे, शुद्ध जीव स्वरूप नही हैं। यही कारण है कि शुद्धावस्थाप्राप्त सिद्ध भगवान् न तो जीवसमासमे गिनाये गये, न मार्गणास्थानमे उनका स्थान है, और न गुणस्थानोमे उनकी कही गणना की गई है।[1]

फलतः ये सब स्थान ससारी जीवके है, अर्थात् अशुद्ध जीवके हैं। अशुद्ध जीवोको 'जीव' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। निश्चयसे जीव इन उपाधियोसे भिन्न है। उपाधियुक्त जीव, शुद्ध जीव नही, अशुद्ध जीव है।

(५६) **प्रश्न**—प्रकारान्तरसे आपने करणानुयोग चरणानुयोगमे वर्णित जीवोको यथार्थ जीव नही माना, उन्हे व्यवहारमे जीव कहा है। साथ ही अध्यात्मग्रन्थ व्यवहार नयको तथा उसके विषयभूत पदार्थको अयथार्थ कहता है। तब तो ये सब ग्रन्थ भी अयथार्थताके प्ररूपक हुए, अतः प्रमाण कोटिमे नही आयेंगे ?

समाधान—ऐसा नही है। निश्चयनय, जैसा जीव पदार्थका स्वाश्रित स्वरूप है, वैसा ही जीवका स्वरूप बताता है। सो जैसेको तैसा कहना तो यथार्थ है। व्यवहारनय-जैसा स्वरूप है वैसा न कहकर, वर्तमानमे जिन-जिन उपाधियोके सयोग पाये जाते हैं उन उपाधियोके आधार पर जीवके स्वरूपको प्रतिपादन करता है, अत वह जैसेको तैसा न बतानेसे अयथार्थ है।

तथापि उस व्यवहारनयकी गणना-मिथ्याज्ञानमे नही है। मिथ्याज्ञान तो विपरीत, सशय या अज्ञान रूप प्रतिपादन करता है। व्यवहारनय सम्यग्ज्ञानका भेद है। वह पदार्थका जिस अपेक्षा वैसा वर्णन करता है, उस अपेक्षा अर्थात् उस दृष्टिकोणको **साथ रखकर उसका तद्रूप कथचित् वर्णन करता है, वह एकान्त रूप नहीं है।**

जैसे एक अध्यापक विद्याभ्यास न करनेवाले बालकको, 'गधे हो' ऐसा कह देता है। पर यह कथन सामान्य मूर्खताकी अपेक्षा सापेक्ष कथन है। उसे सर्वथा 'गधा' ही नही समझता। अतः वह मिथ्याभाषी नही है। परमार्थको जानकर भी अपेक्षा विशेषसे पदार्थका अतद्रूप वर्णन व्यवहारनय है। उसका प्रयोजन यथार्थताका ज्ञान करानेका है, अत वह सम्यग्ज्ञान है और प्रमाण कोटिमे ही ग्रहण किया जाता है।

यदि यही कथन परमार्थको दृष्टि पथमे न रखकर इस **उपचरित कथनको** ही परमार्थ मान ले, तो वह मिथ्याज्ञान होता है, या मिथ्या कथन होता है। मिथ्याज्ञान व व्यवहारनयमे इतना बडा अन्तर है। व्यवहारनय वालेकी दृष्टि गौणरूपसे परमार्थ पर है, उसे ही वह यथार्थ जानता है। पर वर्तमानमे प्रयोजनवश तद्भिन्न व्यवहार करता है। वह उसे परमार्थ कभी नही मानेगा, किन्तु परमार्थको ही परमार्थ मानेगा। जब कि मिथ्याज्ञानी उस व्यवहारको ही परमार्थ मानता है। अत. व्यवहारनय मिथ्याज्ञानसे सर्वथा भिन्न है।

१. समयसार गाथा ५० से ५५ तक देखिये।

यह सिद्ध हो गया कि ग्रन्थान्तरोमे वर्णित जीवका वर्णन अयथार्थ नही है क्योकि वे अशुद्ध परिणतियाँ, भले ही पर निमित्त सापेक्ष हो, पर है जीवमे। पर्याय सापेक्ष द्रव्यका वर्णन भी व्यवहार-नयमे आता है।

(५७) **प्रश्न**—द्रव्यार्थिक दृष्टिमे पदार्थको अनाद्यनन्त कथन करना भी तो अयथार्थ है, क्योकि पदार्थ पर्याय रहित केवल द्रव्यरूप ही तो नही है, अनेकान्त दृष्टिमे तो दोनो रूप पदार्थ कहना चाहिए न कि केवल द्रव्यरूप ?

समाधान—दोनो रूप पदार्थ है—इसमे सदेह नही। न तो वस्तु द्रव्य मात्र है, न केवल पर्याय मात्र—दोनो **दृष्टियाँ परस्पर निरपेक्ष हो तो मिथ्यादृष्टियाँ ही हैं।** ज्ञातका उपयोग एक बार एक पर टिकता है और वचन एक बारमे एक रूप ही कथन कर सकता है। पदार्थ एक रूप है नही। अत यथार्थ जानने या कथन करनेके लिए एक अगको गौण रूपमे स्वीकार करके और दूसरे ही अगको प्रमुख करके, जाना या कथन किया जाता है। अत वे दोनो ही नय कोटिमे गिने जाते हैं।

(५८) **प्रश्न**—जब दोनो नयकोटिमे है तब दोनोको यथार्थ कहना चाहिए। एकको यथार्थ कहना तथा दूसरेको अयथार्थ कहना तो उचित नही है। एकान्तवादी ही अपने कथनको यथार्थ और दूसरे कथनको अयथार्थ कहता है। अत निश्चयनय यदि व्यवहारनयको अयथार्थ प्रतिपादन करता है, तो वह एकान्तवाद है। जब कि व्यवहारनय परमार्थको दृष्टिपथमे रखकर उसे अयथार्थ नही कहता। इससे सिद्ध है कि व्यवहारनय ही यथार्थनय है, अनेकान्तस्वरूप है। निश्चयनय, अपरनयका निषेधक होनेसे मिथ्यारूप है।

समाधान—ऐसा नही है। निश्चयनय, व्यवहारनयका सर्वथा निषेधक नही। किन्तु वह अखण्ड पदार्थके भेदोको, नही स्वीकारता तथा सोपाधिकभावोको, वे सोपाधिक भाव है—निरुपाधि नही, ऐसा कहता है। पर्यायभेद पदार्थमे नही है ऐसा निश्चयनय नही कहता, किन्तु वह कहता है कि पर्यायें नाशवान् हैं—उत्पन्न होकर विलय हो जाती है, अत वे पदार्थकी त्रैकालिकस्वरूप नही हैं, तात्कालिकरूप हैं और मेरा विषय त्रैकालिकस्वरूप वर्णन करना है। व्यवहारनयका विषय तात्कालिकस्वरूपका कथन करना है। व्यवहारनय पदार्थको **नग्नरूपमे** नही देखता किन्तु उसकी सजावट, जो परके सयोगसे है, उसे भी पदार्थके रूपमे कथन करता है। पर वह पदार्थकी नग्नता-को भी जानता है, **दृष्टिमे उसे गौण रखता है।** जैसे कोई कन्या उत्तम वस्त्र आभूषणमे सुसज्जित हो तो व्यवहार दृष्टा सुन्दर कन्या कहते है। पर सुन्दरता तो वस्त्र आभूषण की है उसे कन्याको सुन्दरता कहना व्यवहार है। उसका रूप तो जो शरीरका है वह है। साज सजावटकी सुन्दरताका कन्याके साथ मात्र सयोग है अत वह उपचरित है यथार्थ नही।

निश्चयनय भी सजावटको सजावट जानता है, उसे 'वस्तु स्वरूप है' ऐसा नही मानता। वस्तुको नग्नरूपसे ही देखता है। इस प्रकार दोनो नय यथार्थताके प्राप्त करानेमे सहायक होनेसे यथार्थ हैं। तथापि व्यवहारमे सजावटको भी पदार्थके रूपमे मिलाकर कथन करना—निरुपाधि वस्तुको ग्रहण करनेवाले निश्चयकी दृष्टिमे यथार्थ नही है। नयोका स्वरूप ही यह है कि प्रत्येक नय अपने विषयकी मुख्यता रखता है अन्यके विषयको गौणरूपमे स्वीकार करता है। दूसरा नय भी अपने विषयको मुख्य करता है, अन्यको गौणरूपमे स्वीकार करता है। इस **प्रकार दोनो वस्तुके स्वरूपके सापेक्ष संस्पर्शी हैं।**

(५९) **प्रश्न**—ऐसा है तो अध्यात्मग्रन्थोंमे निश्चयको उपादेय और व्यवहारको हेय क्यो कहा है। दोनोको उपादेय मानना चाहिए क्योकि दोनो सम्यक् हैं।

समाधान—व्यवहारको हेय इसलिए कहा है जिससे वस्तुकी यथार्थता समझमे आवे। व्यवहारके कथनमे जो मिलावट है, और कथनमे जो मुख्यताको प्राप्त हो गई है, वह वस्तुस्वरूप नही है। उसे वस्तुस्वरूपसे भिन्नकर निहगवस्तुस्वरूप ध्यानमे आ सके। समस्त ससार व्यवहार विमूढ हो रहा है अर्थात् व्यवहारके सापेक्ष या सभेदरूपको ही पदार्थका पूरा यथार्थरूप मान बैठा है। पदार्थके परमार्थरूपको जाननेकी चेष्टा ही श्रेयस्कर है। व्यवहारमे ही अटक जाना श्रेयस्कर नही है।

एक दूसरे उदाहरणके तौरपर ऐसा समझे। ज्ञानचन्द नामका एक व्यक्ति है। वह श्वेतवस्त्र पहिनता है, लाल पगडी लगाता है। व्यवहारीजन उसको उसके उस रूपसहित एकाकारके रूपमे उसे ज्ञानचद व्यवहार करते है। यदि ज्ञानचन्दके उस रूपको परमार्थसे ज्ञानचन्द समझ लिया जाय, और उस पोशाकसे भिन्न ज्ञानचन्दका परमार्थ बोध न हो, तो ज्ञानचन्दको भिन्न पोशाकोमे नही पहिचाना जा सकता। इसलिए ज्ञानीपुरुष पोशाकसे भिन्न जब ज्ञानचन्दको पहिचान लेता है, तब परमार्थमे ज्ञानचन्दको पहिचानता है। तब पोशाकोका परिवर्तन उसे धोखामे नही डालता। इसी प्रकार जीवके यथार्थ स्वाश्रित नग्नस्वरूपको निश्चयनयसे पहिचाननेका प्रयत्न कर लेनेपर उसके कल्याणका मार्ग खुलता है। इससे निश्चयनय कल्याणकारी है।

कर्मोपाधिजन्य एकेन्द्रियादि नर-नारकादिरूप जीव हैं, यह व्यवहारसे है, परमार्थसे नही।[1] यदि इसे सर्वथा परमार्थ मान ले तो ससारीदशा त्याज्य न होनेसे मोक्षकी चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। जीवको वर्तमान ससारी अवस्थासे ऊपर उठाना है, अत उसके वर्तमान पर्यायगत रूपको, ये तेरा निरुपाधि स्वरूप नही है—उपाधिनिमित्तजन्य है, उपाधि दूर करनेसे ही तेरे शुद्ध दशा प्रकट होगी, ऐसा ज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। ससारी दशाएँ जीवकी है—यह सत्य है—मिथ्या नही है, पर यदि उसे पूर्ण सत्य मान लिया जाय तो, उससे उठा कैसे जा सकता है? निश्चयनय परमार्थ जीवकी यथार्थ शुद्धताको प्राप्त करनेका मार्ग देता है अत. उसका ग्रहण मोक्षमागमे उपादेय है, और जिस अवस्थाका परित्याग करना है, वह अवस्था हेय है, इस हेतुसे तत्प्रतिपादक नय भी हेय है।

एकेन्द्रियादि नर-नारकादि अवस्थाएँ कर्मसापेक्ष है अत शुद्ध नयकी दृष्टिसे वे सब अवस्थाएँ जीवकी अर्थात् शुद्ध जीवकी अवस्थाएँ नही हैं। शुद्ध जीवसे भिन्न है। जिसे हम शुद्ध जीव कहते हैं, निश्चयनयकी दृष्टिमे वही 'जीव' है और तद् भिन्न अशुद्ध जीव उसकी दृष्टिमे जीव ही नही है। परनिमित्तापाधि जनित सम्पूर्ण विकार और विकृत अवस्थाएँ, और तदवस्थारूप पदार्थ, उसकी दृष्टिमे पर पदार्थ है, किन्तु एकमेव निजस्वरूप, जो पर रूपसे सर्वथा भिन्न है, वही यथार्थ

१. समयसार गाथा ५९-६० देखिये।

एकेन्द्रियादि अवस्थाएँ पौद्गलिक रूप है क्योंकि पुद्गल कर्म-प्रकृतिकी रचनाएँ है। इसी अभिप्रायको ग्रथकार नीचे लिखे छन्दमे प्रकट करते है—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**यदत्र किंचित्**) यहाँ जो कार्य (**येन निर्वृत्यते**) जिससे बने हुए होते है (**तत् तदेव स्यात्**) वे उससे ही तन्मय स्वरूप होते है। (**कथचन अन्यत् न**) अन्यरूप किसी प्रकार नही होते। जैसे (**रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोश**) स्वर्णके द्वारा बनायी गयी म्यान (**रुक्म पश्यति**) स्वर्ण रूप दिखाई देती है पर (**असिम्**) तलवार (**कथचन अपि**) किसी भी प्रकार स्वर्ण रूप (**न**) नही है ॥३८॥

भावार्थ—लोक प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा यह कहा जा रहा है कि लोकमे किसीको तलवारकी म्यान मोनेकी बनी हो, तो 'उसके पास सोनेकी तलवार है' ऐसा कहा जाता है। पर वस्तुत तलवार तो लोह निर्मित है, स्वर्ण निर्मित नही है। केवल उसको रखनेकी खोल, म्यान, स्वर्णमय है, इस अपेक्षा 'तलवार सोनेकी है' ऐसा मात्र व्यवहार है।

इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जाति नामकर्म अथवा नर-नारकादि गति नामकर्मके उदयके निमित्तसे पौद्गलिक एकेन्द्रिय आदि रूप शरीर, या नरपर्यायाकार या नारकपर्यायाकार शरीरकी रचना होती है। पुद्गल परमाणुओं द्वारा रचित इन शरीरोकी ही यथार्थमे एकेन्द्रिय या नर या नारक सज्ञा है **तथापि व्यवहारत. इन शरीरोमे रहनेवाले जीवको भी, यह एकेन्द्रिय जीव है, यह नर है, यह नारक है ऐसा व्यपदेश होता है। निश्चयसे शुद्धात्माके स्वरूपसे भिन्न होनेके कारण जीव समास आदि पौद्गलिक हैं।**

जैसे खोलके स्वर्णसे बनाये जाने पर भी उसमे रहनेवाली तलवार वस्तुत लोहमय है स्वर्णमय नही है, इसी प्रकार उस शरीर रूपी खोलमे रहनेवाला जीव भी पुद्गलमय नही है, केवल शरीर पुद्गलमय है। व्यवहारत उस जीवको, शरीर सयोगके कारण, 'एकेन्द्रिय जीव' ऐसा व्यपदेश करते है। ऐसा व्यपदेश करने मात्रसे वह जीव पौद्गलिक नही होगा किन्तु यह तो वर्णादि रागादि रहित—ज्ञायक स्वरूप-चिदानन्दकी मूर्तिरूप चैतन्य धातुमय पदार्थ है, ऐसा जानना चाहिए। इसी बातको निम्न पद्यमे प्रकट करते है—

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नान्यो
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(**इद वर्णादिसामग्र्य**) यह जो वर्णादि रूप या एकेन्द्रियादि जीवसमासादि रूप सामग्री है वह (**हि**) निश्चयमे (**एकस्य पुद्गलस्य निर्माण**) केवल पुद्गल द्रव्यका कार्य है (**इति**) यह (**विदन्तु**) समझो। (**तत इद पुद्गल एव अस्तु**) इमीलिए वह पुद्गल ही है (**नान्य.**) अन्य नही है। (**यत**) क्योंकि (**आत्मा ततः अन्य**) आत्मा उस पुद्गलके कार्योसे व स्वरूपसे भिन्न (**विज्ञानघन**) ज्ञानघन स्वरूप है ॥३९॥

भावार्थ—ससारी अवस्थामे जीव और पुद्गलका संयोग पाया जाता है। इस सम्बन्धके कारण सामान्यजन दोनोकी यथार्थ भिन्नताका बोध नही कर पाते हैं। लक्षणभेद तथा उपादान कारणके भेदसे आचार्य दोनो द्रव्योमे उनके कार्योका पृथक्-पृथक् निर्देश करके उनकी भिन्नता सूचित करते हैं।

आचार्य कहते है कि—रूपरस गन्धस्पर्शादि पुद्गलके लक्षण हैं अत शरीर निश्चित पुद्गलमय है—यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थान ये सम्पूर्ण स्थान भी कर्मोदय निमित्तसे पुद्गलद्रव्याश्रित बनते है या कर्मके क्षयोपशम आदि निमित्तसे बनते है। निरुपाधि जीवद्रव्य इन सबसे रहित है। यह ठीक है कि जीव इन शरीरादिके आश्रित देखा जाता है पर ऐसा देखना दृष्टिका भ्रम है। लक्षणभेदसे पहिचान कीजिए तो ज्ञानघन आत्मा इन सबसे भिन्न दृष्टिपथमे आयगा। शरीरस्थ होकर भी शरीरसे भिन्न दिखाई देगा। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(**घृतकुम्भ इति अभिधानेऽपि**) 'यह घीका घडा है' ऐसा कथन करनेपर भी (**कुम्भ घृतमय न चेत्**) यदि घडा घी निर्मित नही बनता तो (**वर्णादिमत् जीव.**) जीव वर्णादिमान् है (**इति जल्पनेऽपि**) ऐसा कथन करने मात्रसे (**जीवः न तन्मयः**) जीव वर्णादिसे तन्मय नही होगा ॥४०॥

भावार्थ—लोकमे घृतके रखनेके कारण मिट्टीके घडेको भी "घीका घडा है" ऐसा उसमे व्यवहार करते है, पर यह आपेक्षिक कथन है—परमार्थ ऐसा नहो है। परमार्थसे वह मिट्टीका ही घडा है। इसी प्रकार शरीरस्थ होनेसे जीव काला-गोरा या एकेन्द्रिय नर-नारक कहा जाता है, पर द्रव्यभेदसे देखो तो जीव तो इस पुद्गल प्रकृति से भिन्न—चैतन्यस्वरूप है, वह वर्णादिमय नही हो जाता।

किन्तु जीवका स्वरूप तो—

अनाद्यनन्तमचल स्वसंवेद्यमबाधितम्[1]।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

अन्वयार्थ—(**जीव**) जीव (**अनाद्यनन्तं**) अनादि अनन्त (**अचल**) अपने स्वरूपमे स्थिर (**अबाधितम्**) निर्बाधरूपसे (**स्वसंवेद्यम्**) स्वय सवेदन ज्ञानसे जाननेयोग्य (**स्वय चैतन्यम्**) स्वय ही चेतनास्वरूप (**उच्चैश्चकचकायते**) अत्यन्त प्रकाशमान है ॥४१॥

भावार्थ—वर्णादि मोहादिभाव ये **जो जडरूप है**, पौद्गलिक हैं, जीवके लक्षणसे सर्वथा भेद रखते हैं, उनसे सर्वथा भिन्न स्वरूपवाला यह जीव प्रत्येक ज्ञानीको अनुभवमे आ सकता

१. **स्वसंवेद्यमिद स्फुटम्। ऐसा भी पाठ है।**

है। वह इस प्रकार कि मेरा आत्मा सदासे चैतन्यरूप है, अनन्तकालतक चैतन्यस्वरूप ही रहेगा। अपने स्वरूपके स्थिर रखनेमे उसे कोई बाधा नही दे सकता। वह स्वय भी कभी स्वरूपको त्यागकर अन्यरूप नही बनता। वह स्वसवेदनज्ञानमे बडे उन्नत रूपमे स्वय जगमगा रहा है। फिर उसे कौन न देखेगा ?

अमूर्तत्व जीवका असाधारण लक्षण नही है—

वर्णाद्यै· सहितस्तथा विरहितो द्वेधाऽस्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्त व्यञ्जितजीवतत्त्वमचल चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**यत**) क्योकि (**अजीव अपि द्वेधा अस्ति**) अजीवतत्त्व भी दो प्रकारका है (**वर्णाद्यै सहित**) पहिला रूप रसादिसहित मूर्तीक पुद्गलद्रव्य (**तथा विरहित**) और वर्णादिरहित अमूर्त्तीक जैसे धर्म-अधर्म-आकाशादि द्रव्य। (**तत अमूर्त्तत्वम् उपास्य**) इसलिए अमूर्तपना जीवका लक्षण है, ऐसा मानकर (**जगत्**) लोक (**जीवस्य तत्त्वम्**), जीवका यथार्थ स्वरूप (**न पश्यति**) नही जानता। (**विवेचकै**) विवेकी ज्ञानी पुरुषोका (**इत्यालोच्य**) इस प्रकार विचार करके (**न अव्यापी वा न अतिव्यापी**) अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनो दोषोसे रहित (**व्यक्तम्**) अत्यन्त स्पष्टरूपसे (**व्यञ्जितजीवतत्त्वम्**) जिसने जीवतत्त्वको प्रकट दिखाया है, ऐसा (**अचलम् चैतन्यम् समुचितम्**) कभी नाश न होनेवाला चैतन्य ही जीवका समुचित निर्दोष लक्षण है, सो (**आलम्ब्यताम्**) ही अनुभवमे ग्रहण करने योग्य है ॥४२॥

भावार्थ—विवेकी पुरुषोको आत्मानुभव प्राप्त करनेके लिए आत्माके अनाद्यनन्त **असाधारण गुण चैतन्यका** अवलम्बन करना ही उचित है। उसीके आधारपर **आत्माका स्वसवेदन होता** है। ज्ञानभाव आत्माम सदासे है और सभी अवस्थाओमे रहता है। ऐसी कोई अवस्था नही, जब आत्मा चैतन्यभावसे रहित हो। अर्थात् ऐसा कोई आत्मद्रव्य नही है जिसमे चैतन्य भाव न हो। यदि ऐसा होता तो वह लक्षण 'अव्याप्ति दोष' से दूषित लक्षण होता।

जिस वस्तुका लक्षण उस वस्तुकी सर्व अवस्थाओमे न पाया जाय, अथवा तज्जातीय समस्त पदार्थोमे न पाया जाय, तो वह वस्तुका सही लक्षण नही है। उसमे **अव्याप्ति नामका** दोष कहा जाता है। चैतन्यगुण सम्पूर्ण जीवोमे, उसकी सब अवस्थाओमे, सदासे है, सदा रहेगा अतः वही उसका निर्दोष लक्षण है।

जीव अमूर्त्तीक है, यह सही बात है। उसमे वर्णादि भाव नही है, तथापि वह सिर्फ जीवका ही लक्षण नही बनाया जा सकता। क्योकि अजीव तत्त्वोमे धर्म-अधर्म, आकाश, काल ये चारो भी अमूर्त्तीक है। जो लक्षण वस्तुमे मिलता भी हो, पर भिन्न जातीय वस्तुओमे भी वह लक्षण मिलता हो, तो वह "अतिव्याप्ति दोष" युक्त लक्षण है, क्योकि ऐसे लक्षणसे वस्तु इतर वस्तुओसे भिन्न नही पहिचानी जा सकती।

उदाहरणके लिए ऐसा समझिए—

यदि कोई प्रश्न करे कि मनुष्यकी पहिचान किन चिह्नो (लक्षणो) से की जाय और यदि दूसरा उत्तर दे कि जिसके हाथ-पैर-कान-नाक-आँखें हो वह मनुष्य है। सो यद्यपि मनुष्यमे ये सब चीजें पाई जाती हैं, पर मनुष्यके सिवाय बन्दर आदि पशुओमे भी ये सब चिह्न पाये जाते है। तब मनुष्यकी पहिचान इन चिह्नोंसे नही हो सकती। ऐसे लक्षण ही **अतिव्याप्ति** दोष युक्त है। इसी प्रकार यद्यपि **अमूर्त्तपना** जीवमे भी पाया जाता है, पर अन्य अजीव द्रव्य धर्माकाशादिमे उस लक्षणकी **अतिव्याप्ति** है, अत. अमूर्तपने से जीवका सच्चा सम्पूर्ण अनुभव नही हो सकता।

मनुष्यकी क्या पहिचान है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार देवे कि जिसके मूँछे हो वह मनुष्य है तो यह भी मनुष्यका निर्दोष लक्षण (पहिचान) नही है, क्योकि बालकमे, नारीमे और अनेक मुकने मनुष्योमे मूँछें नही होती, पर वे मनुष्य जातिके प्राणी तो है। अत. यह लक्षण अव्याप्ति दोषकर सहित है। सही निर्दोष लक्षण नही है। इसी प्रकार वर्णादिमे आदि पदसे रागादि भी ग्रहण किया है। सो रागादि भी जीवका सही लक्षण नही है, क्योकि रागादि जीवकी सब अवस्थाओमे सदा नही पाया जाता। लक्षण तो सदा पाया जाना चाहिए। रागादि, क्रोधादि भावको जीवकी पहिचानमे लक्षण मानकर उपयोग किया जाय तो जब जीव रागादि न करता हो क्रोधादि न करता हो तो उस अवस्थामे वह जीव न रहेगा ऐसी दोषापत्ति होगी।

अथवा वीतरागी साधुजन, या तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान्, या सिद्धपरमात्मा प्रकट अप्रकट रागादि रहित होनेसे जीवकी श्रेणीमे न आवेगे, क्योकि आप रागादि ही जीवका लक्षण मानते है तब यह लक्षण **अव्याप्ति दोष** सयुक्त लक्षण होगा। अत यह सिद्ध हुआ कि—

वर्णादि-रागादिपना तथा अमूर्तपना दोनो जीवके लक्षण नही है, उनमे **अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष** प्राप्त है। चूंकि अजीव पदार्थ जो जीवसे भिन्न लक्षणवाला है उसमे स्वय दो भेद है—एक तो पुद्गल द्रव्य जो वर्णादि रूप है अत मूर्तीक है, और दूसरे धर्माधर्माकाश काल द्रव्य जो वर्णादि रहित अमूर्त्त द्रव्य है। सिद्ध है कि जीवका अमूर्तत्व लक्षण माननेपर अजीवमे उस लक्षणकी प्राप्ति होनेसे वह दोषास्पद लक्षण है।

एकमात्र चैतन्य लक्षण ही ऐसा है जिसका परित्याग किसी भी अवस्थामे किसी भी जीवको नही होता। **अतः वही एक यथार्थ लक्षण आत्मा का है। वह असाधारण चैतन्य भाव ही निज-स्वरूप** है, उसीका आलम्बन करना चाहिए।

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्न
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानीजन.) ज्ञानी पुरुष **(जीवात् लक्षणतो विभिन्नम् स्वयं उल्लसन्तम्)** जीवके लक्षणसे भिन्न अपने अचेतन लक्षणसे प्रकाशमान **(अजीवं अनुभवति)** अजीवको पररूपसे अनु-

भवता है परन्तु (**अज्ञानिनः**) अज्ञानी जनोका (**निरवधिप्रविजृम्भितः**) अनादिकालसे विस्तारको प्राप्त (**अयं मोह**) यह अज्ञान (**कथ नानटीति**) कैसे बार-बार नाच रहा है यह (**बत**) आश्चर्य है ॥४३॥

भावार्थ—चैतन्य लक्षण वाले जीवसे चैतन्य रहित अजीव भिन्न है। यह भेद, लक्षण-भेदसे बहुत स्पष्ट हो रहा है। ज्ञानी पुरुषोको दोनो द्रव्योका पृथक्त्व प्रतीयमान होता है। तथापि अनादि कालसे परके संयोगमे उसके साथ एकत्वको माननेवाले अज्ञानी पुरुषोको उनका वह मोह कैसे-कैसे नाच करा रहा है, यह आश्चर्यकी बात है।

जैसे नशा करनेवाला कोई व्यक्ति नशेके झोकेमे मिट्टी और गुडके भेदको न जानकर दोनो-को एक मानकर, समान रीतिसे कभी गुड और कभी मिट्टीके ढेलेको खा लेता है। उसे दोनोमे स्पष्ट स्वाद भेदके होते हुए भी, अपने नशेके कारण दोनोमे कोई अन्तर प्रतीयमान नही होता। इसी प्रकार अज्ञानी प्राणीको, मोह, कर्मके उदयमे जीव और अजीवका स्पष्ट भी लक्षणभेद प्रतीय-मान नही होता। वह दोनोमे एकत्व बुद्धि करके जीवको अजीवरूप और अजीवको जीवरूप, अथवा दोनोको जीवरूप या दोनोको अजीवरूप मानकर विविध क्रियाएँ करता हुआ दिखाई दे रहा है। ज्ञानीजन उसकी इन विविध चेष्टाओको देखकर मोहकी महिमा पर अथवा जीवकी इस भूल पर आश्चर्य करते है, दुख करते है, दया करते है। ज्ञानीके विचार—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अन्वयार्थ—ज्ञानी पुरुष तो ऐसा विचार करते है कि (**अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाटये**) इस अनादि कालसे चले आए हुए अविवेक पूर्ण महान् नृत्यमे (**वर्णादिमान् पुद्गल एव नटति**) वर्णादि लक्षण वाला पुद्गल द्रव्य ही नृत्य करता है (**न अन्य**) उसमे भिन्न लक्षण वाला जीव नृत्य नही करता है। क्योकि (**अयं जीव**) यह जीव तो (**रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-चैतन्यधातुमयमूर्ति**) रागादि तथा वर्णादि जो पुद्गल निमित्तजन्य या पुद्गलमय विकार हैं, उससे विरुद्ध जो चैतन्य धातु, उससे बना हुआ है ॥४४॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषको भेद विज्ञानकी पैनी दृष्टि प्राप्त है। वह अनादि कालसे जीवके साथ सयोग रूपसे कर्म और नोकर्मरूपमे चले आए पुद्गल द्रव्यको, अपने स्वरूपसे भिन्न रूपमे देखता है। वह विचार करता है कि चौरासी लाख योनियोमे परिभ्रमण करने पर भी, उन सबमे पुद्गल द्रव्यकी ही विचित्र स्थितियाँ देखनेमे आई है। नाना योनियोमे देहके साथ परिभ्रमण होने पर भी इस चैतन्य धातुके बने हुए जीवके लक्षणमे—स्वरूपमे कोई अन्तर कभी नही हुआ। यह तो अपने स्वरूपको न जाननेके कारण ही पुद्गलके साथ भटकता रहा है। यदि यह अपने निज अखण्ड चैतन्य स्वरूपका एक बार भी अनुभव कर लेता तो पुद्गलके साथ इतना परिभ्रमणका कष्ट न उठाता। पर अविवेकसे उसके साथ भ्रमता रहा। तथापि यह सारा खेल पुद्गलका है। मेरी आत्मा तो सदासे चैतन्यमूर्ति ही है।

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुट-विघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृ द्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।।४५।।

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा**) ज्ञानरूपी करोतके बार-बार चलानेकी कुशलताके द्वारा (**यावत्**) जबतक (**जीवाजीवौ**) जीव और अजीव (**स्फुटविघटन**) स्पष्टरूपसे भिन्न-भिन्न (**नैव प्रयात**) नही हो जाते कि (**तावत्**) तबतक शीघ्र ही (**प्रसभविकसत्**) निजबलसे अत्यन्त विकासको प्राप्त हुई (**व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या**) प्रकट अपनी मात्र चेतन्यशक्तिके द्वारा (**विश्व व्याप्य**) सारे विश्वको व्याप्तकर अर्थात् जानकर यह (**ज्ञातृद्रव्यम्**) ज्ञानीपुरुष (**स्वयम्**) अपने आप (**अतिरसात्**) निजरससे भग हुआ (**उच्चै· चकाशे**) उन्नतरूपमे प्रकाशमान प्रकट हो जाता है ।।४५।।

भावार्थ—सयोगी पदार्थ किसी तीसरे भेदक पदार्थके निमित्तको पाकर जुदे-जुदे हो जाते हैं। जैसे दो पत्थर जुडे हो नो उनकी सन्धिके स्थानपर छैनी मारनेसे दोनोका सयोग जुदा हो जाता है और वे पृथक्-पृथक् हो जाते है। कर्म नोकर्म तथा भावकर्मके साथ जोवका अनादिसे ऐसा सयोग है कि वे अभीतक 'पृथक्-पृथक् है' ऐसा जीवकी दृष्टिमे ही नही आया। वह उनमे एकत्वका ही बोध करता आ रहा है।

उन्हे पृथक्-पृथक् करनेको कला तो तब प्रकट होगी जब सर्वप्रथम उनको पृथक्-पृथक् है, ऐसा जान लिया जाय। आगमके अभ्यासको यदि सुलभता या सुयोग हो, तो उसके आधार-पर लक्षण भेदसे दोनोको पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है। आगमको प्रामाणिकतापर अटल श्रद्धा हो, तो जोव और अजीवकी पृथक्-पृथक् ही सत्ता है, इसपर विश्वास आ सकता है। दोनोके स्वरूप भेदकी श्रद्धा होनेपर 'मेरा ज्ञायकस्वभाव उपादेय है' ऐसा भान होनेपर, उस ओर रुचि उत्पन्न हो सकती है। इसी रुचिको सम्यग्दर्शन कहते है।

इस प्रकारकी श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ जीव ही अपने उपादेय निजतत्त्वको तथा संयोगी दशा मे प्राप्त अन्य द्रव्यको भिन्न-भिन्न कर सकता है, यही कृति वस्तुत- चारित्र है। परके निमित्तसे प्राप्त दुखोकी परम्पराका यहाँ अन्त हो जाता है यही ससारका अन्त है या मुक्तिकी प्राप्ति है।

जब यह जीव अपने भेद विज्ञान की करौंत चलाता है ता लक्षण भेदका ज्ञान होनेसे, सयुक्त दशामे भी जीव और अजीव पृथक्-पृथक् ज्ञात हो जाते हैं।[1] जैसे ही वे पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा ज्ञात

[1] यहाँ 'अजीव' शब्द द्वारा 'शुद्ध चैतन्य' से भिन्न समस्त रागादि विकारी भावो को भी, जीव से भिन्न होनेके कारण, अजीव कहा है। पिछले कलशमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख कर चुके हैं। समयसार गाथा ४४ मे, तथा ५० से ५५ तक मे भी, स्पष्ट रूपसे रागादि भावोको जीवसे भिन्न माना है। इसी अपेक्षा इन्हें संयोगज या सयुक्त भाव कहा है। यद्यपि वे जोवमे होते हैं पर अशुद्ध जीवमें ही होते हैं। सत्ता भेद न होते हुए भी उनमें स्वरूप भेद है।

होना है, वैसे ही अपने चैतन्य रससे पूर्ण तथा सम्पूर्ण पदार्थोका ज्ञायक आत्मा तत्काल चमकने लगता है, अर्थात् दृष्टिमे प्रकट हो जाता है।

अग्नि सयोगसे जैसे खानिसे निकला अशुद्ध स्वर्ण किट्टिमाको छोडकर अपने चमचमाते उज्ज्वल स्वरूपसे स्वमेव प्रकाशमान हो जाता है इसी प्रकार भेद विज्ञानके कारण परद्रव्यकी हेयता भासित हो जानेपर, निज उपादेय तत्त्व स्वय दृष्टिगोचर हो जाता है।

'जब तक जीव और अजीव जुदे नही हो जाते, तबतक आत्मा प्रकाशमे आ जाता है' यह वाक्य बोलने की पद्धति है। ऐसा नही है कि उनके भिन्न-भिन्न होनेके पहिले आत्मा प्रकट प्रकाशमान हो जाती है, किन्तु उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि **जैसे ही भेद विज्ञानके सतत अभ्याससे जीव और अजीव, नो कर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पृथक्ता दृष्टिमे आती है वैसे ही तत्काल आत्म द्रव्य अपने स्वभावसे बहुत स्पष्ट झलकमे आ जाता है। तथा इसी भेद विज्ञान-के सतत अभ्याससे जीव अपनेसे द्रव्य-कर्म-भावकर्मको भिन्न कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनता है।**

●

□ कर्त्ता-कर्म-अधिकार □

जीव रागादिका कर्त्ता है, और रागादिक उसके कर्म हैं। ऐसी मान्यता यथार्थ नही है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य करते हैं—

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञाना शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं-
साक्षात् कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**अह चित् एक कर्त्ता**) चैतन्यस्वरूप मै कर्त्ता हूँ और (**अमी कोपादयः मे कर्म**) ये क्रोधादि मेरे कर्म है (**इति अज्ञानाम्**) इस प्रकार कथन करने या समझनेवाले अज्ञानी प्राणियोकी (**कर्तृ कर्म-प्रवृत्तिम्**) परके कर्त्ताकर्मकी प्रवृत्तिको, जो भ्रान्तिवश अनादिमे है (**अभितः शमयत्**) सर्वप्रकारसे शमन करके अर्थात् दूर करके (**ज्ञानज्योति**) भेदविज्ञानकी प्रकाशमान ज्योति जो कि (**निरुपधि**) उपाधिमे रहित है (**पृथक्द्रव्यनिर्भासि**) सभी द्रव्योके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान करानेवाली है (**परमोदात्त**) सर्वोत्कृष्ट तथा (**अत्यन्तधीरं**) सर्वथा अचल तथा (**विश्व**) सम्पूर्ण विश्वको (**साक्षात् कुर्वन्**) प्रत्यक्षीभूत करती हुई (**स्फुरति**) प्रकाशमान होती है ॥४६॥

भावार्थ—जीव अनादिकालीन अपनी भूलके कारण, सयोगदशाको प्राप्त कर्म नोकर्म और भाव कर्मका, तथा अपने पचेन्द्रियोके रागको पुष्ट करनेम निमित्तभूत अन्यपदार्थोंका, अपनेको कर्त्ता मानकर, उन्हे सग्रह करने तथा उनको अपने अनुकूल परिणमानेका व्यर्थ प्रयास करता आता है। चूँकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, अत. उस प्रयत्नमे जब सफल नही होता तो बेचैन होता है, सक्लेश परिणाम करता है, और स्वय अपनी इसी भूलके कारण दुखी होता है।

ज्ञानीजनोको इस कर्तृ-कर्मकी भूलको सब प्रकारसे प्रशान्त करती हुई ज्ञानज्योति, जो कि परम उदात्त है, अत्यन्तधीर है, कर्मोपाधिरहित है, सम्पूर्णद्रव्योको उनके समस्त गुणपर्यायो सहित जुदा-जुदा जाननेमे समर्थ है और सम्पूर्ण जगत्को प्रत्यक्ष करनेवाली है, वह प्रकट होती है।

इस प्रकारकी ज्ञानज्योति तब प्रकट होती है जब जीव परके कर्तृत्वकी भूल दूर करता है। चैतन्य स्वरूप आत्मा जब अपने स्वरूपको भूलकर, कर्मोपाधि निमित्तके अवलबनसे अपनेको रागादि या क्रोधादि रूप बनाता है, तब परिणति मे ज्ञान भावसे भिन्न, और क्रोधादि भावोंसे अभिन्न होता है। क्रोधादि भाव स्वय अज्ञान भाव है—अतः अज्ञानी अपनी विकारी दशामे कर्म बन्ध करता है।

यद्यपि आत्मा स्वय चैतन्यमय है, क्रोधादिमय नही है, तथापि अज्ञान भावमे आने पर वह अपने स्वरूप ज्ञानसे भ्रष्ट है। वह अपने स्वभावसे भिन्न तथा परोपाधि निमित्त जन्य विकारी

भावोसे अपनेको अभिन्न मानकर, क्रोधादि तथा रागादि रूप विकारोको निर्भय होकर अपनाए हुए वर्तन करता है।

जिस समय उसने अपनी ज्ञानपरिणतिरूप सहज वीतरागताको भुलाकर रागादिरूप परिणमन किया तब उसीमे अपनेको सुखी माना। उसकी इस मान्यताके कारण ही वह रागादिका कर्ता अज्ञान दशामे हुआ है। यदि दोनोका, अर्थात् अपने स्वभाव और विभावका अन्तर समझ लेवे और स्वभावानुरूप अपना वर्तन करे, तो वह अज्ञानकी भूमिकामे उठकर ज्ञानी बनता है।

गुणस्थान क्रमसे जैसे-जैसे रागादि भावोका अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे ही ज्ञानी बनता जाता है। जब रागादि भाव सर्वथा छूट जाता है तब 'पूर्ण-ज्ञानी' बनता है। उस ज्ञान ज्योतिमे वह सामर्थ्य प्रकट हो जाती है कि वह सम्पूर्ण विश्वको तथा तद्गत सम्पूर्ण द्रव्योको, उन द्रव्योके अनन्तानन्त गुणोको, तथा उनकी भूत भविष्यत् और वर्तमानकी त्रिकाल गोचर समस्त पर्यायोको, एक साथ स्पष्ट पृथक्-पृथक् जान सके। भेदविज्ञानकी ऐसी सामर्थ्य है।

(६०) **प्रश्न**—आगम ज्ञानके आधारपर सभी विद्वज्जन जो आगमके अभ्यासी है, जानते है कि क्रोधादि तथा रागादि भाव भिन्न है और चैतन्यभाव मेरा निजस्वरूप है। तो क्या इस आगम ज्ञानसे कम बन्ध रुकता है? आगममे तो ज्ञान मात्रसे मुक्ति नही मानी किन्तु इसके बाद चारित्र की भी एकता हो तो उसे मुक्तिका मार्ग माना है। पर यहाँ आचार्य ज्ञान मात्रसे मुक्तिकी बात कैसे लिखते है?

समाधान—ऐसा नहीं है। **जिन्हे आगम ज्ञान है वे ज्ञानी नही है, वे मात्र आगमके ज्ञानी है।** उन्हे ऐसा मालूम है कि आगममे अमुक-अमुक आचार्योने क्या-क्या लिखा है। वे आचार्योके मन्तव्यके ज्ञानी है। स्वयने मतव्यको ज्ञानरूप नही बना सके। अत जबतक वे रागादि भावसे भिन्न हो, अपनेको ज्ञानमय नही बन सकें, तब तक वे **रागी है, ज्ञानी नही हैं।** जो ज्ञान रागादि आश्रव भावोमे प्रवृत्त है, वह ज्ञान नही है, अज्ञान ही है। तथा जो ज्ञान रागादि भावोसे निवृत्त है वही यथार्थमे ज्ञान है। इस कथनसे ज्ञानके साथ चारित्र अविनाभाव नियम रूपसे आता ही है।

जैसे किसी करोडपति की दुकानका मुनीम स्वय लाखो रुपयोकी आमदनी करता है—उठाता रखता है। 'मेरी दुकान है' ऐसा कहता है। 'मुझे लाखोकी आय है' ऐसा कहता है। टोटा होनेपर दुख भी प्रकट करता है, तथापि वह उस द्रव्यके प्रति निजके स्वामित्वके अभावको खूब जानता है, अत तत्-तत् विषयमे भेद विज्ञानी होनेसे तत्-तत् विषयमे सुखी-दुखी नही होता। 'मैं सुखी-दुखी हूँ' ऐसा व्यवहार मात्र करता है, परमार्थमे वह सुखी-दुखी नही होता।

स्वामी लाभमे रहे ऐसी उसकी इच्छा है, वे हानि न उठावें यह भी वह चाहता है, परन्तु यह केवल इसलिए कि स्वामीके लाभमे उसकी वेतन वृद्धि है, और हानिमे उसकी नौकरी भी छूट सकती है। केवल अपने वेतनके लाभालाभका जो रागादि भाव है—उतने अशमे वह चिन्तावान् है, सुखी-दुखी है, पर सम्पूर्ण द्रव्यके लाभालाभमे वह स्वामीकी तरह सुखी-दुखी नही होता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वह है जो ज्ञानभावका स्वामी हो तथा ज्ञानभाव रूप आचरण करता हो। रागादि भावका स्वामी होकर आचरण करता हो वह रागी है—अज्ञानी है।

जिस कालमे जो वस्तु जिस पर्याय रूप परिणमन करती है उस कालमे उस पर्यायसे तन्मय

होती है। ऐसा सिद्धान्त है।[1] **इस सिद्धान्तके अनुसार मोह, राग परिणत आगम ज्ञानी भी रागी ही है। अत अज्ञानी ही है, ज्ञानी नहीं।** तब वह कर्म बधसे कैसे छूटेगा ?

जो अपने स्वभावमे अपनेको स्थिर रखता है उसे ही निश्चयसे चारित्रवान् कहते है। आचार्योंने ऐसी ही व्याख्या चारित्रकी की है। व्रत-समिति-गुप्ति आदि बाह्यव्रत उस चारित्रके लिए यदि साधनभूत हैं तो उन्हे व्यवहार चारित्रकी सज्ञा है।[2] वह यथार्थ चारित्र नही है। चारित्रका साधन होनेसे चारित्र सज्ञा व्यवहारमे पाता है। अत सिद्ध है कि मात्र आगमज्ञानी होनेसे कोई ज्ञानी नही होता तथा जो यथार्थ ज्ञानी बन जाता है वह ज्ञानमय होनेसे स्वय यथार्थ चारित्र रूप परिणत है। अत. ज्ञानीके कर्मबन्ध नही होता यह यथार्थ है। यह भावकर्मके कर्तृत्वका निराकरण किया ॥४६॥

ज्ञानी कौन है और ज्ञानकी क्या महिमा है इसे नीचे लिखे कलशमे बहुत स्पष्टतया आचार्य कहते हैं—

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयत् भेदवादान्
इदमुदितमखण्ड ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृ-कर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्म-बन्धः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(**परपरिणतिम् उज्झत्**) पर द्रव्यके सयोगजन्य विकारी परिणतिको त्यागकर (**भेदवादान् खण्डयत्**) विविध विकल्पोको दूर कर (**इदम्**) यह (**अखण्डम्**) अभेदरूप (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**उच्चैः उच्चण्डम्**) अत्यन्त प्रकाशमान बेरोकटोक रूपसे (**उदितम्**) प्रकट हुआ है। ऐसी स्थितिमे (**ननु**) निश्चयसे (**कर्तृकर्मप्रवृत्ते**) कर्त्ता और कर्मपनेकी प्रवृत्तिके लिए (**कथमवकाश. स्यात्**) कहाँ स्थान है ? तथा (**इह**) इस ज्ञानावस्थाम (**पौद्गल कर्मबन्धो वा**) पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोका बधन भी (**कथ भवति**) कैसे होता है ? ॥४७॥

भावार्थ—ज्ञान जब इस अवस्थाको प्राप्त होकर जीवमे उदित होता है तब जीव शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, तथा रागादि भावकर्मके साथ अपनी अनादिकालीन मोहजन्य एकत्व परिणतिको छोड देता है। इतना ही नही—द्रव्यगुण-पर्यायादिरूप भेदविकल्पसे भी रहित हो जाता है तथा अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशमय अभेद आत्माका बोध करता है। ऐसे स्वात्मानुभव-शील आत्मामे रागादिभाव उदित नही होते। फलत. वह रागादि परभावोका कर्ता नही होनेसे कर्तृ-कर्मभावकी जो अनादिकालीन प्रवृत्ति थी, उससे स्वय रहित हो जाता है।

यदि रागादि करता तो रागादिमय होता और उस कर्म निमित्तजन्य अशुद्धपरिणतिका कर्ता कहा जाता। पर **ज्ञानी तो ज्ञानभावपरिणत है** अत. **ज्ञानभावका ही कर्ता है, रागादि पर-**

१ परणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त ।
तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥—प्रवचनसार, गाथा–८ ।

२ द्रव्य संग्रह गाथा ४५-४६ देखिये ।

भावोका नहीं। अपने अभेदरूप अखण्ड चैतन्यानद स्वरूप आत्माका अनुभव करता है[1]—अतः आत्मद्रव्य गुणभेद, पर्यायभेद, या अन्य सोपाधि जन्य भेदभावोके विकल्पोसे रहित, निर्विकल्प रूप है। जिसे **यह अवस्था प्राप्त है उसमे स्वकर्तृत्व हो है परकर्तृत्वका अभाव** है। अत वह न परका कर्त्ता है न पर उसका कर्म है। न पर उसका कर्ता है, न वह परका कर्म है। वह तो अपने चैतन्य भावका ही कर्ता है और उसीका भोक्ता है। कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रत्येक द्रव्यका अपनी निज परिणतिके साथ ही है। कर्तृत्वकी तरह भोक्तृत्व भी अन्यके साथ नही है।

जब आत्मा निजात्माकी मर्यादामे है, परको ग्रहण ही नही करता—तब परके साथ सम्बन्ध ही नही है। ऐसी अवस्थामे पुद्गल कर्मका उसे बधन हो, भला इसका अवसर ही कहाँ प्राप्त है ? अर्थात् वह निबन्ध ही है। इस **कलशमे द्रव्यकर्मके कर्तृत्वका खण्डन किया।**

(६१) **प्रश्न**—ज्ञानकी इस अवस्थाको प्राप्त करनेका क्या मार्ग है। सहजमे तो ससारी जीवकी प्रवृत्ति रागादि तथा क्रोधादिकरूप पाई जाती है। उससे वह कैसे दूर हो ? यह ससारावस्था कैसे मिटे ? उपाय बताइए।

समाधान—प्रथम तो तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति आगमसे होती है, क्योकि आगमके प्रतिपादक आचार्य वीतराग देवकी वाणीका ही अनुसरण करते हैं। अत जिन वीतराग पुरुषोने अखण्ड कैवल्य प्राप्त किया है उनकी वाणी मे ही यथार्थ तत्त्वका बोध सम्भाव्य है। तत्त्वज्ञानकी यथार्थ ज्ञप्तिके बिना सन्मार्ग नही मिलता। कल्याणप्रद मार्गको पकडनेके लिए, **ज्ञानमे निर्मलता अविपरीतपना अवश्य चाहिए**, उसकी **प्राप्तिका मार्ग आगमाभ्यास है।**

आत्म-कल्याणार्थीको आगमके आलबनसे यह तत्त्वज्ञान पहिले प्राप्त करना चाहिए कि "आत्मा शरीरसे भिन्न वस्तु है।" शरीर जड है, अचेतन है, जबकि आत्मा चैतन्ययुक्त द्रव्य है। आत्मा वर्ण रस गध स्पर्श शब्द रूप नही है, इसीलिए पाँचो इन्द्रियोके, जिनके विषय उक्त पाँचो हैं अगोचर हैं। पुद्गल-शरीर ही वर्ण-रसादिमान् है। इस शरीरका अन्तमे प्रत्येक प्राणीको नियमसे वियोग होता है। फिर भी आत्मा पुनः जन्मान्तर ग्रहण करती है। अनादिसे ही इस आत्माकी यही स्थिति रही है। नव-नव शरीर धारण करना और छोडना यही ससार है। इस जन्म-मृत्युसे आकीर्ण जगत्का छुटकारा ही मोक्ष है। जबतक पचेन्द्रियोके विषयो तथा क्रोधादि कषायोके वशीभूत हो आत्मभिन्न पदार्थोमे राग-द्वेषको **प्रवृत्ति है तब तक ससार बढ़ता है—कर्म बधनमे जीव पड़ता है**। यदि यह अपने ज्ञानानद स्वरूपकी पहिचान कर ले, और यह विचार करे कि—"मैं एक अखण्ड अनन्त गुणोका भडार, जीव द्रव्य हूँ।" मैं रागादि विकार विहीन शुद्ध स्वरूप वाला हूँ। अन्य वस्तुओसे मेरा कोई नाता नही है। मेरी निधि तो मेरे ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं।" ऐसा विचार कर यदि अपनी मर्यादामे ही रहे, उसीमे अपना उपयोग स्थिर करे तो अवश्य ही परके सपर्कसे, जो अनादिसे है, दूर होकर, अपनी दुःखमय ससारावस्था मिटा कर शाश्वत

---

[1] अनुभव दो प्रकार का है। चतुर्थादि गुणस्थानोमे मोहका अभाव है, अत रागादि परिणति भी अल्प है। वहाँ जीव-तत्त्व चिंतन के रूप मे आत्म-चिंतन या स्वानुभव करता है। जो मुनिजन सप्तमादि गुणस्थानोमे हैं, वे राग परिणति के अभावमें, प्रत्यक्षत, वीतराग स्वानुभव करते हैं।

सुखमयी निर्वाणकी भूमिका पर पहुँच जाता है। यही एक मात्र उपाय अपनी दुरवस्था मिटानेका है, अन्य नही।

अपनी ज्ञानमय अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए जिस प्रकार अपने स्वरूपका तात्त्विक चिन्तन आवश्यक है, इसी प्रकार अपने भीतर पाए जानेवाले विकारी भावोको दूर करनेके लिए उनका भी **तात्त्विक चिन्तन आवश्यक है।** उनके सम्बन्धमे भी यह विचार करना चाहिए कि "मेरे भीतर ये रागादि क्रोधादि भाव हैं सो ये मेरे निज स्वभाव नही हैं।" ये तो पूर्वकर्मके उदय विपाक जन्य है। जो अन्यके निमित्तसे उत्पन्न भाव हैं, वे मेरे स्वाभाविक नही, किन्तु अस्वाभाविक भाव हैं। जो अस्वाभाविक हैं वे अस्वास्थ्यकर हैं—बीमारी हैं। इस बीमारीको दूर करना होगा। ये भाव अपवित्र हैं—आत्माको मलिन करते है—अस्थायी भाव है—क्योकि बनते मिटते रहते है, और दुखकी परम्पराको चलाते है। इनसे ही ससार है।[1]

इस प्रकार रागादि परभावोकी **अवस्थाका तत्त्वबोध हो तो उनसे विरक्तता होती है।** इनसे **विरक्त हुए बिना तथा आत्मस्वभावको रुचिके बिना आत्मानुभव नही होता।** आत्मानुभवके बिना सुखका मार्ग नही मिलता। ससारी जीव मिथ्यादृष्टि रहकर मिथ्याज्ञानी और आचार भ्रष्ट हो ससार परिभ्रमण ही करता है। अत कल्याणार्थीको परसे विरक्तता प्राप्त करना स्वहितके लिए आवश्यक है।

इस प्रकार भावकर्मके तथा द्रव्य कर्मके कर्तापनासे रहित आत्मा ही ज्ञानी बनता है ऐसा अग्रिम कलशमे लिखते हैं—

> **इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां**
> **स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।**
> **अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं**
> **ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥४८॥**

अन्वयार्थ—(**इति-एवं**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**परद्रव्यात् परा निवृत्ति विरचय्य**) रागादि पर द्रव्यसे अत्यन्त निवृत्तिको प्राप्त हुआ तथा (**विज्ञानघनस्वभावम् स्वम्**) ज्ञानसे घनीभूत अपने निज स्वभावको (**सम्प्रति**) अब (**अभयात्**) निर्भय होकर (**परम् आस्तिघ्नुवान**) उत्तम रीतिसे स्वीकार करनेवाला तथा (**अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्**) अभी तक अपने अज्ञानके कारण परके अर्थात् कर्म-नोकर्म तथा भावकर्मके साथ जो कर्त्ता-कर्मका भाव था उस (**क्लेशात्**) दुखसे (**स्वय निवृत्त**) स्वय छूटा हुआ (**जगत. साक्षी पुराण पुमान्**) सर्व विश्वको साक्षात् करनेवाला, जाननेवाला यह पुराण पुरुष अनादि निधन आत्मा (**इत ज्ञानीभूत चकास्ति**) अब 'ज्ञानका पुज है' ऐसा प्रतीयमान होता है॥४८॥

भावार्थ—भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि ने जब जीवकी पवित्रता, जो अनादि कालसे द्रव्य स्वभावगत है उसे जान लिया, आस्रव भाव जो रागादि तथा क्रोधादि परिणाम, उनकी अपवित्रता अस्थिरता तथा अपने स्वभावसे विपरीतताका बोध कर लिया, तथा तदनन्तर पर स्वरूप रागादि-

१. समयसार गाथा ७२-७५ देखिये।

भावों, तथा तन्निमित्तभूत रागादि कर्मों, और तदाश्रयभूत संसारके समस्त साधनोंको, **अपनेसे** सर्वथा भिन्न कर निज स्वभावमें प्रवेश किया—तब वह उत्कृष्ट वीतराग सम्यग्दृष्टि **बना। पूर्वमें** वह अपने अज्ञानके कारण विकारी भावोंको करता था उनसे कर्तृ-कर्म सम्बन्ध टूट गया। **अब उस** महान् दुखसे निवृत्त होकर **जगत्का केवल साक्षी मात्र रह गया, और इस प्रकार अपने स्वरूपमें शोभित होने लगा।** वस्तुत आत्मा रागद्वेषादि अन्तरङ्ग—विकारोंका तथा शरीराश्रित-गौर-कृष्णादि तथा सुन्दर-असुन्दर रूप शरीरके परिणामोंका कर्त्ता नहीं है **क्योंकि वे परद्रव्याश्रित हैं। निज स्वभावाश्रित नहीं हैं।**

जिसकी **जिसके साथ व्याप्य व्यापकता होती है उन दोनोंमें ही कर्तृ-कर्म भाव होता है। अन्यमें नहीं। रागादिकी उत्पत्ति अज्ञानी जीवके साथ व्याप्यव्यापक भाव रखती है। ज्ञानी आत्माके साथ नहीं।** इसी प्रकार काला-गोरापना, सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि, नोकर्म रूप शरीरके साथ व्याप्य-व्यापक भाव रखते है, क्योंकि शरीर वर्णादि विकार भावोंसे तन्मय है, आत्मा उनसे सर्वथा पृथक् है। पुद्गल द्रव्य जीवकी निजवस्तु नहीं है, उसके साथ जीवका **केवल ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध मात्र** है। चैतन्य स्वरूप यह **आत्मा जगत्का साक्षी मात्र** है, जानना उसका स्वभाव है, तथा जगत्का स्वभाव, ज्ञानमें ज्ञेयरूप होना है। इसीके अन्तर्गत पुद्गल द्रव्य भी उसका ज्ञेय है। इससे अधिक कोई सम्बन्ध पुद्गलके साथ जीवका नहीं है। इसी बातको निम्न **पद्यसे आचार्य** स्पष्ट करते हैं—

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्य-व्यापकभावसंभवमृते का कर्तृ-कर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एव लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(तदात्मनि एव) तत् स्वरूप पदार्थोंमें ही **(व्याप्य-व्यापकता भवेत्)** व्याप्य-व्यापक भाव होता है। **(अतदात्मनि अपि नैव)** किन्तु जो अतदात्मक है उनमें नहीं होता। **जब** अतदात्मकमें **(व्याप्य-व्यापकभावसंभवमृते)** व्याप्य-व्यापक भावकी सम्भावना ही नहीं है तब **(का कर्तृ कर्म-स्थिति)** उनमें कर्ता-कर्म भावकी स्थिति कैसे हो सकती है। **(इति)** ऐसी स्थितिमें **(उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण)** उत्कृष्ट जो विवेक उसका जो सर्वग्रासी तेज उसके भारसे **(तम भिन्दन्)** अज्ञानान्धकारको भेदता हुआ **(ज्ञानीभूय)** स्वय अपनेको ज्ञानपुंज बनाकर **(स एव पुमान्)** वही आत्मा **(तदा कर्तृत्वशून्य)** तब परके कर्तृत्वसे रहित **(लसित.)** स्वय शोभायमान होता है ॥४९॥

भावार्थ—गुण-गुणीमें—द्रव्य-पर्यायमें—सामान्य-विशेषमें व्याप्य-व्यापकता है। ये तीनों भाव एक सत्तात्मक पदार्थमें ही सभाव्य है। भिन्न सत्तात्मकमें ये तीनों भाव नहीं पाए जाते। कोई भी द्रव्य अपनी सम्पूर्ण पर्यायोंमें बराबर रहता है। अत द्रव्यको 'व्यापक', और उसकी पर्यायोंको 'व्याप्य' कहते है। यह 'व्याप्य-व्यापक भाव' एक द्रव्य और उसकी तत्स्वरूप पर्यायोंमें पाया जाता है। पर जो भिन्न द्रव्य है उसका उन पर्यायोंमें तत्पना नहीं है—अतत्पना है, अतः उस द्रव्यके साथ उन पर्यायोंका व्याप्य-व्यापकपना नहीं पाया जाता है। तब उनमें कर्तृ-कर्मपना भी

कैसे सभावनीय हो सकता है ? कभी नही। इस सिद्धान्तके अनुसार जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न द्रव्य है, उनमे परस्पर निमित नैमित्तिक सम्बन्ध तो पाया जा सकता है, परन्तु दो द्रव्योकी पर्यायोमे परस्पर कर्तृ-कर्म भाव नही पाया जा सकता। कारण यह है कि—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका उत्पादक है, और यह उत्पत्ति उस द्रव्यसे तन्मय होती है। अतएव अपनी पर्यायोसे वह तन्मय है, उन पर्यायोमे वह सदा व्यापक रहता है। पर्यायें बदलती है पर द्रव्य उसमे वही रहता है, वह नही बदलता, अर्थात् अन्य-अन्यरूपमें जैसे पर्यायें बदल जाती है वैसे अन्य-अन्य पर्यायोमे द्रव्य भी अन्य द्रव्यरूप नही हो जाता। अत उन एक द्रव्यात्मक पर्यायोके साथ उस द्रव्यका व्याप्य-व्यापकभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सुनिश्चित है। इसीलिए ज्ञानी जीव भी अपनी ज्ञानादि-पर्यायोसे तन्मय है, अत ज्ञानपर्यायोका ही कर्त्ता है।

यद्यपि रागादि पर्यायोके साथ भी वह तन्मय दिखाई देता है, तथापि वे पर्यायें कर्मोदय सापेक्ष पर्यायें है। उनका बहिर्व्याप्य-व्यापकपना, कर्मोदय जो पुद्गलस्वरूप है, उससे है। अर्थात् जब-जब जहाँ जहाँ कर्मादय होगा, तब-तब ही तहाँ-तहाँ ही रागादि विकार होगा। यदि कर्मोदय न होगा तो रागादि आत्मामे न होगे। अत सिद्ध हुआ कि रागादिपर्यायें पुद्गलकर्मके उदयके साथ व्याप्यव्यापकभाव रखती है। जब आत्मा परके साथ एकत्वपनेकी भूल करता है, तब रागादि होते हैं। अत यदि उनके साथ व्याप्य-व्यापकभाव या कर्तृ-कर्मभाव है तो अपने स्वरूपको भूले हुए अज्ञानीके साथ है। ज्ञानी आत्माके साथ नही। अज्ञानभाव तो आत्माका स्वभाव नही, अत. स्वात्मानुभव करनेवाला ज्ञानी, कर्मोदयकी स्थितिमे भी विकार रूप परिणत नही होता। ऐसी स्थितिमे वह जब रागादि भावकर्मका कर्त्ता नही होता तो द्रव्यकर्मका कर्त्ता कैसे होगा ? **द्रव्यकर्मका कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं होता।** केवल **'मै परका कर्ता हूँ'** ऐसी **मिथ्या मान्यताके** कारण **वह अपनेको कर्ता कहता है** यही **उसका अज्ञान है** और इस अज्ञानभावका कर्त्ता अज्ञानी जीव है ॥४९॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नही है—

ज्ञानी जानन्नपीमा स्वपरपरणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव (**इमां स्वपरपरणतिम्**) इस स्वात्मा और पर पुद्गलद्रव्यकी परिणति याने पर्याय परिणमनको (**जानन् अपि**) पृथक्-पृथक् रूपसे जानता हुआ भी तथा (**पुद्गल**) पुद्गलद्रव्य (**अजानन् अपि**) स्व-पर परिणतिको नही जानता हुआ भी, दोनो द्रव्य (**अन्त व्याप्तृ-व्याप्यत्वम्**) परस्परमे अन्तर्व्याप्य-व्यापकभावको (**कलयितुम् असहौ**) स्वीकार करनेमे असमर्थ हैं (**नित्यम् अत्यन्तभेदात्**) क्योकि दोनो द्रव्योमे परस्पर सदा अत्यन्त भेद है। ससारी अज्ञानी प्राणीको (**अज्ञानात्**) इस भेदज्ञानके अभावके कारण (**अनयो.**) इन दोनो द्रव्योमे (**कर्तृ-कर्मभ्रममति**) कर्त्ता-कर्मभावकी भ्रमबुद्धि (**तावत् भाति**) तबतक ही प्रतीत होती है (**यावत्**) जब-तक (**विज्ञानार्चि.**) सम्यग्ज्ञानकी ज्योति (**क्रकचवत्**) करौतकी तरह (**सद्य**) शीघ्र ही (**अदयं**) दयारहित होकर (**भेदम् उत्पाद्य**) दोनोको अलग-अलग करके (**न चकास्ति**) प्रकट नही होती ॥५०॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दोनोमे यही सबसे बडा अन्तर है कि जीव अपनी परिणतिको जानता है, पुद्गलकी परिणतिको जानता है, पुद्गलकर्मकी उदयजन्य अवस्थाको जानता है, किन्तु पुद्गलद्रव्य न तो अपनी परिणतिको जानता है, न अपने परिणामके फलको जानता है, और न जीव और उसकी परिणतिको जानता है, क्योकि वह अचेतन जड द्रव्य है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध लक्षण धारण करनेवाले जीव-अजीव दोनो द्रव्योमे, उनके गुणोमे तथा दोनोकी पर्यायोमे, परस्परमे अत्यन्त भेद है। इसलिए उनमे एक दूसरेकी पर्यायोसे तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता।

प्रत्येक द्रव्यका अपनी पर्यायोसे ही तादात्म्य स्थापित है। अन्य द्रव्यकी पर्यायके साथ कदाचित् भी तादात्म्य सम्बन्ध नही होता। तब जीवद्रव्यका पुद्गलकी पर्यायमे तथा पुद्गल द्रव्यका जीवकी पर्यायसे तादात्म्य कैसे हो सकता है? इसके अभावमे अन्तर् व्याप्य-व्यापकपना भी दोनो द्रव्योकी पर्यायोमे नही बन सकती। अन्तर्व्याप्यव्यापकभावके अभावमे कर्त्ता-कर्मपना भी इनमे नही है। अतएव व्याप्यव्यापकभाव किसी भी द्रव्यका अपनी ही पर्यायोमे होता है यह बात पहिले भी बता चुके हैं। बहिर्व्याप्य-व्यापक भाव जहाँ पाया जाता है वहाँ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। ऐसा व्यवहार यथार्थ कार्य-कारणभाव का, या कर्त्ता-कर्मभावका नियामक नही होता। इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है।

द्रव्य उपादान है, पर्याय उपादेय है। अर्थात् द्रव्य कारण है, पर्याय उसका कार्य है। द्रव्यके परिणमनको ही पर्याय कहते हैं। अत प्रत्येक द्रव्यका कारणपना अपनी पर्यायके प्रति ही है। अन्य द्रव्यकी पर्यायके प्रति कदाचित् भी कारणपना नही हो सकता। पर्याय उपादेय है, इसका अर्थ यह है कि वह प्राप्तव्य है, याने प्राप्त होने योग्य है, प्रकट होने योग्य है। वह पर्याय किसे प्राप्त होगी? इस प्रश्नका समाधान है कि वह जिस द्रव्यका परिणमन है उसे ही प्राप्त होगी, अन्य द्रव्यको नही। उस द्रव्यके अशोमे (प्रदेशोमे) उस द्रव्यके गुणोको लेकर ही प्रकट होगी, अन्यके नही। इसीसे द्रव्यको उपादान कहते हैं और पर्यायको उपादेय।

यह उपादान-उपादेय भाव ही दोनोका तादात्म्य सम्बन्ध कहलाता है। यद्यपि द्रव्य नित्य और पर्याये अनित्य हैं, ऐसा नयादेशसे कहा जाता है, तथापि द्रव्यको छोडकर पर्याय उत्पन्न नही होती, और न पर्याय मात्रसे रहित कभी द्रव्य होता है। अतएव अपनी पर्यायोके साथ द्रव्यका तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। जिनमे तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसी निज पर्यायोमे द्रव्य व्यापक है, तथा जिन पर्यायोमे द्रव्य व्यापक है वे पर्याये उसके लिए व्याप्य है।

जो अनेकत्र विस्तारको प्राप्त हो उसे व्यापक कहते है, और जहाँ जहाँ उसका विस्तार हो वे-वे स्थान व्याप्य कहलाते हैं। द्रव्य अनेक पर्यायोमे फैलता है अत- द्रव्यको व्यापक, तथा जिनमे वह फैलता है उन पर्यायोको व्याप्य कहा जाता है। इस रीति पर देखा जाय तो यथार्थ अन्तरङ्ग व्याप्य व्यापकभाव, द्रव्य और उसकी पर्यायोमे ही पाया जाता है। **इसीको परस्परका तादात्म्य सम्बन्ध कहना चाहिए। इनमे ही कार्य-कारण भाव है।**

व्याप्यव्यापक भावका बहिरग रूप, परद्रव्यकी पर्यायके साथ माना जाता है। उनमे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दोनोको उदाहरण से विचारिए—(१) घट बनता है। मृत्तिकासे,

अतः इन दोनोका परस्पर अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव है। (२) वस्त्र बनता है सूतसे, अत इन दोनोमे भी अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव है। इनमे उपादान उपादेय भाव भी कहा जा सकता है, तथा कार्यकारण भाव भी कहा जा सकता है, तादात्म्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव ज्ञानी है, ज्ञानोपयोगी है, चैतन्यकी मूर्ति है, अत ज्ञानोपयोग उसकी परिणति है, कार्य है। उस परिणतिसे ही उसका तादात्म्य है।

यहाँ जिस प्रकार घडा बनानेवालेके साथ घटका व्याप्य व्यापकभाव यथार्थ नही है, तथा जैसे वस्त्र बनानेवालेके साथ वस्त्रका यथार्थ व्याप्य व्यापकभाव नही है, क्योकि वे दो भिन्न द्रव्य है, घटकार चेतन है, घट अचेतन है। इसी प्रकार वस्त्र बनानेवाला चेतन है, वस्त्र अचेतन है। अत विभिन्न लक्षण वाले होनेमे उनमे न उपादान-उपादेय भाव है, न तादात्म्य है, न कार्य कारणभाव है, न कर्त्ता-कर्मभाव है। तो भी बिना घटकारके घट नही बनता, बिना जुलाहेके वस्त्र नही बनता, अत इन दोनोमे विभिन्नता होनेपर भी **बहिर्व्याप्यव्यापकभाव** है। इसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। व्यवहारन इनमे कार्य-कारण भी कहा जाता है।

इस प्रकार व्यवहार करनेवाला यदि परमार्थको जानता हुआ भी, विवक्षा विशेषसे ऐसा कहता है तो वह व्यवहारनयका ज्ञाता है, उसका प्रयोक्ता है। किन्तु यदि परमार्थको नही जानता, व्यवहार कथनको ही परमार्थ जानता है, तो वह भ्रम बुद्धिवाला **मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिए।**

जीव और पुद्गलकर्मका भी परस्पर अवगाहरूप अनादि सम्बन्ध है। तथापि उनका **सयोग सम्बन्ध** है, **तादात्म्य नहीं** है। उनमे एक दूसरेके निमित्तसे परिणमन भी देखे जाते हैं। उन परिणमनोमे **निमित्त नैमित्तिक** सम्बन्ध अवश्य है, पर **उपादान-उपादेयभाव, कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।**

इनमे कर्त्ता-कर्मपनेका प्रतिभास यह **जीव अपने अज्ञानभावसे करता** आ रहा है। परन्तु यह भ्रममात्र है, **यथार्थ नही** है। यह अज्ञानमूलक भ्रमपूर्ण मति तभी तक रहती है जबतक जीवको स्व-परका विवेक नही जागता। विवेकीको वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाता है तब भूल मिट जाती है।

इनमे निमित्त नैमित्तिकभाव कैसे बैठता है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जब जीवके पूर्वोपार्जित कर्मोदयकी स्थितिमे, रागादि विकाररूप परिणमन होता है, तब कर्मोदयको निमित्त कहते है, और जीवकी रागादि विकारी परिणतिको नैमित्तिकभाव कहते हैं। इसी प्रकार जब जीवके रागादिभाव होते है, तब नवीन कार्माण पुद्गल वर्गणाएँ कर्मरूप बनकर, जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त होती है। यहाँ जीवके परिणाम निमित्त है, और पुद्गलकी जो कर्मरूप परिणति बनी, **जो पहिले नही थी**, वह उसका नैमित्तिकभाव है।

इस प्रकार परस्पर दोनोमे यह **निमित्त नैमित्तिक** सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। इसीका नाम जीवका ससार है। **इसी सम्बन्धका यदि नाश हो जाय तो उसे ही मोक्ष कहते हैं।** इस सम्बन्धके कारण ही कर्मोदयको जीवमे विकारका कर्त्ता, व्यवहारत. कहा जाता है। यथार्थमे विकार तो जीवमे जीवके कारण उत्पन्न होता है, पर वह बिना कर्मोदयके नही होता, अतः उसे निमित्त कहते है। इसी प्रकार पुद्गलमे कर्मरूप अवस्थाको जीव उत्पन्न नही करता, वह तो

पुद्गलका परिणमन पुद्गलद्रव्यकी ही योग्यतासे होता है। पर जीवपरिणाम यदि निमित्तभूत न हो तो वह नही होता, यही इनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। दोनो अपनी-अपनी पर्यायोके साथ तन्मय होनेसे यथार्थत कर्ता हैं। द्रव्योकी वे पर्यायें हो कर्म हैं।

निश्चयनयकी दृष्टि इस यथार्थ तत्त्वको जानती है और ऐसा ही वर्णन करती है। साराश, जीव ही ससारके दुख उठाता है, तथा वही मोक्षके सुखका अधिकारी बनता है। यदि उक्त कथन निश्चयनयका यथार्थ न होता तो पुद्गलको भी ससारका दुख और मुक्तिका सुख लाभ होता। पर ऐसा नही है। अत यह सिद्ध है कि स्वपरिणमनका कर्ता-भोक्ता आत्मा है और इसी प्रकार पुद्गल भी अपने ही परिणमनका कर्त्ता-भोक्ता है। अध्यात्म दृष्टिसे कर्तृकर्मभाव, एक द्रव्यमे, एक समयवर्ती माना गया है। कार्य कारण भाव आगममे पूर्वोत्तर समयवर्ती कहा गया है।

'जीवने कर्म किया और **कर्मका फल भोगा**' ऐसा भी शास्त्रोमे कथन आता है। **वह व्यवहारनयसे** कहा गया है **परमार्थनयसे** नही। उन आचार्योंने परमार्थको जानते हुए भी जगह-जगह व्यवहारनयका उपयोग करते हुए निरूपण किया है वह व्यवहारीजनोको परमार्थ तक पहुँचानेके लिए ही किया है।

यदि पुद्गल ही जीवको रागीपर्यायमे परिणत करता है इसे यथार्थ माना जाय, तो पुद्गल दो द्रव्योकी पर्यायोका कर्त्ता होगा। एक अपनी कर्मपरिणतिका दूसरे जीवकी रागपरिणतिका। इसी प्रकार यदि जीवने कर्म बनाये ऐसा माना जाय, तो जीव अपने रागभावका तथा पुद्गलकी कर्म परिणतिका, ऐसे दो द्रव्योकी पर्यायोका कर्त्ता हो जायगा। परन्तु ऐसा कथन जिनेन्द्र वचनोसे विपरीत है। जब **पुद्गल स्वयं राग-द्वेष भावमय नहीं होता,** तब **वह उसका कर्त्ता है यह कैसे कहा जा सकता है।** इसी प्रकार यदि जीव, कर्म पुद्गलका कर्त्ता माना जाय तो उसे वर्णादिमय पुद्गलद्रव्यरूप बन जाना होगा। किन्तु ये दोनो बाते प्रत्यक्षसे ही विरुद्ध है। अतएव एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको पर्यायोका **यथार्थ कर्त्ता नहीं है,** किन्तु जो द्रव्य जिस पर्यायसे **तन्मय होता है वही उसका कर्त्ता** होता है। अन्य द्रव्य नही। अन्य **द्रव्य तो उसमे निमित्तमात्र हैं।** घटकार घटका निमित्त है, कर्त्ता नही, क्योकि वह स्वय घटमय नही होता। इसी प्रकार जीव कभी पुद्गल नही होता अत पुद्गलकर्मका कर्त्ता नही है, और न पुद्गल द्रव्य, जीवकी किसी पर्यायका कर्त्ता है, ऐसा सिद्धान्त निर्णीत होता है ॥५०॥

कर्ताकर्मपनेका नियमन परमार्थतः कैसा है, इसे आचार्य कहते हैं—

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
य. परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**य. परिणमति स कर्ता**) जो पर्यायसे तन्मय होकर परिणमता है, वही द्रव्य उसका कर्त्ता है। (**य परिणाम**) और जो परिवर्तन हुआ है, (**तत् तु कर्म भवेत्**) वही उस द्रव्यका अर्थात् कर्त्ताका कर्म है। (**या परिणति. सा क्रिया**) उसमे जो परिणति हुई है वही क्रिया है। (**त्रयम् अपि**) कर्त्ता कर्म क्रिया ये तीनो भी (**वस्तुतया भिन्न न**) यथार्थमे जुदो-जुदी नही है, किन्तु तीनो एक द्रव्यरूप ही है ॥५१॥

भावार्थ—निश्चयनयसे अर्थात् परमार्थसे द्रव्य, **उसकी क्रिया**, और क्रियाके आधारपर होनेवाली उस द्रव्यकी पर्याय, तीनो एक सत्तात्मक हैं। वे कथनमे तीन है, पर जुदी-जुदी सत्तारूप नही है। **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्'** भगवान् उमास्वामीके इस सूत्रने तीनोको मिलाकर ही एक 'सत्' कहा है। उन्होने 'सत्' को ही द्रव्यका लक्षण 'सद् द्रव्यलक्षण' सूत्र द्वारा बताया है।

साराश यह हुआ कि जीव द्रव्य भी परिणमन स्वभावी है, और पुद्गल भी। **जीव रागादि-रूप क्रिया करता है तब स्वय रागी होता है।** अत जीवद्रव्य, **उसकी क्रिया तथा रागपरिणति तीनों जीवसे अभिन्न है।** यहाँ पूर्वमे जिस काल तक जीवने राग क्रिया नही **की थी तब उसका कर्त्ता न था।** जब जीव रागी हुआ तो रागपर्यायका कर्त्ता हुआ। राग पर्यायकी उत्पत्ति हुई। जब क्रोध रूप बना, तब रागकी पर्यायका व्यय हो गया, क्रोधरूप पर्यायकी उत्पत्ति हुई, तथापि जीव दोनो पर्यायोमे स्थित रहा। इस तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनो जीवकी सत्तामे ही रहे, यही एक सत्तात्मकता है। इसी प्रकार पुद्गल भी पूर्वमे जो कर्मरूप नही था वह अपनी **अकर्म पर्यायको नष्ट कर, कर्मरूप बना।** तब अकर्म पर्यायका व्यय, और कर्मपर्यायका उत्पाद हुआ, किन्तु पुद्गल द्रव्यपना दोनो अवस्थाओमे स्थित है। इस प्रकार उत्पादादि त्रयात्मक सत्ता पुद्गलमे रही। सभी द्रव्योके परिणमन इसी एक सुनिश्चित अकाट्य नियम पर होते हैं, इसलिए तीनो ही वस्तुमे भिन्न नही होते। परिणमन उनमे प्रति समय होता ही रहता है, वह कभी रुक नही सकता। यद्यपि इस परिणमनमे पर द्रव्यको पर्याय निमित्तभूत होती है, तथापि **वस्तु अपने परिणमन स्वभाव के लिए उस निमित्तके लिए रुकेगी नही। रुक जाय तो परिणमन वस्तुका स्वभाव न होकर विभाव हो जायगा।**

जो स्वाधीन हो वह स्वभाव कहलाता है, जो परके आधीन हो वह स्वभाव नही होता, वह विभाव होता है। सो विभावरूप परिणमन भी भले ही परके निमित्तसे हो परन्तु वस्तुकी परिणमनशीलता रूप स्वभावके अभावमे वह परके रहने पर भी नही होता। अत सिद्ध है कि जीव अपने स्वभाव विभाव परिणमनमे स्वय सक्षम है, उसमे परका कोई दोष नही है ॥५१॥

यह बात इस पद्यसे स्पष्ट ज्ञात होती है—

एकः परिणमति सदा, परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यात् अनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**एकः सदा परिणमति**) द्रव्य अकेला ही निरतर परिणमन करता है। (**परिणामः सदा एकस्य जायते**) परिणमन भी सदा एकका ही देखा जाता है। (**एकस्य परिणति स्यात्**) परिणति क्रिया एक मे ही होती है। अत सिद्ध है कि (**अनेकम् अपि**) कर्त्ता-कर्म क्रियाएँ अनेक होकर भी (**एकमेव**) एक ही हैं अनेक सत्तात्मक नही हैं ॥५२॥

भावार्थ—जैसे मृत्तिका घट बनती है। उसमे घट रूप परिणमनको करनेवाली अकेली मिट्टी ही है, कुभकार नही। घट अवस्था मिट्टीकी हुई है, कुभकारकी नही। घट परिणमनमे परिणति रूप क्रिया मिट्टीमे हुई है, कुभकारमे नहीं। अत. जैसे यहाँपर तीनोका अर्थात् कर्त्ता-कर्म और क्रियाका आधार मिट्टी हो है, उसमे निमित्तभूत कुभकार आधारभूत नही है, इसी प्रकार

जीव ही रागादिरूप परिणमनका कर्ता है पुद्गल कर्म नही। रागरूप परिणमन जीवमे होता है कर्ममे नही, तथा जीवमे ही रागादि क्रियाएँ होती हैं, कममे नही[१]। फलत जीव ही इन तीनोकी एकताका आधार है, कर्मादि अन्य द्रव्य नही। इससे सिद्ध हुआ कि न रागादिका कर्ता पुद्गल है, और न मोह ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मका कर्त्ता जीव है। प्रत्युत अपनी-अपनी पर्यायोके कर्ता दोनो द्रव्य अपने परिणमन स्वभावके कारण, स्वय हैं। उनमे एक द्रव्यकी पर्यायमे दूसरा, अर्थात् जीवकी राग पर्यायमे कर्मोदय, और पुद्गलकी कमरूप पर्यायमे जीवका राग परिणाम, निमित्त मात्र अवश्य है, पर एक दूसरेके कर्त्ता वे नही है। कर्त्ता स्वय अपना-अपना द्रव्य है, क्योकि पर्याय उसमे ही होती है ॥५२॥

दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नही बनाते इसका प्रतिपादन निम्न पद्यसे करते है—

नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्नपरिणतिः स्यात् यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) निश्चयसे (**नोभौ परिणमतः**) दो द्रव्य मिलाकर एक पर्याय नही बनाते (**परिणाम· उभयो न प्रजायेत्**) एक परिणमन दो का नही होता (**उभयो**) दो द्रव्योकी (**परिणति**) एक परिणति रूप क्रिया (**न स्यात्**) नही होती। (**यत्**) क्योकि (**अनेकम्**) अनेक द्रव्य (**सदा अनेकमेव**) अनेक ही रहते है ॥५३॥

भावार्थ—ऊपर के कलश मे जो कहा गया था वह विधिपरक है। इस कलशमे निषेधरूपसे उसीका समर्थन किया गया है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि दो द्रव्योकी एक पर्याय नही होती, अर्थात् दो द्रव्योको मिलकर एक पर्याय हो ऐसा नही होता। कोई पर्याय दो द्रव्योके आधारपर नही होती, अर्थात् दो द्रव्योमे रहती हो ऐसा भी नही है। इसी प्रकार परिणमन रूप क्रिया भी दो द्रव्योकी एक ही हो ऐसा भी नही है।

(६२) **प्रश्न**—मनुष्य देव आदि पर्यायें, जीव और शरीर दोनोकी मिश्रित पर्यायें हैं, अत यह कथन तो विपरीत है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योकि जीव चेतन द्रव्य शरीर पुद्गल जड द्रव्य प्रसिद्ध है।

समाधान—व्यवहारसे दोनोको मिलाकर मनुष्य पर्याय या देव पर्याय कहते हैं। पर जब द्रव्य दो हैं तब जीव अपनी मनुष्य पर्यायमे है, और शरीर अपनी मनुष्य पर्यायमे है। इसमे दो द्रव्योकी अपनी-अपनी दो स्वतन्त्र मनुष्य पर्यायें है। "मृत मनुष्य" उसे कहते है जब मानव अपनी मनुष्य पर्याय समाप्त कर चुका है और सामने केवल शरीरकी मानवाकृति पडी है। जो पडी है वह शरीरकी (**पुद्गलकी**) मनुष्य पर्याय है—जीवकी मनुष्य पर्याय समाप्त हो गई। अत· सिद्ध है कि दो **द्रव्योकी सयोगी दो पर्यायोमे एक मनुष्य पर्यायका मात्र व्यवहार था—यथार्थ में ऐसा नहीं था।**

---

१. पुद्गल कर्म मे पाई जाने वाला अनुभाग शक्ति भी, राग शक्ति या भाव कर्म है। 'तस्सत्ती भाव-कम्मं 'तु'—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६ देखिये। तथापि यहाँ जीवगत रागके कर्त्ता, कर्म, क्रिया की चर्चा है।

(६३) **प्रश्न**—सेना-वृक्ष पर्वत-समुद्र-नदी-भवन-उद्यान-आदि समस्त पर्यायें अनेक जीव वा पुद्गल द्रव्योंसे बनी हुई देखी जाती हैं। बिना अनेक जीव तथा पुद्गलोके, उनका उक्त व्यपदेश ही नही है, अत. सिद्ध है कि अनेक द्रव्योमे एक परिणमन होता है।

समाधान—सेना-पर्वत-नदी-समुद्रादि एक पर्याय रूप नही हैं, किंतु अनेक द्रव्योकी **अनेक पर्यायोंके समुदायमे उक्त व्यपदेश व्यवहारी जन करते हैं।** सेना अनेक सैनिकोकी समुदाय रूप सज्ञा है। यदि प्रत्येक सैनिकको देखा जाय तो उसमे वे सब अनेक सैनिक हैं जो अपनी-अपनी पर्यायमे स्थित हैं। सेना मात्र सामान्य व्यपदेश है।

सामान्य दो प्रकारका होता है—**एक द्रव्यगत सामान्य, दूसरा नानापदार्थगत सामान्य।** जैसे एक व्यक्ति अपनी बाल-युवा-वृद्ध नानापर्यायोमे व्याप्त रहा, वह अपनी नानापर्यायगत समानताके कारण ही पहिचाना जाता है। यहाँ पर्यायोकी विभिन्नता होने पर भी व्यक्तिका उसमे एकत्व है, इसे **एक द्रव्यगत सामान्य कहते है। इसे ही ऊर्ध्वता सामान्य भी कहते हैं।**

जहाँ नाना पदार्थोंमे समानता पायी जाती है, जैसे नाना सैनिकोकी एक समान वेशभूषा, वह **नानापदार्थगत सामान्य हैं।** इसे **तिर्यक् सामान्य** भी कहते है। इससे नाना व्यक्ति अपनी-अपनी पर्यायमे स्थित है, तथापि वे पर्यायें समान आकार प्रकार या गुणोको लिए हैं, उसमे समानताके अर्थ मे **एकताका मात्र व्यवहार है, परमार्थसे वे एक नहीं हैं।**

इसलिए सेना, वन, आदि गत सामान्यमे नाना द्रव्योकी एक पर्याय नही है, किन्तु नाना द्रव्योकी नाना पर्यायोमे एकताका व्यवहार ही जनसाधारण करते हैं। व्यक्तिश वे अनेक ही है। इस व्यक्तिपरक दृष्टिमे नाना द्रव्यगत सामान्य अवस्तु हो ठहरता है। ऐसा सामान्य, स्वतन्त्र पदार्थके रूपमे, वैशेषिक मतमे स्वीकृत है, जैनमतमें उसकी स्वतन्त्र सत्तात्मक स्थिति नही है।

समानजातीय नाना पुद्गलोकी स्कधात्मक पर्यायमे एक पर्यायपनेका भी व्यवहार शास्त्रोमे वर्णित है। जीवपुद्गलको नर-नारकादि पर्यायमे, असमान जातीय दो द्रव्योकी पर्यायका भी व्यवहार किया जाता है। तथापि समानजातीय हो या असमान जातीय, द्रव्य अनेक है अतः पर्याय भी वस्तुत अनेक हैं।

(६४) **प्रश्न**—दो तथा अनेक द्रव्योमे एक क्रिया देखी जाती है। जैसे हम हाथ पैर चलाते हैं तब आत्मा शरीर दोनोकी एक हलन-चलनरूप क्रिया होती है। रेल, मोटर चलती है तो वह क्रिया रेल, मोटरमे समुदायात्मक नानापुद्गलो की एक क्रिया होती है।

समाधान—ऐसा नही है। जब हाथ पैर चलते है तब शरीरकी क्रिया, शरीरमे होती है, और जीवकी क्रिया जीवमे होती है। स्थानान्तर प्राप्ति दोनोकी हुई अत दोनोकी पृथक् क्रिया सिद्ध है। रेलके **सभी डिब्बे अपनी पृथक्-पृथक् समान क्रियाओमे परिणत हैं। सबकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। उस समय उनमे क्रियाकी समानताके कारण एकताका मात्र व्यवहार है।**

(६५) **प्रश्न**—जब आप ऐसा कहते है कि जड शरीरकी क्रिया जडमे होती है, वह आत्माकी क्रिया नही है, तो ऐसा माननेसे आप ससारमे पापका प्रचार करते हैं, क्योंकि चोरी-व्यभिचार-आदिक कर्म करनेवाला, सारा काम जड शरीरकी क्रियासे ही करता है, यदि वह क्रिया आत्माकी

नहीं है, तब वह न अपराधी है, न पापबन्धका कर्ता है। ऐसी मान्यतामे आत्माको नरकादि गति-का बन्ध ही न होगा, तब पापसे वह क्यो भयभीत हो ? फलत पाप-प्रचारके लिए आपका यह सिद्धान्त ही साधनभूत हो रहा है। अत इसे छोडकर, दो द्रव्योकी भी एक क्रिया होती है ऐसा मानना ही उचित है।

समाधान—यह मानना नितान्त भूलभरा है। आत्मा और जडशरीरको भिन्न-भिन्न क्रियाएँ कहना ही सत्य और यथार्थ है[१]। चोरी और व्यभिचार शरीरकी क्रियाके आधारपर अनुमानित होता है कि इसकी आत्मा पापी है। **आत्माकी पापक्रियाकी अनुमापक उसकी बाह्य क्रियाएँ हैं। बाह्यक्रियाका ही अर्थ** शारीरिक क्रिया है। चोर या **व्यभिचारी** शरीरकी **प्रायोगिक** क्रियाके पूर्वमे ही **चोरी** और **व्यभिचारके परिणाम** करता है, और **कर्मबन्धन उसे अपनी उस विकार** परिणतिके कारण **ही होता है। शरीरसे क्रिया तो पश्चात् होती है।** आत्मविकार पूर्व होता है—अत कर्मबन्धन तो शरीर क्रियाकी अनुत्पत्तिकी दशामे हो गया। यदि कोई चोरी और व्यभिचारका परिणाम करे, पश्चात् विघ्न आ जानेसे चोरी और व्यभिचाररूप शारीरिक क्रिया न कर सके, तो क्या वह कर्मबन्धको प्राप्त नही होगा ? अवश्य होगा। अत दो **द्रव्योकी दो क्रियाएँ हैं ऐसा कथन ही पाप-पुण्यकी यथार्थ स्थितिका बोधक है। यदि ऐसा न माना जाय तो पापका प्रचार अवश्य होगा।** वह इस प्रकार कि कोई दिनरात व्यभिचार की इच्छा व चोरी-की इच्छा करनेवाला व्यक्ति है पर वह अनेक दिनोमे अपनी उक्त इच्छाओके अनुसार, शरीराधार पर अबतक उक्त दोनो पाप नही कर सका, वह अपनेको न चोर समझेगा न व्यभिचारी समझेगा। वह तो अपनेको निरपराधी मानेगा, तथा अबधक मानेगा। पर यह मान्यता आगम विरुद्ध है।

लोकव्यवहारमे चूँकि सामान्य जन, अन्यके अन्तरंगके वे परिणाम जिन्हे आत्माकी क्रिया या विकारी परिणति कहना चाहिए, नही जान पाते, अत उनको अपने परिणामोके अज्ञात रहने पर, वह अपनेको निरपराधी कहता है। सामान्य जन उसके परिणामके अज्ञानके कारण उसे निर-पराध मान भी लेते हैं। पर यह मान्यता अज्ञानमूलक है। यदि यह अन्यके ज्ञानमे आ जाय कि यह व्यक्ति ऐसे खोटे भाव रखता है, तथा उक्त पापकार्य करनेको ताकमे रहता है, तो वे भी उसे पापी मानेंगे ?

अत सिद्ध है कि प्रत्येक जीव अपने परिणामोके विकारोके कारण पापी है। शरीर क्रियाके कारण नही। वह तो बादमे होती है, पर पाप तो पहिले ही हो चुका है। अत यदि दो द्रव्योका एक परिणमन, एक स्वामित्व, एक क्रिया मानी जायगी तो जब एक द्रव्य मात्रका, अर्थात् मात्र आत्माका विकारी परिणमन होगा, तब वह पापी होकर भी अपनेको पापी न मानेगा, ऐसी अनिष्टा-पत्ति आयगी।

अत सिद्ध है कि (१) दो द्रव्योका मिलकर एक परिणमन नही होता। (२) एक परिणमन-के स्वामी दो द्रव्य नही होते, तथा (३) दो द्रव्योकी एक क्रिया नही होती ॥५३॥

कर्त्ता-कर्मकी अपेक्षा इसीको स्पष्ट करते है—

---

१ ईर्या समितिसे चलने वाले साधुके पांवतले आकर कोई जीव मर जाये तो साधुको, शरीर क्रिया मात्रसे, बध नहीं होता।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो, द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ।।५४।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक कार्यके-परिणमनके (**हि**) निश्चयसे (**द्वौ कर्तारौ**) दो कर्त्ता (**न स्त**) नही होते । (**एकस्य च**) तथा एक कर्त्ताके (**द्वे कर्मणी**) दो कर्म (**न**) नही होते । (**न च एकस्य द्वे क्रिये**) एक द्रव्यकी दो क्रियायें नही होती । (**यत**) क्योकि (**एकम् अनेकम् न स्यात्**) एक द्रव्य दो या अनेक द्रव्य नही होता ।।५४।।

भावार्थ—किसी भी पर्यायका कर्त्ता स्वद्रव्य ही होता है । दो द्रव्य मिलकर एक पर्यायके कर्त्ता नही होते । जैसे जीव तथा पुद्गल कर्म दो द्रव्य हैं, वे मिलकर किसी एक पर्यायके कर्त्ता हो ऐसा नही है । यदि ऐसा होता तो जैसे जीवमे रागादि विकार है, वैसे पुद्गल कर्ममे भी होते । अत एक पर्यायका एक ही द्रव्य कर्त्ता है, दो द्रव्य नही ।

इसीसे यह भी सिद्धान्त स्वत फलित होता है कि एक कर्ताका प्रति समय एक हो कर्म होगा, वह दो कर्मोंका कर्ता नही होगा । क्योकि कोई द्रव्य, अपनो पर्यायका भी कर्ता हो, और अन्य द्रव्यकी पर्यायका भी कर्ता हो, ऐसे दो पर्यायोका कर्ता हो, ऐसा भी नही है । यदि ऐसा माना जायगा तो दूसरा द्रव्य कर्तृत्व विहीन हो जायगा और ऐसी श्रृखला चलने पर ईश्वर कर्तृत्व का प्रसग आयेगा जो जिनागम सम्मत नही है ।

एक द्रव्यमे दो क्रियाएँ एक साथ नही हो सकती, एक ही क्रिया होगी । जो उसकी पर्याय होगी, तत्परिणमन रूप ही उसकी क्रिया होगी । जब अन्य द्रव्यके परिणमनरूप उसे परिणमना नही है, तब उस अन्य द्रव्य सम्बन्धी क्रिया भी अन्य द्रव्यम ही होगी, उसमे नही ।

अत सिद्ध है कि एक द्रव्य, एक ही स्वपर्यायका कर्ता है । एक कमका एक ही द्रव्य कर्ता हे । एक द्रव्यम एक हो स्व-परिणति क्रिया होती है क्योकि एक एक ही रहेगा, वह अनेक नही हो सकता ।

उक्त ५१-५२-५३-५४, इन चारो पद्यो द्वारा यह साराश निकलता है कि द्रव्य स्वय कर्ता है, और वह केवल अपनी पर्यायका ही यथार्थ कर्ता हे । पर द्रव्यका और उसकी पर्यायका कर्ता वह कदाचित् भी नही होता । पर द्रव्यको पर्याय, उसमे निमित्त कारण अवश्य होती है, तथापि द्रव्य अपनी पर्यायका तो यथार्थ कर्ता है, अन्य द्रव्यकी पर्यायके लिए वह मात्र निमित्त है । निमित्त यथाथ कर्ता नही है । व्यवहारमे उसे भी कर्ता कहा जाता है । यह कथन व्यवहारका ही है परमार्थ ऐसा नहीं है । ये चारो पद्य ही इस कथनमे आगम प्रमाण स्वरूप है ।।५४।।

तथापि अनादि कालसे जीवकी प्रवृत्ति इसके विपरीत हे ऐसा भाव निम्न पद्यमे प्रदर्शित करते है—

आसंसारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वार ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तम ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवार व्रजेत्
तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ।।५५।।

अन्वयार्थ—(**आससारत एव**) यह जीव अनादि कालसे हो अपने स्वरूपकी तथा यथार्थ

तत्त्वकी अज्ञानताके कारण (**अहं परं कुर्वे**) 'मै परको करूँ' ऐसा मिथ्या विचार करके (**उच्चकैः धावति**) जोरोसे दौड लगाता है। आचार्य कहते है कि (**मोहिनाम्**) इन अज्ञानी मोही प्राणियो-का (**इह महाहंकाररूपं तमः**) यहाँ महान् मिथ्या अहकार रूप यह अज्ञान (**ननु दुर्वारं**) यथार्थमे दुर्निवार है—कठिनतासे दूर हो सकता है। (**तद्भूतार्थपरिग्रहेण**) वह शुद्ध निश्चयके विषयभूत शुद्धात्माके आश्रयसे (**यदि एकवारं विलयं व्रजेत्**) यदि एक ही बार नष्ट हो जाय (**तत्**) तो (**ज्ञानघनस्य आत्मनः**) उस ज्ञानीभूत आत्माको (**भूयः**) पुन दुबारा (**अहो किं बंधनं भवेत्**) अरे ! क्या बधन हो सकता है ? कदापि नही ॥५५॥

भावार्थ—ससारी प्राणियोको अनादिकालमे ही ऐसी दौड लग रही है कि परको ऐसा कर लूँ। मोही अज्ञानी पुरुषोकी यह अज्ञानता दूर होना बहुत कठिन है।

पर सयोग तथा तज्जन्य विकारोमे ही यह जीव—ये मेरे है, ये मेरा भला-बुरा करते है, अथवा मैं इनका भला-बुरा कर सकता हूँ, ऐसी भ्रमपूर्ण मतिरूप हो रहा है। ससारी सभी जन ऐसा मान कर ही समस्त व्यवहार करते व उसे ही सत्य मानते है। अमुक व्यक्ति मेरे कर्जदार हैं, उन पर मेरा रुपया है। मुझे दूसरोका इतना देना है। वह मेरा शत्रु है, मेरे इन कामोमे विघ्न डालता है, इत्यादि नाना प्रकारके सकल्प विकल्प अपने मोह जन्य **अज्ञान पूर्ण अहकारसे करते हैं।**

(६६) **प्रश्न**—संसारके सत्यतापूर्ण सम्पूर्ण व्यवहारको आप मोहजन्य, अज्ञानपूर्ण मात्र अहकार कहते हैं, तो क्या आप ही एक बुद्धिमान् है ? सारा ससार मूर्ख है ? सत्य तो वह है जो सबके प्रत्यक्ष गोचर हो, अत ससारियोका उक्त कथन सत्य है। आपकी यह एकमात्र कल्पना ही असत्य प्रतीत होती है।

समाधान—इसीसे तो कहा है कि **यह महान् अहंकाररूपी अज्ञान दुर्निवार** है। सहज ही दूर नही होता। मकान-बाग-बगीचा-व्यापारिक सस्थान—शत्रु-मित्र, ये सबके सब अपनी अखण्ड, नित्यानन्द, ज्ञानघन आत्मासे भिन्न वस्तुएँ है। **इनका सयोग मोही अपने विषय कषायरूप विकारोके वशीभूत होकर रहता** है।

यह तो सभी जानते है कि जो वस्तु जिसकी होती है वह उससे जुदी नही हो सकती। जो जुदी हो जाती है वह उसकी नही थी, पर थी, सयोग मात्र थी। ससारी, परके सयोगके होने पर—या अपने प्रयत्न द्वारा परका सयोग जोड लेने पर—उन पर पदार्थोमे "ये मेरे है" ऐसा स्वामित्व स्थापित करते हैं। उनका यह स्वामित्वका भाव गलत है। यदि वह उनका वस्तुत स्वामी होता तो वे सदासे उसके पास होते। फिर उनका कभी वियोग नही होता। वे सब उसके अनुकूल ही चलते, प्रतिकूल कोई न चलता।

परन्तु देखा जाता है—कल मकान बनाया था, कुछ समय बाद व्यापारमे घाटा होनेपर मकान साहूकारके यहाँ कर्जमे चला गया। जिस मकान पर राग था—स्वामित्व मानता था—आज उस पर दूसरेका स्वामित्व है, अब वह उसका स्वामी नहीं रहा, दूसरा उसका स्वामी है। सिद्ध हुआ कि यह **स्वामित्व काल्पनिक था** और दूसरेके **पास** भी स्वामित्व **काल्पनिक** ही है। पश्चात् जब ऐसा समय आता है कि दोनो आयु पूर्ण कर जाते है तब मकान **जहाँ खड़ा था, खड़ा है**, अब चाहे जो उसका स्वामी बना, पर वह उसकी कल्पना मात्र होगी। मकानने किसीके

स्वामित्वको कभी स्वीकार नही किया । वह तो अपना स्वामी स्वय रहा, **स्वयके अस्तित्व पर रह रहा है और रहेगा ।** एक दिन वह भी धरतीमे मिल जायगा तब उसके स्वामित्वके दावा करनेवाले खडे-खडे उसके खडहरको देखेंगे । उसे नष्ट होनेसे कोई बचा न सकेगा । बाग-बगीचे सस्थान सदा किसीके पास नही रहे । वे सब अपनी-अपनी पर्यायोमे यथासमय विलीन हुए । उन पर स्वामित्वका दावा करनेवाले अहकारी, अपनी-अपनी आयुके अन्तमे उनमे वियुक्त हो, अपनी गत्यनुसार पर्यायान्तरको प्राप्त हुए ।

यह सब प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसे सत्य न मानकर काल्पनिक स्वामित्वको सत्य मानना, यही तो मोही अज्ञानी जीवोका भ्रम है। जैसे स्वप्नमे सम्पदा पाकर कोई धनी बना, और उसे उसमे बहुत बडा अभिमान पैदा हुआ । स्वप्न भग होनेपर, अरे यह स्वप्न कल्पना थी सो स्वप्न तो मिटना था, यथार्थ तो सामने है, जागने पर व्यक्ति इसे ऐसा मानता है । इसी प्रकार यह जगत् भी स्वप्नके समान काल्पनिक है। यद्यपि इसमे दिखाई देनेवाली सभी वस्तुएँ सत्य है, छहो द्रव्य सत्य है, उनकी समय-समय पर होनेवाली पर्यायें तत्कालमे सत्य हैं, सयोगी भाव भी होते हैं अतः सत्य वे भी हैं। तथापि सम्यग्ज्ञान होनेपर, जब स्वपर भेद भासित होता है, तब इनक सम्बन्धसे होनेवाले राग द्वेष, अहकार सब मिथ्या हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषको भान होता है ।

ऐसा कहना चाहिए कि नशा करनेवालेको नशेकी हालत मे जो रग चढता है, उसमे वह मग्न रहता है, उसे ही यथार्थ मानता है, और सबको झूठा मानता है। पर नशा उतरने पर उसे कोई बताव कि नशेमे "तुम ऐसा प्रलाप करते थे" तो वह स्वय कहता है कि मै उस समय 'आपेमे' नही था। इसी प्रकार मोहके नशेमे भी यह ससारी जो कुछ करता है, और जो उसकी मान्यताएँ बन जाती हैं, वह उन्हे सत्य मानता है। जब परको अपना बनाते-बनाते वे अपने नही बनते, तब उसे तत्त्वज्ञान जागता है कि मैं व्यर्थ इन्हे अपने मानता था। यह सब मेरा भ्रम था। 'मैं भी आपेमे नही था'।

भ्रम अवस्थामे, यह भ्रम है—ऐसा भासित नही होता। नशेमे व्यक्ति यह नही जानता कि मै नशेमे हूँ। सोता हुआ व्यक्ति उस कालमे यह नही जानता कि मै सो रहा हूँ। मूर्च्छित व्यक्ति मूर्च्छा की बेहोशीमे यह नही जानता कि मै बेहोश हूँ। यदि इन अवस्थाओमे उसे यह होश रहे कि मै क्या हूँ, और यह निद्रा है, या नशा है, तो समझिए कि उसे नशा चढ़ा ही नही। वह जागता है, सोता हो नही। नशा ता वही कहा जाता है और निद्रा भी गहरी वही है कि व्यक्ति लुट जाय, पर उसे अपनेपनका कोई ज्ञान न हो। ज्ञान तो उसे नशा उतरने—निद्रा भग होने—स्वप्न टूटने—मूर्छा दूर होनेपर ही होता है। इसी प्रकार ससारी मोही अज्ञानीको, उस दशामे यदि गुरु सच्चा उपदेश देते है, तत्त्वज्ञानकी स्थिति उसके सामने रखते है, तो उसे ऐसा लगता है कि मै तो यथार्थ सत्य हूँ और ये गलत हैं, स्वय चक्कर मे है। इसीसे घर द्वार छोड़ गली गली भटकते है ।

रागी वैराग्यको समझ नही पाता। वह समझता है कि मात्र इन्हे भोगोपभोग प्राप्त नही है, या उनका वियोग हो गया है, अत. इनका यह वैराग्य, स्मशान वैराग्य है। साधन सम्पन्न होते तो ये भी ऐसा न कहते। ऐसी मान्यताको भ्रमपूर्ण स्थितिमे ही ऐसे प्रश्न उठते है। किन्तु जब परिस्थिति वश—जिन्हे अपना मानता था वे अपना नाता तोड़ देते है, जिनका सचय किया

था, उनका सयोग कारणविशेषसे छूट जाता है। अर्थात् कर्जके कारण, घाटेके कारण, लुट जानेके कारण, सरकारी कानूनके चगुलमे फँस जानेके कारण, जब वह उन सगृहीत पदार्थोंके स्वामित्वसे और उनके भोगोपभोगसे वियुक्त हो जाता है—तब ये मेरे है—यह स्वप्न टूट जाता है, और उनके वियोगमे दुखी होता है। इस स्थितिमे जो जाग जाता है वह ज्ञानी पुरुष, इस स्थितिका लाभ उठाकर, भ्रमका परित्याग कर, आत्मकल्याण कर लेता है।

जिनकी मोह निद्रा इस मारके बाद भी नही खुलती, वे यद्यपि चली जानेवाली सम्पत्तिके वियोगसे ठगाए है, तथापि यह कोठी मेरी थी, सस्थान मेरे थे, बन्धु मेरे थे, यह जमीन मेरी थी, यह गाँव मेरा था, मै इनका स्वामी था, ऐसी भूतकालकी रागकी सामग्रीको याद करके रागी बनता है। साथ ही अब पुन प्रयत्न करूँ कि ये मेरे ही पास आ जावें, अथवा दूसरा मकान बना सकूँ, खरीद सकूँ, घर बसा सकूँ, पत्नीका वियोग हो गया है—दूसरी शादी कर सकूँ। किसीको घरमे रख लूँ। मेरे पुत्र वियोग हो गया है अब फिर पुत्र हो जाय। यदि हानेकी स्थिति नही है तो मोही किसीके पुत्रको गोद लेकर, ये मेरा पुत्र है, ऐसा मान लेता है। पुत्रको, जो गोदका है, उसे कहता है कि तुम जिसके पुत्र अभी तक थे, अब उसके नही हो, मेरे हो। वे तुम्हारे पिता नही, अब मुझे पिता कहो। पिताकी जगह मेरा नाम लिखाओ। इन सब मिथ्या धारणाओको सही बनानेका असफल प्रयास करता है। अपनेको भ्रमपूर्ण स्थितिमे जान बूझ कर रखते हुए भ्रमको सत्य, और सत्यको भ्रम मान लेनेका स्वय दुराग्रह कर, अपनेको धोखेमे रखकर आनन्दित होता है। यह सब मोहकी अर्थात् अज्ञान भावकी महिमा है।

आचार्य इन सब स्थितियोको देखकर कहते है कि मोही जीवोका यह परमे अहकारका मिथ्याज्ञान दुर्निवार है। तथापि यदि जीव एक बार भी निश्चयनयसे, **द्रव्यार्थिक दृष्टिसे**, पदार्थके अनाद्यनन्त असली रूपको देखे, और नाशवान् पर्यायोकी अस्थिरताका बोधकर उन्हे स्थिर रखनेका, तथा परपर्यायोको अपनानेका उसका जो प्रयत्न है, उसकी खोखली स्थितिका ज्ञान कर, इस मोह मिथ्यात्वको भी दूर कर सके, तो उसे अपने यथार्थ ज्ञानानन्द स्वभावका दर्शन हो जायगा। ऐसी स्थितिमे उस ज्ञानघन आत्माको पुन कर्मका बन्धन नही होगा। आचार्य ससारी प्राणीपर करुणाकर, उसकी पर्यायविमूढताको छुडाकर, उसे द्रव्यदृष्टिमे पदार्थका त्रैकालिक स्वरूप दिखाना चाहते है, जिससे उसका भ्रम दूर हो और वह अपना कल्याण कर सके ॥५५॥

उक्त सब कथनका क्या निष्कर्ष है उसे निम्नपद्यमे बताते हैं—

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**आत्मभावान्**) अपने शुद्ध या अशुद्धभावोको (**करोति**) करता है। (**परः**) तथा आत्मभिन्न परद्रव्य (**सदा**) सदाकाल (**परभावान्**) परभावोको अपने शुद्धाशुद्ध-पर्यायोको (**करोति**) करता है। (**आत्मनः हि भावाः**) आत्माके परिणाम तो (**आत्मा एव**) आत्म-द्रव्यरूप ही है, तथा (**परस्य ते**) परद्रव्यके वे परिणाम (**पर एव**) परद्रव्यरूप ही है ॥५६॥

भावार्थ—ऊपरके कलशोमे वर्णित प्रकारसे यह निश्चित हो गया कि दो द्रव्योमे परस्पर सयोग सम्बन्ध, तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके रहते हुए भी, जीवके जो भी, परिणाम शुभ या

अशुभरूप, अशुद्धभाव, अथवा परकी उपाधि निरपेक्ष **शुद्धभाव** होते हैं, ये जीवद्रव्यरूप हैं, क्योकि जीवमे ही उनकी स्थिति देखी जाती है।

जीवसे भिन्न पुद्गल अथवा अन्यद्रव्य हैं उनके जो भी परिणमन होते हैं, वे अपनी स्वद्रव्य-की मर्यादामे ही होते है, अत वे परिणमन तद्द्रव्यस्वरूप ही हैं, आत्मरूप नही। अत. कार्माण-वर्गणाओका ही कर्मरूप याने ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, आत्माका नही।

यद्यपि मिथ्यात्व-रागादि जीवके परिणाम हैं—जीवमे ही होते है। तथापि कर्मोपाधिके बिना वे शुद्धजीवमे नही होते। जिस कर्मको उपाधिमे ये भाव होते है, उस कर्ममे भी तदुत्पत्तिमे निमित्ततारूप निजपर्याय होती है। अत मिथ्यात्वरागादि क्रोधादिभावरूप परिणाम, जीवमे होते हैं। **अशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा** उनकी गिनती जीवद्रव्यमे होती है—**शुद्ध निश्चयसे** नही। शुद्ध-निश्चयनय द्रव्यको परविरहित, शुद्धद्रव्यके रूपमे देखता है, अत उसकी दृष्टिमे रागादि आत्मामे नही है। पुद्गल निमित्त जन्य होनेसे उनकी गणना जीवमे नही है, पुद्गल॰ ॰, ऐसा उल्लेख ग्रन्थमे अन्यत्र किया है।[1]

तथापि यहाँ शुद्धाशुद्धनयका भेद न करके, जीवकी सत्तामे उत्पन्न सभी परिणमनोकी गणना जीवद्रव्यमे की है। इन जीवगत रागादिभावोकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत कर्मपुद्गलद्रव्यमे, जो निमित्त-पनेको योग्यतारूप मिथ्यात्व-रागादि-क्रोधादिरूप अनुभाग शक्तियाँ हैं, वे पुद्गलद्रव्यसे तादात्म्य रखती हुई उसीकी सत्ताके परिणमनस्वरूप हैं, अत उनकी गणना पुद्गलद्रव्यमे ही है।

फलत. राग-द्वेष-मोह आदि जीवरूप भी हैं और पुद्गलरूप भी है। जो जीवमे है वे जीवरूप, और पुद्गलकर्ममे जो अनुभाग शक्तिरूप हैं वे पुद्गलरूप है। उदाहरणके रूपमे देखिए—किसी फोटोग्राफरने आपका समुदायरूपमे फोटो लिया। चित्रमे आपका आकार आपको दिखाई देता है। यदि कोई पूछे इस चित्रमे जो अनेक व्यक्ति हैं, उनमे आप कौन है? तो आप अँगुलिके सकेतसे आपके रूपके आधारपर चित्र बता देते है कि 'मैं यह हूँ'। विचार कीजिए कि आप चित्रमे है क्या? यदि आप चित्रमे है तो वह तो बोलता नही है। जो बोल रहा है वह चित्रसे भिन्न है। इसमे सिद्ध है कि आपके चेहरेमे और चित्रमे समान आकार है, पर एक ही आकार नही है।

इसी प्रकार पुद्गलकर्ममे जो मिथ्यात्वोत्पत्ति मे निमित्तभूत् बननेकी योग्यतारूप-अनुभागशक्ति है वह भी भावकर्म है, और जीवमे जो मिथ्याश्रद्धानरूप परिणाम है वह भी **भावकर्म** है, परन्तु **जीवगत भावकर्म जीवकी पर्याय है** और मोह तथा **ज्ञानावरणादिकर्मगत भावशक्तिरूप परिणमन, पुद्गलद्रव्यका परिणमन है।** इस तरह जैसे आप चेतनात्मक, और आपका चित्र अचेतनात्मक है। उसी प्रकार रागादि भी चेतन-अचेतनात्मक है।

इनमे से **आत्मा अपने भावगत रागादि मोहादि विकार भावोका कर्ता है।** भले ही वह उदयागत कर्मके निमित्तसे हो। पर कर्म जीवमे रागका कर्ता या उत्पादक नही है। यदि कही

१ × × × ग्व गधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थान तादात्म्यलक्षणसबधाभावात् ॥
—समयसारगाथा ५८, ५९, ६० की आत्मख्याति टीका देखिये।

ग्रन्थान्तरोमे कर्मोदयका जीवगत रागका कर्ता लिखा गया हो, तो वह व्यवहार नयाश्रित कथन है। निमित्त सापेक्ष कथन है। निमित्त निरपेक्ष वस्तुके परिणमनकी दृष्टिसे, वह उसी वस्तुका परिणमन है, उसीसे कथचित् तादात्म्य रखता है, अन्यसे नही।

इसी तरह जीवका जिस समय रागादि रूप विकारी परिणमन हे, उस समय कर्मका उदय निमित्त मात्र है और उस रागादि परिणामोक निमित्तको पाकर कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल, स्वय ज्ञानावरणादिरूप परिणमन करता है, वह पर्याय मात्र पुद्गल द्रव्यकी है।

इस प्रकार परिणत कर्मवर्गणाएँ, जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त हो जाती है, पर उन ही जीवोके बन्धको प्राप्त होती है जो पर द्रव्योका कर्त्ता अपनेको मानकर, तथा अपने रागादिका कर्ता पर द्रव्यको मानकर, वस्तु तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान, और मिथ्या चारित्र रूप परिणमन करते है। जो तत्त्वज्ञानी है, स्व-परका भेद जानते हैं, वे अपने भावोका कर्ता आपको मानकर, अपने अपराधको स्वय स्वीकार कर, उसका सशोधन कर, कर्मबधसे मुक्त होते है।

परको अपराधी माननेवाला, परको सुधारनेका विकल्प करता है। इससे उसका आत्म-सुधार कभी नही होता। परमे उसका कर्तृत्व वस्तु स्थितिमे नही है, इसलिए परका कुछ कर पाता नही है। फलत स्वय सक्लेश रूप रह कर, अज्ञानी अपनी ससार परिभ्रमणकी परम्पराको बढाने वाले, मिथ्यात्व का बध करता हे। ज्ञानी जीव वस्तुकी स्थितिको समझता है अत वह परको पर वस्तु जान कर मोह नही करता, अत बन्ध नही करता। वह वस्तुके स्वभावका मात्र ज्ञाता होता है। पर वस्तुके साथ उसका मात्र **ज्ञेय-ज्ञायक** भाव सम्बन्ध है। अत. वह ससारके सम्पूर्ण परिवतनको तटस्थ व्यक्तिको तरह मात्र देखता है, उसमे लीन नही होता। इस प्रकारका भेद विज्ञानी, परसे विरक्त होकर परके कर्तृत्व भावको छोड देता है। **अज्ञानी** ससारमे भटकता हे ॥५६॥

यही बात इस कलशमे स्पष्ट करते है—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञान स्वय किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गा दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(**य स्वय ज्ञान भवन् अपि**) जो जीव यद्यपि स्वय ज्ञान स्वरूप है तथापि (**अज्ञानत. तु**) अपने स्वरूपका न जानकर (**सतृणाभ्यवहारकारी**) तृण सहित अन्नको अन्न मानकर खाने वाले पशुकी तरह (**रज्यते**) जीवके स्वभावमे और जीवके विकारोमे तथा निमित्त भूत द्रव्यकर्मम भेद न करके, दोनोमे एकत्व मानकर राग करता है (**असौ**) वह (**दधीक्षुमधुराम्ल-रसातिगृद्धया**) दही, शक्कर आदिक खट्टे मीठे मिश्रित स्वादकी गृद्धतासे (**नून रसाला पीत्वा**) शिखरिणीका पीकर उसे (**दुग्धमिव**) दूध मानकर (**गा दोग्धि**) गाय दुहता है। इसी तरह रागी रागको आत्मस्वभाव मानता है ॥५७॥

भावार्थ—यह जीव स्वभाव दृष्टिसे ज्ञान स्वभावी है पर अपना स्वरूप बोध न होनेके

कारण, अज्ञानी है। जैसे किसी व्यक्तिके घरमे पैतृक धन गडा है इस निधि का उसे ज्ञान नही है, अत परायी सेवा करके निर्धनताका अनुभव करता है। यद्यपि वह धनी है पर अपने धनीपनके अज्ञानके कारण, निर्धनपनेको भोगता है। यदि उसे कोई जानकार बता दे कि तेरे पूर्वजोने बहुत सा धन तेरे घरमे अमुक स्थान पर गाड रखा है तू उसका स्वामी है, तो वह तत्काल अपने धनवान्पनेका बोध करते ही निर्धनपनेकी दीनता छोड देता है। यद्यपि उसे अभी वह धन प्राप्त नही हो सका, पर 'मै धनी हूँ', ऐसी सुनिश्चित श्रद्धा हो गई, अत दीनपना मिट गया है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव, स्वरूपका ज्ञान न होनेसे, अज्ञानी हुआ दीनपनेको प्राप्त है। वह अज्ञानी पशु की तरह घास फूस मिले अन्नको ही मिलाकर खाता है। अन्न और घासके स्वादका भेदविज्ञान उसे नही है, इसीसे वह पशु अज्ञानी कहलाता है। स्वरूपका अज्ञानी जीवकी भी यही दशा है। वह जीव और शरीरके, या भाव कर्मके भेदको नही जानता। दोनोका एकत्व बोधकर, शरीर ही मै हूँ, जो राग-द्वेष क्रोध है वह मै ही हू, ऐसा मिश्रित स्वाद उसे आया है। उसे यह पता नही कि मै नित्यानन्द स्वभावी हूँ, इसलिए शरीरको अपना रूप मानकर शरीरके नाशमे अपना नाश, और शरीरकी उत्पत्तिमे अपनी उत्पत्ति मानकर, दीन हुआ भयभीत होकर दुखी होता है।

यदि उस निर्धनकी तरह इसे भी अपने ज्ञानधनका भान हो जाय तो इसका भी दीनपना छूट जाय। भले ही तत्काल वह ज्ञानका पूर्ण उपयोग न कर सके, पर श्रद्धामात्र होनेपर भी स्वभावका गौरव आ जाता है और दीनपना छूट जाता है। यह सम्यग्दृष्टिका स्वरूप है।

जैसे वही निर्धन, धन पानेपर उसका पूर्ण उपयोग कर, अन्तर बाहिर दोनोसे निर्धनपनेसे रहित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी ज्ञानभावमे रमण करनेपर, वीतरागी हो, परसे पराङ्मुख हो, स्वोन्मुखस्वरूपका द्रष्टा सम्पूर्ण क्लेशोसे रहित हो जाता है।

एक दूसरा दृष्टान्त ग्रन्थकार इस प्रकार घटित करते है कि कोई व्यक्ति, स्वाद भेदके अज्ञानकी अवस्थामे, दूध-दही शक्करका मिलाकर बनायी गई शिखरिणीको पी रहा है, और उसे ही गायका दूध समझता है। मिश्रित स्वादकी गृद्धतासे उसे पी रहा है। उसे उन चीजोका भेदज्ञान नही है। वह यह विवेक नही कर पाता कि इस शिखरिणीमे दहीकी खटास तथा शक्करकी मिठास है, इस भेदज्ञानके अभावमे 'दूध पी रहा हूँ' ऐसा मानता है। अत शिखरिणीके लिये गाय दोहता है। इच्छा पूर्ण नही होने पर दुखी होता है। इसी प्रकार अज्ञानी-शरीर तथा कर्मोदयजन्य विकारोको, और अपने ज्ञायकस्वभावको, भिन्न-भिन्न पहिचानता नही, किन्तु सबको मिलाकर एक मानकर उसमे ही रागी बना है। इसी अज्ञानसे दुखी हो रहा है।

द्रव्य कर्मके भेदोमे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि शक्तियाँ कही गई है। द्रव्य कर्मके उदयमे जीवमे भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि भाव होते है। इस कारण द्रव्य कर्मको 'भावक' और ससारी, विकार परिणत आत्माको 'भाव्य' कहा गया है। अज्ञानी जीव इस भाव्य-भावक मे भेद ज्ञान नही करता तथा अपनेको उनसे अभेदरूप मानता हुआ स्वयको विकारी भावरूप अनुभव करता है। यही भाव्य-भावक की सकरता है।

इसी प्रकार ज्ञानमे जाने गये शीत उष्ण आदि धर्मोको, तथा ज्ञेय और ज्ञानके भेदके अभावमे शीत ज्वर आदि रूप परिणत अपने आपको, अभिन्न मानकर अनुभव करता है। शीत उष्ण

आदि पुद्गलके गुणोसे, अथवा शरीर आदिसे, अपने आपको अभिन्न मानना, अनुभव करना, यही भाव्य भावक की सकरता है। यही स्वरूपका अज्ञान है।

अज्ञानका भी बहुत बडा माहात्म्य है, जिससे जीव अपने स्वरूपको, जा आपमे है, अपनेसे अभिन्न हैं, उसे तो भूल रहा है और जो अपनेसे भिन्न अतदात्मक शरीरादि है उनसे अपनी स्थितिका या तो अभिन्न मानता है, अथवा उसे ही मैं हूँ, ऐसा मानता है ॥५७॥

इस अज्ञानके विलासको दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातु मृगाः
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत् ।
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुला. ॥५८॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानात्**) जल और तपाई रेतकी चमकमे भेदज्ञानके अभावसे जनित अज्ञानके कारण (**मृगा**) हरिण (**पातु**) पानी पोने के लिए (**जलधिया**) जल समझकर, (**मृगतृष्णिकाम्**) तप्तरेतकी चमकती हुई आभाके प्रति (**धावन्ति**) दौडते है तथा (**अज्ञानात्**) रस्सी और सर्पका भेद ज्ञान न होने से (**तमसि**) अधेरेमे (**रज्जौ**) रस्सीमे (**भुजगाध्यासेन**) सर्पका बोधकर (**जन**) अज्ञानी जन (**द्रवन्ति**) भयभीत होते है। इसी तरह (**स्वयम् अमी**) ये जीव स्वयम् (**शुद्ध ज्ञानमया अपि**) यद्यपि अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप हैं तथापि (**अज्ञानात्**) स्वरूपके प्रति अपने अज्ञान भावके कारण (**वातोत्तरङ्गाब्धिवत्**) वायुके निमित्तको पाकर उछलने वाले समुद्रकी तरह (**विकल्पचक्रकरणात्**) नाना विकल्पोमे उलझते हुए (**आकुला**) व्याकुल होकर (**कर्त्रीभवन्ति**) उनके कर्ता बनने की भावना करते हैं॥ ५८ ॥

भावार्थ—यह प्रसिद्ध है कि जहाँ रेतीले मैदान हैं वहाँ रेत दोपहरमे सूर्यके तेजसे चमकती है। वह तपी हुई चमकदार रेत दूरसे ऐसी प्रतीत होती है कि वहाँ पानी भरा हुआ है। तृषातुर मृगादि पशु उसे पीनेको दौडते है। वहाँ पानी तो यथार्थ मे है नही, तथापि अज्ञानके कारण उनने उसे पानी समझ लिया। रेतकी इस चमकका इसीसे 'मृगतृष्णा' ऐसा नाम लोकमे पड गया है। ग्रीष्मके आतापमे पिपासासे दुखी मृग, जब उस मृग-मरीचिकाको पानी समझ दौड लगाता है, तब भीतर प्यासको दाह, ऊपर सूर्यका तेज तथा नीचे तपाई रेतका कष्ट, यह सब सहन करके भो, वहाँ जल न पाकर और भी तृषित होकर हाँफने लगता है। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ता है वैसे-वैसे आगे-आगेको रेत चमकसे पानीकी तरह दिखती है, तब और दौडता है। जब तक वहाँ पहुँचता है, तब तक और आगेकी रेत चमकनेके कारण भरे तालाबके जलका भ्रम उत्पन्न करती है। तृषातुर मृग उस मृगतृष्णाके पीछे दौडता-दौडता थक जाता है। शरीर सुस्त पड जाता है, गिर पडता है, और अन्तर्दाहकी अति वृद्धि हो जाने तथा उसे शमनके लिए एक बूंद पानी भी न पानेके कारण, प्राण त्याग देता है। इसी प्रकार यह ससारी प्राणी भी, भ्रमसे विषयोके प्रति यह समझकर दौड लगाता है कि मेरी अन्तर्दाह मिट जायगी, पर वह तो मिटती नही, तथापि ऐसी दौडसे विषयोके चाहकी दाह बढती जाती है, और यह अन्तम उनका दास बना हुआ आकुल-व्याकुल होकर प्राण छोड़ देता है।

दूसरा दृष्टान्त है कि अँधेरेमे न सूझ पडनेसे किसी सर्पाकारमे पडी हुई रस्सीको सर्प समझकर लोग भयभीत होकर भागते हैं। यद्यपि वहाँ भयका कोई कारण नही है—वह तो मात्र रस्सी है, तथापि अज्ञानके कारण मिथ्या अध्यवसायमे उसे सर्प मानकर लोग भयभीत होते हैं। उन्हे यदि रस्सीका स्पर्श हो जाय तो 'मुझे सर्पने डस लिया' ऐसे भ्रमसे प्राण भी त्याग देते हैं।

इसी प्रकार वस्तु स्वरूपका अज्ञानी प्राणी, अपने दुख दूर करनेके वास्तविक उपायभूत **निजके कर्तृत्व और परके अकर्तृत्वका ज्ञान न होनेसे**—परको सग्रह करने—उसे अपने अनुकूल बनाकर उसके आलम्बनसे दुख दूर करनेके भ्रमसे—परके कर्तापनेका व्यर्थ प्रयास करता है। जैसे मृगतृष्णामे जल असंभव है, वैसे विषयोमे तथा तत्-कारणभूत पदार्थोंमे भी, सुख असभव है। तथापि स्वरूपको परमे देखनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव अपनी सम्हाल नही करता, किन्तु पर पदार्थों, शरीर-स्त्री-पुत्रादि, धन-सुवर्णादि द्रव्योका सग्रह करता है, सम्हालता है, और उन्हे अनुकूल बनानेका व्यर्थ प्रयास करता है। वह परद्रव्योको न अपना बना सकता है न अपने अनुकूल परिणमा सकता है। जैसे शान्त स्वभावी समुद्र वायुके सञ्चारसे क्षुब्ध हो जाता है, तथा अपनी सहज शान्तिको मिटाकर अशान्त बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी सहज सुख शान्तिकी अवस्थासे भिन्न, अज्ञान जनित नाना विकल्पोको करता हुआ, परको करनेमे आकुलित हो दुखी होता है ॥५८॥

जो ज्ञानी होते हैं वे क्या करते हैं इस प्रश्नका समाधान निम्न पद्यसे आचार्य करते हैं—

ज्ञानाद् विवेचकतया तु परमात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचल स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो पुरुष (**ज्ञानात् विवेचकतया**) ज्ञानके विवेकसे (**हस**) जैसे हस (**वा:-पयसो विशेषम् इव**) जल और दूधका भेद करता है उस प्रकार (**परात्मनो**) स्व परका भेद (**जानाति**) जानता है (**स**) वह ज्ञानी (**सदा**) हमेशा (**अचल**) निश्चल रूपसे (**चैतन्यधातु अधिरूढ**) अपने चैतन्योपादान शक्ति पर आलम्बित होकर परको (**जानीत एव**) जानता ही है (**न किंचन अपि करोति**) किन्तु परका जरा भी कर्ता नही होता ॥५९॥

भावार्थ—जिसप्रकार अज्ञानी स्व-पर भेदको न जानकर, परका कर्ता अपनेको मानकर, **उस अज्ञानके कारण** परमे प्रयत्न करता है, किन्तु वस्तुस्थितिके विपरीत उसे न कर पा सकनेके कारण दुखी होता है। इस प्रकार स्व-पर भेद विज्ञानी दुखी नही होता। किन्तु वह ज्ञानी स्वपरका लक्षणभेद, गुणभेद, सत्ताभेद आदिसे, भेद जानकर जैसे हस पानी मिले हुए दूधको चोच डुबोने मात्रसे दूध पानीको भिन्न कर, दूध-दूध पी लेता है, पानी छोड देता है, उसी प्रकार ज्ञानी शरीरादि परद्रव्योको छोडकर, निज ज्ञायक स्वभावको ग्रहण करता है। वह सदाके लिए अपने चैतन्य-धातुमय सत्ताका अवलम्बन कर—**स्वभिन्न पदार्थोको मात्र अपने ज्ञानका ज्ञेय बनाता है,** अर्थात् मात्र उनको **जाननेका कार्य** करता है **किन्तु उनका कर्ता नहीं** होता ॥५९॥

ज्ञानकी महिमा ही श्रेष्ठ है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

अन्वयार्थ—(**ज्वलनपयसो**) अग्नि और जलमे (**औष्ण्यशैत्यव्यवस्था**) अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, ऐसा निर्णय (**ज्ञानादेव**) ज्ञानसे ही होता है। (**ज्ञानादेव**) ज्ञानके द्वारा ही (**लवणस्वादभेदव्युदास.**) व्यजनसे नमकके स्वाद भेदकी व्यवस्था (**उल्लसति**) प्रकट होती है। इसी प्रकार (**स्वरसविकसत्**) अपने निज चैतन्यरससे विकासको प्राप्त (**नित्यचैतन्यधातो.**) सदा चैतन्यरूप द्रव्यकी तथा (**क्रोधादेश्च**) क्रोधादि विकारोके (**भिदा**) भेद की व्यवस्थामे (**कर्तृभावम् भिन्दती**) आत्माके परकर्तृत्वके भावको भिन्न करती हुई (**ज्ञानादेव प्रभवति**) ज्ञानसे ही उत्पन्न होती है ॥६०॥

भावार्थ—ज्ञान पदार्थोके स्वरूपको यथार्थरूपमे देखता है, अत उसके द्वारा ही अग्नि द्वारा गरम पानीके स्पर्शमे—यह गर्मी अग्निकी है, जलस्वभाव तो शीतल है, ऐसे भेदकी भासना होती है। इसी प्रकार भोजन करनेवाला नानाव्यजनोका आस्वाद लेता हुआ भी, ज्ञानके द्वारा यह भेद जानता है कि इसमे नमकका यह स्वाद है, व्यजनका स्वाद इससे भिन्न है। इसी प्रकार अपने निजरससे अर्थात् अपने चैतन्यस्वभावसे जो परिपूर्ण है वह चेतनद्रव्य है। क्रोधादिभाव शुद्ध-चैतन्यरससे परिपूर्ण नही हैं, चेतनभावके स्वरूपसे उसके स्वरूपमे सर्वथा भिन्नता है, ऐसी भदकी भासना सम्यक्त्वी जीवको स्वानुभवाश्रित भेद विज्ञानके द्वारा ही होती है ॥६०॥

(६७) **प्रश्न**—यहाँ कोई प्रश्न करे कि ज्ञान भाव और क्रोध भावका भेद ज्ञानी जानता है, और इसीसे ज्ञान भावका कर्त्ता है, तब रागादि भावका कर्त्ता क्या जीव नही है ?

इस प्रश्नका समाधान निम्न पद्यसे होता है—

अज्ञानं ज्ञानमप्येव कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**आत्मा**) जीव (**आत्मान**) अपनेको (**ज्ञान अज्ञानम् अपि**) ज्ञान और अज्ञान रूप (**कुर्वन्**) करता हुआ (**अञ्जसा आत्मभावस्य**) यथार्थमे आत्मभावका (**कर्त्ता स्यात्**) कर्त्ता होता है (**परभावस्य**) वह पर द्रव्यकी पर्यायका कर्त्ता (**क्वचित्**) कही नही होता ॥६१॥

भावार्थ—ज्ञानरूप परिणति भी आत्माकी है और अज्ञानरूप अर्थात् रागादिरूप परिणति भी आत्माकी ही यथार्थमे है—जडकी नही। अतएव आत्मा अपनी दोनो प्रकारकी परिणतियोका कदाचित् कर्ता है, किन्तु पर द्रव्य, अर्थात् शरीरादि पुद्गल द्रव्यका कर्ता वह कदाचित् भी नही होता।

(६८) **प्रश्न**—रागादि भावको पुद्गलके भाव कहा गया था, यहाँ उन्हे आत्मभाव कहा गया है। वहाँ रागादिका कर्ता पुद्गलको कहा था, यहाँ आत्माको ही यथार्थ कर्ता कहा गया। ऐसा विरोध क्यो ?

समाधान—जहाँ रागादिको पुद्गल कहा गया है वहाँ शुद्ध निश्चयमे आत्माका व उसके कर्तृत्वका वर्णन है, अत उस दृष्टिसे आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यका कर्त्ता है। रागादिक शुद्ध चैतन्य रूप नही हैं, अत इनका कर्तृत्व **अशुद्धात्मामें है**। इसका तात्पर्य यह है कि जीव जब मोह रागादि अज्ञान भाव रूप परिणत होता है तब वह अज्ञानी है, और उस समय उस अज्ञान भावको कर रहा है। अतः अशुद्धोपादानसे वह उस अज्ञान भावका कर्ता, अशुद्ध निश्चयनयसे है। ज्ञानी जीव

ज्ञान भाव ही करता है, रागादि नही करता, अत: यह शुद्ध नयमे ज्ञान भावका कर्त्ता है, रागादिका कर्त्ता नही है[1]। इस प्रकार नय विभागसे दोनो वर्णन समझ लेने चाहिए, इनमे कोई विरोध नही है। अज्ञान भी ज्ञानकी विकारी परिणति है। रागादिसे युक्त होने पर उसी ज्ञानकी 'अज्ञान' संज्ञा होती है। किसी भी दशामे हो, आत्मा तो ज्ञान स्वरूप ही है। रागादि होने पर भी रागादि स्वभावी नही है तथापि जिस समय जिस पर्यायरूप परिणमता है, उस समय उस परिणमनका वही कर्त्ता होता है ॥६१॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा ज्ञान**) आत्मा ज्ञान स्वरूप वाला है (**स्वय ज्ञानं**) अथवा आत्मा स्वय ज्ञान ही है। (**ज्ञानात् अन्यत्**) ज्ञानसे भिन्न (**किम् करोति**) और क्या करता है ? (**परभावस्य**) ज्ञानावरणादि या घटादि कमका (**कर्ता आत्मा**) कर्त्ता आत्मा है (**अयम्**) यह (**व्यवहारिणाम्**) व्यवहारी जनोका (**मोह**) मोह है, अथवा भ्रम है ॥६२॥

भावार्थ—आत्मा उपयोग लक्षण वाला है, अत स्वय ज्ञानरूप है। ज्ञानमय है। सदाकाल चैतन्योपयोगरूप रहता है। शुद्ध दशामे शुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है, और अशुद्ध रागादि युक्त दशामे भी अशुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है। ज्ञानरूपताका परित्याग उसके कभी हो नही सकता है।

अनादिकालमे जब जीव निगोद जैसी क्षुद्र पर्यायमे रहा तब भी अक्षरानन्तभाग ज्ञान उसमे था। उस समय भी ज्ञानमे अनन्ताश थे। फिर अन्यान्य पर्यायोमे भी पर्याय-पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद-समास आदि रूपमे ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता गया। अन्तमे वही केवलज्ञानरूपमे प्रकट होता है।

इस तरह सदा काल ही यह आत्मा अपनी चैतन्य पर्यायोमे जगमगाता रहता है। जैसे अग्नि एक मात्र स्फुलिंगरूपमे हो, या दावानलरूपमे सारे वनमे फैल रही हो, किन्तु उसका जो स्वरूप है वह छोटी बडी सब अवस्थाओमे है। इसी प्रकार यह आत्मा सभी पर्यायोमे चैतन्य ज्योतिसे जगमगाता हुआ उस चैतन्यभावका कर्ता है, किन्तु **शरीरादि व ज्ञानावरणादि पुद्गल भावोंका कर्ता कदाचित् भी नही होता** यह निष्कर्ष है।

जैसे लौकिक जन घट-पटादिका कर्ता कुम्भकार या पटकार है, ऐसा शब्द द्वारा व्यवहृत कर, उनका कर्त्ता कुम्हार या जुलाहाको कहते हैं, पर ऐसा उनका कथन यथार्थ नही है, मात्र उपचार है। इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियोका—शरीरका—तथा ज्ञानावरणादिका—कर्ता है, ऐसा कथन उपचारमात्र है। निमित्त कारण की अपेक्षा ऐसा उपचार होता है, पर वह परमार्थसे भिन्न है।

(६९) **प्रश्न**—घटपटादिकर्ता तो कुम्भकारादि है, भले ही आप उन्हे निमित्त कर्ता मानो। इसी प्रकार शरीरादि ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलके परिणमनमे आत्मा निमित्त तो है, **अतः उपादान कर्त्ता न मानो उसे निमित्तकर्ता तो मानो। उनमे निमित्त नैमित्तिक भाव तो है ?**

---

१ णिच्छयणयस्य एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥ —समयसार गाथा ८३।

समाधान—पहिली बात तो यह है कि पर्यायका यथार्थ कर्ता स्वद्रव्य है, परद्रव्य नही। परद्रव्य निमित्तमात्र होनेसे यथार्थकर्त्तापनेका नाम नही पा सकता। **उपादानकर्त्ता ही यथार्थ कर्त्ता है।** रही **उपचरित या निमित्तकर्त्ता की बात, तो यथार्थमे** आत्माके तत्कालीन **अशुद्धोपयोग व योग ही** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म परिणतिमे **निमित्तभूत कर्त्ता** कहे जाते हैं। जब **आत्मा, योग** या **अशुद्धोपयोगपरिणत नहीं होता तब वह द्रव्य कर्मके परिणमनमे निमित्तरूप भी नहीं होता।** जैसे घटपर्यायमे कुम्भकार सदा निमित्त नही है, किन्तु जिस **कालमे उसकी इच्छारूप** प्रवृत्ति **तथा तद्विषयक उपयोग,** और तदनुकूल **मन-वचनकायकी क्रियाएँ होती हैं और यदि उस समय मृत्तिकादि उपादान सामग्रीका** सयोग **होता है,** तब वह **घटका निमित्त कर्त्ता कहलाता है, सदा नहीं।**[1]

फलत चेतनद्रव्य, जडद्रव्यकी पर्यायपरणतिका निमित्तकर्त्ता भी सदा नही होता, उसके तत्कालीन योग उपयोग ही निमित्तकर्त्ता होते है। आत्मा तो समय-समय अपने शुभ भाव और अशुभभाव करता है, अत वह उन भावोका कर्ता होता हे। क्योकि उनका भोक्ता वह है। यदि कर्ता न होता तो उनका फल भी न भोगता।[2]

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका यथार्थकर्त्ता इसलिए नही होता, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कोई नवीन गुणोत्पादन नही कर सकता। जो जिस गुणस्वभाववाला है, वह अपने गुणस्वभावरूप ही रहता है। अन्य द्रव्यके गुणस्वभावरूपमे बदलता नही है।[3]

जब जीव पुद्गलमे अपने ज्ञानादि गुण नही दे सकता, तथा पुद्गल जीवमे अपने रूप रसादि गुण नही दे सकता, तब उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है। जीवके परिणाम रागादि रूपमे जब होते है, तब पुद्गल कार्मण-वर्गणा स्वय ज्ञानावरणादिरूप परिणत हो जाती है। इसी प्रकार पुद्गलकर्मका जब उदयावस्थारूप निमित्त हो, तब जीव स्वय रागादिरूप परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्थामे परस्परकी निमित्ततामात्रसे इन्हे कर्त्ता कहना **उपचारमात्र** है, **परमार्थ नहीं है। व्यवहारनय ऐसा उपचरित कथन करता है** ॥६२॥

यहाँपर प्रश्नोत्तररूप कलश आचार्य स्वय उपस्थित करते है—

> **जोवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,**
> **कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।**
> **एर्तार्ह तीव्ररयमोहनिवर्हणाय**
> **संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥**

अन्वयार्थ—(**यदि जीव पुद्गलकर्म नैव करोति**) यदि जीव पुद्गलकर्म नही करता (**तर्हि कस्तत् कुरुते**) तो कौन उसे करता हे? (**इत्यभिशङ्कयैव**) ऐसी आशकासे ही अब (**एर्तार्ह तीव्र-**

१ जीवोण करेदि घड णेव पड णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ —समयसार गाथा १००

२ जं भाव सुहमसुह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्म सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ —समयसार गाथा १०२

३. जो जम्हि गुणो दव्वे सो अणम्हि दु ण सकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ —समयसार गाथा १०३

रयमोहनिवर्हणाय) प्रश्नकर्त्ताके तीव्र वेगवाले मोहको दूर करनेके लिए (**पुद्गलकर्म कर्तृ**) पौद्गलिक कर्मोंका कर्त्ता (**संकीर्त्यते**) कहा जाता है (**शृणुत**) सुनो ॥६३॥

भावार्थ—जीव ही घट-पटादिका कर्ता है, क्योकि वह चेतन है। इसी प्रकार वही पुद्गल कर्मका कर्ता भी है। अचेतनद्रव्य अचेतन होनेसे ही कर्ता नही बन सकता, इस विभ्रमको दूर करनेको आचार्य कहते हैं कि कर्मका कर्ता पुद्गल है, जीव नही है।

कहा जा चुका है कि जीव चार कारणोसे बन्धको प्राप्त होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये चारो बन्धके कारण है। ये चार सामान्य प्रत्यय हैं। इनके विशेष भेद प्रथमसे लेकर तेरहवें तक गुणस्थान है।

प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्वकी मुख्यताके कारण बन्धकर्त्ता है। दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानोमे अविरतिकी मुख्यता है। इनमे मिथ्यात्व भाव नही है। दूसरे व तीसरे गुणस्थानमे सम्यक्त्व भाव भी नही है, तथापि इन तीनोमे अविरति परिणाम ही मुख्यतासे बन्धका कारण है। पचम गुणस्थान देशविरति रूप है। यहाँ एकदेश अविरति है। षष्ठादिगुणस्थानोकी गणना कषायाधीन गुणस्थानोमे की है। अतः दशम गुणस्थान तक कषायोदय बन्धका कारण है। ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ गुणस्थान योगके कारण बन्धकर्ता है। इस तरह उन सामान्य चारके भेद इन तेरह रूप होते है।

शुद्ध निश्चयसे तो जीवमे गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमासादि कोई भेद नही हैं। क्योकि ये कर्मके उदयादि निमित्त जन्य भाव हैं, अतः ये शुद्ध नयाश्रित जीवके परिशुद्ध स्वभावसे सर्वथा भिन्न है।[1] तर्क यह है कि जो शुद्ध चैतन्यसे भिन्न है, वह चेतनके विपरीत 'अचेतन' है। फलतः इस तर्कके आधारपर एकसे लेकर तेरह गुणस्थान तक सभी गुणस्थान अचेतन हैं। पुदगल कर्मोदय निमित्त जन्य जीवमे पाये जानेवाले विकारोको शुद्ध निश्चयनयसे 'जीव' नही कहते। अशुद्ध निश्चयनयकी विवक्षामे वे अशुद्ध जीवके हैं, पुद्गलके नही। ऐसी नय विवक्षासे सभी वस्तु निष्पन्न होती है। अत द्रव्यकर्मका निमित्त कर्ता भी जीव नही है, किन्तु उक्त चार या तेरह गुणस्थान ही हैं, ऐसा जानना चाहिए। अत सिद्ध है कि पुद्गल स्वरूप कर्मका संचय या बन्ध, शुद्ध चैतन्यसे भिन्न, रागादि विकल्प ही करते हैं।

(७०) प्रश्न—जैसे ज्ञानोपयोग जीवकी सत्तामे पाया जाता है, उसी तरहसे क्रोधादि रागादि भाव भी तो जीवकी ही सत्तामे पाए जाते हैं। जड पुद्गलमे रागादि नही पाए जाते, अत. दोनोको समकोटिमे क्यो नही गिना जाता ?

समाधान—ज्ञानोपयोग जीवमे सदा पाया जाता है, क्रोधादि तथा रागादि भाव कर्मोदयकी अवस्थामे पाये जाते हैं सदा नही, अत. दोनोमे भेद है। इनका कर्तृत्व भोक्तृत्व जीवमे **अशुद्ध निश्चयनय, या व्यवहार नयसे** अवश्य है।[2] यदि व्यवहारसे भी कर्तृत्व भोक्तृत्व न माना जाय तो

---

१ णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेव दु ऐदे सब्वे पुग्गल दव्वस्स परिणामा॥ —समयसार गाथा ५५.

२ ववहारस्स दु आदा पुग्गल कम्मं करेवि णेयविह।
त चेव पुणो वेयइ पुग्गल कम्म अणेयविहं॥
जदि पुग्गल कम्म मिण कुव्वदि त चेव वेदयदि आदा।
दो किरिया वदि रित्तो पसज्जए सो जिणावमदं॥ —समयसार गाथा—८४-८५

कर्मबंध रूप ससारका भी अभाव होगा। ससार नही, तो मोक्ष भी नही। तब सर्वोपदेश प्रक्रिया भी व्यर्थ हो जायगी। अत सर्वथा एकान्तसे आत्मा अबद्ध नही है, और सर्वथा एकान्तसे बद्ध नही है, किन्तु शुद्धनयसे अबद्ध है, और अशुद्धनयसे बद्ध है।

साराश यह कि द्रव्य शुद्धका अर्थ है कि जीव द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है। पर्याय शुद्धका अर्थ यह है कि वर्तमान अशुद्ध पर्यायको मिटाकर निरुपाधि स्वभाव प्रकट हो जानेपर मुक्तावस्था हो। जैसे द्रव्य दृष्टिका विषय द्रव्य यथार्थ है वैसे ही पर्याय दृष्टिका विषय पर्याय भी यथार्थ है, अत दोनो नय यथार्थताका ही प्रतिपादन करते है। तथापि जो नय पर्याय पर दृष्टि न रखकर, उसे गौणकर स्वभावको देखता है वह द्रव्यदृष्टि है, और जो नय स्वभावको गौणकर वर्तमान पर्यायको देखता है उसे पर्याय दृष्टि या व्यवहार दृष्टि कहते हे।

व्यवहार दृष्टिको, स्वभाव दृष्टिसे असत्यार्थ कहा है, क्योकि व्यवहार या तत्कालीन पर्याय जीवका त्रैकालिक स्वभाव नही है। फलत अशुद्ध जीवके मिथ्यात्व-कषायादि विकारी भाव है, जिन्हे बन्धका कारण कहते हैं। चूँकि वे अशुद्ध पर्याय हैं, सोपाधि है, अत वे बन्धकर्ता हैं। जीव द्रव्य बन्धकर्ता नही है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका त्रैकालिक स्वरूप बन्धका कर्ता नही है। अत जीव बन्धकर्ता नही ऐसा कहनेमे कुछ बाधा नही। मिथ्यात्वादि प्रत्यय बन्धके कारण हैं और वे स्वभाव भाव न होनेसे चेतनसे भिन्न अचेतन है, ऐसा कथन करनेमे कुछ बाधा नही है ॥६३॥

अत यह स्थित हुआ कि—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भाव यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता ॥६४॥

अन्वयार्थ—(**पुद्गलस्य परिणामशक्ति स्वभावभूता**) पुद्गल द्रव्यमे परिणमन योग्यता स्वाभाविक रूपमे है (**इति अविघ्ना स्थिता**) यह वार्ता निर्बाध सिद्ध है। (**तस्या स्थितायाम्**) इस बातके स्थित हो जानेपर (**स. यम् आत्मन भावं करोति**) पुद्गल द्रव्य अपनी जिस पर्याय रूप परिणमता है (**स एव तस्य कर्ता**) उस समय उस पर्यायका कर्ता वही पुद्गल द्रव्य हे ॥६४॥

भावार्थ—द्रव्योमे परिणमनकी योग्यता स्वय होती है। स्वयकी परिणमनशीलताके बिना वे, पर निमित्तके रहनेपर भी, परिणमन नही कर सकते। इस सामान्य नियमका सद्भाव छहो द्रव्योमे हे। अत पुद्गल द्रव्यमे भी है। पुद्गल द्रव्यके कर्मरूप परिणमनमे मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय निमित्त रूप हैं। तथापि प्रत्ययोको यथार्थ कारणता नही है। किन्तु यथार्थ-कारणता उस पुद्गल द्रव्यकी परिणमनशीलताको है। पर्यायकी प्राप्ति पुद्गल द्रव्यको होती है, अत पर्यायका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, ओर पर्याय उस कर्ताका यथार्थ कर्म है। उस पर्यायका भोग भी पुद्गल करता है। यदि वह कर्ता न होता तो भोक्ता भी न होता। जो कर्ता सो भोक्ता होता है।

(७१) **प्रश्न**—कर्मबधका फल तो जीव भोगता है, अत जीवको उसका कर्ता कहना चाहिए।

समाधान—नही, जीव तो कर्मबधकी उदयावस्था होनेपर उसके निमित्तसे अपनेमे जो पर्याय-सुख-दुख रागादि रूप प्रकट करता है, उस **अपने भावका कर्ता भोक्ता होता है।** कर्म पर्याय रूप परिणति तो कर्म पुद्गल ही करता है।

(७२) **प्रश्न**—जीव ही तो अपने मिथ्यात्वादि भावोंसे उन्हे कर्मरूप परिणमाता है, अतः जीवको कर्ता कहना चाहिए ?

समाधान—जीवके मिथ्यात्वादि भाव उन्हे कर्मरूप परिणमाते है ऐसा कथन करने पर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि अपरिणमनशील पुद्गलको कर्मरूप परिणमाते है ? या परिणमनशीलको ?[1] यदि अपरिणमनशीलको परिणमन कराते हो तो उसमे अपरिणमनशीलता कहाँ रही ? जो परनिमित्तसे परिणम गया उसमे अपरिणमनशीलताकी बात कहना गलत है। यदि कहो कि पुद्गल परिणमनशील तो है, तो कहना होगा कि इसी स्वभावके कारण परिणमता है, जीवके परिणाम उस परिणमनको नही कराते। वे उसमे निमित्त मात्र अवश्य है।

यदि जीवके मिथ्यात्वादि भाव ही पुद्गलको, परिणमनशीलताके अभावमे भी, परिणमन करा सकते तो शास्त्रकार ऐसा न लिखते कि 'कार्माण वर्गणाएँ अर्थात् जिनमे कर्मरूप परिणमनकी योग्यता है, वे ही कर्म रूप, ज्ञानावरणादि रूप बनती है। तब तो वचन वर्गणा, मनोवर्गणा आदि तेईस प्रकारकी जो वर्गणाएँ कही है वे सब मिथ्यात्वादि भावोके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप बन जाती। पर शास्त्रीय नियम ऐसा नही है।

शास्त्रीय नियमोके अनुसार केवल कार्मण वर्गणा ही कर्म रूप बन सकती है।[2] वे मन या वचन रूप नही बन सकती। इसी प्रकार मनोवर्गणा ही मन रूप परिणमन कर सकती हैं, वे कर्म या वचन नही बन सकती। वचन वर्गणाएँ वचन रूप परिणमन कर सकती है, वे ज्ञानावरणादि कर्मरूप या मनरूप नही बन सकती। इससे सिद्ध है कि तेईस प्रकारकी वर्गणाएँ अपनी अपनी स्वजाति रूप पर्यायको ही प्राप्त हो सकती है, अन्य पर्याय रूप नहीं। उनको पर्याय परिवर्तनके लिये वे ही निमित्त कारण बन सकेंगे जो उनके अनुकूल परिणमनको प्राप्त होगे। अत सिद्ध है कि निमित्त कारण, किसी दूसरे द्रव्यको बलात् परिणमन नही करा सकता, किन्तु अपनी योग्यतानुसार परिणमनशील द्रव्यको उसमे स्वय सहायता प्राप्त हो जाती है।

सहायताका अर्थ कर्तृत्व नही है। उसका व्युत्पत्यर्थ **'सह-अयते'** इति **सहायक** ऐसा है। अर्थात् जो जो परिणमनशील पदार्थकी अपनी परिणति रूप परिणमनके कालमे, उसके साथ-साथ चले, अर्थात् अनुकूल रूप अपना परिणमन करे, उसे सहायक कहते है।

परिणमनशीलता प्रत्येक पदार्थमे स्वयके कारण स्वय सिद्ध है। अत. जो नियम पुद्गल द्रव्यके लिए है वे ही जीव द्रव्यके लिए भी हैं। जीव भी परिणमनशील द्रव्य है। परिणमन करना उसका भी स्वभावभूत धर्म है। यदि ऐसा न हो तो उसे क्रोधादिरूप कौन परिणमन कराता ?

(७३) **प्रश्न**—कर्मोदय उसे क्रोधादि परिणमन कराता है ऐसा क्यो नही मानते ?

समाधान—जीव परिणमन स्वभाव वाला है। अपने इस स्वभावके कारण ही कर्मोदयके निमित्तको पाकर क्रोधी बनता है। यदि वह सर्वथा नित्य द्रव्य होता तो निमित्तके सहयोगसे भी उसमे परिणमन सम्भव न होता ॥६४॥

१ कि स्वयमपरिणममान परिणममान वा जीव पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयम-परिणममान परेण परिणामयितु पार्येत। —समयसार गाथा ११८ की आत्मख्याति टीका।

२ पुद्गलकर्मण पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ। —समयसार गाथा ११२ आत्मख्याति टीका।

इसे निम्न पद्य द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

स्थितेति जीवस्य निरतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥६५॥

अन्वयार्थ—(जीवस्य परिणामशक्ति· स्वभावभूता) जीव द्रव्यमे भी परिणमन स्वभाव स्वत से ही है यह बात **(निरन्तराया इति स्थिता)** निर्बाध रूपसे सिद्ध हुई **(तस्या स्थितायाम्)** इस बातके सिद्ध होने पर **(य स्वस्य भावम्)** अपने जिस भावको **(स करोति)** वह जीव करता है **(तस्यैव)** उस भावका **(स एव कर्त्ता भवेत्)** वही कर्त्ता होता है ॥६५॥

भावार्थ—जीव द्रव्य भी जिस-जिस समय जो जो भाव करता है अर्थात् शुभ, अशुभ, शुद्ध रूप परिणमन करता है, उस काल मे उस-उस भावका कर्ता होता है। क्योकि जीव द्रव्य भी पुद्गलकी तरह स्वय परिणमन स्वभावका धारक है।

ज्ञानी सदा अपने ज्ञानमय भावको करता है अत उसका वह कर्त्ता है। ज्ञानमय भाव उसका कर्म है। अज्ञानी-अज्ञानमय भाव करता है, सो वह उन भावोका कर्त्ता है और अज्ञानमय भाव उसके कर्म हैं। किसी द्रव्यका कर्ता कोई अन्य द्रव्य त्रिकालमे नही है ॥६५॥

यहाँ प्रश्न—

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानिन) ज्ञानी पुरुषके **(ज्ञानमय एव भाव)** ज्ञानमय भाव **(भवेत्)** होता है **(न पुन अन्यः)** दूसरे भाव नही होते **(इति कुत)** ऐसा किस कारण से है? **(अज्ञानमयः सर्व)** तथा सम्पूर्ण अज्ञानमय भाव **(अज्ञानिन.)** अज्ञानी जीवके होते है **(नान्य)** अन्य भाव नही होते **(अयम् कुत.)** यह भी क्यो है? ॥६६॥

भावार्थ—ज्ञानीके भाव ज्ञानरूप हो इसमे आपत्ति नही है, पर सदा ज्ञानरूप ही होवें, कभी भी अन्य रूप न हो ऐसा किस कारणसे कहा जाता है? तथा अज्ञानीके भाव अज्ञानमय ही हो कभी भी ज्ञानमय भाव न हो इसका भी क्या कारण है ऐसा प्रश्न है ॥६६॥

उसका समाधान निम्न पद्यमे किया है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानिन सर्वे भावाः) ज्ञानी के सभी भाव सदाकाल **(ज्ञाननिर्वृत्ता)** ज्ञान द्वारा रचित **(हि भवन्ति)** ही होते हैं। **(अज्ञानिनस्तु ते)** वे भाव अज्ञानी जीवके सर्वे **(अज्ञाननिर्वृता.)** सभी अज्ञान रचित **(भवन्ति)** होते है ॥३७॥

भावार्थ—ज्ञानी जीवकी परिणति शुद्ध चैतन्यसे रचित है, अत उसमे जो-जो भाव होगे वे सब शुद्ध चैतन्य रूप होगे, तथा अज्ञानीके अज्ञानमय ही भाव होगे। उदाहरणसे समझिए— किसी भी नदीका पानी बहता हुआ जब ऐसी भूमि परसे निकलता है जो भूमि रक्तवर्ण हो, तब वह सम्पूर्ण जल लाल वर्णका ही होकर बहता है। उसी नदीका जल जब स्वच्छ ककरीली भूमि

पर बहता है, या रेतोली भूमि पर बहता है तब वह स्वच्छ रहता है। लाल मिट्टी घुलनशील है। अत उसका रग पानीमे घुल जानेसे वह लाल होकर ही प्रवाहित होता है। रेत या ककड घुलनशील नही है अत वहांका जल स्वच्छ होकर ही बहता रहता है। इसी प्रकार जो जीव मिथ्या दृष्टि है वे मिथ्यात्वकी भूमिका पर स्थित हैं, अत उनका परिणाम मोह राग-द्वेषके रङ्गसे रङ्गा हुआ ही होता है इससे यह जीव मोह राग द्वेष आदि अपने अज्ञान भावका ही कर्ता होता है। परन्तु ज्ञानी जीवके मिथ्यात्वका नाश हो गया है अत वह सदा ज्ञानभावकी भूमिकामे ही स्थित होनेसे, अपनेको रागादि मोहादि रूप नही करता, अत जिस ज्ञान भाव रूप उसका परिणमन है उस भावका कर्ता होता है—अन्य भावोका नही।

(७४) **प्रश्न**--सम्यग्दृष्टि तो चौथे, पाँचवें गुणस्थान वाला तथा छट्ठे गुणस्थान वाला भी होता है, तो क्या इनके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण या सज्वलन कषायका उदय नही है? यदि है ता तत्कषायरूप परिणमन भी होता है। तब वह तत्कषायरूप अज्ञान परिणाम का कर्ता क्यो न माना जाय।

समाधान—यद्यपि पूर्ण **वीतराग सम्यग्दृष्टि तो ग्यारहवें-बारहवें** आदि गुणस्थानोवाला ही है, उसके कषायोका उदय नही है, इसलिए उत्कृष्ट ज्ञानी जीव तो वही है, उसके रागादि परिणाम नही होता। तथापि चतुर्थादिगुणस्थानवर्तीके मोह (मिथ्यात्व) का उदय, तथा **अनन्त संसार मे परिभ्रमण**के लिए हेतुभूत अनन्तानुबधी कषायका उदय नही है। चूँकि उसे भी अनन्त संसारके कारणभूत अज्ञान भाव नही है अत वह भी ज्ञानी है, अज्ञान भावका कर्ता नही है।[1] जितने अश रागादि है उतना बन्ध भी होता है। तथापि इनके स्वामित्वका अभाव है अत उसे अबन्धक कहा है। सम्यग्दर्शनके साथ पायी जानेवाली कषायें अज्ञान भाव नही है। क्योकि उनमे उसकी हेय रूप श्रद्धा है।

विशेष—सम्यग्दृष्टि भले ही चतुर्थादि गुणस्थान वाला हो, सदा काल अपने अटल श्रद्धान पर दृढ है। उसकी मान्यता शरीरादि व कर्मादि द्रव्योंमे भेद रूप है। जैसे नट रस्सीपर नृत्य करता है, हाव भाव दिखाता है तथापि अपना जो शरीरका वजन है उसे समतौल बनाए रखनेका सतत प्रयत्न रखता है। एक बाँस जो उसके हाथमे रहता है उसे दोनो तरफ ऊँचा नीचा करता रहता है, जिसमे अपने शरीरको भी इस प्रकार बनाए रख सके कि उसमे विषमता न हो, समतौल बना रहे। इसीसे रस्सीपर नृत्य करते, आते-जाते, दौडते-खडे रहते हुए, इन सब नाना अवस्थाओंमे भी यह रस्सीसे गिरता नही है। जो व्यक्ति शरीरका समतौल नही रख सकता, वह नियमसे भूमि पर गिर पडता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव खाते-पीते, ससारके पचेन्द्रियोके विषय भोगते हुए भी, ये सब हेय है, जड रूप है, मेरे आत्म स्वरूपसे भिन्न अनात्मरूप है, ऐसा जानता है। कर्मोदयके होनेपर भी वह कर्म व कर्मोदयसे तथा तज्जन्य सुख दु खादिसे अपनेको एकाकार रूप अनुभव नही करता। वह अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप पर सदा लक्ष्य रखता है। वह कठिन अवस्थामे भी अधीर नही होता, किन्तु अपनेको समतौल रखता है। अतः अपने ज्ञान स्वरूपका अनुभव करनेके कारण ज्ञानी ज्ञान भावका ही कर्ता है, ऐसा कहा गया है।[2]

---

१ यहाँ पर ऐसा जानना कि ज्ञानी कहने से अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी हैं।
—समयसार गाथा २२७, प० जयचन्द जी छावडा कृत भाषा टीका में भावार्थ।

२. निर्जरा अधिकार।—समयसार गाथा १९३ से २००।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि आत्माके स्वरूपको यथार्थ न जाननेसे अनात्मज्ञ है। वह अपने स्वरूपको परके साथ अर्थात् शरीरके साथ, एकाकार कर ज्ञान करता है। दोनोकी विभिन्नता उसे अनुभवमे नहीं आती, इस अज्ञानकी भूमिकाको वह नही त्यागता। शास्त्र पठन करते हुए, व्रतादि पालते हुए, दान पूजादि शुभकार्यका आचरण करते हुए भी, शरीर आत्मा भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा शास्त्रके आधार पर जानते तथा वर्णन करते हुए भी, वह अपनेको शरीरसे भिन्न, कर्मोदय जनित विकारो से भिन्न, **अनुभव नहीं करता, किन्तु उनसे एकाकार रूप अनुभव करता है।** उसका ज्ञान भले ही आगमाश्रित हो, व्रताचरणादि आगमानुकूल हो, किन्तु **श्रद्धारूप परिणति** पर भावोके **एकाकार रूप** होनेसे परिणतियाँ **अज्ञानमय** ही है। अत यह पद-पद पर अज्ञानमय भावका ही कर्ता होता है ज्ञानमय भावका कर्ता कभी नही होता ॥६७॥

अज्ञानी जीवकी स्थितिका स्पष्टीकरण करते है—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानी**) मिथ्यादृष्टि (**अज्ञानमयभावानाम् भूमिकां व्याप्य**) अज्ञानमय भावो-की धरणीको प्राप्त कर (**द्रव्यकर्मनिमित्तानाम् भावानाम्**) द्रव्यकर्मके बंधके लिए निमित्त कारण-भूत (**भावानाम्**) परिणामोकी (**हेतुताम्**) उपादान कारणताको (**एति**) प्राप्त होता है ॥६८॥

भावार्थ—जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञानमय भावमे तन्मय होनेके कारण ज्ञानमयी भावोका कर्ता होनेसे अबन्धक है, उसी प्रकार अज्ञानी अज्ञानमय भावोसे तन्मय होनेसे कर्मबन्धका कर्ता है। कर्मबन्धके समय आत्माके मिथ्यात्व-रागादि परिणाम बाह्य निमित्त है, तथा पुद्गल द्रव्य की परिणमन स्वभावता मुख्य या अन्तरङ्ग कारण है। जीवके मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमनमे कर्मका उदय बाह्य निमित्त है, आत्माकी परिणमन स्वभावता मुख्य या अन्तरङ्ग कारण है।[1]

यह बात सुननेमे अटपटी सी लगती है, क्योकि अब तक रागका कारण कर्मोदय और कर्म-का कारण जीवका राग, मानते आये है। अत उक्त कथन सामान्यतया लोगोके, जो कुछ आगमके भी अभ्यासी है, उनको भी, मनमे नही बैठता। इसका कारण यह है कि परमे कर्तृत्व बुद्धिकी जो भूल अनादिसे चली आती है, उसीके परिप्रेक्ष्यमे आगमका अभ्यास किया है। जिसके कारण, बाह्य कारण अर्थात् निमित्त कारणको ही मुख्य कारण मान बैठे है। अन्तरङ्ग कारणको, जो मुख्य है—उसे गौण कर रखा है। अथवा उसकी कारणताको लंगडा कारण समझा है। और यह समझा है कि उसका लँगडापन निमित्त ही मिटाता है।

१ ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णम्पि ॥
—समयसार गाथा ८१

तथा

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥
—समयसार गाथा १२६

यद्यपि कार्यमे अन्तरग-बहिरग दोनो कारण माने गये हैं, तथापि **अन्तरंग कारण मुख्य कारण** है और **बहिरंग कारणको उपचारसे कारण माना गया** है। वह यथार्थ कारण नही है। परन्तु अनादिसे परको ही कर्ता माननेका जो भ्रमपूर्ण ज्ञान चला आता है, उसके कारण **अन्तरंग कारणकी कारणता उपेक्षित हो** गई है और बाह्य निमित्त **कारणमे ही कर्तृत्वकी** मान्यता दृढ हो गई है। वह मान्यता आगमाभ्यास करने पर भी दूर नही हुई। आगमका अर्थ अपनी मान्यताके आधार पर लगा लिया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यने **पर कर्तृत्वकी बातको अयथार्थ माना है।** यह सम्पूर्ण कर्ता कर्म अधिकार केवल उसी अर्थका प्रतिपादन करता है। जीव जब इस तथ्यको जानता है तब इसे ही दृढतासे पकडता है। **तब ही वह रागादिकी उत्पत्तिमे स्वयंकी कारणता मानकर, स्वयंके पुरुषार्थको जगाकर, अपनेको वीतराग मार्ग पर ले जाता है और अबन्धक होता है।** जो परको ही रागादिका कारण मानता है वह आत्मभावको प्राप्त करनेके लिए अपनेमे पुरुषार्थ न करके, द्रव्यकर्मको तोडनेकी बात सोचता है, जो कि सम्भव नही है।

जो वस्तु जिस प्रकार उत्पन्न होती है, उसके तोडनेके भी साधन वही देखने चाहिए। यदि रागादिका निमित्त पाकर जीव ससारी बना है या प्रकारान्तरसे कहो कि रागादिरूप परिणमन ही जीवका ससार है, तो ससार तोडनेको रागादि भावोका निवारण ही करना होगा। वह अपने कुपुरुषार्थसे उत्पन्न था, अत परको दोष न देकर अपना सुपुरुषार्थ ही प्राप्त करना होगा। तब वह वीतरागी हो मुक्त होगा, अन्यथा नही।

(७५) **प्रश्न**—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वी होता है, यह सर्वत्र आगममे प्रसिद्ध है। क्या इसे आप स्वीकार नही करते ?

समाधान—आगममे जो लिखा है उसका तात्पर्य मिथ्यात्वके भावकी उत्पत्तिमे **बाह्य कारण** क्या है, उसको दिखाना मात्र है। अन्तरग कारणका निषेध उसका अर्थ नही है। **वह तो मुख्य** कारण है ही।

(७६) **प्रश्न**—यह कैसे जाना जाय।

समाधान—यह ऐसे जानना चाहिए कि—आगम परकर्तृत्वका निषेध करता है अत. **कर्मको कर्ता स्वीकार करना उपचरित है। मुख्य कर्तापना वस्तुकी परिणमनशीलता रूप स्वभावको है।**

(७७) **प्रश्न**—बिना कर्मोदयके जीवके रागादि नही देखे जाते, यदि उनके बिना केवल अपने ही कारण रागादि होवें तो अरहन्त सिद्ध परमात्मा भी पुन. रागी हो जायेंगे।

समाधान—न होगे, क्योकि रागादि होनेमे हमने केवल एक कारण नही कहा, **किन्तु उसे मुख्य कारण कहा है। मुख्य कारण परिणमनशीलताको कहा है।** रागरूप परिणमन तो उन परिणमनोमेसे एक परिणमन है। रागादि परिणमन **स्वभाव रूप परिणमन नहीं है।** कर्मोदयकी उपाधिमे, जीव अपने स्वरूप ज्ञानके अभावमे रागादि रूप परिणमन करता है। वही जीव कर्मोदय उपाधिके बिना रागादि रूप परिणमन नही करता। इस तरह परके साथ बहिर्व्याप्यव्यापक भाव होनेसे, कर्मोदयको बाह्य निमित्त स्वीकार किया है—उसका निषेध नही है, तथापि परोपाधिके निमित्तसे यदि विभाव परिणमन करता है तो इससे उसे कर्तृत्व प्राप्त नही होता। किन्तु उक्त कारणसे ही उसमे कर्तृत्वका उपचार होता है। यदि उसके साथ बहिर्व्याप्य-व्यापक भाव न होता तो न उसे निमित्त कहते, और न उसमे उपचारसे भी कर्तृत्व स्वीकार करते।

उपचार कर्ताको ही मुख्य कर्ता मानना, यह आगमसे विरुद्ध है। इससे तो यह फल निकलता है कि मेरे ससार भावका कर्ता पर है, और मुझे उसकी पराधीनता है। जब वह छोडे तब मुझे मुक्ति प्राप्त होगी। मोक्ष प्राप्त करनेम आत्मा परके आधीन रही, तब स्वयके प्रयत्न करनेका उपदेश वृथा होगा। अन्य पर पदार्थ आपकी इच्छानुकूल परिणमन करे, ऐसा वस्तु स्वभाव नही है, अत यही मानना आगमानुकूल है कि **मुख्यकारण प्रत्येक पदार्थका अन्तरग कारण** ही है।[1]

जीवको अतत्त्वोपलब्धि है, इसे ही अज्ञानका उदय कहते है। अश्रद्धान रूप परिणाम है वह मिथ्यात्वका उदय है। इसी प्रकार असयम और योग, ये भी जीवके सयमरूप प्रवृत्ति न करने तथा शुभाशुभ चेष्टाएँ करने रूप, सब अशुद्ध ससारी जीवकी परिणतियाँ है, इन परिणतियोको ही जीवमे मिथ्यात्वका—अज्ञानका—असयमका तथा योगका उदय कहा जाता है।[2]

जहाँ भी शास्त्रमे यह कथन आवे कि मिथ्यात्वके अज्ञानके या असयमके उदयमे जीवकर्मबन्ध करता है, वहाँ उदयका अर्थ जीवके **उक्त भावोका उदय जानना चाहिए।** द्रव्य कर्मकी उदयावस्था द्रव्य कर्मम होती है, और मिथ्यात्वादि भावोकी उदयावस्था जीवमे होती है। दोनोमे परस्पर केवल निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। बहिर्व्याप्य-व्यापकता है, अत यह सम्बन्ध भी कथनमे आता है। पर यह स्पष्ट है कि वह जीवका परिणाम है तथा कर्मोदय कर्मका परिणाम है। दोनो द्रव्योके दो पृथक्-पृथक् अपने-अपने परिणाम है। कार्यकी उत्पत्ति एक द्रव्यमे देखकर एक द्रव्यको ही उसका कर्ता मानना न्याय सगत है।

(७८) **प्रश्न**—इस स्थितिमे जीव कर्मबद्ध है या नही ?

समाधान—दोनो कथन नयापेक्षया होते है। व्यवहारनयसे जीव कर्मसे बद्ध है। दो पृथक् स्वभाववाले द्रव्योमे परस्पर एक क्षेत्रावगाह रूप श्लेष, तथा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी **स्थापनासे** ऐसा **व्यवहारमे** कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव कर्मसे बद्ध नही है ऐसा भी कथन ससारी दशामे भी, केवल **जीवके शुद्ध स्वभावको लक्ष्य करके किया जाता है।** ये दो बाते दो नयोके आधारसे कही जाती है।

(७९) **प्रश्न**—जब दो बाते कही जाती है—जब दोनोमे जीवका स्वरूप वर्णित है। ऐसी दशामे शिष्य किसे सत्य माने ? क्योकि सत्य तो एक ही होगा। परस्पर विरोधी दो बाते हो तो क्या दोनो सत्य हो सकती है ?

समाधान—अपने-अपने नयकी दृष्टिसे दोनो सत्य है। निश्चयनय मात्र द्रव्यस्वरूप दृष्टिसे उसका वर्णन करता है, जबकि व्यवहारनय उसे न देखकर, उसे गौणकर, उसकी वर्तमान पर्यायको लक्ष्यमे रखकर, जो कि परोपाधि युक्त है, उसे ही जीवमे देखता है।

दोनो नय केवल वस्तुके वर्णनमे दो पक्ष है, किन्तु नयोद्वारा वस्तुके स्वरूपको जानकर पक्षपातरहित होना ही श्रेयस्कर है। इसी तथ्यको निम्नपद्य प्रकट करता है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

---

१ अण्ण दवियेण अण्ण दवियस्स ण करिदे गुणुप्पाओ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जते सहावेण ॥
—समयसार गाथा ३७२

२. अण्णाणस्स स उदओ ' ।
—समयसार गाथा १३२–१३३–१३४

अन्वयार्थ—(**ये**) जो सम्यग्दृष्टि वीतरागी पुरुष (**नयपक्षपात मुक्त्वा**) नयपक्षोके विकल्पोकी चर्चाको छोडकर (**नित्यम् एव**) सदा ही (**स्वरूपगुप्ता निवसन्ति**) अपने निजस्वरूपमे ही निवास करते हैं। (**विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता**) नयपक्षोके विविध विकल्पोके समूहसे भिन्न, निर्विकल्प-रूप शान्त चित्तवाले (**ते एव**) वे पुरुष ही (**साक्षात् अमृत पिबन्ति**) साक्षात् अमृतका पान करते हैं। अर्थात् वे ही जन्म मृत्युसे रहित साक्षात् स्वरूपानन्दके भोक्ता होते है ॥६९॥

भावार्थ—नयोका उपयोग वस्तुके स्वरूपके परिज्ञान तक ही है। शुद्धनयका विषयभूत जो शुद्धात्मा 'वह उपादेय है' इसमे सन्देह नही है, तथापि उस नयद्वारा जो वस्तुका स्वरूप फलित होता है, उसे समझकर 'वैसा स्वरूप मेरा है' उसे अनुभव करे। तथा व्यवहारसे जो परोपाधि निमित्तक दशा मेरी है वह 'है' इसमे सन्देह नही है। वह नही है ऐसी भी बात नही ह तथापि मेरा वह स्वभाव नही है, विकारीभाव हे, अतः वह अनुपादेय है। सो अपनी त्याज्यदशाको त्यागकर तथा उपादेयस्वरूपको ग्रहणकर, दोनो नयोके पक्षपातरूप विकल्पोको भी छोडकर, अपने उपादेय निज-स्वरूपमे ही जो निवास करना है वही श्रेयस्कर है।

ऐसा करनेवाले ही अपनी आत्माको स्वरूपरूप अखण्ड आनन्दमय बनाते हैं। जो इसी विकल्पमे पडे रहते है कि अमुक नयकी अपेक्षा मै ऐसा हूँ, और अमुक नयकी अपेक्षा मै ऐसा हूँ, वे नयजालमे ही पडे रह जाते है। करणीयको करते नही हैं, अत. वे मुक्त नही होते।

इसी सत्यका उद्घाटन आचार्य २० पद्योमे लगातार करते हैं वे पद्य निम्न भाँति हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७२॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७३॥
एकस्य कर्त्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७४॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७५॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७६॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७८।।
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७९।।
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८०।।
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८१।।
एकस्य सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८२।।
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८३।।
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८४।।
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८५।।
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८६।।
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८७।।
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८८।।
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८९।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य बद्ध**) व्यवहारनयका पक्ष है कि जीव कर्मबद्ध है (**न तथा परस्य**) किन्तु शुद्धनिश्चयनयका पक्ष है कि जीव कर्मोंसे बद्ध नही हे (**चिति**) चैतन्यस्वरूप आत्माके विषयमे (**द्वयो**) इन दो नयोके (**द्वौ पक्षपातौ**) दो प्रकारके अपने-अपने पक्ष हैं । (**य तत्त्ववेदी**) किन्तु जो तत्त्वको जानता है (**च्युतपक्षपात**) वह इन दोनो नयोके पक्षमे पतन नही करता (**तस्य**) उसके ज्ञानमे (**खलु**) निश्चयसे दृढतापूर्वक (**चित् चित् एव**) चैतन्य केवल चैतन्यरूप ही भासता है ।।७०।।

भावार्थ—परस्पर विरोधी जैसे दिखाई देने वाले दो धर्मोको, अपने-अपने विभिन्न दृष्टिकोणोसे पदार्थमे देखने वाले दो नय, अपना-अपना पक्ष सामने लाते हैं।

ससारी दशाकी अपेक्षासे देखें तो यह जीव अष्ट कर्मोके बन्धनमे अनादि कालसे ही बँधा हुआ है, यह व्यवहारनयकी दृष्टिका कथन है। वर्तमान अवस्था ससारी प्राणीकी ऐसी ही है इसीसे उसे मोक्षमार्गका उपदेश दिया है। यदि वह सर्वथा निर्बन्ध हो, तो समस्त शास्त्रोमे उसे मुक्त होनेका जो उपदेश दिया गया है वह सब शास्त्रोका उपदेश निष्फल हो जायगा। भगवान् केवलीने भी ससारके समस्त प्राणियो पर करुणा कर उनके हितरूप तत्त्वोपदेश दिया है। तथा गणधर देवादिसे लेकर आजतक समस्त आचार्योने भी भव्य प्राणियोके कल्याणकी भावनासे मौखिक या लिखित उपदेश दिए हैं। जिनके लिए ये उपदेश हैं, वे सभी ससारी प्राणी कर्मबद्ध हैं, ऐसा व्यवहार-नयका पक्ष है।

(८०) **प्रश्न**—केवली भगवान्ने 'करुणा कर' उपदेश दिया ऐसा आपने लिखा पर यह तो यथार्थ नही है। क्योकि करुणा या दयाभाव तो शुभ राग है। भगवान् केवली मोह कर्मका सर्वथा क्षय कर केवली हुए है, अत वहाँ रागभावकी पर्याय 'करुणा' का कथन स्पष्टतया आगम विरुद्ध है।

समाधान—एक पक्ष ऐसा भी है जैसा प्रश्नमे बताया गया है। इसीलिए भगवान्को **'अत्यन्तनिर्दय.'** ऐसा भी एक नाम दिया गया है। उस कथनका तात्पर्य वहाँ भी ऐसा ही जानना जो मोह कर्मका अत्यन्त नाश कर देनेमे, शुभ रागरूप दया न होनेसे, उन्हे 'अत्यन्तनिर्दय' कहा है। यद्यपि लौकिक जन उस शब्दका प्रयोग **'कठोरपरिणामी'** हिंसकके लिए करते हैं, परन्तु इस अर्थमे इस शब्दका प्रयोग वहा नही है। शुभाशुभ राग रहित **"वीतरागता"** के अर्थमे इस शब्दका प्रयोग है।

अतएव यह समझना चाहिए कि धर्म देशक होनेसे हम उन्हे दयावान्, करुणावान्, शब्दका प्रयोग अपनी दृष्टिसे करते हैं। हमारा जो हितकारक हो उसे हम दयावान् करुणावान् कहते हैं। अतः व्यवहार पक्षमे उन्हे दयावान् कहना अनुपयुक्त नही है। निश्चयमे देखा जाय तो वे रागद्वेष रहित है अत उनके लिए वीतराग, वीतबैर, निर्मोह शब्दका उपयोग कर सकते है। ससारी जन तो 'निर्मोह' का अर्थ भी 'निर्दय' के अर्थमे करते है। अत शब्दका प्रयोग कहा किस विवक्षामे है इसे समझकर उसमे विवाद नही करना चाहिए।[1]

इस प्रकार जीवको व्यवहारनयमे 'कर्मबद्ध' कहा गया है। 'न तथा परस्य' इस शब्द द्वारा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिमे यह कहा गया है कि 'जीव द्रव्य' सदासे अपने चैतन्य उपयोग लक्षणात्मक है। पुद्गलादि पर द्रव्योमे भिन्न है। उसमे कभी परद्रव्यका, उसके गुण पर्यायोका, प्रवेश नही होता। वह अपने गुण पर्यायोमे सदा रहा है और सदा रहेगा। किसी भी प्रकार दूसरे द्रव्यका एक भी परमाणु जीव नही बन सकता, और जीवका कोई प्रदेश, कोई गुण, कोई पर्याय, पुद्गल नही बन सकती। तब जीव कर्मसे बद्ध नही है, 'अबद्ध है', और सदासे है, तथा सदा काल रहेगा, ऐसा **शुद्धनिश्चयनयका** कथन है।

दोनो नय अपने-अपने दृष्टिकोणमे चैतन्यमात्र तत्त्वको बद्ध, अबद्ध रूपमे देखते हैं, अत दोनो नयोके दो पक्ष है। आचार्य कहते है कि यदि दोनो पक्षोको छोडकर वस्तुको देखें तो

१ कलश २१२ की टीकामें इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यथार्थमे 'चैतन्य तो चैतन्य मात्र है'। इनमे नयोके नाना विकल्प वस्तुको खण्ड-खण्ड देखते हैं, पर वस्तु तो अखण्ड चैतन्य स्वरूप है उसमे बद्ध या अबद्धताके विकल्प ही नही लाना चाहिये, वह तो स्वय निर्विकल्प तत्त्व है। विकल्प दृष्टियाँ उसमे अनेक भेद खडा करती हैं। यही बात श्लोक सख्या ७० से ८९ तकमे बताई गई है। वे विकल्प नयोके निम्न प्रकार है—

एक नय यदि जीवको मोही कहता है, तो दूसरा नय उसे निर्मोह कहना है ॥७१॥

अशुद्ध नय उसे रागी कहता है, तो शुद्ध नय उसे वीतरागी कहता है ॥७२॥

एक नय जीवको द्वेषी कहता है, तो शुद्ध नय उसे वीतद्वेष कहता है ॥७३॥

एक नय उसे रागादि विकारका कर्ता मानता है, तो शुद्ध नय अकर्ता मानता है ॥७४॥

व्यवहार नय उसे कर्मफलभोक्ता मानता है, तो निश्चय नय अभोक्ता मानता है ॥७५॥

व्यवहार नय उसे प्राणादिमान् जीव कहता है। शुद्ध नयमे वह ऐसा नही है, शुद्ध ज्ञान प्राण वाला है ॥७६॥

व्यवहार नय सूक्ष्म नामकर्मके उदयके कारण, सूक्ष्म शरीरी जीवोको सूक्ष्म जीव कहता है। शुद्ध नय जीवको शरीर रहित स्वीकार करनेसे उसे सूक्ष्म नही मानता ॥७७॥

व्यवहार जीवको हेतुरूप मानता है, क्योकि वह जब रागादि रूप होता है तब कर्म बन्धका कारण रूप बनता है, और जब कर्मोदयके कारण नाना रूप धरता है तब कार्य रूप बनता है। शुद्ध नयका कथन है कि चैतन्य स्वभावी जीव न कारण रूप है, और न कार्य रूप है, वह तो परसे सर्वथा भिन्न है। तब उनके कारणमे कहा जाने वाला 'कारण कार्य भाव' उसमे नही है ॥७८-७९॥

एक नय उसे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिसे 'भावात्मक' कहता है तो दूसरा नय परद्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा उसे नास्ति रूप 'अभावात्मक' कहता है ॥८०॥

शुद्ध नयसे आत्मा 'एक' है, परसे असयुक्त है। दूसरा नय उसे 'परसयुक्त' 'अनेक' रूपमे देखता है ॥८१॥

व्यवहार नय उसे 'सान्त' अर्थात् पर्यायोकी विनश्वरताके कारण नाशवान् मानता है, तो शुद्ध नयकी दृष्टि आत्माको अनन्त अविनाशी मानती है। अथवा मूलमे 'सान्तो' की जगह 'शान्तो' ऐसा पाठ है वहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जीव शुद्ध नयको दृष्टिमे 'शान्त' रूप अर्थात् राग-रहित निर्विकल्प है, तो दूसरा नय वर्तमान पर्याय दृष्टिसे उसे नाना विकल्पमय 'अशान्त' रूपमे देखता है ॥८२॥

इसी तरह शुद्धनय उसे नित्य रूप मानता है तो व्यवहारनय उसे परिवर्तनशील अनित्य मानता है ॥८३॥

एक नय उसे शब्दो द्वारा वर्णन करने योग्य अर्थात् 'वाच्य' कहता है तो शुद्ध नय उसे वचनागोचर 'अवाच्य' मानता है ॥८४॥

एक नय जीवको एकेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, नर-नारकादि विविध गुणस्थान रूप, अनेक मार्गणा-स्थानादि नानारूप, मानता है तो उसी जीवको शुद्ध नय नानारूप नही, किन्तु एक शुद्धस्वरूपी मानता है ॥८५॥

एक नय आत्माको 'चेत्य' अर्थात् सचेतन करने योग्य मानता है, दूसरा नय उसे अचेत्य अर्थात् सचेतनके अयोग्य मानता है ॥८६॥

एक नय आत्माको 'दृश्य' मानता है दूसरा नय दृश्य नही मानता ॥८७॥

एक नय जीवको ज्ञानका विषय होनेसे 'ज्ञेय' मानता है, दूसरा नय उसे ज्ञेय नही मानता ॥ ८८ ॥

एक नय उसे भात अर्थात् 'आत्मा प्रतिभासित है' ऐसा कहता है, तो दूसरा नय उसे 'अभात' अर्थात् अप्रतिभासित मानता है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार विविध नय बद्ध-अबद्ध, मोही-निर्मोही, रागी-वीतरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विभिन्न **विकल्पो द्वारा** जीवको विभिन्न रूप कहते हैं, पर दोनो विकल्पात्मक होनेसे अग्राह्य हैं। वस्तु तो **न निश्चयनयात्मक है न व्यवहारनयात्मक है। शुद्ध आत्माका अनुभव इन विकल्पोंसे परे है।** जो आत्मतत्त्वके अनुभव करने वाले हैं वे दोनो नयोके पक्षपात रहित होकर आत्माको 'वह चैतन्यरूप है' ऐसा अनुभव करते है। आत्मा उस अनुभवके समय, प्रमाण-नय-निक्षेपादि जो पदार्थके जाननेके उपाय मात्र हैं, उन उपायोको कक्षासे ऊपर 'उपेय' भावको स्वय प्राप्त हो, स्वयका अनुभव करता है, अत वे अनुभवी जन नयपक्षो या नय विकल्पोसे रहित, निर्विकल्प रूप आत्माके अनुभवी है ॥८९॥

अनुभूतिमात्र तत्त्व निर्विकल्प है—

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेव व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्व भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(**एव**) इस प्रकार (**स्वेच्छा समुच्छलत्**) वक्ताकी इच्छानुसार उठनेवाले (**अनल्प-विकल्पजालाम्**) नाना प्रकारके विकल्पके जालोसे पूर्ण (**महतीं नयपक्षकक्षाम्**) बडी भारी नय-पक्षोकी श्रेणीको (**व्यतीत्य**) पार करके वह तत्त्ववेदी (**अन्त. बहिः समरसैकरसस्वभावम्**) भीतर और बाहिर दोनोमे समता रस रूप एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे (**अनुभूतिमात्रम् एक स्वं भावम्**) अनुभव मात्र अपने निज भावको (**उपयाति**) प्राप्त होता है ॥९०॥

भावार्थ—जितने वचन बोलनेके अर्थात् वस्तुके कथन विकल्प हैं उतने ही नयके विकल्प हैं।[1] और जितने नयवाद है, वे एकान्त रूपमे ढल जाने पर सभी मिथ्यावाद बन जाते है। कोई भी नय उसी अवस्थामे नय है जब कि वह अपने कथनको स्याद्वादको सीमामे बाँध कर रखता है, अर्थात् 'एक दृष्टिसे पदार्थ इस प्रकार है,' ऐसा कथन करता है।

विभिन्न दृष्टिकोणोसे पदार्थ विभिन्न रूपोमे दृष्टिगोचर होता है। समुदाय रूपमे यह नय विकल्प भी एक जाल है, जिससे ज्ञाता विकल्पोमे उलझ जाता है। जब तक पूर्ण वस्तुका बोध न हो तब तक तो इन विकल्पोकी आवश्यकता रहती है। इनके बिना वस्तु स्वरूप भी समझमे नही आता। तथापि वस्तुके स्वरूप समझ लेने पर इन नयोकी आवश्यकता नही रह जाती। वस्तु स्वरूप जाननेको नय केवल साधन हैं। साध्यकी प्राप्ति हो जानेपर साधनोंकी आवश्यकता नही रह जाती। साध्यकी उपलब्धिके बिना यदि साधन अनुपयोगी मान लिये जाँय

१ 'जावदिया वयण वहा तावदिया होंति णयवादा'

तो भी साध्यकी प्राप्ति नही होती, तथा साधनोमे उलझा रहे—उनका उपयोग कर वस्तुको न पकडे, तब भी साध्यकी उपलब्धि नही होती। इस नियमके अनुसार, ज्ञानी जीव, नय पक्षके द्वारा आत्म वस्तुके स्वरूपको उपलब्ध करता है। पश्चात् आत्मानुभूति मात्र निज भावको, जो समता रससे भरा है, अनुभव करता है, तब अनुभवके समय प्रमाणनय-निक्षेपादि भी अप्रतिभासित हो जाते हैं ॥९०॥

मैं केवल चैतन्य तेज हूँ—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्-
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(**तत् चिन्महः अस्मि**) मैं वह शुद्ध चैतन्य मात्र तत्त्व हूँ कि (**यस्य विस्फुरणमेव**) जिसके प्रकट होनेसे ही (**तत्क्षणम्**) तत्काल (**पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः**) पुष्ट चचल विकल्प रूपी तरगोंसे (**उच्छलत्**) उछलने वाला नय विकल्प रूप (**इदमेव इन्द्रजालम्**) यह सम्पूर्ण इन्द्रजाल (**अस्यति**) नष्ट हो जाता है ॥९१॥

भावार्थ—जब वीतरागी पुरुष सबसे भिन्न अपने चैतन्य मात्र आत्मतत्त्वका अनुभव करता है तब तत्त्वोपलब्धिके लिए श्रुतज्ञानके जितने नय-प्रमाण-निक्षेपात्मक भेद-अभेद साधन रूप थे, उनको पार कर जाता है। उस कालमे एक चैनन्य तेज ही ठहरता है। जैसे रात्रिके अधकारमे वस्तुको देखने जाननेके लिए विविध प्रकारके प्रकाशकारक पदार्थोंका लोग उपयोग करते हैं, पर उनका उपयोग उन्हे देखनेके लिए नही, किन्तु उनके प्रकाशमे वस्तु देखने जाननेके लिए ही होता है। दीपकके देखनेको दीपक नही जलाया जाता, वस्तुको देखनेके लिये दीपक जलाया जाता है। प्रभातमे सूर्योदय हो जानेपर दीपकका तेज स्वय लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मसूर्यके उदित होनेपर नय विकल्प समूह स्वय नष्ट हो जाते है। उन्हे मिटानेका कोई प्रयत्न नही करना पडता।

स्वानुभूति समस्त पुरुषार्थका फल है। जैसे बने वैसे—जिन साधनोसे बने उन साधनोसे—आत्माको उस स्वानुभूतिको अपनेमे प्रकट करना चाहिए। उसके होनेपर अन्य अनुभूतियाँ स्वय लुप्त हो जाती हैं ॥९१॥

मैं अपार समयसारका ही चिन्तन करता हूँ—

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अन्वयार्थ—(**चित्स्वभावभरभावितभावाभाव-भावपरमार्थतया**) जो चैतन्य स्वभावसे परिपूर्ण तथा भाव अर्थात् उत्पाद, अभाव अर्थात् व्यय, तथा फिर भाव अर्थात् ध्रौव्य रूप होनेसे परमार्थ दृष्टिसे (**एकम्**) एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वही (**अपार समयसारम्**) अनन्तगुणात्मक आत्म-

तत्त्व है। उसे (**समस्तां बन्धपद्धतिम् अपास्य**) कर्म बन्धके मार्ग रूप जो रागादि विकल्प जाल, उन्हे दूर करके (**चेतये**) मैं अनुभव करता हूँ ॥९२॥

पाठान्तर—किन्ही प्रतियोमे 'भर' के स्थान पर 'पर' ऐसा शब्द भी पाया जाता है। उस स्थितिमे इसका अर्थ इस प्रकार होगा—(चित्स्वभावपर) चैतन्य स्वभावसे जो पर अर्थात् भिन्न अचेतन जड स्वभाव, उससे (भावितभाव) युक्त जो पुद्गलादि द्रव्य, उनके (अभाव भावपरमार्थ-तया एकम्) अभाव रूप जो भाव परमार्थ चैतन्य भाव तद्रूपताके कारण अपनेमे एक ऐसे (अपारम् समयसारम्) अपार समयसारको (समस्ता बन्धपद्धतिम् अपास्य) समस्त बन्ध मार्गको दूरकर (चेतये) मै सञ्चेतन करता हूँ।

भावार्थ—आत्मतत्त्व चैतन्य स्वभावसे भरा हुआ है, परमार्थ वस्तु है। उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक लक्षण वाला सत्तावान् द्रव्य है। जब नयपक्षको अतिक्रान्त करके ज्ञानी उसको अनुभव करता है, उस कालमे ज्ञानके विकल्प दूर हो जाते है, तथा कर्म बन्धके कारण रागादि विकल्प भी दूर हो जाते है। कर्म बन्धका मार्ग दूर होकर आत्मा निर्बन्ध हो जाता है। अतः अनुभवमे चैतन्य स्वभावसे भिन्न जो जड रूप रागादिभाव, उनके अभाव स्वरूप ही आत्मतत्त्व है। बन्धके कारण भूत रागादिके अभावसे वह बन्धमार्गसे सर्वथा दूर है। ज्ञानी तो सभी सम्यग्दृष्टि जीव हैं। चतुर्थ गुणस्थान और उससे ऊपरके सभी जीव सम्यग्ज्ञानी माने गए है। अत वे सभी आत्म स्वरूपको रागादिसे भिन्न, चैतन्य मात्र, निर्बन्ध स्वरूप ही जानते, मानते व अनुभव करते हैं। जहाँतक रागका उदय है वहाँ भी 'आत्मा रागसे भिन्न है' ऐसा ही स्वीकार करते हैं। रागांशको आत्माके स्वरूपमे मिलाकर नही देखते। इस प्रकार अनन्त समयसत्का अनुभव ही संसार दशाको छुडाकर जीवको मुक्त दशातक पहुँचाता है ॥९२॥

समयसार ही पुराण पुरुष है, भगवान् है—

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां बिना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञान दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

अन्वयार्थ—(**नयाना पक्षैर्विना**) नयपक्षरूप विकल्पोके बिना जो (**अचल अविकल्पभावं आक्रामन्**) निश्चल निर्विकल्प भावको प्राप्त (**समयस्य यः सार.**) जो आत्मतत्वका रहस्य है (**निभृतै स्वयं आस्वाद्यमानः**) वह निश्चलरूपसे स्वय अनुभव रूप स्वादमे (**भाति**) प्रतिभासित होता है। (**विज्ञानैकरसः**) वह विज्ञान रूप जो एकरस तत्त्वरूप है (**स एष भगवान्**) यही तो भगवान् है। (**पुण्यः पुराण. पुमान्**) यही पवित्र है इसे ही 'पुराण पुरुष' कहते हैं। (**ज्ञानदर्शनम् अपि अयम्**) यही दर्शनात्मक और ज्ञानात्मक है। (**किम् अथवा**) अथवा हम उसे किन शब्दोमे कहे ? (**एक. अपि अयं**) यह स्वय सब एक ही (**यत् किंचन**) जो कुछ है सो है ॥९३॥

भावार्थ—स्वानुभव कैसे होता है और 'स्व' क्या है यह इस कलशमे आचार्य प्रतिपादन

नयका लक्षण किया गया है—"**वस्तुस्वरूपप्रतिपादनकुशलप्रयोगो नय.**" अर्थात् वस्तु स्वरूपको प्रतिपादन करनेमे जो कुशल प्रयोग उसे नय कहते हैं। इसका साराश यह हुआ कि वस्तु नयात्मक नही है। नय तो उसे जाननेका प्रयोगमात्र है। वह प्रयोग ज्ञानात्मक है। श्रीभगवदुमास्वामिने भी "**प्रमाणनयैरधिगम**" इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रमे यही प्रतिपादित किया है कि प्रमाण और नय दोनो वस्तुके जानेके उपाय हैं। उनसे वस्तु स्वरूप जाना जाता है।

यह सिद्ध हुआ कि वस्तु नयात्मक नही है। अतएव निश्चयके विषयभूत अर्थात् निश्चयनयके प्रयोगके द्वारा जानी गई 'आत्म वस्तु' अपने स्वरूपसे अविचलित, श्रुत ज्ञानके सपूर्ण विकल्पोसे रहित, स्वयंके द्वारा स्वयमेव आत्मानुभवमे आनेवाली वस्तु है। नय पक्ष द्वारा जाननेके कालमे यद्यपि वह, जिस नयसे देखो तत्स्वरूप कही जाती है, तथापि वह प्रतिभास उस कालका है और उसी दृष्टिमे है। अन्य कालमे अन्य दृष्टिसे देखने पर वह उससे भिन्न, अतद्रूप प्रतिभासित होने लगती है। यदि नय पक्षको छोडकर वस्तुका अनुभव किया जाय तो वह तटस्थ व्यक्तिके लिए तो शुद्ध निश्चयनयका विषयभूत शुद्ध पदार्थ होगा, तथापि उस अनुभव कालमे वह नयादिके विकल्पोसे परे है। अनुभव कालमे नय विकल्प नही उठते।

पडित दौलतरामजीने इसीका वर्णन अपनी छहढालामे लिखा है—

'परमाण-नय-निक्षेपको न उद्योत अनुभवमे दिखै'

अर्थात् अनुभवकालमे पदार्थके जाननेके उपायरूप प्रमाण-नय-निक्षेपका उदय ही नहीं होता।

अनुभव अनुभवात्मक या मात्र रसात्मक है। आत्माको अपने स्वरूपका स्वाद आता है। उस समय ज्ञानके सन्मुख केवल आत्मस्वरूप ही एकमात्र ज्ञेय रहता है। अन्य सम्पूर्ण ज्ञेय, ज्ञानके सामनेसे दूर हट जाते है। ज्ञेयस्वरूप आत्माके सम्मुख रहते हुए भी, उसे यह भी विकल्प नही होता कि मै ज्ञाता हूँ और आत्मा मेरा ज्ञेय है, किन्तु वह स्वरूपमे डूब जाता है। उस समय आत्मा ज्ञाता-ज्ञेयरूप होते हुए भी ज्ञानैकरसरूप है। ज्ञानैकरसरूप आत्मा ही भगवान् है, परमात्मा है, क्योकि आत्माकी परमोत्कृष्टता अपने स्वरूपकी उपलब्धिमे ही है। वही उसका वैभव है। **अपने स्वरूपमे निमग्न आत्मा ही पुण्यरूप अर्थात् पवित्ररूप है**[1] **प्रत्येक पवित्र पदार्थका स्वरूप केवल स्वरूप-निमग्नता ही है। परसम्पर्क ही अपवित्रताका हेतु बनता है।**

वह पवित्रात्मा ही पुराण पुरुष है। आत्मतत्व अनाद्यनन्त है, शुद्धद्रव्य है, अतएव उसे ही पुराण पुरुष कहते है। आत्माका स्वरूप उपयोग-लक्षणात्मक होनेसे वह आत्मा ज्ञान दर्शनमय है। यद्यपि 'ज्ञान दर्शनमय है' ऐसा कथन करनेसे आत्माका सम्पूर्ण स्वरूप वर्णित नही होता, क्योकि अनन्तगुणात्मक-एकरस-अखण्ड-अभेदरूप-आत्माका यह वर्णन ज्ञानदर्शन गुणको मुख्य और अन्य गुणोको गौण करके ही कहा जा सकता है। यह मुख्य गौण विवक्षामे वस्तुवर्णन, नयपक्षसे रहित नही है इसलिए फिर उसे उक्त शब्दोसे न कहकर 'यह एक कोई पदार्थ है' अथवा 'जो कुछ है सो है' ऐसे ही शब्दोमे कहा जा सकता है। शब्दोसे कहना भी नयपक्ष बिना नही बनता। अत. आत्मा अनिर्वचनीय है ऐसा ही कहा जाय। पर इन शब्दोसे कहना भी वचनीयता हो गई, तब वह कहा

---

१ आत्मानम् पुनाति इति पुण्यम्।—सर्वार्थसिद्धि।
(स्वरूप निमग्नता आत्माको पवित्र करती है, अत पुण्य है।)

नही जा सकता, केवल अनुभव ही किया जा सकता है, यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है ॥९३॥

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनाम् आत्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

अन्वयार्थ—(**अयम्**) यह आत्मा (**निजौघाच्च्युत**) अपने निजस्वरूपसे च्युत हुआ (**दूरं**) अनादिकालसे निजस्वरूपसे दूर (**भूरिविकल्पजालगहने**) अनेक विकल्पके जालोसे गहन स्थानोमे (**भ्राम्यन्**) भ्रमण करता आया है, अत (**दूरात् एव**) अनन्तकालके बाद (**विवेकनिम्नगमनात्**) विवेकरूपी गम्भीर स्थानको प्राप्तकर (**तोयवत्**) जलकी तरह (**बलात्**) पुरुषार्थसे (**निजौघं नीतः**) अपने स्वरूपमे लाया गया। (तदेकरसिनाम् **विज्ञानैकरस**) आत्मानुभवके आस्वादन करनेवाले रसिया पुरुषोको वह ज्ञानैकरसात्मक आत्मा (**आत्मनि**) अपनेमे (**आत्मानम् आहरन्**) अपनेको खीचकर (**सदा**) हमेशा फिर (**गतानुगतताम् आयाति**) शुद्धपरम्पराको ही प्राप्त होता है ॥९४॥

भावार्थ—जैसे किसी जलाशयका जल अपने स्थानसे च्युत हुआ, नानावनोके गहन स्थानोमे घूमता फिरता, उन-उन स्थानोके कारण आडे टेढे विविधरूपोको अपनेमे धारण करता हुआ, चक्कर लगाता फिरता है। वही जल किसी गम्भीर नीचे स्थानको पाकर, फिर वही आकर मिलता है और स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार अनादिकालसे यह आत्मा, अपने निजस्वभावसे च्युत हुआ—चतुर्गतिरूप ससारकी चौरासी लाख योनियोमे विविध आकार प्रकारको पाकर, नाना विभावोके चक्र जालमे घूमता हुआ दु खी था। सम्यग्दृष्टि जीव उन विकल्प जालोसे निकालकर, अपने पुरुषार्थसे, अपने विवेकसे उसे अपने स्वरूपमे लाया, तब वह ज्ञानरससे परिपूर्ण आत्मा, सदा अपने ही मे शुद्ध परम्परारूप पर्यायोमे परिणत होता हुआ, अनन्तकाल तक प्रकाशमान रहता है।

जबतक आत्मा अपने परम पुरुषार्थको निजबलसे प्रकटकर, अनादिकालीन कर्मनिमित्त जन्य विभावो और विकल्पोसे अपनेको नही निकालता, तबतक इस ससाररूपी गहन जगलमे, नदीके जलकी तरह आडे-टेढे मार्गमे, नानारूप अपनेको बनाता, नदीके मार्गमे झाड-झखाड मिट्टी पत्थरोकी टकराहटके समान, जन्म मरण, रोग-बुढापा, सयोग-वियोग, क्रोधादि विकार, रागादि-विकाररूप परिणत होता हुआ, नानादुःखोकी परम्पराको प्राप्त होता है।

आत्मा यदि एक बार भी अपने स्वरूपका आस्वादन करे, तो उसे प्रतीत होगा कि वह जन्म-मरण, सयोग-वियोगोसे भिन्न, देह-कर्मसे भिन्न, क्रोधादि-रागादिभावोसे भी सर्वथा भिन्न ज्ञानरस-स्वय समुद्र है, जिसमे कोई दूसरा रस मिल ही नही सकता। वह स्वय अनन्त आनन्दरूप है। उसमे परका प्रवेश ही असम्भव है। ऐसा विज्ञान होनेपर वह अपनेको परकी ओरसे खीचकर, आप अपनेमे ही नियन्त्रित कर लेता है। यही परमचारित्रकी दशा है। उसका फल यह होता है कि फिर वह जीव, सदाकाल अपनी शुद्धपर्यायोकी परम्पराको ही, स्थिर जलकी तरह प्राप्त करता है। फिर न वह भ्रमण करता है न विकृत होता है ॥९४॥

यथार्थ कर्त्ता और कर्म कौन है—

विकल्पकः परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।।९५।।

अन्वयार्थ—(**विकल्पक**) अपने अन्तरमे विकल्परूप परिणाम करनेवाला (**परं**) केवल (**कर्त्ता**) कर्त्ता है। (**विकल्प केवल कर्म**) और जो विकल्परूप परिणमन वह करता है, केवल वह विकल्प ही उसका कर्म है। (**सविकल्पस्य**) विकल्प करनेवाले जीवके (**कर्तृकर्मत्वं**) इस प्रकार का कर्त्ताकर्मपना (**न जातु नश्यति**) कभी मिटता नही है। सदा कर्त्ताकर्मपना रहता है ।।९५।।

भावार्थ—यह ससारी जीव परके कर्तृत्वका अभिमान करता है, तथा अपने परिणमनका कर्त्ता भी अन्य व्यक्तिको या ज्ञानावरणादि जड कर्मको मानता आ रहा है। यह दोनो बातें सत्य नहीं हैं। सत्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव भी—'मै परको करूँ', ऐसा मात्र विकल्प कर सकता है। तथापि परका कुछ कर नही सकता। अतः वह विकल्प मात्रका कर्त्ता अवश्य है तथा जो-जो विविध प्रकार के विकल्प उसे समय-समय पर उत्पन्न होते हैं, वे सब विकल्प उसीके परिणमन स्वरूप होनेसे उसके 'कर्म' है। 'कर्त्ता जिसे करे वह कर्म' कहलाता है। इस व्याख्याके अनुसार वह केवल विकल्प मात्र करता है अत- वे विकल्प ही उसके 'कर्म' हैं। तथा 'जो कर्म करे वह कर्त्ता है'। इस व्याख्याके अनुसार विकल्प परिणमन करने वाला जीव ही उन विकल्पोका कर्ता सिद्ध होता है।

अन्य कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन नही करता, **अतः कोई एक द्रव्य, अन्य द्रव्यके परिणमनका कर्ता नहीं होता। इसीलिए किसी द्रव्यका परिणमन किसी अन्य द्रव्यका कर्म भी नहीं बन सकता। अपने द्रव्यका परिणमन ही अपने द्रव्यका कर्म है। उसका वह स्वयं कर्त्ता है।** ऐसी वस्तु स्थिति है। ऐसा ही जिनागममे प्रतिपादित है।

परन्तु जो जीव उक्त वस्तु स्थितिके ज्ञाता नही है वे परके कर्तृत्वका दम भरते हैं। वे सारे संसारको कर सकनेका अपनेमे सामर्थ्य समझते है। प्रयत्न भी उसी प्रकारका करते हैं। वस्तु स्थितिके विपरीत किया गया यह सम्पूर्ण प्रयत्न सफल नही होता, तब यह जीव दु.खी होता है। इसके दु खी होनेका कारण इसका एक मात्र यह भ्रमज्ञान है कि मै परका कुछ कर सकता हूँ। यह भ्रमज्ञान विकल्परूप है, जब तक ऐसा विकल्प है, तब तक यह उस विकल्पके साथ कर्त्ता कर्म भाव रखता है। वस्तु स्थिति बोध होनेपर यह छूट जाता है ।।९५।।

कर्त्ता और वेत्तामे अन्तर—

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।।९६।।

अन्वयार्थ—(**य· करोति**) जो विकल्पका कर्त्ता है (**स तु केवलं करोति**) वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नही। (**य तु वेत्ति**) जो ज्ञाता है (**स तु केवलं वेत्ति**) वह केवल ज्ञाता ही है कर्त्ता नही है। (**य· करोति**) जो कर्त्ता है (**स· न क्वचित् वेत्ति**) वह वस्तुत कुछ नही जानता (**यस्तु वेत्ति**) जो जानता है (**स क्वचित् न करोति**) वह कभी कर्त्ता नही होता, ज्ञाता ही होता है ।।९६।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्त्वका ज्ञाता है अत. परके कर्तृत्वकी बात तो दूर रही, कर्तृत्वका विकल्प भी उसे नही है। जो मिथ्यादृष्टि है वह 'परका कर्त्ता हूँ' ऐसा विकल्प करनेसे केवल विकल्पका कर्ता है। परका कर्ता वह भी नही है।

जो विकल्पका कर्ता है, वह वस्तुस्थितिका ज्ञाता नही है। मिथ्यादृष्टि जीव इन विकल्पो का तथा रागादि विकारोका कर्ता है, सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नही, केवल ज्ञाता है। अथवा पुद्गल द्रव्य ही कर्म नोकर्मका कर्ता है, वेत्ता नही है। इसी प्रकार ज्ञानोपयोगी आत्मा वेत्ता है, कर्म नोकर्मका कर्ता नही है। जो वस्तु स्थितिका ज्ञाता है वह विकल्पका कर्ता नही है ॥९६॥

जानने और करनेमे भेद है—

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्त्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

अन्वयार्थ—(**करोतौ**) करोति अर्थात् करता है इस क्रियामे (**ज्ञप्ति**) जानने रूप क्रिया (**न हि अन्त भासते**) अन्त· प्रतिभासित नही होती। इसी प्रकार (**ज्ञप्तौ**) जानने रूप क्रियामें (**करोतिश्च**) करने रूप क्रियाका (**न हि भासतेऽन्त·**) अन्त· प्रतिभास नही होता (**ततो ज्ञप्तिः करोतिश्च विभिन्ने**) इमसे यह बात सिद्ध होती है कि ये दोनो क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं (**तत स्थितं**) इससे यह भी स्वय सिद्ध है कि (**ज्ञाता न कर्ता इति**) जो ज्ञाता है वह कर्ता नही होता ॥९७॥

भावार्थ—कोई क्रिया कभी अन्य क्रियारूप नही होती। इस सामान्य नियमके अनुसार करना और जानना दो विभिन्न क्रियाएँ है। करनेमे जाननेरूप क्रियाका प्रतिभास नही होता। इसी प्रकार जाननेरूप क्रियामे करनेरूप क्रिया नही है। इसमे सिद्ध है कि जो अज्ञानी अपने भीतर विविध प्रकारके मिथ्यात्वादि अध्यवसानके द्वारा नाना विकल्प उत्पन्न करता है, वह उनका कर्ता है, विकल्प उसके कर्म है वह ज्ञाता नही है। किन्तु जो ज्ञानी विकल्पोत्पन्न न कर, निर्विकल्प रूपसे आत्मस्वरूपका जानने वाला, याने अनुभव करने वाला है, वह विकल्पका कर्ता नही है, अतः ज्ञानी कर्तृकर्मभावसे रहित है। वह केवल अपने स्वरूपका ज्ञाता मात्र है। जब ज्ञान क्रिया तथा करोति क्रियामे विभिन्नता है, दोनो एक साथ नही रहती, तब ज्ञाता कर्ता कैसे कहा जा सकता है।

सिद्ध है ज्ञानी रागादि कर्मका कर्ता नही होता, जब कि अज्ञानी का अध्यवसान भाव कर्मबन्धका निमित्त कर्त्ता होता है। अध्यवसान भाव ही स्वय उसके यथार्थ कर्म हैं। पुद्गल कर्मका तो वह कर्ता हो भी नही सकता ॥९७॥

इसी बातका कहते हैं—

कर्त्ता कर्मणि नास्ति, नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्त्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा, का कर्तृ-कर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा, व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
नैपथ्ये बत नानटीति रभसा, मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अन्वयार्थ—(कर्ता कर्मणि नास्ति) कर्ता कर्ममे नही है, **(नियतं)** यह निश्चय है। **(कर्म अपि कर्तरि नास्ति)** कर्म भी कर्तामे नही है। **(द्वंद्वं)** दोनोका द्वन्द्व **(यदि विप्रतिषिध्यते)** यदि निषिद्ध है तो **(तदा का कर्तृ-कर्मस्थिति)** उस समय दोनो मे कर्ता-कर्मभावकी स्थिति कैसे हो सकती है। **(ज्ञाता ज्ञातरि)** ज्ञाता सदा अपनेमे रहता है **(कर्म कर्मणि)** कर्म सदा कर्मरूपतामे रहता है **(इति वस्तुस्थिति)** ऐसी वस्तुकी व्यवस्था **(सदा व्यक्ता)** सदा प्रकट है। **(तथापि एष मोह)** तो भी यह एकत्वका मोह **(बत)** खेदकी बात है कि **(रभसा)** अपने वेगके साथ **(नैपथ्ये)** रगभूमिमे **(नानटीति)** नृत्य करता है **(इति किम्)** ऐसा क्यो है ? ॥९८॥

भावार्थ—ससारी जीव कर्मका कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु ससारी जीव तो अपने ही पर्यायरूप रहता है, जडकर्मरूप नही परिणमता। अत. यह फलित हुआ कि कर्त्तामे कर्म नही रहता, और न कर्ममे कर्त्ता रहता है। कर्त्ता जीव सचेतन है और कर्म जड पुद्गल है। निश्चयसे देखा जाय तो दोनो द्रव्योकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न स्थिति है। यद्यपि संसारी अवस्थामे एक से दीखते हैं तथापि वे एक नही हैं। लक्षणभेद-सत्ताभेदमे दोनो मे महान् अन्तर है। दोनोका द्वन्द्व अर्थात् जड-चेतनमे एकत्वभाव वस्तुस्थितिसे ही निषिद्ध है। तब दोनोमे कर्ता-कर्मभाव भी परस्परमे नही हो सकता।

ज्ञानभावमे स्थित सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता ही रहेगा, वह उपयोगात्मक चैतन्य पिंड कभी जड पुद्गलरूप न बना है, न है, न होगा। इसी प्रकार जडपुद्गल कर्म, सदा जडपुद्गलरूप ही रहा है और रहेगा। वह कभी चैतन्यभाव रूप परिणत न होगा। जब वस्तुकी मर्यादा ही इस प्रकार है तब ससारके रगमञ्चपर यह एकत्वका मोह क्यो नृत्य करता है ?

आचार्य कहते हैं कि ससारीजन वस्तुस्थितिको मोहके कारण समझ नही पाते, अतएव जड-चेतनकी एकता रूप अपने परिणाम उत्पन्नकर, वृथा हो बन्धनमे पडकर दु ख उठाते हैं। यह बडे खेदकी बात है।

अथवा यदि मोह जगत्मे रगमञ्चपर नृत्य करता है तो करो। वस्तुकी स्थिति तो जैसी है वैसी ही रहेगी। किसीको रस्सी मे सर्पका भ्रम हो जाय तो वह भयभीत होता है। जानकार तो जानता है कि यह मात्र रस्सी है सर्प नही है। उसे उस भ्रमित व्यक्तिके भयभीत होनेपर खेद होता है, पर वह उसका भ्रम कैसे दूर करे ? इसी प्रकार आचार्य मोही जनोकी परिणतिपर खेद प्रकट करते हुए भी यह निर्देश करते हैं कि मोह नाचता है तो नाचो, वस्तु तो जैसी है वैसी ही है।

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चैः
चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

अन्वयार्थ—(एतत् ज्ञानज्योति) आत्म ज्ञानकी यह ज्योति **(चित्शक्तीनां)** अपनी समस्त चैतन्य शक्तिकी **(निकरभरतः)** समग्रताके भावसे युक्त **(अत्यन्तगम्भीरम्)** जिसका अन्त नही इस

प्रकारकी गभीरताको लिए (**एतत् अचल**) यह अविचलित रूपमे (**उच्चै अन्त व्यक्तम्**) उच्चरूपसे अन्तरङ्गमे प्रकट (**ज्वलितम्**) प्रकाशमान हुई है। इस स्थितिमे (**यथा कर्ता कर्ता न भवति**) जो अपने अज्ञानभावमे जीव कर्मका कर्ता था, वह अब कर्ता नही रहा (**कर्म कर्म अपि नैव**) जो अज्ञान भावके निमित्तको पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप परिणत होता था, अब कर्मरूप नही परिणमता। किन्तु ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर (**यथा च ज्ञान ज्ञान भवति**) जैसे ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन होता है वैसे ही (**पुद्गल. अपि पुद्गल**) पुद्गलका भी पुद्गलरूप ही परिणमन होता है ॥९९॥

भावार्थ—जब तक जीवमे आत्मज्ञान नही था तब तक परमे एकत्व बुद्धि थी। परको निज मानकर उनसे रागादिभाव करता था, अत अज्ञानी था। उस अज्ञान भावके कारण पुद्गल रूप कर्मवर्गणा, ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करती थी। जब जीवको आत्मज्ञान हुआ तब स्वपर भेद विज्ञान के कारण, परको पर मानकर उमसे रागादि छोड दिया, तब वह ज्ञानी हुआ।

इस स्थितिमे अब वह ज्ञानी अपने ही ज्ञानभावका कर्ता रहा। पर निमित्तसे जो रागादि भाव करता था उसका कर्ता न रहा। जब उमने रागादि भाव न किये, तो इस निमित्तसे पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि कर्मरूप भी परिणत न हुई। तब उनका पौद्गलिक रूपमे परिणमन तो होगा पर ज्ञानावरणादि रूप न हागा। अत कर्ता अब कर्ता नही रहा, और पुद्गल भी अब कर्मरूप नही रहा। अब तो ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमन करेगा, तथा जड जडरूप परिणमन करेगा ॥९९॥

यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणमनका कर्ता है, अन्यके परिणमनका नहीं। भले ही अन्य द्रव्यो की परिणतियाँ उस समय निमित्त पडें। **इस नियमके अनुसार जीव द्रव्य भी अपने ही स्वभावका अथवा विभाव भावका कर्ता है, अन्य द्रव्यके परिणमनका नहीं।** शुद्ध निश्चयसे तो जीव अपने स्वभावका ही कर्ता है। विभावका कर्ता मात्र व्यवहारसे या अशुद्ध निश्चयसे है। तथापि परद्रव्यकी परिणतियोका कर्ता त्रिकालमे भी नही है। इसी प्रकार पुद्गल कर्म भी निश्चयमे त्रिकालमे भी जीवके स्वभाव तो क्या, विभाव-परिणतिका भी कर्ता नही है। हाँ, जाव कर्मका कर्ता है, या कर्म जीवम रागादि उत्पन्न करता हे, ज्ञानका आवरण करता है, ऐसा जैनशास्त्रोमे लिखा गया है, सो वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे लिखा गया है, ऐसा जानना चाहिए।

इति कर्तृकर्माधिकार।

•

❀ पुण्य-पाप अधिकार ❀

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपित-निर्भर-मोहरज· अय स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लव ॥१००॥

अन्वयार्थ—(**तदथ**) इसके अनन्तर (**शुभाशुभभेदत**) शुभ और अशुभके भेदसे (**द्वितयता गतम्**) दो प्रकारताको प्राप्त (**कर्म**) कर्मकी (**ऐक्यमुपानयन्**) एकताको स्थापित करता हुआ तथा (**ग्लपितनिर्भरमोहरजा**) मोहरूपी रज कणको अत्यन्त दूर कर देनेवाला ऐसा (**अय**) यह (**अवबोधसुधाप्लव**) ज्ञानरूपी चन्द्रमा[1] (**स्वयम् उदेति**) स्वय उदयको प्राप्त हो रहा है ॥१००॥

भावार्थ—लोकमे ऐसी प्रसिद्धि है कि चन्द्रमा अमृतमय है। उससे अमृत झरता है। इस प्रकरणमे स्वावबोधको चन्द्रमाका रूपक दिया है। चन्द्रमाका जब उदय होता है तब अन्धेरेके कण दूर हो जाते है, इसी प्रकार स्वावबोध रूपी चन्द्रके उदय होनेपर, भ्रमरूप बुद्धि, जिसे मोहतम कहना चाहिए उसके रज कण दूर हो जाते है। जीवको ससारी दशामे विषयजन्य रागके कारण पदार्थके सयोगमे सुखके निमित्तभूत कर्मको शुभ और तद्वियोगमे दुखके निमित्तभूत कर्मको अशुभ, ऐसी द्विविधताका बोध, उस एक ही कर्मम होनेका भ्रम था। वह ज्ञान कलाके प्रकट होने पर दूर हो गया। यह प्रतिभासित होने लगा कि दोनो ही कर्म है, बन्धनरूप हैं, बन्धनमे भेद करना भूल है। यदि जीवके शुभ कर्मका उदय होगा तो मनुष्य-देवगतिका बन्धन प्राप्त होगा। यदि अशुभ कर्मका उदय होगा तो नरक-तिर्यग्गतिके बन्धन प्राप्त होगे। चतुर्गति ससार परिभ्रमणके कारणभूत दोनो ही कर्म केवल बन्धन है। ज्ञान उन दोनोकी यथार्थ एकताका बोध करा देता है ॥१००॥

इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है—

एको दूरात्त्यजति मदिरा ब्राह्मणत्वाभिमानात
अन्य· शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्य तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरात् निर्गतौ शूद्रिकाया
शूद्रौ साक्षात् अपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(**एक**) कोई एक शूद्रपुत्र (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्**) ब्राह्मणके यहा पलनेके कारण अपनको ब्राह्मण समझ उस स्वाभिमानसे (**मदिराम् दूरात् त्यजति**) मदिराका दूरसे ही त्याग करता है। (**अन्य**) दूसरा शूद्रपुत्र (**स्वयम् अहम् शूद्र**) शूद्रके यहाँ पलनेके कारण मे स्वय शूद्र हूँ (**इति**) ऐसा समझकर (**नित्यम्**) रोज-रोज (**तया एव**) मदिरासे ही (**स्नाति**) नहाता है। अर्थात् नित्य पान करता है। (**एतौ द्वौ अपि**) ये दोनो पुत्र (**शूद्रिकाया उदरात् युगपत् निर्गतौ**) शूद्रीके पेटसे युगल उत्पन्न हुए थे, पालन अलग-अलग स्थान पर हुआ, तथापि (**साक्षात् शूद्रौ**) वे

१ 'सुधाप्लव' का अर्थ अमृत का प्रवाह भी है, जो रज (धूलि) को बहा ले जाता है। ऐसा अर्थ भी सगत है।

दोनो है तो शूद्र ही। अत (**जातिभेदभ्रमेण चरत**) केवल अपनी अपनी जातिके भेदके भ्रमके कारण ही उनका आचार भेद है ॥१०१॥

भावार्थ—पुण्य और पाप दो भागोमे कर्म द्रव्यका विभाग होता है। जो संसारी जीवको सासारिक सुखानुभवमे हेतु हो, उसे पुण्य कहते है तथा जो उसे दुखानुभवमे निमित्त हो, उसे पाप कहते है। ये दोनो ही कर्मके भेद है। इन दोनो कर्मोके निमित्तसे जीव अनादि कालसे ही, ससार परिभ्रमण कर रहा है। ये दोनो ही ससारी आत्माके विकार भावके निमित्त कारण है। अत संसारके ही हेतु है। इनके रहते जीवको मुक्ति नही होती। ससार परिभ्रमण नही छूटता। मिथ्या-दृष्टि जीव दोनोमे भेदभाव करता है, उसे अभी ससार परिभ्रमणकी ही वाछा है। स्वर्गादिकी, राज्यकी—विषय भोगोकी वाछा है। किन्तु भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, ससारको दु खरूप मानता है। चाहे वह स्वर्गका राज्य हो, या चक्रवर्तीकी विभूति हो, वह इन सब पर-द्रव्योमे आत्मबुद्धि नही रखता, न इनमे हित मानता है। वह समस्त सासारिक विभूतियोको, आत्मविभूतिकी प्राप्तिमे बाधक जानकर उनका परित्याग करता है। उसका ऐसा जानना ही 'आत्मज्ञान' है और उनकी आकाक्षाका परित्याग ही 'वैराग्य' है। सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होनेके कारण, संसारके कारणभूत, पाप-पुण्य दोनोका समानरूपसे हेय मानता है।

इसी बातको यहा आचार्य एक दृष्टान्त द्वारा समझाते है कि जैसे किसी शूद्र, स्त्रीके उदरसे दो युगल पुत्र उत्पन्न हुए। वे परमार्थत दोनो ही शूद्र हैं। किसी कारणवशात् उनमे एक पुत्र किसी ब्राह्मणके हाथ पडा, उसने पाल लिया। ब्राह्मणके यहाँ पलनेके कारण उसने अपनेको ब्राह्मण कुलका समझा। अपनी ऐसी समझके कारण उसने ब्राह्मणोचित कर्म करना ही उचित माना। वह मदिरा-पानसे दूर रहा, उसका स्पर्श करना भी उसे अपनी जातिकी उच्चताके सामने अनुचित प्रतीत होता था। दूसरा उसीका भाई वही शूद्रीपुत्र, शूद्रीके पास ही रहा। उसने उसका पालन पोषण किया। वह अपनेको शूद्र जातिका मानकर मदिराका नित्य पान करता है। ग्रन्थकार तो इन शब्दोमे कहते है कि वह मदिरासे ही स्नान करता है, तात्पर्य यह कि उसे मदिरापानका ही व्यसन हो गया। वस्तुत दोनो पुत्र शूद्र है, तथापि जातिमे भेद न होते हुए भी उन्हे "हमारी जातिमे भेद है" ऐसा भ्रम हो गया है, अत आचार भेद है। इसी प्रकार कर्मका बन्धन तो जीवको ससारमे रुलाता है। पुण्य-पापमे भेद तो ससारी जीवने अपने मिथ्यात्वोदय जन्य भ्रमके कारण मान लिया है। वस्तुत दोनो एक ही कर्मके पुत्र है। अत उनमे वास्तविक भेद कुछ नही है ॥१०१॥

(८१) **प्रश्न**—जातिभेदके भ्रमसे भी जब आचार भेद हो जाता है तो यदि वस्तुत जातिभेद हो तब तो आचार भेद स्पष्ट ही रहता है। ये दोनो पुण्य ओर पाप या शुभ-अशुभ कर्म, नाम मात्रसे भिन्न-भिन्न हो ऐसी बात नही है, इनमे अनेक कारणोसे यथार्थ भेद मानना चाहिए। हेतुभेद, प्रकृतिभेद, अनुभवभेद तथा आश्रयभेद इन चार कारणोसे इनमे भेद है। यह बात बहुत स्पष्ट है। इन भेदोका विवरण निम्न प्रकारसे जानना चाहिए—

हेतुभेद—'**शुभ पुण्यस्याशुभ. पापस्य**' भगवान् उमास्वामीके इस सूत्रके अनुसार शुभ प्रकृतियाँ शुभयोगसे बँधती है, तथा अशुभ प्रकृतियाँ अशुभयोगसे बँधती है। अत. बन्धके हेतु दोनोके भिन्न-भिन्न है।

प्रकृतिभेद—दोनो प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न श्रेणीकी है। श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यने श्री गोम्मटसार कर्मकाण्डमे पुण्य प्रकृतियाँ तथा पाप प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न बताई है। कर्मकी १४८ प्रकृतियाँ अपनी-अपनी प्रकृतिभेदसे जुदी-जुदी गिनाई गई है।

अनुभवभेद—इन प्रकृतियोका जब बन्ध होता है तो अनुभाग शक्तियाँ भी इनमे भिन्न-भिन्न रूपमे पडती है। उदय कालमे यह जीव पुण्योदयमे सुखानुभव और पापोदयमे दु खानुभव करता है यह अनुभवभेद सर्वजन प्रसिद्ध है।

आश्रयभेद—शुभ परिणाम मोक्षमार्गका आश्रय है। अशुभ परिणाम बन्ध मार्गका आश्रय है। दोनोमे आश्रयभेद स्पष्ट है। अत दोनो कर्मोमे अभेद नही। अत्यत भेद है।

समाधान—इस प्रश्नका समाधान आचार्य निम्न पद्यसे स्वय प्रकट करते है—

हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः।
तद् बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्ट स्वय समस्त खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(**हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणाम्**) हेतु-स्वभाव-अनुभव और आश्रय इन चारोकी अपेक्षा (**सदाप्यभेदात्**) सदा ही दोनो कर्मोमे अभेद है, अत (**न हि कर्मभेद**) इन दोनो कर्मोमे भेद नही है। (**एक बन्धमार्गाश्रितम् इष्टम्**) वे दोनो एक बन्धमार्गका आश्रय करनेवाले है यही इष्ट है (**तत्**) इसलिए (**स्वय समस्त खलु बन्धहेतु**) वे स्वय दोनो प्रकारके शुभ अशुभ परिणाम निश्चयसे बन्धके ही कारणभूत है ॥१०२॥

भावार्थ—उक्त प्रश्नका उत्तर इसी कलशसे श्रीअमृतचन्द्राचार्य देते है कि वस्तुत. दोनो कर्मोमे इस प्रकारका भेद व्यवहारनयसे ही आगममे वर्णित है। निश्चयनयसे आत्मद्रव्यका स्वरूपदर्शन कीजिए तो सभी कर्म पौद्गलिक होनेसे जीवद्रव्यसे सर्वथा भिन्न है और पुद्गलसे सर्वथा अभिन्न होनेसे एक है। इनमे भेद सिद्ध करनेके लिये जो चार युक्तियाँ बताई गईं, वे भी व्यवहारके अनुकूल होनेसे उन्हे भेदरूप बताती है। परमार्थसे देखा जाय तो ये चारो युक्तियाँ दोनो कर्मोके अभेदको ही सिद्ध करती हैं। इसका समर्थन निम्न प्रकार होता है—

हेतु अभेद—दोनोमे हेतुकी अपेक्षा भी अभेद है। क्योकि दोनो प्रकारके कर्मबन्धका कारण जीवका विकारीभाव है। भले ही वह शुभ योग हो या अशुभयोग हो। इनमे शुभता-अशुभता तो अज्ञानी जीवोकी अपेक्षा है, अर्थात् अशुद्ध जीवोकी अपेक्षा है। शुद्धजीवकी दृष्टिसे तो योगमात्र[1] विकार है। जिन दोनोके बन्धका कारण विकारी भाव हो, उन दोनोमे हेतुभेद कैसे किया जाये, अत. हेतुकी अपेक्षामे दोनो एक है। दोनो परिणाम अज्ञानमय भाव होनेसे अभेद है।

स्वभाव अभेद—दोनो कर्म पौद्गलिक प्रकृतियाँ हैं। पुद्गलसे ही अभिन्न तथा जीवसे सवथा भिन्न ह, अत दोनो एक पुद्गल स्वभाववाली होनेसे स्वभावसे भी दोनोमे अभेद है।

१ योग क्रियात्मक है। मनोवगणा, वचनवगणा और कायवर्गणाके अवलबनसे आत्मप्रदेशोमे परिस्पन्दन रूप यह योग, कर्मोदय सापेक्ष होनेसे, विकार है।

जीवम जो 'क्रियावती शक्ति' स्वभावरूप है उसे भी योग कहा है। धवलाकारने उसे पारणामिक भाव माना है।

—धवला सातवी पुस्तक

फल या अनुभव अभेद—साता या असाता दोनो अनुभव आत्माके शुद्ध अनुभव नही हैं, दोनो विकारी अनुभव हैं। यदि पुण्योदयका अनुभव साताके निमित्तभूत पौद्गलिक, अथवा सचेतन या मिश्र, इष्टरूप पर पदार्थके सयोगमे होता है, तो पापोदयका अनुभव अनिष्टरूप परपदार्थके सयोगमे होता है। परपदार्थोमे इष्टता अनिष्टताका अनुभव, मोह कर्मोदय निमित्त जन्य भ्रमभावके कारण है। यथार्थमे तो निजसे भिन्न जो परपदार्थ हैं, वे चाहे पुद्गलरूप हो, या स्त्री पुत्रादि सचेतनरूप हो, अपना स्वरूप नही हैं। ऐसी स्थितिमे दोनो अनुभव परनिमित्तजन्य होनेसे विकारी हैं अत अनुभवका भी दोनोमे अभेद है।

आश्रय अभेद—शुभ तथा अशुभ परिणाम दोनो बन्ध मार्गके आश्रयभूत है अत दोनोमे अभेद है।

इस तरह हेतु, स्वभाव, फल व आश्रयकी अपेक्षा भी इन दोनोमे भेद न होनेसे दोनो कर्म भाई-भाई है। पुण्य बन्धकारक प्रशस्त राग तथा पाप बन्धकारक अप्रशस्त राग, दोनो मोह कर्म है। समग्र मोह कर्म स्वय पाप प्रकृतिमे गिना गया है, अत शुभ-अशुभ दोनो राग, मोह रूप पाप प्रकृतिके पुत्र होनेसे सगे भाई है। इनमे भेद भ्रमपूर्ण है। इनमे आत्माका हितकारक कोई नही, सभी बन्धनरूप ही है, अत इनमे भेद करना ससार-बन्धनको ही स्वीकार करना है। वे तो दोनो प्रकारके कर्म ससारके ही कारण है।

जिस प्रकार सुवर्ण और लोहेकी साँकलें बनी हो, पर वे पुरुषके लिए बन्धनका ही कारण है, इसी प्रकार शुभाशुभकर्म भी बन्धनके ही कारण हैं। अतः दोनो ही कर्म कुत्सित स्वभाववाले है। जिनका कुत्सित स्वभाव है उनसे प्रेम करना, तथा उनसे ससर्ग रखना, पतनका ही कारण होता है। कर्ममात्र कुशील है, उनमे भेद करके शुभसे भी राग नही करना चाहिए, उससे ससार की ही वृद्धि है। मोक्षमार्ग उससे दूर है। जिन्हे अपने आत्मस्वभावको प्राप्त करनेमे रुचि है, वे आत्मस्वभावके विरुद्ध, बन्धनरूपकर्मसे अपनेको दूर रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं। यह नियम है कि रागी-द्वेषी-कामी-क्रोधी जीव नियमसे बन्धनको प्राप्त होता है, अत बन्धनके कारणभूत इन शुभाशुभरूप विभावोमे अपनेको बचाना चाहिए। भगवान्का यही उपदेश है।

(८२) **प्रश्न**—व्यवहार चारित्र शुभोपयोग है। क्या वह मोक्षका कारण नही है?

समाधान—नही, व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रपर पहुँचानेका साधन बन सकता है। स्वय शुभोपयोगी चारित्र बन्धका हेतु है, निश्चय चारित्र ही साक्षात् मोक्षका मार्ग है।

(८३) **प्रश्न**—शुभोपयोगी चारित्र छठे-सातवें गुणस्थानमे है। तब क्या वहाँ पुण्य-बन्ध ही होता है? वहाँ सवर-निर्जरा भी है, उसका हेतु क्या है?

समाधान—वहाँ सवर-निर्जरा भी होती है। पुण्य बन्ध भी होता है। संवर-निर्जराका कारण शुभोपयोगके साथ होनेवाले वीतरागताके अश है। जितने अश शुभ राग रूप है उनसे तो बन्ध ही होता है।

(८४) **प्रश्न**—मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधुके कौन-सा चारित्र है? क्या वह व्यवहार चारित्र है? यदि है, तो उन्हे भी निश्चय चारित्रकी प्राप्ति होनी चाहिए। पर मिथ्यात्वकी भूमिकामे वह सम्भव नही है। यदि व्यवहार चारित्र मिथ्यात्वकी भूमिकामे हो सकता

है तो फिर उसे मिथ्याचारित्र कहना चाहिए। वह सम्यक्चारित्र नही हो सकता क्योकि मिथ्यात्वके साथ होनेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र ही कहा गया है।

समाधान—मिथ्यात्वके रहते हुए ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे तथा कषायकी मन्दतासे आगमज्ञान तथा बाह्यचारित्र पाया जा सकता है। तथापि उसे सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी संज्ञा प्राप्त नही है। यह संज्ञा सम्यक्त्वके सद्भावमे हो हो सकती है। **जिन जीवोने सम्यक्त्वके साथ ज्ञान और चारित्रकी आराधना की है, छठवाँ सातवाँ गुणस्थान प्राप्त किया है, वे भावलिंगी मुनि हैं**। जिन्हे मिथ्यात्वका उदय रहते हुए आगमज्ञान व बाह्यचारित्रकी प्राप्ति है, वे द्रव्यलिंगी साधु हैं। शास्त्रकारोने द्रव्यलिंगी शब्दका उपयोग ऐसे साधुओके लिए ही किया है।

जैनागममे भावोके अनुसार ही फलप्राप्ति बताई गई है, भावरहित क्रियाका फल नही होता। "यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या" ऐसा कल्याणमंदिर स्तोत्रमे बताया गया है।

यह जैनधर्मकी पक्षपातरहित अनुपम बात जगत्मे है कि जो व्यक्ति जैनशास्त्रोका विद्वान् भी हो, जैनकुलीन हो, दिगम्बर हो, जैनसाधुके योग्य जैनाचारका निर्दोष पालन भी करता हो, पर आत्मज्ञान शून्य हो, तो जैनागम उसे 'जैन' साधु नही मानता। ससारके अन्य किसी भी धर्ममे ऐसी बात नही है। अन्यत्र तो वेषमात्र भी यदि उस धर्मके साधुका हो, तो उसे साधुताका प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टिका बाह्यचारित्र, निश्चयचारित्रका साधन बन जाता है—यदि पालनेवाले उसे साधन बनायें। साधन कैसे बनाया जाता है ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। समाधान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि निश्चय चारित्रकी भावनासे ही व्यवहार चारित्र स्वीकार करता है। वह क्रमश. वीतराग भावकी अभिवृद्धि करता हुआ, आगे आगे गुणस्थानोमे बढता जाता है। वीतराग भावके कारण, पूर्व गुणस्थानोकी अपेक्षा, आगेके गुणस्थानोमे, संवर निर्जरा भी बढ़ती जाती है। तथापि वहाँ विद्यमान शेष रागाश तो पुण्यबन्धका ही कारण होता है। यह व्यवहार चारित्र, निश्चय चारित्रका साधन बन जाता है। जिसे उक्त भावना न हो उसका बाह्य चारित्र, मात्र पुण्यबन्धका कारण हो जाता है पर वह निश्चय चारित्रको उत्पन्न नही करता।

जिनका व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रकी प्राप्तिमे कारण बनता है, उनके व्यवहारचारित्रको परम्परा मोक्षका साधन लिखा है।[1] **वस्तुत. तो 'परम्पराका' अर्थ ही यह है कि वह मोक्षका साक्षात् साधन नहीं है**। निश्चयचारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन है।

उक्त कथनसे यह सिद्ध है कि परमार्थसे पुण्य-पाप दोनो बन्धरूप है मोक्षका हेतु तो यथार्थमे वीतराग चारित्र ही है।[2]

१ भेदज्ञानी स्वकीय गुणस्थानानुसारेण परपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादि पुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते।

—समयसार गाथा १७२ तात्पर्यवृत्ति टीका

२ पञ्चाध्यायी अध्याय २ श्लोक ७६०-७६१-७६२-७६३ को टीका देखिये।

(८५) **प्रश्न**—क्या चारित्रके दो भेद हैं ? वीतरागचारित्र और सरागचारित्र। तब इन दोनोमे क्या भेद है ?

समाधान—चारित्रकी व्याख्या **'रागद्वेषनिवृत्तिः चारित्रम्'** है। तथापि सम्पूर्णचारित्र, अर्थात् सम्पूर्णतया रागद्वेषनिवृत्ति, प्रारम्भमे ही एक साथ सभी मुमुक्षुओमे नही पाई जाती। अनन्तानुबन्धीके अभावमे अगत वीतरागभाव तो असयत सम्यग्दृष्टिमे भी है, पर वहाँ बुद्धिपूर्वक सकल्परूपसे, पञ्चपापोका त्यागरूप चारित्र नही है। अत उसे सयमकी सज्ञा प्राप्त न होनेसे वह असयमी 'असयत' गुणस्थानवाला कहा जाता है। यहाँ पर वीतराग भावसे तात्पर्य उसकी विषयोके प्रति उदासीनतामे तथा विषयोमे हेयपनेकी दृष्टिसे हो है।

पचमगुणस्थानी श्रावक सकल्पपर्वक एकदेश पापत्याग करता है, अत उसे अशरूप एकदेश चारित्र कहा है। मुनि महाव्रती षष्ठमगुणस्थानवर्ती हैं, वे सकल्पपूर्वक पञ्च महापापोका सर्वथा परित्याग करते है, अत उनका चारित्र, सर्वदेश चारित्रकी सज्ञाको प्राप्त होता है। तथापि प्रमादरूपसे रागादि उनके विद्यमान है। सप्तमादि दशम गुणस्थान पर्यन्त, ध्यानावस्थित महाव्रती साधुओके प्रमाद नही है। तथापि कर्मोदयकी स्थितिजन्य, अबुद्धिपूर्वक शुभरागकी स्थिति वहाँ भी पाई जाती है। जब तक चारित्रके साथ अबुद्धिपूर्वक शुभरागकी एक कणिका भी पाई जाती है, तब तक उसे पूर्ण वीतरागचारित्र सज्ञा प्राप्त नही है। एकादशम द्वादशम गुणस्थानमे सर्वथा रागादिका अभाव होनेसे, वहाँ चारित्रको पूर्ण वीतरागचारित्र सज्ञा प्राप्त होती है। इसे ही यथाख्यातचारित्र कहते हैं।

(८६) **प्रश्न**—इस कथनसे यह स्पष्ट हुआ कि सातवें अथवा उससे ऊपरके दशमगुणस्थान तकके सभी साधु सरागचारित्री हैं।

समाधान—यद्यपि सातवे गुणस्थानके ऊपर बुद्धिपूर्वक राग न होनेसे उपयोगकी दृष्टिसे 'उनको वीतरागचारित्र है' ऐसा कहा गया है, तथापि पूर्णवीतरागता रागोदयके सर्वथा अभावमे ही माना गया है। जब उपशमज वीतरागचारित्री भी, ग्यारहवे गुणस्थानसे गिर जाता है और मुक्ति नही पाता, तब जिनके कषायका सम्पूर्ण उपशम नही हुआ, आशिक उदय है, उन छठे, सातवें, आठवें, नौवें और दसवे गुणस्थानवालोका चारित्र तो साक्षात् मोक्षका कारण नही है। साक्षात् मोक्षका कारण कर्मक्षयज वीतराग चारित्र ही है।

(८७) **प्रश्न**—तब तो इन गुणस्थानोका होना निरर्थक है।

समाधान—निरर्थक नही है, क्योकि वीतरागचारित्रको पूर्ण करनेके पूर्व, आशिक वीतरागचारित्र वहाँ होता है। वह पूर्ण वीतरागचारित्रको प्राप्त करनेका साधन बन जाता है।

(८८) **प्रश्न**—तब सरागचारित्रको ही प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए। वीतरागचारित्र तो उससे हो ही जायगा।

समाधान—ऐसा भी नही है, जो साधु सरागचारित्रका पालन करते हुए उसे वीतरागचारित्र बनानेका सतत प्रयत्न करते है, वे वीतरागचारित्री बनते है। जो ऐसा नही करते वे लौट-लौटकर तब तक ससारी रहते है, जब तक कि वे किसी भवमे वीतरागचारित्री न बनें।

(८९) **प्रश्न**—तब तो सरागचारित्री वीतराग हो ही जायगा, चिन्ता क्यो ?

समाधान—यदि उसकी भावना सरागताको छोड पूर्ण वीतराग बननेकी है तो वह बनेगा। यदि प्रमादी है कि हो ही जायगा, तो वीतराग बन नही सकता। छठवें आदि गुणस्थानोमे यथासंभव कषाय निवृत्तिरूप निश्चय चारित्र भी है और शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार चारित्र भी है। दोनो साथ-साथ चलते हैं तथापि अन्यत्र आचार्योंने पूर्ण वीतरागचारित्र, जो अखण्ड एकरूप है, उसे ही निश्चयचारित्र कहा है। उससे पूर्व व्यवहार चारित्र कहा है। **यहाँ इस कथनमे व्यवहार-चारित्रका अर्थ मात्र बाह्यचारित्र नहीं है, किन्तु 'भेदरूपचारित्र' ऐसा अर्थ है।** यहाँ अभेदको निश्चय और भेदरूप वर्णनको व्यवहार कहा है। जब तक सरागचारित्र है वहाँ तक सरागता बन्धका कारण, और चारित्राश सवर निर्जराका कारण है, अत. सवर निर्जरा भी वहाँ चलती है और शुभबन्ध भी।[1]

यह सरागता चारित्रांश नही है अत यह बधका हेतु है। मोक्षका हेतु तो मात्र वीतरागाशरूप चारित्र ही है। बन्ध तो ससारका ही कारण है। यह तो मात्र उपचार है कि चारित्रके साथ होने वाली सरागताको भी चारित्रके फलका श्रेय दिया जाय। ऐसी उपचारता भी परमार्थतः विरुद्ध है। यदि इसके विपरीत ऐसा उपचार वर्णन किया जाय कि 'सरागताके साथ होने वाला चारित्र भी पुण्यबन्धका कर्ता और बन्धका कारण उपचारसे है' तो सामान्य श्राताको भी ऐसा उपचार गले नही उतरेगा। वह कहेगा कि चारित्ररूप वीतरागभावको आप बन्धका कारण कैसे लिखते हैं? उत्तरमे कहा जा सकता हे कि आप सरागभावको मोक्षका कारण कैसे कहते है? दोनो पक्ष समान है।

तात्पर्य यह हुआ कि न तो सरागभाव मोक्षका हेतु है, और न सरागताके साथ होने वाला वीतरागभावरूप चारित्र बन्धका हेतु है। अत सरागता बन्धका कारण ही है, और वीतरागाश चारित्र, मोक्षका ही हेतु है। सरागचारित्रीके यदि मोक्षप्राप्ति नही होगी तो वह सरागताके कारण। वही तो बाधक कारण है, जिसे परस्परा मोक्ष का साधन उपचारसे कहा जाता हे। परमार्थ कथन तो ऐसा ही है, उपचार चाहे जैसा करो, पर वह परमार्थ नही है। जा परमार्थ नही है उसे अपरमार्थ कहना सर्वथा उपयुक्त है। अत, आगमसे और युक्तिमे यह सिद्ध हुआ कि पाप-पुण्य, अशुभ शुभरूप होने पर भी, दोनो बन्धनके कारण है।

सामान्य ससारीजन पाप-पुण्यमे भेद करते है सो ससारके दु ख-सुखरूप फलापेक्षया अवश्य उनमे भेद हैं। **पाप छोड़कर पुण्यकी भूमिकामे आना आवश्यक है। इसके बिना पाप नहीं छूटते।** तथापि पापसे छुडाना इतना ही शुभभावोका कार्य है। किन्तु जो शुभभावोमे अटक जाता है, उससे आगे वीतराग भावकी भावना जिसे नही है, वह ससारी ही रहता है। मुक्त नही होता। जब तक पाप न छूटे तब तक ही शुभभावोको उपयोगिता है। केवल उतनेमे ही वह चरितार्थ है। पर स्वय तो पुण्यरूप बन्धनका हेतु है अत- मोक्षमार्गके विपरीत ही है।[2] ॥१०२॥

१-२ धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुह ॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीयणेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चत ॥ —प्रवचनसार गाथा ११-१२

सभी कर्म, बन्धके ही कारण हैं, ज्ञान ही मोक्षका हेतु है ऐसा निम्न पद्य द्वारा प्रकट करते हैं—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यत्,
बन्ध-साधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धम्,
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(**यत् सर्वविद**) जिस कारणसे सर्वज्ञदेव (**सर्वम् अपि कर्म**) सभी प्रकारकी शुभाशुभरूप क्रियाओको (**अविशेषात्**) समानरूपसे (**बन्धसाधनम्**) बन्धका कारण (**उशन्ति**) कहते हैं। (**तेन**) इस कारणसे (**तत् सर्वम् अपि**) वह सम्पूर्ण कर्म भी (**प्रतिषिद्धम्**) मोक्षके मार्गमे निषिद्ध है। (**ज्ञानम् एव**) एक मात्र ज्ञान ही (**शिवहेतु**) मोक्षका कारण (**विहितम्**) कहा गया है ॥१०३॥

भावार्थ—जिस प्रकार बाधनेकी साकल सोनेकी बनी हो, अथवा लोहेकी बनी हो, किसी भी साकलसे किसी पशुको बाँधा जाय, तो उसकी बन्धन सम्बन्धी पराधीनतामे कोई अन्तर नही पडता। पशु ऐसा नही विचारता कि मैं स्वर्ण-साकलसे बाँधा गया हूँ अत. भाग्यवान हूँ, और मेरे सामने अन्य पशु लोहेकी साकलसे बांधा गया है वह भाग्यहीन है। बन्धनको ही स्वीकार न करने वाला वह पशु भी, स्वर्ण या लोहेको साकलोको तोडकर निर्बंध हो जाना चाहता है।

मोही मनुष्य इस विषयमे कथचित् पशुसे भी अधिक अज्ञानी है। वह स्वर्ण शृखलाके बन्धनसे बद्ध होने पर अपनेको भाग्यशाली, तथा सामने वाले अन्य लौह शृखलामे बद्ध व्यक्तिको भाग्यहीन मानता है। बन्धनकी दृष्टिसे पराधीन दोनो है, पर स्वर्णकी चमक दमकमे अध हुआ अपने बन्धनकी ओर नही देखता, स्वर्णकी ओर देखता है, और अपनी उस पराधीनतामे ही सुख मानता है। ससारी अनात्मज्ञ पुरुष इसी प्रकार शुभ कर्म तथा तज्जनित पराधीनताको प्रेमसे स्वीकार करता हुआ, अपनेको सुखी मानता है तथा अशुभ कर्म व तत्जनित पराधीनताको दु.ख-रूप मानकर उसे अस्वीकार करता है। अत बन्धनमे पडा रहता है। मुक्त नही होता।

भगवान् सर्वज्ञदेव कहते हैं कि भाई, जैसे दोनो शृखलाएँ स्वय भले ही स्वर्ण व लौहकी बनी होनेसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो, पर उनका बन्धनरूप कार्य तो एक ही प्रकारका है। उसमें भेद नही है। इसी प्रकार शुभ कर्म प्रकृति तथा उसका फल इन्द्रिय सुखरूप, तथा अशुभ कर्म प्रकृति तथा उसका फल दु खरूप, ससारी अज्ञानीको भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, तथापि दोनों उसे संमारके बन्धनमे जकडे हैं, मोक्षमार्गके लिए अर्गला रूप हैं। इसे देखते हुए उन्हे मुक्तिमार्गमे बाधक ही समझो। इस बन्धनपनेके कारण दोनो ससारके हेतु हैं, अत मोक्षमार्गमे दोनोका निषेध है। मोक्षका हेतु नो एक ज्ञानमात्र ही है, अन्य नही।

(९०) **प्रश्न**—ज्ञान निष्क्रिय है या क्रियारूप है? यदि निष्क्रिय है, तो वह मोक्षके लिए भी कारण कैसे बन सकता है। यदि क्रियारूप है, तो वह क्रिया शुभरूप है? या अशुभरूप? दो ही रूप क्रियाके होते हैं। यदि अशुभरूप है तो भी, और शुभरूप है तो भी, आपके कथनानुसार वह ससारकी ही हेतु होगी, मोक्षमार्गरूप न होगी। अत' ज्ञान मोक्षका हेतु नही बन सकता।

समाधान—क्रिया दो प्रकार होती है—(१) क्षेत्रान्तर गमनरूप, तथा (२) केवल परि-

णमनरूप। यहाँ क्षेत्रान्तर गमनरूप, या हलन चलन या सकप दशारूप, क्रिया इष्ट नही, किन्तु परिणमन रूप क्रिया ही इष्ट है। शुभ परिणमन रूप क्रिया, तथा अशुभ परिणमन रूप क्रिया, दोनो शुभाशुभ बन्धके लिए कारणभूत हैं। तथा ज्ञानरूप परिणमन अर्थात् जीवका स्वभावरूप परिणमन उसकी मुक्ति प्राप्तिमे कारण होता है। आचार्य उसे क्रिया नही कहते। 'कर्म' शब्दसे वे यहाँ 'भाव-कर्म' को ही लेते हैं जो शुभाशुभ रूपसे दो प्रकार ही है। वह मात्र बन्धनका हेतु है, मोक्षका नही।

(९१) **प्रश्न**—शुभोपयोगी साधुव्रती ही मोक्षमार्गमे जाता है, अतः शुभोपयोगसे होने वाला पुण्यबन्ध मोक्षमार्गका साधक हुआ।

समाधान—ऐसा नही है। मोक्षमार्ग निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है। भले ही चतुर्थादि गुणस्थानोमे शुभोपयोगकी मुख्यता हो, तथापि इन गुणस्थानोमे पाये जानेवाले, पदानुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं। उनमे पाया जाने वाला शुभोपयोग, मात्र पुण्यबन्धका कारण है, मोक्षमार्गका कारण नही होता। जिन-जिन वस्तुओसे जीव राग करता है, अथवा द्वेष करता है, उन-उन वस्तुओके साथ भी उसका विकल्पात्मक या आकुलतात्मक बन्ध हो जाता है। कर्मबन्ध तो होता ही है। मोक्षका मार्ग तो परसे तथा विकारीभावोसे भिन्न, अपने स्वभावमय विशुद्ध आत्माके श्रद्धान ज्ञान आचरणसे बनता है। शुभाशुभ परिणाम मोक्षमार्गके साधक नही, बन्धके ही साधक हैं ॥१०३॥

सर्वक्रियाओसे रहित साधुको ज्ञानका आश्रय ही शरणभूत होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्,
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(**सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि निषिद्धे**) पुण्य पाप दोनो कर्मोका सर्वथा निषेध कर देने पर तथा (**नैष्कर्म्ये किल प्रवृत्ते**) कर्मरहित शुद्धोपयोगमे प्रवृत्ति करने पर (**मुनयः**) मुनीश्वर (**अशरणाः न खलु संति**) निरवलम्ब होकर आश्रयहीन नही है। किन्तु (**तदा**) उस निष्कर्म अवस्थामे (**ज्ञानं ज्ञाने प्रतिचरितम्**) ज्ञान अपने स्वभावमे लीन हुआ है अतएव अपना स्वय स्वभावरूप निरा-कुल निर्विकल्प ज्ञान ही (**एषां हि शरणम्**) इनके लिए परम शरणभूत है। (**तत्र निरता एते**) उस निर्विकल्प ज्ञानमे तल्लीन साधुजन (**स्वयं परमं अमृतं विंदन्ति**) स्वय ही परम सुखका अनुभव करते हैं ॥१०४॥

भावार्थ—जब शुभाशुभ भाव बन्धन रूप हैं तब वे आकुलता स्वरूप होनेसे शरणभूत नही हैं किन्तु दुःखरूप ही हैं। अत शुभाशुभ कर्मके छूट जानेपर मुनि निष्क्रिय होकर क्या करेंगे ? ऐसा प्रश्न ठीक नही है। वे कर्मरहित होकर निराकुलस्वरूप अपने ज्ञानानन्द स्वभावमे लीन हुए, परम शरणभूत निज स्वभावके आश्रयसे अविनाशी, अतीन्द्रिय, निराकुल आनन्दका रस-पान करते हैं।

जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभावमे स्थित नही हैं, वे मिथ्यादृष्टि बाह्य शुभक्रिया रूप व्रत संयमादिका आचरण करे, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्गसे दूर हैं। ये शुभक्रियाएँ संसार-समुद्रसे तारणके लिए शरणभूत नही हैं। एकमात्र सर्व कर्मसे रहित, विशुद्ध ज्ञानका अवलम्बन ही शरणभूत है, जिसे पाकर जीव संसारोत्तीर्ण होते हैं।

ससारकी विभूतियोमे जिन्हे राग है, पचेन्द्रियके विषयोकी लालसा है, और उक्त अभिप्राय वश, भ्रमवश शुभरागका अवलम्बन कर, अपनेको सशरण मान बैठे हैं, वे अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। वह मान्यता ही मिथ्यादर्शन है।

सम्यग्दर्शन इससे विपरीत है। वह अपनी आत्म-सपत्तिके दर्शनसे होता है। जो उसे देखता है, जानता है, वही उसके मार्गमे जाकर उसे प्राप्त होता है। वह विशुद्धात्मा ही यथार्थ ज्ञानी[1] है, मुनि है। यहाँ शुद्धात्माको केवली भी कहा है ॥१०४॥

ज्ञान ही मुक्तिका हेतु है, इससे भिन्न सभी भावकर्म बन्धनके हेतु हैं, ऐसा कहते हैं—

यदेतत् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ--(**यत् एतत् ज्ञानात्मा**) यह जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह (**ध्रुवम् अचलं भवनम् आभाति**) ध्रुव और अचल रूपसे परिणत होता हुआ प्रतिभासित होता है (**अयं**) यही (**शिवस्य हेतुः**) मोक्षका मूल कारण है (**यत.**) क्योकि (**स्वयमपि तत् शिव इति**) वही ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं शिव है। (**अतः अन्यत्**) उससे भिन्न जो अज्ञानात्मा है, वह (**बन्धस्य हेतु.**) बन्धका कारण है। (**यत**) क्योकि (**तत्**) वह (**स्वयमपि बन्धः इति**) स्वय बन्धस्वरूप है। (**तत**) इसलिए (**ज्ञानात्मत्वं भवन**) ज्ञानस्वरूप आत्माकी परिणति है। वह (**हि**) निश्चयसे (**अनुभूतिः**) अनुभूति है, (**विहितम्**) ऐसा आगममे कहा गया है ॥१०५॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है, नित्य ध्रुव अचलरूप है। निश्चय दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका स्वरूप ऐसा है। वह परद्रव्य, शरीर, तथा ज्ञानावरणादि पुद्गल द्रव्यके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न है। उस आत्माकी जो श्रद्धा है, वही अनुभूति है। अनुभूति ही मोक्षके लिए कारणभूत है।

आत्माके लिए अपने ज्ञानात्मक स्वभावके बिना, अन्य जो कुछ भी जड़रूप या शुभाशुभ रागादि विकार हैं, वे बन्धके कारण हैं। अथवा वे स्वय बन्धन हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ आचार्योंने लिखा है कि आत्माकी ज्ञान स्वभावरूप परिणति ही, आत्माकी सच्ची अनुभूति है उससे भिन्न सब अनात्मस्वरूप है। आत्मा शिव है, मोक्ष है, स्वय कल्याणरूप है। अनात्मा स्वय ससार है, बन्धन है और अकल्याणरूप है।

१. परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मिट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥
—समयसार गाथा १५१

(९२) **प्रश्न**—ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा तो सिद्ध परमात्मा हैं। वे मोक्ष स्वरूप हैं ऐसा कथन तो बन सकता है, पर वे मोक्षके हेतु हैं ऐसा नही बनता।

समाधान—यहाँ ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मासे तात्पर्य मुक्तात्माका नही है। वे तो द्रव्यरूप व पर्यायरूप दोनो रूपोसे शुद्ध ही है। यहाँ ससारी आत्मा जो ज्ञानावरणादि कर्म तथा नोकर्म सयुक्त हैं वे पर्यायरूपसे अशुद्ध हैं। उसकी वर्तमान दशा विकारी दशा है, यत. पर्याय उत्पन्न-ध्वंसी है, अतः वह स्वभाव तो नही है। तब स्वभाव क्या है? ऐसा प्रश्न होता है। उत्तर यह है कि स्वभाव तो सदा ध्रुव और अचल होता है वह कभी मिटता नही है। द्रव्य दृष्टिसे जीवका विचार किया जाय तो वह उपयोग लक्षण वाला ऐसा ही है। उपयोग ही उसका स्वरूप है जो सदा काल ध्रुव रहता है। वह आत्माका असाधारण लक्षण है। जिसका कभी पृथक्करण होता ही नही है, वही जीवका जीवत्व है। वही पारिणामिकभाव है। अनादि कालसे अनन्त काल तक वह ससारी जीव, ससारी रहे अथवा सिद्ध बन जाय, यह लक्षण उसका सदा उसमे रहेगा। रागादिसे भिन्न उसी ज्ञानानुभूतिको यहाँ मोक्षका हेतु तथा स्वय शिव रूप कहा हे।

(९३) **प्रश्न**—द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न नही हैं। द्रव्यमे सदा पर्याय रहती है तथा पर्याय रहित द्रव्य नही होता। तब आत्माको द्रव्यरूपसे यदि शुद्ध माना जाय, तो अशुद्ध पर्याय द्रव्यको छोडकर कहाँ रहेगी? पर्याय सदा द्रव्याश्रित ही होती है, क्योकि यह द्रव्यकी अवस्था विशेष ही है। द्रव्यकी सत्तामे ही उसकी सत्ता है, भिन्न सत्ता नही है। तब पर्यायमे अशुद्ध दशा होनेपर, द्रव्यको शुद्ध कहना कैसे बनता है?

समाधान—द्रव्य विकारी होने पर भी अपना स्वभाव नही छोडता। यदि द्रव्यका स्वभाव मिट जाय तो द्रव्यका नाश हो जाय। यत द्रव्यका कभी नाश नही होता, अत सिद्ध है कि पर्याय अशुद्ध होने पर भी उस समय द्रव्य अपने लक्षणसे सम्पन्न है। वही उसका स्वभाव है। उसी लक्षण-की ओर आचार्य ध्यान दिलाते है।

यदि ससारी रागी दशामे भी स्वभाव विद्यमान न होता तो कर्मके दूर होने पर वह प्रकट कहाँसे होता? स्वभाव परसे या अन्यत्रसे नही आता। वह वस्तुमेसे ही प्रकट होता है, अत संसारी दशामे भी भेदज्ञानी जीव कर्मोदय जन्य राग परिणतिको लक्ष्यसे हटा कर, शुद्धात्म स्वरूप आत्माको लक्ष्यमे लेवे तो ले सकता है। ऐसी अवस्थामे जब उसका लक्ष्य आत्म स्वभावकी ओर जाता है तो उसे यह प्रतीत होता है कि मेरा आत्मा तो ज्ञानात्मा है, क्रोधादि मेरे स्वभावमे नही है। तब ज्ञानस्वरूप आत्माकी ही अनुभूति होती है। उस अनुभूतिमे वह देखता है कि द्रव्यकर्म, भावकम, नोकर्म, तथा ससारके समस्त द्रव्य मेरे नही है, अर्थात् मेरे स्वरूपमे नही हैं, मेरा आत्मा स्वभावसे सिद्धके समान ही है।

(९४) **प्रश्न**—यदि मेरा आत्मा ससारी दशामे ही सिद्ध या मुक्त है, और साथ लगे कर्म, नोकर्म, भावकर्म, जड पुद्गल है, तो ससारमे जैसे अनन्त पदार्थ अपने-अपने स्वभावमे वर्तते हैं, वैसे पुद्गल भी वर्तते है, उनसे हमारी क्या हानि है? तब आप हमे क्या उपदेश देना चाहते हैं? शुभाशुभ अकरणीय है क्योकि बन्धन है। तब हमे अब कुछ कर्तव्य शेष नही। हम तो सदा मुक्त है?

समाधान—आचार्य यह उपदेश देना चाहते हैं कि मुक्तात्माने और तुममे यह भेद है कि **वे द्रव्य पर्याय दोनोंमे शुद्ध स्वरूपी हो चुके हैं। तुम स्वरूपसे शुद्ध हो, पर तुम्हारी पर्याय अशुद्ध है। अतः अपने स्वभावको समझो, उस पर लक्ष्य रखो, तथा प्रयत्न करो कि तुम्हारी पर्याय भी शुद्ध हो जाय**। तब स्वय पर्यायसे भी सिद्धात्मा बन जाओगे। उसके बिना ससारी रहोगे।

(९५) **प्रश्न**—पर्याय परनिमित्तक अशुद्ध है, तो पर तो पर है, उससे हम अशुद्ध क्योकर हो जायेंगे।

समाधान—परको अपनानेसे तुम रागी द्वेषी बनते हो। उससे परिणामोमे विकार होता है, वही अशुद्धता है। वह कर्मबन्धनका कारण है। जो कार्माण वर्गणाएँ जीवके साथ बद्ध हैं वे भी अपने स्वभावरूप वर्तनमे नही हैं। जीवके रागादि परिणामके निमित्तसे, वे भी कर्म पर्यायरूप बन गई हैं और उनके उदयादि अवस्थाके निमित्तसे जीव भी रागादिरूप परिणत हो, बन्ध दशाको प्राप्त है। फलत. दोनोका श्लेषरूप बन्ध हो जाता है। जब तक बन्धन है तब तक संसार है। उसे मिटानेके लिए ही यह प्रयत्न है।

(९६) **प्रश्न**—लोकके सम्पूर्ण द्रव्य जीवित रहे तो क्या हानि है? उनमेसे किसीको मिटानेका भाव स्वय हिंसाभाव है, और वह पापरूप है, अतः हिंसाभावसे मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी?

समाधान—यहाँ किसीकी हिंसाकी बातका उपदेश ही नही है। न किसीको मिटानेकी बात है। ससारके सभी द्रव्य स्वय जीवित हैं। उनका नाश कभी नही हो सकता। कोई उन्हे न पैदा करता है, न मिटाता है। केवल आत्मासे अपनी अशुद्ध दशाको मिटाकर शुद्ध अवस्था उत्पन्न करनेकी बात कही गई है। परका साथ छोडने तथा परका अवलम्बन लेकर अपनेको विकारी न होने देनेका अर्थ ही बन्धनको मिटाना है ऐसा समझो।

आत्मा अपने स्वभावको समझे, उसका श्रद्धान करे, तो विकार मिटाकर स्वय शुद्ध हो जाता है। इस आत्मानुभूतिको ही मुक्तिका कारण कहा गया है ॥१०५॥

आत्माकी ज्ञान परिणति ही मोक्षका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) आत्माका (**सदाज्ञान स्वभावेन भवनं वृत्तम्**) सदा ज्ञान रूप परिणमन ही चारित्र है (**तत् एक द्रव्य स्वभावत्वात्**) क्योकि वह एक आत्म द्रव्यका ही स्वभाव है। (**तदेव मोक्ष हेतु**) अतः वही मोक्ष का हेतु है ॥१०६॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है तथापि संसारी दशामे वह ज्ञान विकृत हो गया है। मोह रागादि भावरूप परिणतिसे ज्ञान मिथ्या हो रहा है, उसे अज्ञान भी कहते हैं। जब ज्ञान, अज्ञान रूप रागादि परिणमनको छोडकर, ज्ञानके रूपमे ही परिणत हो, तो वह मोक्षका हेतु बनता है, उसे ही आगम भाषामे चारित्र कहा गया है।

मोक्ष द्वन्द्वरूप नही है। द्वन्द्व दशाका परित्याग कर पूर्ण एकत्वको प्राप्त करना ही मोक्ष है। आत्मा अपने स्वरूपमे स्वय एक है। उसकी संसारीदशा कर्मके साथ सश्लेषात्मक सयोग होनेसे बनी है। यही द्वन्द्व दशा है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। द्वन्द्व दशामें ज्ञान, विकृत होकर अज्ञान भावमे

परिणत हो जाता है। ज्ञान एक जीव द्रव्यका ही स्वभाव है, दोका मिलकर नही। अत. एक द्रव्य-स्वभाव रूप ज्ञानका, अपने स्वरूप रूप परिणमन ही, उस आत्माकी एकत्वदशा, मोक्षदशाको प्राप्त होनेमे कारण बनता है। मोक्षका अन्य हेतु कोई नही हो सकता। मोक्ष तो परसे छूटनेका नाम है, वह परसे कैसे होगा ? परका सम्बन्ध स्वय बन्ध रूप है। अत पर सयोगसे, तथा तन्निमित्त जन्य विकारोंसे रहित होकर, स्वरूप परिणमन ही मोक्षका हेतु है।

(९७) **प्रश्न**—अनादिसे जीव अज्ञानी है, तो अज्ञान तो स्वभाव हुआ, और ज्ञान कारण पाकर हुआ अत' वह स्वभाव नही रहा।

समाधान—स्वभाव तो आत्माका ज्ञान ही है। तथापि कर्मोपाधि निमित्तसे वह ज्ञान विकारी होनेसे अज्ञान कहा गया है। 'अज्ञान' का अर्थ ज्ञानका लोप नही है, क्योकि स्वभावका नाश किसी वस्तुमे नही होता। अत जब ज्ञान अपनी विकारी परिणतिको छोड स्वय अपने स्वरूप परिणमे, तब उसे ज्ञानका होना कहते हैं। अर्थात् कहा जाता है कि 'उसे अब ज्ञान हुआ।' ऐसा नही है कि ज्ञानका अभाव था, अब ज्ञान गुणकी नवीन उत्पत्ति हुई हो।

जैसे मदिरा पान करनेवाला जब मदसे उन्मत्त होता है उस समय उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। मस्तिष्कका अभाव नही हो जाता। नशा उतरनेपर विकृति दूर हो जाती है और वह सही ढगसे काम करने लगता है। इसी प्रकार रागादि क्रोधादिके नशेमे, आत्मा स्वस्थ भावमे स्थिर नही रहता। उस कषायावेशके नशेके दूर होनेपर, वह स्वस्वभावमे आता है। वही स्वस्थता या ज्ञानीका ज्ञानरूप परिणमन, या आत्माका स्वरूपरूप आचरण, या स्वानुभूतिरूप परिणमन है। वही मोक्षका हेतु है। अपने स्वरूपमे आना ही परका परित्याग है। वही मोक्षका हेतु है या वह स्वय मोक्ष स्वरूप ही है ॥१०६॥

जब आत्मा ससारमे ज्ञानरूप परिणमन न कर शुभाशुभ कर्मरूप परिणमन करता है, तब वह बन्धका कारण ही होता है, मुक्ति का कारण नही होता ऐसा कहते है—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(**कर्मस्वभावेन वृत्तं**) कर्म जो शुभाशुभ क्रियारूप परिणमन है वह (**ज्ञानस्य भवनं न हि**) ज्ञानका होना नही है। क्योकि शुभाशुभरूप क्रियाएँ कर्मरूप है ज्ञानरूप नही। कर्म तो (**द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्**) पुद्‌गलद्रव्यके स्वभावरूप हैं, जो जीवसे भिन्न द्रव्य है। अतः (**तत् कर्म न मोक्षहेतु**) वह द्रव्यान्तर जीवके मोक्षका कारण नही हो सकता। कर्मधारा रूप ज्ञानका परिणमन चारित्र नही है, ऐसा भी अर्थ अन्यत्र किया गया है ॥१०७॥

भावार्थ—अशुभ क्रिया पापरूप परिणमन है, जो कुगतियोमे जीवको दुखोत्पत्तिका हेतु है। शुभक्रिया पुण्यरूप परिणमन है, जो सुगतिमे सासारिक सुखका हेतु है। तथापि इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सुख, आकुलताका उत्पादक होनेसे दु:खरूप ही है।

पापोदयमे गरीबी, अभावरूप आकुलता उत्पन्न करती है। पुण्योदयकी अमीरी भी साधनो-की रक्षाके लिए आकुलता उत्पन्न करती है। पापोदयमे अपमान सक्लेशात्मक होनेसे, दुःखका हेतु है। पुण्योदयमे सम्मान चिन्ताका कारण है कि मेरे सम्मानको कोई धक्का न लग जावे।

पापोदयसे कोई विकलाग है तो दुःखी है। पुण्योदयवाला सकलागी अपने अगोकी सुरक्षामे विकल है। पापोदयमे व्यापारी घाटा उठाता है तो दु खी है। पुण्योदयवाला व्यापारी प्राप्त मुनाफाको बचानेके लिए आकुलित है, उसे मिठाईमे चीटोकी तरह, ठगो और धोखेबाजोसे परेशानी है।

फलत. पुण्य पापरूप क्रियाओसे मोक्ष नही होता, वे कर्मजन्य, कर्मोत्पादक, पौद्गलिक, दोनो ही क्रियायें मोक्षमे बाधक हैं। शुभाचरण, क्रियाकाण्ड, दैहिक क्रियायें हैं। देह जडस्वरूप हैं। जड़ क्रियासे मोक्ष होता नही। उन क्रियाओके साथ आत्माके शुभ परिणाम होते हैं, वे भी मोक्षके यथार्थ हेतु नही हैं। किन्तु जब आत्मा बाह्य प्रवृत्तिको रोककर, आन्तरिक शुभाशुभ क्रियाओको भी रोककर, ज्ञान रूप परिणमता है, तब रागादि रहित वीतरागी ज्ञानी हो, मोक्ष प्राप्त करता है ॥१०७॥

शुभाशुभ कर्म मोक्षप्राप्तिमे बाधक होनेसे मोक्षके कारण नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

मोक्ष-हेतु-तिरोधानात् बन्धत्वात् स्वयमेव च।
मोक्ष-हेतु-तिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(**मोक्ष-हेतु-तिरोधानात्**) कर्म, मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगको रोकने वाला है, (**च**) तथा (**स्वयमेव बन्धत्वात्**) स्वय बन्धन स्वरूप है अत, (**मोक्ष-हेतु-तिरोधायिभावत्वात्**) मोक्षके कारणोको ढाक देनेका उसका स्वभाव होनेसे, (**तत्**) वह शुभाशुभ कर्म (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है ॥१०८॥

भावार्थ—अशुभ कर्म जो पञ्चपापादिरूप क्रियायें, तथा अशुभ परिणाम जो अप्रशस्त रागादि क्रोधादि भाव, ये तो पापबन्धके कारण होनेसे मोक्षके व तद्धेतुओंके बाधक ही है। इसी प्रकार पञ्चाणुव्रत, पञ्चमहाव्रत, आदि व्यवहार चारित्ररूप क्रियाएँ, तथा श्रावकके प्रशस्त रागरूप देवपूजा, दानादिरूप परिणाम,—ये दोनो भी स्वर्गादि गतियोंके बन्धरूप होनेसे, मोक्षके कारणोके विरुद्ध हैं। अत मोक्षमार्गमे शुभाशुभ क्रियाओ और परिणामोका निषेध है, क्योकि मोक्षका हेतु शुद्ध परिणति व शुद्धोपयोग ही है।

(९८) **प्रश्न**—यदि शुभोपयोग मोक्षके कारणोका बाधक है, तब उसे करना ही नही चाहिए। ऐसी स्थितिमे श्रावकोको पञ्चाणुव्रत, तथा देववन्दनादि कार्य, तथा साधुओको भी पञ्चमहाव्रत पञ्चसमित्यादिव्रत, तथा षडावश्यक क्रियाएँ करनेका उपदेश चरणानुयोगमे क्यो वर्णित है? धर्मका निषेध करना कहाँ तक उचित है? क्या ऐसा कथन चरणानुयोग आगम के विरुद्ध नही है?

समाधान—नही है। इन शुभोपयोगरूप प्रशस्त क्रियाओको 'व्यवहार चारित्र' कहते है। निश्चय चारित्र तो स्वात्म स्थितिरूप है, जो शुद्धोपयोगी साधुको होता है। वही मोक्षका सच्चा हेतु है। शुभ क्रियाएँ तो पुण्यबन्ध, और पाप क्रियाएँ पापबन्धका कारण है, अतः दोनो बन्धरूप होनेसे, मोक्षके हेतुओके विरुद्ध फलको उत्पन्न करनेवाली हैं। मोक्षमार्गमे दोनो प्रकारके कर्म निषिद्ध हैं।[1]

---

१ बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्य समासात्प्रश्नकोविदै।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशै कदाचन ॥ —पञ्चाध्यायी (२) ७७२,

(९९) **प्रश्न**—जब मोक्ष मार्गमे इनका निषेध है तो शास्त्रोमे ऐसे प्रशस्त रागरूप व्यवहार **चारित्रका** उपदेश क्यो है ?

समाधान—उनका उपदेश इसलिए है कि जीव पापको भूमिकासे ऊपर उठे। जो पापकी भूमिकासे ऊपर उठेगा, ऐसा शुभाचरणी ही शुद्धोपयोग तथा शुद्ध निश्चय चारित्रके मार्ग पर आरूढ हो सकेगा।

(१००) **प्रश्न**—यदि व्यवहार चारित्री ही निश्चय चारित्रकी भूमिका पर चढ़ सकता है तब मोक्षमार्गमे उसकी उपयोगिता स्वय सिद्ध है, तथा उसका निषेध कैसे किया जाता हे ?

समाधान—व्यवहार चारित्र तथा शुभोपयोगका यहाँ निषेध नही किया गया, किन्तु यह बताया गया है कि **'उससे मोक्ष नहीं होता'**, स्वर्गादिगति प्रापक पुण्यका ही बन्ध होता है।

(१०१) **प्रश्न**—जब शुभोपयोगी ही व्यवहार चारित्र पूर्वक निश्चय पर आरूढ़ होता है, तो उसे बन्धका ही कारण क्यो कहा गया ? बन्ध और मोक्ष दोनोका कारण कहना चाहिए।

समाधान—ऐसा नही है। कोई व्यक्ति मोक्षमार्गकी प्राप्तिके उद्‌देश्यसे अशुभोपयोगका त्याग कर शुभोपयोगमे आता है, फिर शुभोपयोगको भी बन्धका कारण जान शुद्धोपयोगमे प्रयत्नशील हो उसे प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषार्थीका व्यवहार चारित्र, निश्चय चारित्रके लिए साधन बन सका। तथापि वह मोक्षका साक्षात् साधन नही बन सका। यदि यह पुरुषार्थी अपने पुरुषार्थसे अपनेको शुद्धोपयोगकी भूमितक न पहुँचाता, तो शुभोपयोगी ही रहता। तब पुण्य बन्ध ही करता। यदि शुभोपयोगसे नीचे गिरता तो पाप बन्ध करता। कर्म निजरा वह न करता। अत. व्यवहार चारित्र स्वय तो पुण्य बन्धका हेतु है, मोक्षका नही। परम्परा मोक्षका हेतु उसे शास्त्रोमे जो कहा गया, वह उपचरित कथन है, परमार्थ नही। दोनो कर्मोंका कार्य तो बन्धन रूप ही है, अतः वे मोक्षके साधनोंके विरुद्ध होनेसे निषेध किए गए हैं ॥१०८॥

मोक्षमार्गीको अपने स्वभावरूप निष्कर्म दशा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य च।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षार्थिना**) मोक्षको जो उपादेय जानता है उसे (**समस्तम् अपि**) सम्पूर्ण प्रकारके (**तदिदं कर्म एव**) शुभाशुभ रूप कर्म ही (**सन्यस्तव्यं**) त्याग करना चाहिए। (**तत्र सन्यस्ते सति**) समस्त कर्मोंके त्यागकी बात जहाँ की गई हो वहाँ (**पापस्य पुण्यस्य वा किल का कथा**) पुण्य कर्म और पाप कर्मके भेदकी कथाको कोई स्थान रह जाता है क्या ? अर्थात् नही रह जाता। ऐसा निश्चय जानो। (**ज्ञानम्**) शुद्धात्माका जो ज्ञान रूप परिणमन है वह (**सम्यक्त्वादि निज-स्वभावभवनात्**) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, निज स्वभाव रूप होनेके कारण (**मोक्षस्य हेतुर्भवन्**)

मोक्षका हेतु होता हुआ (**नैष्कर्म्यप्रतिबद्ध**) कर्म रहिततासे युक्त, अर्थात् शुभाशुभ रूप विकल्पोंसे मुक्त (**उद्धतरसम्**) अपने उत्कट निजरूपमे (**स्वय**) ज्ञान स्वतः (**धावति**) दौडता है, अर्थात् स्वय उत्पन्न होता है, या स्वय शुद्ध होता है ॥१०९॥

भावार्थ—मोक्ष प्राप्तिकी जिसे अभिलाषा है उसे समस्त शुभाशुभ कर्म छोडकर ऊपर उठना चाहिए। इसीको कर्मसंन्यास कहते है। मोक्ष स्वय निष्कर्म है। आठो कर्मोसे रहित अवस्थाका नाम मोक्ष है। जहाँ आठो कर्मोंका नाश किया जाता है, वहाँ पाप पुण्यके भेदकी कथा करना, अर्थात् उनमे भेद डालकर किसीको ससारका और किसीको मोक्षका हेतु कहना, निष्प्रयोजन है। कर्मोंमे ही तो पुण्य पाप भेद है, जब कर्ममात्रका अभाव ही इष्ट है तब पुण्य कर्म स्वय इष्ट कैसे हो सकता है ?[१] कोई वस्तु किन्ही भी दो विरुद्ध कार्योंको उत्पन्न नही कर सकती। अत मोक्षार्थी सभी कर्मोंको परित्याग कर स्वय सम्यग्दर्शनादि रूप बनें, तथा अपने उत्कट समर्थ शुद्धात्म ज्ञान रूप अपनी परिणतिको बनाव तब ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(१०२) **प्रश्न**—सन्यास तो सल्लेखनाको कहते हैं, जो जीवनके अन्त समयमे धारण की जाती है। आपने शुभाशुभ कर्मके त्यागको सन्यास कहा, तो दोनोमे क्या सम्बन्ध है बताइए, जिससे उनकी यथार्थता समझी जा सके ?

समाधान—सल्लेखनाका अर्थ भी इन्द्रिय विषयो और कषायोको कृष करना ही है। उन्हे कृष करनेवाला अपनी आत्माको सर्वक्रियाओ से मुक्त कर, अपने स्वरूपमे ही लगानेका प्रयत्न करता है। ऐसी अवस्थामे ही देहका मोह छूटता है। इसे ही समाधि लेना कहते है। समाधि युक्त मरण ही समाधिमरण है। मरण जब हो ही रहा है, उस समय जो समताभावकी प्राप्त करना वही समाधि सहित मरण है। समताभावकी प्राप्ति सदा आवश्यक है, चाहे जीवनकाल हो या जीवनका अन्त समय हो।

रागद्वेषमे प्रशस्ताप्रशस्त दोनो प्रकारके रागको, तथा जो अप्रशस्तरूप ही होता है ऐसे द्वेषका, शामिल किया गया है। उन्हे त्यागकर अपनी आत्मामे अपनी आत्माको स्थिर करना ही कर्मसन्यास है। इस प्रकार दोनो का एक ही अर्थ है, भले ही वे क्रियाएँ भिन्न-भिन्न अवसरपर की गई हो, और इसलिए उनको नाम भिन्न-भिन्न दिया गया हो, पर आत्माके निर्बन्ध होनेके उपायकी दृष्टिसे वे एक ही प्रकार हैं। अन्तमे शरण तो कर्म सन्यास ही है।

सिद्ध है कि आत्माका स्वभाव निष्कर्म है। मनवचनकायकी क्रियाएँ आस्रवके लिए कारण हैं। कषाय और योग होनेपर कर्मका बन्ध होता है। अत- जो आस्रव बन्धकी कारण है, ऐसी दोनो प्रकारकी क्रियाएँ ही कर्म हैं और मोक्षके लिए दोनोका त्याग आवश्यक है ॥१०९॥

---

१. परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
ससार गमण हेदु वि मोक्ख हेउ अजाणंता ॥
—समयसार गाथा १५४

सम्यग्दृष्टिकी क्रियाएँ भी मोक्षकी साधनभूत नही हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः[1]।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्म बधाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जबतक (**ज्ञानस्य**) ज्ञानकी (**सा कर्मविरतिः**) वह कर्म अर्थात् शुभाशुभ क्रियाकी विरति-रहितपना (**सम्यक् पाकम् न उपैति**) परिपूर्णपाकको प्राप्त नही होती अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानके साथ-साथ क्रिया शुभाशुभरूप रहती है (**तावत्**) तबतक सम्यक्त्वीजीवमे (**कर्मज्ञानसमुच्चयः**) कर्म और ज्ञान दोनोकी सहभावी स्थिति (**अपि विहितः**) भी रहती है, ऐसा कहा गया है। तो भी (**न काचित् क्षति**) इसमे कोई हानि नही है। (**किन्तु अत्रापि**) तथापि इस अवस्थामे भी (**अवशत.**) अपना वश न चलनेपर कर्मकी परवशतासे (**यत् कर्म**) जो क्रिया (**समुल्लसति**) होती है (**तत्**) वह (**बंधाय**) कर्मबन्धके लिए ही कारण होती है। (**मोक्षाय**) मोक्षकी प्राप्तिके लिए तो (**स्वतः**) स्वय (**विमुक्तम्**) पर रागादिक्रियासे रहित (**एकम्**) अकेला (**परम ज्ञानम्**) उत्कृष्टज्ञान (**एव स्थितं**) ही है ॥११०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वके परिणामोको नाश कर देनेके कारण सम्यग्ज्ञानी है, और ज्ञानीके बन्ध नही होता यह सुनिश्चित है। तथापि चारित्रमोहके क्षयोपशममे पचम-षष्ठम गुणस्थानमे, शुद्धताके साथ व्रतसयमादि शुभक्रियाएँ भी होती है। शुभक्रियाएँ शुभबन्धनकी कारण हैं यह भी सुनिश्चित है। ऐसी अवस्थामे सम्यग्दृष्टिजीवके सम्पूर्ण कर्मकी विरति जबतक नही होती, अर्थात् जबतक शुभक्रियाका भी अभाव पूर्ण रीत्या नही हो जाता, तबतक वह कर्मबन्ध भी करता है। तथापि सम्यग्दर्शन व ज्ञानरूप परिणति, बन्धका कारण नही है, बन्धका कारण तो उसके साथ पाई जानेवाली शुभक्रियाएँ ही हैं।

(१०३) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टिके तो शुभाशुभ बन्ध ही है। जब सम्यक् कर्म विरति हो जायगी तब तो मोक्ष ही हो जायगा। बिना योग क्रियाके मिटे, सम्यक् कर्म विरति कैसे होगी ? तब तक तो बन्धन ही रहेगा।

समाधान—यहाँ कर्म विरतिका अर्थ है शुभाशुभ क्रियाओका त्याग। सो सम्पूर्ण क्रिया-निवृत्ति तो योगके अभावमे ही होगी, यह सत्य है, तथापि उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थानमे जीवको, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर, श्रद्धाके आधारपर शुद्धात्मानुभूति होती है। वह जीव उस कालमे एक देश सवर तथा एक देश कर्मक्षय करता है। वही जीव चारित्र मोहके उदयमे क्रिया करता है, उसकी वह क्रिया बन्धका कारण होती है, और उससे वह कर्मबन्ध भी करता है।

(१०४) **प्रश्न**—जब सम्यग्ज्ञानीके भी बन्ध होता है तब 'ज्ञानी अबन्धक' है ऐसा ग्रन्थमे जगह-जगह क्यो लिखा है ?

---

१. तत्राप्यात्मानुभूति सा विशिष्टं ज्ञानमात्मन ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकत ॥४०२॥
सम्यक्त्वं स्वानुभूति स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥४०३॥—पञ्चाध्यायी अध्याय—२

समाधान—जब जीव रागादि भावोसे मुक्त हो जाता है तब सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाओसे रहित हुआ, मात्र योग क्रियासे एक साता प्रकृतिका ही बन्ध करता है। वह भी मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध। उसके कर्ममे स्थिति अनुभाग नही पडते। नाम मात्रका बन्ध है। किन्तु उसके पूर्व जहाँ तक शुभाशुभ क्रियाएँ है, वहाँ तक उसे शुभाशुभ बन्ध भी होता है। **वह भी जितने अंशमे ज्ञानी बना है, उतने अशमे अबन्धक है, सवर निर्जरा करता है। तथा जितने अशमे राग है उतने अशसे कर्मका बन्ध करता है। फिर भी वह बन्ध, अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्वके अभावमे, अनन्त संसारका कारण नहीं है, इसकी अपेक्षा उसे अबन्धक भी कहा गया है। पूणरीत्या रागादिका जब अभाव होता है, तब पूर्ण अबन्धक हो जाता है।**

(१०५) **प्रश्न**—क्या शुभाशुभ क्रिया ज्ञानभावके विरुद्ध नही हैं? यदि है तो सम्यग्दृष्टिके दो विरुद्ध भाव एक साथ कैसे रह सकते हैं? या तो ज्ञानभाव ही रहेगा, या रागादिरूप क्रिया, जिसे अज्ञानभाव कहना चाहिए, वह रहेगी। ज्ञानी हो और अज्ञानरूप क्रिया करे, तो वह कैसा ज्ञानी है?

समाधान—आचार्य भी यही कहते हैं कि अरे ज्ञानी! तू अपने ज्ञानभावमे रमण कर। यदि ज्ञानभावसे चूक कर किसी भी समय अज्ञानभावमे, शुभाशुभरूप रागादि विकारीभावमे आयगा तो तुझे अवश्य कर्मबन्ध होगा।

चूँकि दोनो भावोमे परस्पर विरोध है, अतः उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानभाव अबन्धक है, और रागभाव बन्धक हैं। अत ज्ञानभावके साथ-साथ चारित्रमोहके उदयमे परवशतासे शुभ भाव या शुभ क्रियाएँ भी चलती है। उन्हे अज्ञानभाव नही कहते। अत श्रद्धामे उन्हे बन्धका ही कारण मानता है और उनका भी अभाव हो ऐसी भावना करता है, तथापि जब तक वे हैं तब तक बन्ध तो होता ही है। वह तब तक पूर्ण ज्ञानी भी नही है। तथापि मिथ्यादर्शनके मिटनेसे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ है, अत वह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी ही है, मिथ्याज्ञानी नही है। शुभाशुभ राग व क्रोधादिभाव, शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्माके निजभाव नही हैं, विरुद्ध विकारीभाव है, अपना निज उपयोग स्वरूप ज्ञान ही निजभाव है। उसे प्राप्त करनेका सम्यग्दृष्टिका प्रयत्न है। अतः जब तक सम्पूर्ण रागादि परिणतिको दूर नही कर सका तब तक वह अपूर्ण ज्ञानी है। जितने अश ज्ञानी है, उतने अश ही अबन्धक है। जितने अश रागादि हैं, उतने अश वह बन्धक है।[1] पचमसे दशवें गुणस्थान तक आंशिक राग है तो बन्ध भी आंशिक होता है और जितना-जितना इन गुणस्थानोमे वीतरागभाव है उतने अशोमे सवर और निर्जरा भी बढ़ती जाती है।

१ येनांशेन सुदृष्टि तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१४॥

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

जब ज्ञानांश अबन्धक है तब ज्ञानीको अबन्धक ही कहना होगा, और जब रागांश बन्धक है तो उस समय उसे बन्धक ही कहना होगा। इस तरह नय विवक्षासे वस्तु स्वरूपका विचार करने पर कोई विरोध नही आता।

(१०६) **प्रश्न**—मिथ्यादृष्टिकी शुभाशुभ क्रियाएँ बन्धकका कारण कहो तो सत्य है। पर सम्यग्दृष्टि जीवकी व्रत सयमादि शुभ क्रियाएँ तो मोक्षका कारण है ? सभी मोक्षार्थी साधु षष्ठमादि गुणस्थानोमे सकलसयम रूप चारित्रको धारण करते है। यदि सयमको बन्धनका कारण आप कहेगे तो क्या मोक्षका कारण असयमको मानेंगे ? आपके ऐसे विरुद्ध उपदेशसे ही लोग सयमके मार्गको ससार परिभ्रमणका (बन्धका) कारण जानकर छोडते जाते हैं, और मात्र तत्त्वज्ञानकी ऊँची-ऊँची चर्चा करके अपनेको मोक्षमार्गी मान, अहकार करते हैं।

समाधान—सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ भी जब बन्धका कारण है, तब सम्यक्दृष्टि व्रत सयम छोडकर असयमी बन जाय, ऐसा कदापि सम्भव नही है। **जो तत्त्वज्ञानकी चर्चा तथा स्वाध्याय करनेवाले, उक्त उपदेशको पाकर संयमको छोड़ असयमी बनते हैं, अथवा सयम-भावको त्याज्य मान कर उसकी निन्दा करके असंयम भावको धारण करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं है।** सम्यग्दृष्टि वस्तुको यथाथ जानता हे। उसे सम्यग्ज्ञान हे अत वह तो असयमी दशा छोड कर सयमी ही बनेगा, और फिर शुभ भाव रूप व्यवहार चारित्रसे ऊपर उठकर निश्चय चारित्री बनेगा। असयमी नही बनेगा। उसे यह पूर्ण श्रद्धा है कि शुभाशुभ दोनो क्रियाएँ बन्ध रूप हैं। एक पुण्य बन्ध कराती है, दूसरी पाप बन्ध कराती है। जो पुण्यके बन्धनको भी त्याज्य मानता है वह उसके स्थान पर पापके बन्धनको स्वीकार करे, क्या उसे कोई बुद्धिमान मानेगा ? उसे तत्त्वज्ञानी कहेगा ? कदापि नही।

जहाँ आगममे पुण्य बन्ध और उसके कारणोका निषेध है, वहाँ पाप बन्ध और उसके कारणोका तो स्वय निषेध आ ही चुका। वह उपादेय नही है। **सम्यग्दृष्टि सयम भाव रूप शुभ भावोंको पुण्य बन्धका ही कारण मान, उससे ऊपर निश्चय सयम जो पूर्ण आत्म सयमन रूप है, उसकी ओर ही बढ़ता है। वह नीचे नहीं गिरता।**

जो तत्त्वज्ञानी शास्त्राभ्यासी हैं, उन्हे ऊपर उठना चाहिए, नीचे नही गिरना चाहिए। तत्त्वविचारका फल स्वात्मोपलब्धिकी ओर बढना है। असंयम भाव तो तत्वोपलब्धिके मार्गके सर्वथा विपरीत है। अत ज्ञानीको विचारपूर्वक ही प्रवर्तन करना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्यने तत्त्वज्ञान तरगिणीमे इस कलशका अर्थ इस प्रकार किया है—जब तक ज्ञान सर्व प्रकार कर्मसे रहित नही हो जाता, और जब तक ज्ञान कर्मका मिश्रण जीवनमे चलता है, तब तक 'न काचित् क्षति' कर्मका क्षय नही होता। वहाँ पर कर्मोदयकी परवशतासे कर्म बन्ध हो जाता है। एक मात्र कर्म निरपेक्ष जो केवल ज्ञान है वही मोक्षका हेतु है ॥११०॥

जो मात्र बाह्य क्रिया काण्डको ही मोक्षका कारण मान बैठे हैं, ऐसे शुभयोगियोको मोक्ष नही होता, तथा जो तत्त्वज्ञानकी चर्चा कर स्वच्छन्द होकर असयममे वर्तते है, उन्हे भी मोक्षको प्राप्ति नही होती। ऐसा आचार्य स्वय निम्न पद्यमे प्रतिपादन करते हैं—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमंदोद्यमाः ।
विश्वस्योपरिते तरन्ति सततं ज्ञानंभवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

अन्वयार्थ—(**ये कर्मनयावलम्बन परा**) जो बाह्यक्रियाओका ही आलम्बन लेते है तथा (**ज्ञान न जानन्ति**) अपने ज्ञानभावका आलम्बन या अनुभूति नही करते वे (**मग्ना**) ससारमे ही मगन है। तथा (**ज्ञाननयैषिण**) ज्ञानभावसे ही कल्याण है अतएव मुझे ज्ञान है ऐसे भ्रमसे (**यत्**) जो (**अति स्वच्छन्दमदोद्यमा**) विषयकषायोमे स्वच्छन्द तथा आत्महित साधक कार्योमे उद्यमहीन हैं, वे (**अपि**) भी (**मग्ना**) ससारमे ही डूबे हुए हैं। (**विश्वस्य उपरि**) इस ससार समुद्रके ऊपर तो (**ते तरन्ति**) वे तैरते हैं जो (**सततं स्वय ज्ञान भवन्त**) निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूप परिणमते हुए, (**ये जातु**) जो कदाचित् भी (**कर्म न कुर्वन्ति**) शुभाशुभ कर्म नही करते। तथा (**प्रमादस्य वशं न यान्ति**) आत्महितमे कभी प्रमादके वशीभूत नही होते ॥१११॥

भावार्थ—इस जगतमे कुछ आत्महितैषी, बाह्यचारित्र व्रत-तप-दान पूजादि कार्योसे ही, अपना कल्याण मानते हैं[१] और अपनी आन्तरिक परिणतिको नही सुधारते, वे मुक्तिके मार्गसे दूर, ससारके पात्र ही रहेगे। इसी प्रकार जा 'ज्ञानमात्रसे मुक्ति होती है, बाह्यक्रिया काण्डसे ससार रहता हे, अत सिर्फ शास्त्राभ्यास करना चाहिए', ऐसा विचारकर स्वच्छन्दतासे सासारिक वैषयिक क्रियाओमे लिप्त है, उनसे अपनेको भिन्न नही कर पाते, और आत्महितमे साधनभूत बाह्यचारित्र व क्रियाओको सर्वथा, हेय मानकर छोड देते हैं, न पुण्य कर्म करते हैं, न ज्ञानस्वरूप बनते है, वे भी ससारम डूबे हैं। उनका भी उद्धार नही हो सकता। इस ससार सागरसे वे पार होते है, जो विश्वके परिभ्रमणके कारणभूत रागादि विकारी परिणामो से भिन्न होकर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मामे ज्ञान स्वरूपसे परिणमन करके, पुरुषार्थी बनते है।

(१०७) **प्रश्न**—पहिले आपने कहा था कि बाह्य चारित्र अन्तरग चारित्रका कारण है, तब उसे धारण करनेवालेको मुक्ति मार्गसे बाह्य कहना तथा ससारमे डूबने वाला बताना ही प्रमादको फैलाना है। ऐसा उपदेश आचार्य क्यो देते है?

समाधान—जो बाह्य चारित्र अन्तरग चारित्रका कारण बन जाये तो अन्तरग चारित्र ही मोक्षका कारण हुआ। आत्मा रागादि विकारोसे दूर होकर, ज्ञान स्वरूप निज स्वभावमे परिणमन करे—यही तो आन्तरिक चारित्र है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है। मात्र बाह्य चारित्र-से मुक्ति नही होती। शुभ कर्म निष्कर्म दशाका हेतु कैसे हो सकता है?

---

१ वद णियमाणि धरता सीलाणि तहा तव च कुव्वंता।
परमट्ठ बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदति ॥१५३॥

× × ×

वद समिदी गुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्त।
कुव्वतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीदु ॥२७३॥ —समयसार

(१०८) **प्रश्न**--बिना बाह्य चारित्रके कोई अन्तरग (निश्चय) चारित्र पा सकता है क्या ?

समाधान--नही। जिसे निश्चय चारित्रके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, वह बाह्य चारित्र-को साधनभूत बनाकर ही साध्यभूत निश्चय चारित्रको प्राप्त कर सकता है, **अत बाह्य चारित्र निश्चय चारित्रकी प्राप्तिका अभ्यास स्वरूप है।** तथापि जब वह साध्य प्राप्त कर लेता है, तब 'उसका बाह्य चारित्र साधन रूप बना' यह निर्णय होता है।

(१०९) **प्रश्न**--तो क्या साध्यकी प्राप्तिके बाद साधन बनता है ? या साधनसे साध्य प्राप्ति होती है। सारा ससार साधनको पूर्व मानकर साध्य प्राप्ति पश्चात् होती है, ऐसा मानता है। आप उल्टी गगा बहाना चाहते है।

समाधान--न गगा उलटी बहती है, और न साध्य पूर्व ओर साधन पीछे होते है। साधन तो पूर्व ही होते है, और साध्य पीछे ही होता है। तथापि साधन वही है जिससे साध्यकी प्राप्ति हुई हो। यदि साध्यकी प्राप्ति न हो तो वह साधन नही कहलावेगा।

(११०) **प्रश्न**--तब साधन क्या है जिसे अब सेवन किया जाय, ताकि साध्यकी प्राप्ति हो। आपके कथनानुसार तो साध्यकी प्राप्तिके बाद साधनका निर्णय होगा। किन्तु साध्यकी प्राप्तिके बाद साधनका क्या उपयोग है ? उसकी आवश्यकता तो तब तक है, जब तक साध्य प्राप्त नही हुआ। तब साध्यकी प्राप्ति क्या बिना साधनके होगी ?

समाधान--ऐसा नही है। जिनमे साधन बन सकनेकी योग्यता हो उनका अवलम्बन करके, कोई पुरुषार्थी प्रयत्न करे तो साध्यको पा सकता है, और तब यह निर्णय होता है कि मैंने अमुक साधनोंसे साध्य प्राप्त किया है, अत वे सच्चे साधन सिद्ध हुए। जो साधन स्वरूप बन सकने वाले साधनोका अवलम्बन करने मात्रसे सन्तुष्ट है, और साध्य प्राप्तिमे मन्दोद्यम है, वे साध्यको प्राप्त नही करते, अत उनके साधन, साधन नही है। अत सिद्ध है कि बाह्य क्रियाकाण्ड मात्रमे ही सन्तुष्ट रहने वाले मन्दोद्यमी अपुरुषार्थी, साध्यसे दूर रहते हैं, वे ससारमे डूबते है, ऐसा आचार्यका कथन है।

(१११) **प्रश्न**--यह तो समझमे आया कि बाह्य चारित्र यदि अन्तरङ्ग चारित्रसे रहित है तो मोक्षका साधन नही बनता। पर निश्चय चारित्रके साथ तो वह मोक्षका साधन बनता है तब उसका निषेध क्यो ?

समाधान--उसका निषेध नही करते, किन्तु वह स्वय सीधा मुक्तिका साधन नही है ऐसा कहते है। इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि उसे ही सब कुछ मानकर सन्तुष्ट होने वाले, निश्चय चारित्रको भी प्राप्त नही कर पाते। तब मुक्तिकी साधना कैसे होगी ? उसे साधन बनाकर निश्चय चारित्र प्राप्त करो, क्योकि निश्चय चारित्रसे ही मुक्ति होती है। जब कोई निश्चय चारित्रसे मुक्ति साधना कर लेता है, तब उसका पूर्वमे रहने वाला व्यवहार चारित्र, उपचारसे या परम्परामे मोक्षका साधन बना, यह कहा जाता है। परमार्थसे तो निश्चय चारित्र ही मोक्षका साधन बना है।

(११२) **प्रश्न**--निश्चय चारित्र, जो आत्माका विशुद्ध ज्ञान रूप परिणमन है, वही ज्ञान-मोक्षका साधन हुआ। बाह्य चारित्र परमार्थ कारण नहीं है। तब अपरमार्थको छोड देनेपर परमार्थ ज्ञानीको भी डूबने वाला आपने बताया, जो विचित्र बात है। ऐसा क्यो ?

समाधान—परमार्थ ज्ञानी डूबने वाला नही है। यहाँ जो ज्ञान नयके पक्ष पातीको डूबने वाला बताया सो उसका तात्पर्य यह है कि 'मै ज्ञानी हूँ, मुझे शास्त्र बोध है, आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध अनाद्यनन्त है, रागादि भाव जड हैं, आत्म स्वभाव नही हैं, उससे सर्वथा भिन्न हैं, ऐसा वस्तु स्वभावको मैंने जान लिया है। अत मै कर्म बन्धनसे रहित हूं।' ऐसा मानकर जो अशुभ परिणतिके त्याग स्वरूप तथा शुभ परिणतिकी प्रवृत्ति रूप, व्यवहार चारित्रसे भी बाह्य हुए, अपनी अशुभ परिणतिसे ऊपर नही उठ सके, वे परमार्थमे ज्ञानी नही हैं, रागी हैं। वे भी ससारमे ही डूबेंगे ऐसा आचार्यका कथन है।

(११३) **प्रश्न**—जिसे ज्ञान हो वही ज्ञानी है। तब ज्ञानी कैसे डूबेगा ? वह ज्ञानके आधार पर ससारसे तरेगा। ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है, ऐसा अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि 'ज्ञानमेव विहितं शिव हेतु.' इस वचनसे ज्ञानीको डूबने वाला कहना उचित नही है।

समाधान—ज्ञानी नही डूबेगा यह सत्य है, वही तरेगा। पर शास्त्रज्ञानी मात्रको ज्ञानी नही कहते। किन्तु **'जो अपनी परिणतिमे रागादि विकारोसे रहित, ज्ञान स्वरूप बना हो' उसे ज्ञानी कहते हैं।** शास्त्रोका जानकार तो 'शास्त्रमे क्या लिखा हे' ऐसा मात्र जानता हे। पर स्वय रागादिसे, शुभाशुभमे भिन्न नही हो सका। जो उसे शास्त्राधारसे ज्ञान है, वह ज्ञान उसका निजका बन जावे, और विकारो परिणति न हो, तो वह 'ज्ञानमात्र' वस्तु बना। अब उसमे कोई विकार नही है, अत ऐसा ज्ञानी ही सच्चा ज्ञानी है। उसी ज्ञानको शिव हेतु कहा है। मात्र शास्त्र पढनेवाला प्रमादो, रागो जीव ज्ञानी नही है।

उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि एकान्तत बाह्यचारित्र मात्रसे मोक्ष नही होता। इसी प्रकार एकान्तत वस्तु स्वभावको जान लेने मात्रसे मोक्ष नही होता। किन्तु **जो अशुभ रूप परिणतिको छोड, शुभ परिणतिके आचारणरूप बाह्य क्रियाओके द्वारा, स्वरूप साधनका प्रयत्न करते हैं, वे जीव शुभाशुभ कर्मसे ऊपर उठकर, स्वय शुद्धोपयोग परिणतिमे लीन होकर, स्वयं ज्ञानरूप बननेके उद्यममे सलीन हुए अप्रमादी है। वे पुरुषार्थी ही संसारसे तरकर आत्मानन्द स्वरूप मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१११॥**

ऐसे पुरुषार्थीको, अपनी परम कलाके साथ क्रीडा करने वाली, पूर्ण ज्ञानज्योति प्रकट होती है ऐसा कहते है—

> **भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं**
> **मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।**
> **हेलोन्मीलत् परमकलया सार्धमारब्धकेलि-**
> **ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥**

अन्वयार्थ—(**पीतमोह**) पिया है मोह जिसने अत (**भेदोन्मादम्**) पुण्य-पाप कर्ममे भेद है अत. भेदके उन्मादसे पुण्यमे ही रम गया है, तथा (**भ्रमरसभरात् नाटयत्**) ऐसे ही भ्रमके रसके भारसे नृत्य करता है ऐसे (**तत्कर्म**) उस शुभाशुभ कर्मको (**बलेन**) पुरुषार्थ पूर्वक (**मूलोन्मूलं कृत्वा**) जडसे उखाड कर, अर्थात् सर्वथा दूर कर, (**कवलिततम**) मोहान्धाकारको समाप्त करनेवाली तथा (**हेलोन्मीलत् परमकलया सार्धम्**) सहज ही उदय होनेवाली तथा अपनी परम कलाके

साथ (**आरब्ध केलि**) जिसने क्रीडाकी है ऐसी (**ज्ञानज्योति**) ज्ञानकी ज्योति (**भरेण**) पूर्ण रूपसे (**प्रोज्जजृम्भे**) प्रकट होती है ॥११२॥

भावार्थ—अनादि कालसे मिथ्यात्वके वश यह जीव पाप भावमे लिप्त रहा। आत्महितको इसने नही पहिचाना तथा कुमतिका ही पात्र रहा। क्वचित् कदाचित् धर्मका उपदेश सुना तो धर्मका फल सुगति मानकर पुण्य कर्ममे तथा उसके फलमे ही मग्न हो गया। कषायकी मन्दतासे किये गए पुण्य परिणाम, तथा तीव्रतासे हुए पाप परिणाममे भेद मानकर, पापको त्याग कर, पुण्यको मोक्षमार्ग मानकर, कर्ममे शुभाशुभ भेदकी कल्पना कर, अपनेको मोक्षमार्गी मानकर उछलता रहा।

जैसे कोई मदिरापन करनेवाला उन्मादमे भरा हुआ नृत्य करता है, आनन्दित होता है, उन्मादके कारण वह यह नही जानता कि यह मदिराकी गहलता मेरे लिए दुखका हेतु है। इसी प्रकार शुभाशुभ[१] कर्ममे भेद रूप भ्रमके कारण, यह मोही ससारी जीव, कुगति सुगतिरूप भेदभावके चक्रमे पडकर ससार परिभ्रमणका पात्र बना हुआ है।

जब आत्मामे यथार्थ ज्ञानकी ज्योति प्रकट होती है, तब वह ज्ञानज्योति इस भ्रमको दूर करती है, और तब ज्ञानी संसारकी जड स्वरूप, दोनो प्रकारके कर्मको, अपने शुद्धोपयोगके पुरुषार्थके बलसे, जडमूलसे उखाड करके, समस्त मोहान्धकारको समाप्त करके, अपनी श्रेष्ठतम ज्ञानकी कलाओसे, जो सहज आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय है, क्रीडा करता है। तब अखण्ड ज्ञानज्योति पूर्ण उदयको प्राप्त होती है।

आगममे सामान्यजनोको सर्वत्र यह उपदेश दिया है कि पापको छोडो, पुण्य करो। मामान्य-जनको पापकी भूमिकासे उठानेके लिए यही उपदेश कार्यकारी है। तथापि इसका फल कुगति और दुरवस्था दूर होना है, या सुगति व सुखावस्थाको प्राप्ति है ?

यह सुख ससारिक है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ नही है। मोक्षमार्गी ससारको हेय मानता है, अत उसमे पाये जानेवाले सुख-दुख दोनोको दुखरूप हेयरूप ही मानता है। मोक्षमार्गी चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव है। चतुर्थगुणस्थानी असयत सम्यग्दृष्टि है, वह सयम न पाल सका अत असयमी है, पर सयमको उपादेय और असयमको हेय मानता है—उसकी श्रद्धा ऐसी दृढरूप है। इस दृष्टिके आ जानेसे ही वह सम्यग्दृष्टि है। पचमगुणस्थानी देशचारित्री व साधु सकलचारित्री हैं। ये दानो चारित्र पापके एक देश या सर्वदेश त्यागसे हुए हैं। यह परिणाम निवृत्ति और प्रवृत्ति,

---

१ 'शुभोपयोगका फल देवताओकी सम्पदा है, और अशुभ उपयोगका नरकादिकी आपदा है, परन्तु इन दोनोंमे आत्मीक सुख नही है, इसलिये इन दोनों स्थानोमे दुख ही है।'

'इन्द्रादिक मनोवाछित भोगोसे शरीरादि पोषण ही करते हैं, सुखी नही है, सुखीसे देखनेमे आते हैं। जैसे जोक विकार वाले लोहूको बडी प्रीतिसे पीती है, और उसीमें सुख मानती है, परन्तु यथार्थमे उसका वह पीना दुख का कारण है। इसी प्रकार वे इन्द्र वगैरह भी तृष्णासे सुख मान रहे हैं।'

'पुण्य, देवताओ से लेकर सभी ससारी जीवो को तृष्णा उपजाते हैं, और जहाँ तृष्णा है, वहाँ ही दुख है, क्योंकि तृष्णा के बिना इन्द्रियोंके रूपादि विषयोमे प्रवृत्ति ही नही होती।'

प्रवचनसार गाथा ७२, ७३ तथा ७४ की भाषा टीकामे भावार्थ।

दोनो रूप हैं, अत प्रवृत्ति रूपसे शुभबन्ध तथा निवृत्तिरूप परिणामसे संवर—निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि इस पुण्य परिणामसे ऊपर उठकर, विशुद्ध परिणामी बनता है। वह प्रयत्नशील है। शुभरागरूप या पुण्यरूप चारित्र उस वीतरागचारित्रपर आरूढ होनेकी प्रथम सीढी है। सीढी चढनेके लिए है, अत. वह छोडनी पडती है, पर ऊपर चढनेको छोडनी पडे तो लाभदायक है, साधनभूत है। यदि उतरनेके लिए छोड दी जाय तो मजिल न मिलेगी, ससार भटकना होगा, क्योकि शुभभाव छोडनेपर अशुभभाव ही होंगे, जो नरकादि दुःखके कारण होगे।

मोक्षमार्गी पुण्यबन्धके कारणभूत शुभभाव भी छोड़कर निर्बंधदशा पाना चाहता है। अत ऐसे जीवको पुण्यपापमे भेद व पुण्य-परिग्रह, नहीं करना चाहिए। उससे ऊपर उठना चाहिए।

(११४) **प्रश्न**—महाव्रती षष्ठम गुणस्थानीय साधुके महाव्रतादिरूप परिणाम, यदि पुण्यरूप चारित्र हैं, तो वह चारित्र मोक्षमार्गका ही कारण माना जायगा। अन्यथा यदि इसे साधु, बन्धका कारण जाने, तो क्यो धारण करे ?

समाधान—साधु मोक्षमार्गी है और मोक्षके लिए ही उसकी यह व्रतधारण रूप यात्रा है, तथापि वह इतने मात्रसे सन्तुष्ट नही है, इसीसे आगे वीतराग चारित्रका अभिलाषी होकर बढता है।

(११५) **प्रश्न**—यदि प्रशस्तराग भी बंधका कारण है तब भगवान् केवलीके भी राग होना चाहिये, अन्यथा उन्हे, तथा उसके पूर्व वीतरागी चारित्रवाले—ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोमे सातावेदनीयका बन्ध किस हेतुसे होता है ?

समाधान—वीतराग चारित्रधारी ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानोमे तथा केवलीके जो साता का बंध होता है, वह योगके कारण होता है, रागके कारण नही।

(११६) **प्रश्न**—यदि योगके कारण साताका बध है, तो क्या वहाँ शुभयोग है ? प्रशस्तराग (शुभराग) के अभावमे, वह योग शुभयोग कैसे होगा ? तथा शुभयोगके बिना साता रूप पुण्य प्रकृतिका बध भी कैसे होगा ?

समाधान—इन तीनो गुणस्थानोमे साता प्रकृतिका मात्र ईर्यापथ आस्रव ही होता है—रागादिरूप कषायके अभावमे बन्ध नही होता। वहाँ मात्र प्रकृति प्रदेश बध है। यह कथनमात्र बध है, उसमे स्थिति व अनुभाग नही हैं।

(११७) **प्रश्न**—उक्त समाधानमे आपने परस्पर विरुद्ध बात कही है। पूर्व वाक्यमे यह बताया कि मात्र आस्रव है, बन्ध नही होता। बादमे प्रकृति प्रदेश बध भी स्वीकार किया। दोनोमे कौन सी बात यथार्थ है।

समाधान—स्थिति-अनुभाग बधसे रहित जो प्रकृति प्रदेश बध है, वह यथार्थ बध नही है। समागत कर्म वर्गणाए आत्माके साथ बधती नही हैं, अत आकरके भी वे कर्मवर्गणाए तत्काल निर्जराको प्राप्त हो जाती हैं।

(११८) **प्रश्न**—मन-वचन-कायकी क्रिया योग है, योगसे ही आस्रव होता है 'शुभः पुण्यस्या-शुभः पापस्य' उमास्वामीके इस वचनके अनुसार वहाँ पुण्यास्रवका कारण योग 'शुभयोग' मानना

होगा। अन्यथा साता रूप पुण्यका आस्रव भी कैसे होगा ? मूल प्रश्नका समाधान नही हुआ। प्रकृति प्रदेश क्या बध रूप नही हैं ?

समाधान—केवलीके पाया जानेवाला योग 'शुभयोग' माना जायगा। शुभयोगके साथ शुभ-राग होता ही है, ऐसा एकान्त नियम नही है। केवली भगवान्के योगो द्वारा होनेवाली दिव्यध्वनि आदि कार्य, प्राणिमात्रके हितकारक होनेसे शुभकार्य हैं। इन शुभकार्योमे निमित्त होनेके कारण उनका योग 'शुभयोग' कहा जाता है।

शुभकार्य जो साता प्रकृतिका आस्रव, उसके कारण भी उस योगको 'शुभयोग' कहा जायगा। बधका लक्षण जो उमास्वामीने अपने सूत्र ग्रन्थमे किया है, वह है "सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बध." अर्थात् कषाय सयुक्त जोव, कर्मयोग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है वह बध है। इस लक्षणके आधारपर, कषायरहित होनेसे, स्थितिअनुभागसे रहित, मात्र प्रकृति प्रदेशबध, बधके लक्षणमे नही आता। अत उन तीनो गुणस्थानोमे बध नही है, मात्र ईर्यापथ आस्रव है, ऐसा कहा गया है।

(११९) **प्रश्न**—बध शब्द तो उसके साथ भी है। उमास्वामी भगवान्ने बधके चार भेद बताये हैं। उनमे प्रकृतिबध, प्रदेशबध, प्रारम्भमे ही गिनाये हैं। तब वहाँ बध नही हैं, यह कैसे माना जा सकता है।

समाधान—स्थिति अनुभागबध प्रकृतिप्रदेशपूर्वक ही होते है। अत उनको बधके कारण होनेसे बध भी कहते है। तथापि स्थिति अनुभागके अभावमे, आत्मप्रदेशोका सश्लेश, जिसे यथार्थ बध कहना चाहिये वह पूर्ण वीतराग चारित्रीके, तथा केवलीके नही होता। वहाँ बधका तात्पर्य ही समाप्त हो जाता है, अतः वहाँ उपचारसे ही बध कहा गया है।

●

❀ इति जीव अजीव अधिकार ६

◻ आस्रव अधिकार ◻

जिस प्रकार किसी नाटककी रगभूमिमे अपना अभिनय प्रदर्शन करनेवाला नट, अपने वेष की महत्तासे उन्मत्त हुआ विविधरूप नृत्य करता है, इसी प्रकार आस्रवतत्त्व रगभूमिमे अवतरित होता है।

निम्न पद्यमे इसीका वर्णन है—

अथ महामदनिर्भरमन्थरं
समररङ्गपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

अन्वयार्थ—(**अथ**) पुण्यपापाधिकारके बाद आस्रव तत्त्वका वर्णन करनेवाला अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। (**महामदनिर्भरमन्थरम्**) जो महान् अहकारसे भरा हुआ है अतएव जिसकी उन्मत्त पुरुषकी तरह अटपटी गति है, तथा (**समररङ्गपरागतम्**) समर अर्थात् युद्धकी रगभूमिमे सामने आये योद्धाके समान है ऐसे (**आस्रवम्**) आस्रवको, (**अयम् उदारगभीरमहोदयः**) यह उदात्त-गुणको धारण करने वाला, अत्यन्त गभीर महान् शक्तिशाली, दुर्जय (**बोधधनुर्धर**) ज्ञानरूप धनुष-धारी अजेय वीर (**जयति**) जीतता है ॥११३॥

भावार्थ—जैसे अपने अहकारके वश हुआ कोई योद्धा, उन्मत्त पुरुषकी तरह अपनेमे ही चूर होकर, बडे गर्वकी गतिसे पैर बढ़ाता हुआ आवे और यदि उसे कोई अन्य बलवान्, धीर-वीर धनुषधारी युद्धभूमिमे परास्त करके निर्मद कर देवे, तब वह समरभूमि छोडकर भाग जाता है। इसी प्रकार जीवोको ससारकी रगभूमिमे, अपने वश कर लेनेके अहकारसे मदमत्त आस्रवभावको, सम्यग्ज्ञानरूपी अन्य योद्धा परास्त कर देता है। अर्थात् ज्ञानभावके उदयमे आस्रवभाव स्वय समाप्त हो जाता है। अनादिसे ही यह जीव कर्मबद्ध है। कर्मोदयमे शुभाशुभ कर्म किया करता है। कर्म रहित अवस्था इसकी एक क्षणके लिए भी नही हुई। अपनी इन शुभाशुभ क्रियाओके व तज्जन्य परिणामोके निमित्तसे यह ज्ञानावरणादि शुभाशुभ जडकर्म प्रकृतियोंसे बँधता है।

ये बद्ध कर्म प्रकृतियाँ अपने उदय कालमे जीवकी शुभाशुभ परिणतिमे निमित्त कारण बन जाती हैं, और जीव पुन नवीन प्रकृतियोसे अपनेको बाँध लेता है। यद्यपि वस्तुत. नवीन कर्म प्रकृतियाँ पूव बद्ध कार्माण वर्गणाओसे ही बँधती हैं जीवके साथ नही, तथापि जीवके साथ उनका एक क्षेत्रावगाह श्लेष सम्बन्ध होनेसे 'जीवने बन्ध किये' ऐसा कहा जाता है।[1]

---

१. पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मशरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥ —समयसार गाथा १६९

× × ×

एवमस्यात्मन स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूप परिणाम निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति। एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षण सम्बन्धात्मा बंध सिद्ध्येत। —समयसार गाथा ६९,७० आत्मख्याति टीका

कर्म प्रकृतियो तथा जीवकी परिणतियोमे इस प्रकार **परस्पर निमित्त नैमित्तिकताके रूपमे कार्य-कारणपना चला आ रहा है।** इनमे जीवके जो विकारी भाव है वे 'भावास्रव' सज्ञाको प्राप्त होते हैं। क्योकि उनके कारण ही नवीन प्रकृतियाँ बँधती हैं। बन्ध-प्राप्त कर्म प्रकृतियाँ जब उदयावस्थाको प्राप्त होती हैं तब उनके उदयमे जीवके भावास्रवरूप परिणाम होते हैं, तब नवीन आगत कर्म प्रकृतियोके आनेको द्रव्यास्रव कहा गया है।

(१२०) **प्रश्न**—जब तक बन्धके निमित्तभूत भावास्रव, तथा भावास्रव के भी निमित्तभूत द्रव्यप्रत्यय है, तब तक जोवके बन्ध रुक नही सकता। अतः यह उपदेश देना व्यर्थ है कि जीवको रागादिभावको दूर कर अपने भाव सम्भालना चाहिए। रागादिकी उत्पत्तिमे निमित्त कारण जो जड कर्म प्रकृतियोका उदय है—प्रथम उन्हे तोडना चाहिए। वे टूटेंगी तो भावास्रवकी उत्पत्ति रुकेगी, और उस भावास्रवरूप रागादिके रुकने पर बन्ध रुकेगा।

समाधान—ऐसी प्रक्रिया नही है। जडकर्म प्रकृतियोका आगमन आस्रव, ही पुरुषार्थपूर्वक रोका जाता है, उदयागत कर्म तो उदयमे आकर स्वय नष्ट होने वाला है, उसका क्या नाश करना है? वह तो मिटनेसे अब बच हो नही सकता। उसके उदय होने पर, यदि एक मात्र असाधारण शक्तिरूप अपने ज्ञान स्वभावका जीव आलम्बन करे, तो सत्तास्थित कर्ममे परिवर्तन होता है, उससे उदयकी धारा भी बदलती है, तब बन्धमे भी अन्तर पडता है। यही प्रक्रिया कर्मबन्धको तोड़नेकी है।

(१२१) **प्रश्न**—जब मोह कर्मके उदयमे ही जीव विकारी बनता है, उसके बिना विकारी बनता ही नही, तब मोह कर्मोदयके रहते हुए विकार रहित कैसे बन सकता है? यदि बन सकता है तो सकर्मा जीव भी निर्विकारी हो मुक्त हो जायगा?

समाधान—सकर्मा जीव जब राग, द्वेष, मोहरूप न परिणमे तभी निष्कर्मा बनता है, तभी मुक्त होता है। तथापि निष्कर्मा बननेकी प्रक्रिया ही ऐसी है। स्वभाव का आलम्बन करनेवाला जीव, पहिले बाँधे हुए सत्ता मे स्थित कर्मोंकी स्थिति-अनुभाग मे, उत्कर्षण और अपकर्षण करके, अन्तर पाड सकता है। सक्रमण द्वारा उन्हे पलट भी सकता है। उपशमन और क्षपण-विधि द्वारा उनका उपशम और क्षय भी कर सकता है। अप्रमत्त दशामे मुनि जब श्रेणी-आरूढ होते है, तब शेष रागादि और वेदादि का जहाँ उनके उदय होता है, वहाँ भी उदयसे राग-द्वेष रूप परिणमन न करते हुये, निज स्वभावके अवलम्बनसे, कर्मोंका उपशम या क्षय ही करते हैं। यदि कर्मोदयमे एकान्तसे जीव रागी बने, और रागी बन्ध करे ही करे। पुन. बद्ध प्रकृतियाँ उदयमे आकर रागी बनावें ही बनावें और पुन रागो बन्ध करे ही करे, तब यह परम्परा, जो अब तक अनादिसे चली आई है, कभी टूटेगी नही, तथा न टूटनेपर जीव सदा ससारी ही रहेगा, मुक्त नही होगा।[1] निर्वि-

---

१ द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुन कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय ॥४५॥ —प्रवचनसार गाथा ४५ (तात्पर्य वृत्ति टीका)

× × ×

तथापि स तु (ज्ञानी) निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्धहेतुत्वात्। —समयसार गाथा १७६ आत्मख्याति टीका,

कल्प ध्यानसे क्षपक श्रेणीके आठवें, नवमे, दसवे गुणस्थानोमे क्रमशः मोह कर्मका उदय, उत्तरोत्तर क्षीण होता है। अतः उसी प्रकार वहाँ बन्ध भी क्षीण होता जाता है। बारहवें गुणस्थानमे मोहका अभाव हो जाता है और इसीलिये कर्म बन्ध भी, केवल एक साता प्रकृतिका, योग निमित्तक—प्रकृति-प्रदेश मात्र शेष रह जाता है।

(१२२) **प्रश्न**—तब आस्रव भावको रोकनेका क्या उपाय है? जिससे नवीन बन्धका अभाव हो और जीव मुक्त हो।

समाधान—आस्रवभाव अर्थात् परपदार्थमे राग-द्वेष आदि परिणाम—जीवके अज्ञान जनित भाव हैं। ज्ञानी जीव इन भावोंसे बचता है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, भेद ज्ञानी हैं, वे अपने ज्ञानभाव और रागादि अज्ञानभावमे भेद करके, ज्ञानभावको स्वीकार करते हैं, तद्रूप ही परिणत होते हैं। रागादि अज्ञान भावरूप परिणत नही होते। यह ज्ञानरूप परिणमन ही निश्चय चारित्र है, जिससे यह जीव अबन्ध दशाको प्राप्त होता है, नवीन कर्म बन्धका अभाव करता है, तथा पुरातन बद्ध कर्म उदयावस्थाको प्राप्त होते है—वे स्वय झर जाते हैं। उदयके बाद कोई जीव यदि उनको स्थिर रखना भी चाहे तो रखा नही जा सकता, उनका नियमसे क्षय हो जाता है। इस प्रकार जीव निष्कर्मा बन जाता है, वही मुक्त है।

(१२३) **प्रश्न**—अशुभ कर्मके तीव्रोदयमे जीवको पीडारूप परिणाम होते हैं, तथा शुभ कर्मके उदयमे सुखरूप परिणाम होते है। उस समय रागादि कर्मके उदयकी स्थितिमे, ज्ञानभावका उदय ही नहा होता, तब कैसे नया बन्ध रुकेगा? और कैसे जीव मुक्त होगा?

१४१

समाधान—जिस पुरुषार्थसे जीव मुक्त होता है **वह पुरुषार्थ यही है कि द्रव्यकर्मके उदयमे भी जीव अपने स्वरूप की सम्हाल करे।** ऐसा नही है कि निमित्तपनेकी योग्यता रखनेवाला निमित्त बने ही बने। यदि उसे निमित्त बनाया जाय तो वह निमित्त है, न बनाया जाय तो योग्यता रखते हुए भी वह निमित्त नही बन पाता।

कर्मोदयकी स्थितिमे सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञानभाव, जिसे वह अपनी भेद ज्ञानकी दृष्टिसे अपना स्वभाव जान चुका है, उस पर अवलबित हो जावे, अपने स्वरूप, और कर्मके स्वरूपका विचार कर स्वभावमे रहे, विकारी भावरूप परिणति न करे तो उसे कर्मबन्ध नही होता। यह स्थिति श्रेणी पर आरूढ़, वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीवकी ही होती है अत. सम्यग्दृष्टि शब्दसे उसीका यहाँ ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ-पञ्चम तथा छठे गुणस्थानोमे गुणस्थानके अनुसार, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान आदि कषायोंके तीव्र उदयकी स्थितिमे रागादि भाव जीवमे नियमसे होते है। तथापि स्वभाव-स्पर्शी जीव, उनका क्षयोपशम करता हुआ, आगे बढता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि, इस कलशमे कथित प्रकरणके अनुसार, समस्त ससारी अज्ञानी प्राणियोको अपने वशमे करने वाला, आस्रवभाव, अपनी इन कृतियोके गर्वसे उन्मत्त होकर जब झूमता हुआ सामने आता है, तब आत्मबोधकी ज्योति उसके गर्वको खण्डित करती है।

यहाँ नाटकको रंगभूमिमे आने वाले पात्रको जब दर्शक भेद दृष्टिसे पहिचान लेते हैं, तब वह लज्जित होकर रगभूमिसे भाग जाता है। इसी प्रकार आस्रवभावके रूपको भेदज्ञानी जब जान लेता है तब वह भी, इस जीवके ससारभावकी रगभूमिसे हट जाता है ॥११३॥

ज्ञानभाव क्या है और वह कैसे आस्रवको रोकता है, इसका निरूपण करते हैं—

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्यात् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौधान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अन्वयार्थ—(**राग-द्वेष-मोहै विना**) राग-द्वेष तथा मोहरूप विकारी भावोसे रहित (**यो भाव.**) जो भाव (**जीवस्य स्यात्**) जीवके होता है (**ज्ञाननिर्वृत्त एव**) वह भाव ज्ञानचेतना स्वरूप ज्ञानसे रचित भाव ही है। (**एष.**) यह भाव ही (**सर्वान्**) सम्पूर्ण (**द्रव्यकर्मास्रवौघान्**) द्रव्यास्रवको (**रुन्धन्**) रोकता हुआ (**सर्वभावास्रवाणाम् अभाव**) सम्पूर्ण भावास्रवोके अभाव-रूप है ॥११४॥

भावार्थ—किसी भी पदार्थको इष्ट मानकर प्रीति करना, उसके सयोगकी वाछा करना अथवा उसका सयोग बना रहे कदाचित् भी वियोग न होवे, ऐसा विकल्प करना 'राग' कहलाता है, इसी प्रकार किसी भी पदार्थमे, जो अपनेको इष्ट नही है, उसका वियोग हो जावे, कभी सयोग न हो, वह विनष्ट हो जावे, ऐसे विकल्पोका नाम 'द्वेष' है। तथा अन्य किसी भी परपदार्थमे तथा देहादिमे स्वत्व बुद्धि करना, अपने स्वरूपकी अजानकारीसे 'पर' ही मै हूँ, मै ही 'पर' हूँ, इस प्रकार स्वपरका भेद न जानकर, परमे निजका सकल्प कर, परमे होने वाली गहलता ही 'मोह परिणाम' है।

इस प्रकार मोहरूप सकल्प तथा राग-द्वेषरूप विकल्प ये सब जीवके अज्ञानभाव है। यह जीव अपनी इस भूलके कारण ही कर्मबन्ध करता है, यदि वह अपने स्वरूपका सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थमे मोह राग-द्वेष भावना न करे तो, अज्ञान चेतनारहित, ज्ञानचेतना-सहित, वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है। इस ज्ञानमय परिणतिके होनेपर जीव दोनो प्रकारके आस्रवोका अभाव कर, निरास्रव दशाको प्राप्त करता है, ऐसा जानना चाहिए।

(१२४) **प्रश्न**—रागके अभावरूप भावको 'वीतरागभाव' कहेगे तथा बैरके अभावरूप भावको 'निर्बैर' कहेगे। इसी प्रकार मोह रहित भावको 'निर्मोह' कह सकते हैं। पर राग-द्वेष मोहके अभावात्मक भावको 'ज्ञानभाव' कैसे कहेगे? ज्ञानके अभावको 'अज्ञान' तथा 'अज्ञान' के अभावको 'ज्ञानभाव' कहना चाहिए, अत उक्त व्याख्या सत्य प्रतीत नही होती।

समाधान—यह सही व्याख्या है कि ज्ञानके अभावको ही अज्ञानभाव कहेगे, पर विचार करें कि 'अज्ञानभाव' का अर्थ क्या है। वह किस वस्तुका अज्ञान है? तो प्रतीत होगा कि आत्म-स्वरूपके ज्ञानके अभावको ही अज्ञानभाव कहा है। मोह-राग-द्वेष भावके समय ही जीव अपने स्वरूपको भूलता है, अत. ये ही अज्ञानभाव है। **राग-द्वेष-मोहसे रचित भाव होने पर, ज्ञानभावकी शुद्ध परिणति नहीं होती। अत. ये तोनो भाव अज्ञान परिणति स्वरूप हैं। फलत. ये ही भाव द्रव्य-कर्मास्रवोके कारण हैं।**

जिसे आत्मबोध होता है वह अपने स्वभावकी प्राप्तिके प्रति ही रुचि-प्रीति-प्रतीति करता है। अन्य पदार्थोंको अपनेसे भिन्न मानकर, उसके सयोग-वियोगकी चिन्ता नही करता। ऐसा

भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, दोनो प्रकारका कर्मास्रव नही करता। अत आस्रवके अभावके कारण निरास्रव होता है, ऐसा उक्त कलशका भावार्थ है ॥११४॥

ज्ञानी निरास्रव है ? यह बताते हैं—

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

अन्वयार्थ—(**अयं**) यह ज्ञानी जीव (**भावास्रवाभावम् प्रपन्न**) जब रागादिभावोंसे स्वयं अभावरूपताको प्राप्त हुआ, तब (**द्रव्यास्रवेभ्य**) द्रव्यास्रवरूप पुद्गलकर्म पिंडसे तो (**स्वत एव भिन्न**) स्वय ही पृथक् है। अत (**ज्ञानी**) ज्ञानी पुरुष (**सदा**) सदा काल ही (**ज्ञानमय एक भाव**) ज्ञानमय एक ही भावका स्वामी हुआ अत (**ज्ञायक एक**) यह केवल ज्ञायक आत्मा (**निरास्रव एव**) आस्रवसे रहित ही है ॥११५॥

भावार्थ—मोह, रागादिरूप परिणति आत्मामे अनादिसे थी। जीव अपनी इस अज्ञानमय परिणतिसे कर्मास्रव करता था तथा उन कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता था। जब काललब्ध्यादि कारणोको पाकर रत्नत्रयको प्राप्त हुआ, तब मोह—रागादिभाव रूप विकारी परिणतिसे भिन्न होकर, स्वय ज्ञानरूप परिणत हुआ। उस समय जो पुरातन कर्म आत्माके प्रदेशोसे बद्ध थे, उन द्रव्यप्रत्ययोसे भी स्वय पृथक् हुआ। वह इस प्रकार कि ज्ञानी उदयागत कर्मको व उनके फलको जानते हुए भी उनका ज्ञायक मात्र है। उनके उदयमे अपनी ज्ञान परिणतिको छोडकर, उनके उदयानुकूल परिणति नही करता, अत- आस्रवभावके अभावमे वह निर्बंध ही रहता है। वास्तवमे भावास्रव ही आस्रव है, क्योकि वह जीवका परिणाम है। जीव अपने परिणाम ही सुधार सकता है। ज्ञानी जीव भावास्रवसे रहित हुआ यही उसकी निरास्रवता है। द्रव्यास्रव भूत कर्म, द्रव्यान्तर स्वभाव हैं, अत. वे आत्मासे सर्वथा पृथक ही है। भावास्रव आत्माके विकारी परिणाम हैं। आत्म-सत्तामे उदीयमान है। उन्हे दूर करनेसे ज्ञानी निरास्रव हो हैं यह तात्पर्य है ॥११५॥

ज्ञानी भावास्रवके अभावको कैसे प्राप्त करता है उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

सन्न्यस्यन् निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्
आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अन्वयार्थ—(**अनिशं**) निरन्तर (**निजबुद्धिपूर्वं**) अपने ज्ञातभावसे होने वाले (**समग्रं रागं**) सम्पूर्ण रागादिभावोको (**स्वयं**) अपने बलसे (**संन्यस्यन्**) दूर करके, तथा (**अबुद्धिपूर्वं तमपि**)

अज्ञातभावसे होने वाले रागादिको भी (**जेतु**) जीतनेके लिए (**बारं बारं**) बार बार (**स्वशक्ति स्पृशन्**) अपनी आत्मशक्तिको अवलम्बन करके तथा (**सकला एव परवृत्तिम् उच्छिन्दन्**) समस्त परनिमित्तजन्य औपाधिक वृत्तिको ही नष्ट करके अर्थात् शुभाशुभ प्रवृत्तिको छोडकर (**ज्ञानस्य पूर्णो भवन्**) ज्ञानमात्र स्थितिको पूण प्राप्त करने वाला (**आत्मा**) आत्मा (**यदा ज्ञानी स्यात्**) जब ज्ञानी बनता है (तदा) तब ही (**नित्य-निरास्रवः भवति**) सदा आस्रवोसे रहित होता है ॥११६॥

भावार्थ—भावास्रव अपने मोह रागादि विकारी परिणामोको कहते हैं, क्योकि ज्ञानावरणादि कर्मबन्धके वे ही कारण हैं। बन्धके कारणको ही आस्रव कहते हैं। इस तथ्यको सम्यग्दृष्टि जानता है, क्योकि उसे रागादि विकारी चैतन्यमे, तथा अपने निज स्वभावरूप चैतन्यमे भेदज्ञान हो चुका है। उसमे जो रागादिभाव उसकी जानकारी पूर्वक, बुद्धि पूर्वक, उत्पन्न होते हैं—उन्हे स्वय अपने पुरुषार्थसे दूर करता है, तथा सावधानीकी स्थितिमे भी पूर्वबद्ध कर्मोदयसे जो रागादि परिणति सूक्ष्मरूप होती है, जो उसकी जानकारीमे नही आ पाती, उससे बचनेके लिए बार-बार अपने स्वरूपमे ही अपना उपयोग लगाता है, इस प्रयत्नसे अबुद्धिपूर्वक रागादि भी दूर होते हैं। इस तरह समस्त पर वृत्तिको दूर कर ज्ञानी बनता है।

(१२५) **प्रश्न**—अबुद्धिपूर्वक जो रागादि कर्मोदयसे होते हैं वे तब दूर हो सकते हैं, जब कर्मोदय न हो। उस कर्मोदयको ज्ञानी कैसे दूर करता है ?

समाधान-अपनी निजज्ञान शक्तिका आलम्बन कर, अर्थात् अपने स्वभावमे ही अपने उपयोगको लानेसे पुरातनबद्ध कर्मपिण्डमे स्थिति अनुभाग खण्डन हो जाता है, जिससे कि उदयकी धारामे परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तनसे ही अबुद्धिपूर्वक रागादि विलीयमान होते हैं।

इस प्रकार ज्ञात अज्ञात भावजन्य रागादिपर विजय प्राप्त करने पर रागादि औपाधिक-भावके निमित्तसे जीवकी जो परवृत्ति थी, उसका उच्छेद हो जाता है। ज्ञान अपने स्वरूपकी परि-पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, तब रागादि अज्ञान भावसे सर्वथा भिन्न, अपनेमे पूर्णज्ञान परिणत ज्ञानी जीव, आस्रवभावसे रहित हो जाता है। अत- कर्मबन्ध नही करता।

(१२६) **प्रश्न**—यह स्थिति किस गुणस्थानमे जीवको प्राप्त होती है ? क्या सामान्य सभी सम्यग्दृष्टि जीव इसी प्रकारके ज्ञानी और निरास्रव है ?

समाधान—नही। चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव अपने-अपने गुणस्थानके अनुसार मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी आदि कषायजनित रागसे रहित हैं। पचमगुणस्थानवर्ती अप्रत्याख्यान कषायजनित रागसे भी रहित है। षष्ठादि गुणस्थानवर्ती प्रत्याख्यान कषायजनित रागसे भी रहित हैं। मात्र सज्वलन कषाययुक्त होनेसे वे अन्य सम्पूर्ण कषायजनित रागादिसे दूर होते है। **जिस गुणस्थानमे जितना जितना रागादि विकारी भावोंका अभाव है वहा जीव उतने अंशमे ज्ञानमे बढ़ते हैं। जो जितने-जितने अशमे ज्ञानी हैं—उतने-उतने अशमे ही निरास्रव हैं।** जो रागादि भावसे सर्वथा रहित हुए, ऐसे ग्यारहवें बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे पूर्णतया ज्ञान भावरूप परिणमे

हैं—बुद्धि या अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव उनसे सर्वथा दूर हो गये हैं, अतः वे पूर्णतया निरास्रव हैं।[1]

(१२७) **प्रश्न**—क्या दसवें गुणस्थानसे आगे गुणस्थानोमे कर्मास्रवका सर्वथा अभाव है? उनमे स्थित जीव पूर्ण निरास्रव हैं?

समाधान—वहाँ योगमात्र परिणाम ही कर्मास्रव का हेतु है। तथापि कषाय भावके अभावमे मात्र प्रकृति प्रदेशरूप बध है। स्थिति अनुभागबन्ध वहा नही होते। अत मुख्यबन्धके अभावमे जीवको निरास्रव कहा गया है। योगमात्रसे होने वाला आस्रव समयस्थितिक है, अर्थात् कर्म वर्गणायें आती हैं पर स्थिति बन्धरूप न होनेसे आत्मासे बद्ध नही होती, अत. आत्मा अबद्ध ही कहलाता है।

(१२८) **प्रश्न**—ज्ञानके द्वारा ही पदार्थ जाने जाते हैं तथा जानकारी होनेपर ही उनमे रागद्वेष होता है। अतः रागद्वेषका मूल कारण तो ज्ञानभाव है, उसे ही मेटना चाहिए।

समाधान—ज्ञान द्वारा पदार्थ जाने जाँय इसमे बाधा नही है। ज्ञान ज्ञेयका परस्पर जाननेका तथा जाने जानेका सम्बन्ध, सदासे है और सदा काल रहेगा। रागादिकी धाराके साथ ज्ञान विकारी हो जाता है। उस स्थितिमे ही कर्मबन्ध होता है सो वहाँ जितना रागाश है वह बन्धक है, न कि ज्ञानभाव।

मोहके सयोगकी स्थितिमे विकारी ज्ञान, 'अज्ञान' सज्ञाको प्राप्त होनेसे बन्धक है। उसके अभावमे वही ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है, अत वह बन्धक नही है, ऐसा जानना चाहिए। ज्ञानकी हीनता रागादिके साथ रहती है। क्रम क्रमसे रागादिके अभावमे जब ज्ञान अपनी पूर्ण शक्तिसे प्रकट होता है, तब तदनुसार समस्त ज्ञेयोको जानता हुआ भी उनसे अलिप्त रहनेके कारण निरास्रव होता है ॥११६॥

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म जो बद्ध हैं उनके रहते हुए ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं, ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं—

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(**द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ**) द्रव्यास्रवकी सतति जो कारणस्वरूप हैं उनका प्रवाह (**सर्वस्याम् एवं जीवत्यां**) सबका सब ही जब जीवित है, विद्यमान है, तब (**ज्ञानी नित्यमेव**) ज्ञानी

१ जीवगत रागादि भाव प्रत्ययानामभावे सति द्रव्य प्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतराग परम सामायिक भावना परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षणभेद ज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यंते यत कारणादिति। तत स्थितं नवतर द्रव्यकर्मास्रवस्योदयागत द्रव्यप्रत्यया कारण, तेषां च जीवगता रागादि भाव प्रत्यया कारणमिति कारण कारण व्याख्यानं ज्ञातव्यम्।

—समयसार गाथा १७७-१७८ तात्पर्य वृत्ति टीका

ज्ञान दर्शन गुण रागाद्यज्ञानभाव परिणतं कृत्वा नवतर कर्म कुर्वंति। तेन कारणेन भेदज्ञानी बन्धको न भवति। किं तु ज्ञानदर्शन रजकत्वेन प्रत्यया एव बन्धका इति ज्ञानिनो निरास्रवत्व सिद्ध।

—समयसार गाथा-१७०, तात्पर्यवृत्ति टीका.

सदा ही (**निरास्रव**) आस्रव रहित है (**कुत**) यह बात कैसे बन सकती है (**इति मति चेत्**) ऐसा किसीका प्रश्न है ॥११७॥

भावार्थ—कर्मोदयमे होनेवाले जीवके रागादि भावोको भावास्रव, तथा आगत कर्मोको द्रव्यास्रव कहा था। सो ज्ञानी सम्यक्त्वी जीवके ज्ञानावरणादि सभी कर्मपिण्ड आत्मामे हैं, तथा उन कर्मोंका उदय भी निरन्तर विद्यमान है, तब ज्ञानी निरास्रव कैसे कहा जाता है ? ॥११७॥

समाधान निम्न कलशमे आचार्य स्वय करते हैं—

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया· पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकल-राग-द्वेष-मोह-व्युदासात्
अवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि पूर्वबद्धा द्रव्यरूपाः द्रव्यप्रत्यया**) यद्यपि पूर्वमे बाँधे द्रव्यरूप कर्म (**समयमनुसरन्तः**) समय समय पर उदयको प्राप्त है, (**सत्तां न हि विजहति**) सत्तासे अलग नही हुए अर्थात् सत्ता रूपमे जीवके साथ हैं (**तदपि**) तो भी (**सकलमोहरागव्युदासात्**) सम्पूर्ण मोहका तथा रागद्वेष रूप परिणामोका अभाव होनेसे (**ज्ञानिन न जातु कर्मबन्ध अवतरति**) ज्ञानी अर्थात् वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीवके कदाचिद् भी कर्मबन्धका अवतार नही होता है ॥११८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हैं। उसने पूर्व दशामे अज्ञानवश नानाप्रकारके कर्मोका बन्धन कर रखा है। अभी जिनका अभाव नही हुआ, आत्मासे सम्बद्ध है, वे यद्यपि उदयको प्राप्त होते हैं, प्रति समय आते हैं तथापि उस अवस्थामे भी जीव, मोह, रागद्वेष रूप विकारी परिणामोके अभावसे, कर्मबन्धको कदाचित् भी प्राप्त नही होता।

(१२९) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान मात्रसे अबन्धक हो गया है ?

समाधान—ऐसा नही है, ज्ञान मात्रसे कर्म नही रुकता। 'ज्ञान भाव' से रुकता है। इस प्रकारके प्रश्नका समाधान पूर्वमे कर आये हैं।

(१३०) **प्रश्न**—क्या चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें तक सभी सम्यग्दृष्टि समग्रभावसे ज्ञानी और निरास्रव हैं ?

समाधान—नही, गुणस्थान प्रक्रियाके अनुसार कुछ विशेषताएँ हैं, वह इस प्रकार हैं—

बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं। चतुर्थ गुणस्थान वाले ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको उनमे से ४१ कर्म प्रकृतियोका सवर हो जाता है, उनसे वह निरास्रव हैं।

पंचमगुणस्थानी सम्यग्दृष्टि श्रावकके ५१ प्रकृतियोका सवर है। षष्ठमगुणस्थानवर्ती मुनिके ५५ प्रकृतियोका संवर है। सप्तम गुणस्थानमे उसी मुनिके ६१ प्रकृतियोका सवर है। अष्टम गुणस्थानमे ६२ प्रकृतियोका सवर है। नवम गुणस्थानमे ९८ प्रकृतियोका सवर है। दशवें गुणस्थान मे १०३ प्रकृतियोका सवर है। ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव केवल एक प्रकृति के बधक हैं, शेषका सवर है। और चौदहवें गुणस्थानमे पूर्ण निरास्रव हैं। इस तरह **जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है, निरास्रवता बढ़ती जाती है।**

(१३१) **प्रश्न**—बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणादि सातों कर्म प्रकृति उदयमे रहती हैं। वहाँ तो सभी सातो कर्म प्रकृतियोका बंध होता होगा। तेरहवेंमे घातियाके अभावसे चार अघातियोका बध होना चाहिए। अत उक्त अबधकपनेका क्या हेतु है?

समाधान—बंधके लिए हेतुभूत प्रत्यय, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच हैं। इनका क्रमश. चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, एकादसम तथा चतुर्दशम गुणस्थानमे अभाव हो जाता है। अत वहाँ वहाँ तन्निमित्त जन्य प्रकृतियोका बंध रुक जाता है। गुणस्थान प्रक्रियासे कितनी कितनी प्रकृतियाँ कहाँ बधसे रहित हो जाती है, यह ऊपरके समाधान मे बताया जा चुका है। उक्त पाँचो प्रकारके भाव प्रत्यय भावास्रव हैं, और उन भावोके होनेपर हो द्रव्य प्रत्यय, द्रव्यास्रवके कारण होते है।

राग द्वेष मोह भाव ही बधक हैं—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

अन्वयार्थ—(**यत् ज्ञानिन.**) क्योकि ज्ञानो पुरुषके (**रागद्वेषविमोहानाम्**) रागद्वेष तथा मोह परिणामोको (**असभव.**) असभवता है (**तत एव अस्य बन्ध न**) इसी कारणसे उसे कर्म बन्धन नही है। (**ते हि बन्धस्य कारणम्**) बन्धके कारण तो वे रागादि भाव ही हैं ॥११९॥

भावार्थ—बन्धका कारण जीवका मोह अर्थात् मिथ्यात्व भाव तथा रागद्वेष अर्थात् कषाय भाव हैं। ज्ञानी पुरुषके इन तीनोका अभाव है, अत. उसे कर्म बन्ध नही होता। वह भावास्रव रूप परिणामोके अभावमे अबन्ध रूप है।

(१३२) **प्रश्न**—पिछले कलशके प्रश्नके समाधानमे गुणस्थान प्रक्रियासे कुछ-कुछ कर्म प्रकृतियो का क्रम-क्रमसे सवर लिखा है, तब यहाँ ज्ञानी शब्दसे कौन गुणस्थान वाला जीव लिया जायगा जिसे सर्वथा कर्मबन्ध न हो? उक्त व्याख्यासे तो चौदहवें गुणस्थानमे ही जीव ज्ञानी हैं। शेष अज्ञानी है। भगवान् केवली तेरहवें गुणस्थानमे भो क्या अज्ञानी है? क्योकि एक प्रकृतिका बन्ध तो वहाँ भी होता है, अत. वे भी सर्वथा अबन्धक नही हैं। इस कथनमे आगमके अन्य ग्रन्थोंसे बहुत बडा विरोध आता है।

समाधान—कोई विरोध नही है। ग्रन्थकारोकी वर्णन करनेकी प्रक्रिया विशेष प्रकारकी होती है, उनकी विवक्षाको समझ लेने पर कोई विरोध नही होता। सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानी भी ज्ञानी है, अज्ञानी नही। तब तेरहवें गुणस्थानवाले अर्हन्त सर्वज्ञके पूर्ण ज्ञानित्वमे ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। मोहका अभाव ही अज्ञानका नाश है। पश्चात् जो जितने अश रागद्वेषात्मक कषाय भावसे दूर है, वह उतना ही विशिष्ट ज्ञानी है। जितना-जितना वीतराग भाव ज्ञानी जीव को बढता जाता है, उतना-उतना कर्म बन्धका अभाव होता जाता है। मोह रागद्वेषका पूर्ण अभाव ग्यारहवे गुणस्थानमे व आगे गुणस्थानोमे है, अतः वे पूर्ण अबन्धक हैं। **ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वाले जीव केवली नहीं हैं, पर सम्पूर्ण रागद्वेष अभावसे पूर्ण वीतरागी हैं।** अतः इनके केवलीको तरह, मात्र एक साता वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। यह बन्ध भी प्रकृति प्रदेश मात्र बन्ध है। **स्थिति अनुभागके अभावसे वह बन्ध, बन्ध रूप नही है। यह पहिले भी कहा जा चुका है।**

(१३३) **प्रश्न**—ग्यारहवें गुणस्थानके पूर्व तो रागद्वेष हैं ? उन्हे तो चारो प्रकारका बन्ध होता है। तब वे अबन्धक कैसे ?

समाधान—मोहके उदयमे अनन्तानुबन्धी कषायका भी उदय होता है, जिससे जीव अनन्त ससार परिभ्रमणके योग्य कर्मबन्धन करता है। मोह (मिथ्यात्व) के उदयके अभावमे होनेवाले, अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप रागद्वेष, अनन्त ससारका मूल नही है, अत· उसे अबन्धक कहा है। कलश ११० के प्रश्न-समाधानमे भी यह बात बता चुके है।

(१३४) **प्रश्न**—बन्धक होने पर भी अबन्धक कहा ऐसी विवक्षा क्यो ?

समाधान—'**ईषदर्थे नञ् प्रयोगात्**' इस न्यायसे 'अल्पताके' अर्थमे भी निषेधका प्रयोग होता है। जैसे कोई पुरुष बाजारमे स्वर्ण खरीदनेकी इच्छा करता है। पर पासमे १०-५ रुपया ही है। तब विचार करता है कि रुपया है नही, कैसे खरीदूँ ? यहाँ पर थोडा रुपया है तो भी स्वर्ण मुद्रा खरीदने योग्य रुपया न होनेसे यह माना कि मेरे पास रुपया नही है। इसी प्रकार अनन्त ससारके कारणभूत रागद्वेषके अभावसे, अल्प बन्धकको 'अबन्धक' ही माना है। आगे जब इसे अल्प बन्धक परिणामका भी अभाव हो जाता है तब यही ज्ञानी पूर्ण ज्ञानी बन जाता है और सर्वथा बन्धका अभाव करता है।

निरास्रवी जीवोकी स्थितिका वर्णन—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नम्
ऐकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो ज्ञानी पुरुष (**उद्धतबोधचिह्नम्**) नित्य ही प्रकाशमान ऐसा ज्ञान ही है चिन्ह जिसका, ऐसे (**शुद्धनयम्**) शुद्ध नयके विषयभूत शुद्धात्माको (**अध्यास्य**) स्वीकार करके, (**सदैव**) सदा ही (**एकाग्र्यम् एव कलयन्ति**) एकाग्र होकर अभ्यास करते हैं—ध्यान करते हैं (**ते**) वे जीव (**सतत**) निरन्तर (**रागादिमुक्तमनस भवन्त**) रागादि परिणामोसे रहित, निर्विकल्प विशुद्ध परिणामी स्वय बनते हुए, (**बन्धविधुरं**) अबन्ध स्वरूप (**समयस्य सारं**) विशुद्धात्माको (**पश्यन्ति**) देखते है, प्रकटरूपमे पाते है ॥१२०॥

भावार्थ—जो मुनिजन अप्रमादी होकर, शुद्ध नयका अवलम्बन कर, बोधात्मक अपने आत्मद्रव्यको एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हैं, वे रागादि विकारी भावोसे रहित होकर, अन्तर्मुहूर्त मात्रमे अपनी आत्माको केवलज्ञानादि गुणोसे विभूषित देखते हैं। अर्थात् केवली बनते हैं। **वे ही अबन्ध रूप विशुद्ध समयसार हैं।**

(१३५) **प्रश्न**—शुद्धनयका अवलम्बन करना एकान्त पक्ष है। इसका तो शास्त्रोमे निषेध है, फिर यहाँ शुद्धनयावलम्बीको ही समयसारका ज्ञाता क्यो कहा ?

समाधान—नयो द्वारा वस्तुका विवेचन होता है। जीव भी वस्तु है। उसका वर्णन शुद्धाशुद्धनयसे किया जा सकता है यहाँ शुद्धनयसे जीवका जो स्वरूप है वह उपादेय है—अतः शुद्धनय

के अवलम्बनको बात है। **अशुद्धनयसे भी जीवका वर्णन असत्य नहीं है, पर वह संसारी जीवका वर्णन है।** जीवको अपनी अशुद्धावस्था, जो ससारावस्था है, उसमे परिवर्तन लाना है, अत. वह हेय है। यही कारण है कि शुद्धनयसे आत्माका जो स्वरूप है, उसके अवलम्बनका उपदेश दिया गया है। समयसारका अर्थ ही शुद्धात्मा है, अत शुद्धनयावलम्बी ही शुद्धात्माको पाता है ऐसा कथन सर्वथा उपयुक्त है।[1]

(१३६) **प्रश्न**—सत्य ही तो उपादेय है, और सत्य अनेकान्त तत्त्व है, एकान्त नही। उभय-नयात्मक वस्तु ही सत्य है, एकनयात्मक नही। तब एकको ही उपादेय क्यो कहते हैं ?

समाधान—इस प्रश्नका समाधान कर चुके हैं, तथापि पुन कहते हैं—वस्तु स्वरूपका विवेचन करें तो जीव तो **द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध ही है। पर्याय दृष्टिसे वर्तमानमे ससारी दशामे अशुद्ध है। दोनो अपने-अपने नयसे सत्य हैं। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही जानना सत्य है। अत. ज्ञेयके ज्ञानकी दृष्टिसे दोनो नय उपादेय हैं—दोनोका विषय जानने योग्य हैं।**

तथापि आत्मा यदि अशुद्ध ससारीदशासे, जो सत्य है, मुक्त होना चाहती है, तो उसे उस नयका आलम्बन करना चाहिए जो उसके शुद्ध स्वरूपका प्ररूपक हो। इस दृष्टि से **जिस दशाको जीव स्वयं छोडना चाहता है, वह अशुद्धावस्था हेय हो जाती है तथा उससे भिन्न शुद्धदशा स्वयं उपादेय हो जाती है।** अत. उसे विषय करने वाला नय ही उपादेय कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति रोगी है, उसका रोगीपना सत्य है। तथापि वह रोगी नही रहना चाहता, तब नीरोगी अवस्थाका ही विचार करता है, और उसे ही उपादेय मानता है। रोगीपनेकी दशाको हेय मानता है। यद्यपि वह अवस्था जीवकी है, इसकी सत्यतामे संदेह नही है, तथापि वह जीवको इष्ट न होनेसे अनुपादेय है।

सभी सत्य, वस्तुकी विविध दशाओकी अपेक्षा, ज्ञेयदशामे जानने मात्रको उपादेय है। तथापि सभी सत्य हितरूप उपादेय नही होते। एक दूसरा दृष्टान्त लीजिए—यदि किसीके घरमे धन है और वहाँ सर्प भी है, दोनोका अस्तित्व सत्य है। ज्ञेय दोनो हैं, दोनो जानने योग्य हैं। तथापि हिताहितको दृष्टिसे दोनो समान उपादेय नही होते। ऐसे ही जीवकी अशुद्धदशा, सत्य होते हुए भी, रोगकी तरह या सर्पकी तरह अनिष्ट होनेसे 'हेय' है। निरोगी दशाकी तरह वह धन की तरह, अपनी शुद्धात्मदशा इष्ट होनेसे 'उपादेय' है। हेय उपादेय यहाँ सत्यासत्यकी दृष्टिसे नही है, किन्तु इष्टा-निष्टकी अपेक्षा है, ऐसा जानना चाहिए।

१ सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पय लहइ॥ —समयसार गाथा-१८६

× × ×

ण जहदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥
णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥

—प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ९८, ९९

(१३७) **प्रश्न**—यह कार्य तो कोई भी विवेकी कर सकेगा। वह शुद्धनयका अवलम्बन कर शुद्धात्माको जान लेगा। तब मुनिजनको ही वाक्यमे कर्ता क्यो बनाया गया है। मूल कलशमे 'ये' शब्द सामान्य जनवाचक हैं। वहाँ तो मुनि लिखा नही है।

समाधान—'ये' और 'ते' तो सर्वनाम पद है ही। परन्तु इस प्रकरणमे शुद्धनयका अवलम्बन लेने वाले, बोधात्मक, अपने आत्मद्रव्यका एकाग्रचित्त होकर ध्यान करनेवाले तथा रागादि विकारोसे रहित, अन्तरमुहूर्त्तमे केवल ज्ञान पानेवाले, ज्ञानीका जो वर्णन है, वह ज्ञानी तो निर्विकल्प, विशुद्ध—परिणामी, दिगम्बर साधु ही हो सकता है। इसीलिए यहाँ आचार्यका अभिप्राय ऐसे ही ज्ञानी सयमी पुरुषोसे है। वे ही समयसारको प्राप्त करते हैं। शेष ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जन श्रद्धा करनेवाले हैं, शुद्धात्माको उपादेय जानते हैं तथा भेद-ज्ञान के बलपर रागादिविमुक्त आत्मा की अनुभूति करते हैं परन्तु रागादिसे पूर्ण रहित हो नही पाते, अतः वे सामान्य सम्यग्दृष्टि जन, सयमी साधुकी भाँति अपने भीतर विशुद्ध समयसारको प्रकट नही देखते ॥१२०॥

जो जीव अपनेको रागादि मुक्त नही बना सकते वे कर्मास्रव करते है ऐसा अभिप्राय निम्न छन्दसे आचार्य प्रकट करते है—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(**ये तु पुन.**) तथा जो जीव (**शुद्धनयत. प्रच्युत्य**) शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्मा का आलम्बन छोड़कर, (**विमुक्तबोधा**) ज्ञानभावसे रहित होकर, (**रागादियोगम् उपयान्ति**) रागादि परिणामरूप परिणमते हैं (**ते**) वे (**पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवै**) पूर्वमे बन्धको प्राप्त हुए जो द्रव्यास्रवभूत कर्म, उनके द्वारा (**कृतविचित्रविकल्पजालम्**) फैलाया हुआ जो नाना प्रकारका विकल्पजाल, तत्स्वरूप (**कर्मबन्धम्**) कर्मके नवीन बन्धनको (**इह बिभ्रति**) यहाँ फिर धारण कर लेते हैं ॥१२१॥

भावार्थ—शुद्धनयके द्वारा शुद्धात्माका अवलम्बन कर, जीव एकाग्र होकर निर्बन्ध होता है ऐसा पिछले कलशमे बताया था। यदि उस शुद्धात्माका आलम्बन, उसका ध्यान, व उसकी एकाग्रतासे भ्रष्ट होकर, पुन पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवरूप कर्मके उदयमे नाना प्रकार विकल्प जालसे सयुक्त, रागादि विकारी परिणमन यह जीव करता है, तो नियमसे नवीन कर्मका बन्धन करता है।

(१३८) **प्रश्न**—जीव पहिले ज्ञानी था फिर उससे च्युत होकर रागी बना है, ऐसा तो है नही। अनादिसे अज्ञानी ही था। जब कर्मका उपशमादि हुआ तब ज्ञानी हुआ, अत. कर्मोदयरूप हेतुसे अज्ञानी, तथा तदुपशमादिरूप हेतुसे ज्ञानी बना, ऐसा कारणकार्यभाव है। सो ऐसा न मानकर आप विपरीत कारण-कार्यभाव बता रहे है। जीव ज्ञानसे छूटे तो कर्मोदयरूप परिणमा अज्ञानी हुआ ऐसा आप कहते हैं। ज्ञानी तो स्वभाव दृष्टिसे कहा जाता था, किन्तु जीव ज्ञानभावमे तो अनादिसे ही नही था। कर्मकी बलवत्तासे अज्ञानी ही था। अतः सही कार्य-कारणभाव कहना चाहिए था।

समाधान—कर्मका उदय पूर्वमे हो, अज्ञानी पश्चात् हो, ऐसा नही है। जिस कालमे कर्मोदय उसी कालमे अज्ञानी। तथा जिस कालमे अज्ञानी उसी काल कर्मोदय, ऐसा सहभावित्व है। दोनो परिणमन अपने-अपने हैं, पर वे एक कालमे होते हैं। उनमे निमित्त नैमित्तिकपना होते हुए भी कर्तृ-कर्म भाव नही है। यही कारण है कि इस स्थितिमे जब परापेक्षया वर्णन करते हैं तब व्यवहारनयका वर्णन कहलाता है, अत व्यवहारनयसे, कर्मोदयसे अज्ञानी होता है, ऐसा ही कहा जायगा। किन्तु कर्ममे कर्तृत्व नही है। व्यवहारका दूसरा नाम उपचार भी है।

वस्तुत अज्ञानरूप परिणमन जीवद्रव्यका, अपनी भूलके कारण है। पुद्गलके कारण नही। अपनी-अपनी पर्यायके परिणमनका मुख्य हेतु स्वोपादान है। निमित्त मुख्य हेतु नही कहा जाता। निश्चयसे स्थिति ऐसी ही है। अत. कर्मके और **जीवके परिणमनोंमे निमित्त-नैमित्तिकपना होनेसे, उपचारसे कार्यकारणभाव कहा जाता है। परमार्थसे कार्यकारणभाव किसी भी पर्याय का स्वद्रव्य जो उपादानरूप है, उसीसे है, अन्य पदार्थसे नहीं है। ऐसा जानना चाहिए।**

(१३९) **प्रश्न**—जीव रागादिरूप परिणमन करे, तो नवीन कर्म ज्ञानावरणादिरूप **कैसे** परिणमता है ?

समाधान—जैसे ग्रहण किया भोजन, उदरमे प्राप्त होनेपर, नाना प्रकार रस, रक्त, मज्जादि रूप स्वय बन जाता है। तथा जैसे वृक्षमे सीचा जल, निंब, आम्र, आदि वृक्षोको प्राप्त हो कटुक व मिष्ट आदि नाना रस, रूप, स्वय परिणम जाता है, इसी प्रकार गृहीत कार्माण वर्गणा कर्मोदयकी स्थितिमे, नाना विकल्प रूप जीव परिणामोके निमित्तसे, ज्ञानावरणादिरूप, विविध परिणमन करती हैं।

(१४०) **प्रश्न**—तो जीवके विविध परिणाम ही विविध कम बनाते है ?

समाधान—नही, वे नही बनाते। वे निमित्तमात्र हैं। जब जीवके रागादि परिणाम होते हैं, तब कार्मण वर्गणाएँ स्वय स्वोपादान योग्यताके कारण, ज्ञानावरणादि समस्त भेद रूप परिण-मती है। जीव नही परिणमाता। **न कर्मोदय जीवको अज्ञानरूप बनाता, और न जीवका अज्ञान भाव कार्माण वर्गणाओको ज्ञानावरणादि रूप बनाता है। दोनों द्रव्य अपनी-अपनी योग्यताओंसे विविध परिणाम रूप परिणमते हैं। तथापि उनमे निमित्तपना एक दूसरेके लिए अवश्य है,** इसका निषेध नही है। वह अवश्य है और सामान्य जन इस अन्वय व्यतिरेकसे, निमित्तके साथ कार्य कारणपनेका सम्बन्ध जोड लेते हैं, क्योकि परमार्थसे कार्यकारणपनेका बोध उन्हे नही है। जिन्हे है, वे उसे उपचरित कारण ही मानते हैं, पारमार्थिक कारण नही मानते।

अत जो जीव नाना प्रकार कर्म बन्धको प्राप्त हैं, वे शुद्ध नयके विषयभूत शुद्धात्मा स्वभावसे च्युत होनेके कारण ही बन्धको प्राप्त हैं ऐसा तात्पर्य ग्रन्थकारका है। उसे ही हृदयगम करना चाहिए।

(१४१) **प्रश्न**—इस कलशमे पूर्वबद्धको द्रव्यास्रव लिखा गया है, यह तो सर्वथा विरुद्ध है। उसे द्रव्य-प्रत्यय कहा गया था, वह ठीक था। उस द्रव्यप्रत्ययके उदयमे जीवमे उत्पन्न विकारीभाव 'भावप्रत्यय' हैं, तथा आगत नवीनकर्मको 'द्रव्यास्रव' कहना चाहिए, न कि पूर्वबद्धको।

समाधान—जो कर्म, बन्धको प्राप्त होता है वह द्रव्यास्रवपूर्वक हो होता है। आस्रवपूर्वक

बन्ध होता है यह नियम है। जो कर्म बन्धदशाको प्राप्त होकर जीवके साथ हैं वे ही तो उस समय **द्रव्यास्रवरूप थे** अत. 'पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव' शब्दके प्रयोगमे कोई बाधा नही है।

(१४२) **प्रश्न**—ऐसा प्रयोग भ्रम पैदा करता है। यह स्पष्ट नही हो पाता कि पूर्वबद्धकर्म **द्रव्यास्रवरूप** है ? या नवीन आगत कर्म द्रव्यास्रवरूप हैं ?

द्रव्यसग्रहमे श्रीनेमिचन्द्राचार्यने द्रव्यास्रव भावास्रवका लक्षण लिखा है कि—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो—कम्मासवणं परो होदि ।।२९।।

अर्थात्—आत्माके जिस परिणामसे कर्म आते हैं, उस परिणामको भावास्रव, तथा कर्मके उस आस्रवणको द्रव्यास्रव कहते हैं। अत. पूर्वबद्धको द्रव्यास्रव कहना यथार्थ नही है।

समाधान—जीवके विकारीभाव 'भावास्रव' हैं यह तो नि सन्देह है। उनके होनेपर ही द्रव्यप्रत्यय 'द्रव्यप्रत्यय' की सज्ञाको प्राप्त हैं। और तभी नवीन कर्मका आस्रव होता है, अन्यथा नही। जो द्रव्यप्रत्यय हैं वे ही द्रव्यरूप हैं। आये थे तब द्रव्यास्रवरूपसे ही आए थे। कर्मवर्गणाओकी द्रव्यरूपता तब भी थी और बद्धदशामे भी है। इस अपेक्षा उन्हे द्रव्यास्रव कहनेमे आपत्ति नही है। आगमन तो एक क्रियामात्र है। पर जिनमे क्रिया हो रही है, वे द्रव्यरूप हैं। उन्हे विवक्षावशात् द्रव्यास्रव कहनेमे आता है।

(१४३) **प्रश्न**—शुद्ध नयसे च्युत होना तब कहा जायगा जब पहिले शुद्ध नय पर आरूढ हुआ हो, जब अनादिसे अज्ञानी था तब 'च्युत होकर' शब्द प्रयोग कैसे ?

समाधान—कथन ठीक है—इस कलशमे ज्ञानीकी चर्चा है। अनादि अज्ञानियोकी नही। जो ज्ञानीजन-मुनिजन-शुद्धनयके अवलम्बनसे शुद्धात्माका एकाग्र होकर ध्यान करते है—वे यदि उससे च्युत होते हैं—तो पुन बन्ध कर लेते हैं। ऐसा अर्थ ही ग्रहण करना उपयुक्त है। कलश १२० और १२१ को सामने रखें तो उक्त अर्थ प्रस्फुटित होगा।

(१४४) **प्रश्न**—तो अनादि अज्ञानीकी बात यहाँ नही है ? वह तो च्युत नही हुआ, क्योकि उसने अवलम्बन ही नही किया। अतः च्युत शब्दका व्यवहार उसके लिए नही किया गया। अत कर्म बन्धनके इस अपराधसे वह तो दूर ही रहेगा।

समाधान—रागादि भाव तो अज्ञानी भी अनादिसे कर रहा है, तो वह अबन्धक कैसे रहेगा ? रागादिकी भूमिका ही बन्ध कराती है, चाहे अनादिसे कर रहा हो, या कोई ज्ञानभावसे च्युत होकर पुन· करे, इससे कोई अन्तर नही पडता।

(१४५) **प्रश्न**—जो चढेगा वह गिरेगा। जो चढा नही है वह क्या गिरेगा ?

समाधान—जो गिरेगा वह नीचे गुणस्थानोंकी भूमिका पर आयगा, जो नही चढा है वह भी तो नीचेके गुणस्थानोमे है। अत उस गुणस्थानके योग्य कर्म प्रकृतियोके बन्धक दोनो ही होगे।

विशेषार्थ—समयसारकी मूलगाथाओमे तथा अमृतचन्द्राचार्यकी टीकामे और कलशोमे अध्यात्मका वर्णन है। यह वर्णन उन्होने ज्ञानी तथा अज्ञानी जीव, अथवा सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-

दृष्टि इन दोनोको विवक्षासे किया है। उन्होने सभी सम्यग्दृष्टि जीवोको ज्ञानी सबोधन दिया है परन्तु प्रायः सभी जगह मुख्य रूपसे वीतराग सम्यग्दृष्टि साधकोका ग्रहण किया है[1] ॥१२१॥

उक्त कथनका क्या तात्पर्य है यह निम्न कलशमे प्रतिपादन करते हैं—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागात् बन्ध एव हि ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(**अत्र इदम् एव तात्पर्यं**) ऊपरके उक्त कथनका यही तात्पर्य है कि (**शुद्धनयः न हि हेय**) शुद्धनयका अवलम्बन नही छोडना चाहिए। (**तदत्यागात्**) यदि उसका अवलम्बन नही छूटता तो (**नास्ति बन्ध**) कर्मबन्ध भी नही होता किन्तु (**तत्त्यागात्**) शुद्धनयका अवलम्बन छूटनेपर (**बन्ध एव हि**) निश्चयसे बन्ध होता ही है ॥१२२॥

भावार्थ—शुद्धनय आत्मद्रव्यके पर-विरहित शुद्धस्वभावका दर्शन कराता है। यह दर्शन हो सम्यग्दर्शन है[2]। इसके होनेपर बन्धका अभाव होता है। यदि उसका त्याग हो जाये, और अशुद्धनयके अवलम्बनसे अशुद्धस्वरूप आत्माका अपनेमे अनुभव करे, तो अशुद्धपनेको प्राप्त होकर जीव कर्मबन्धनको प्राप्त होता है। यह ऊपरके कथनका साराश है[3]।

(१४६) **प्रश्न**—आचार्य अमृतचन्द्रजीने इसी ग्रन्थमे कलश ६९ मे नयपक्षातिक्रान्तको ही समयसारका ज्ञाता कहा है। '**यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः।** आदि कलशोमे तथा '**उदयति न नयश्री**' आदि कलशोमे नयका ही निषेध किया है, फिर वे ही आचार्य यहाँ शुद्धनयावलबनका उपदेश क्यो देते हैं? क्या ये दोनो कथन परस्पर विरुद्ध नही हैं? ऐसी परस्पर विरुद्ध कथनी तो प्रमाण कोटिमे आने योग्य नही है, न आदरने योग्य है?

समाधान—इसके रहस्यको समझनेका प्रयत्न कीजिए। निर्विकल्प आत्मध्यानमे परसयोगसे तथा परनिमित्त जन्य विकारसे रहित, आत्माका ही ध्यान होता है। यद्यपि उस ध्यान कालमे किसी नयका विकल्प नही होता, क्योकि ध्यान निर्विकल्प, स्वय विकल्प रहित है। विकल्प आवें तो वह उत्तमध्यान ही नही रह जाता, इससे आचार्योंने '**च्युतपक्षपात**', '**नयपक्षातिक्रान्त**' **उदयति न नयश्री**' आदि शब्दोसे उसकी वास्तविक स्थिति दिखाई है। तथापि दूसरा तटस्थ व्यक्ति यदि विचार करे कि यह निर्विकल्पध्यानी जिस आत्माका ध्यान करता है, वह आत्मा 'शुद्धात्मा' है या 'अशुद्धात्मा' है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते है कि वह 'शुद्धात्मा' है।

फिर प्रश्न होता है कि शुद्धात्मा किस नयसे जाना जाता है? तो उत्तर होगा-वह शुद्ध निश्चयनयका विषय है। इस प्रकार शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा ही ध्येय है। उस समय ध्यानम

---

१ अत्र तु ग्रन्थे पचम गुणस्थानादुपरितन गुणस्थान वर्तिना वीतराग सम्यग्दृष्टिना मुख्यवृत्या ग्रहण, सराग सम्यग्दृष्टोना गौण वृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यान काले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।

—समयसार गाथा २०१-२०२, तात्पर्य वृत्ति टीका.

२. इसी ग्रन्थमें कलश ६ की टीका देखिये।

३. सुद्धं तु वियाणतो सुद्ध चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥

—प्रवचनसार गाथा १८६

यद्यपि यह विकल्प नही है कि 'मैं शुद्धनयका अवलबन करके ध्यान करता हूँ।' तथापि **जिसका** वह ध्यान करता है वह आत्मा, अन्य तटस्थ व्यक्ति द्वारा विचार किया जाय तो, शुद्धनयका **ही** विषयभूत द्रव्य है।

(१४७) **प्रश्न**—जब नयोकी चर्चासे ऊपर ही समयसारका दर्शन है, तब शुद्धनय **भी छोडना** पड़ेगा। नही छोडने पर समयसारकी प्राप्ति कैसी होगी ?

समाधान—जो उस अवस्थाको प्राप्त नही हुए, वे शुद्धनयका अवलबन यदि छोड दें **तो** अशुद्ध नयका अवलबन कर लेते है। अत **नीचेकी भूमिकामे रागादि परिणाम होनेसे कर्मबंध होता है—इस तत्त्वको सामने रखनेके हेतु ही उक्त कथन हैं**। जा निर्विकल्प ध्यानी नयपक्षसे ऊपर उठ गए है उन्हे नयका विकल्प नही है, तो भी उनकी ध्येय वस्तु निश्चयनयकी विषयभूत शुद्धात्मा ही है। **शुद्ध नय छोड़ना 'बधक' है। नयसे ऊपर उठना 'अबधक' है।**

(१४८) **प्रश्न**—केवल आत्मा शुद्ध है ऐसा मान लेनेसे या अपनेको शुद्ध समझ लेनेसे, आत्मा **निर्बंध कैसे** हो जायेगा ? यदि ऐसा है तो हम सब ससारी निर्बंध ही हैं ?

समाधान—जो आत्माका शुद्ध रूपसे ध्यान करता है, उस समय उसकी परविरहित **दृष्टि** होती है, तब वह रागादि भावोमे रहित होता है। रागादि परिणाम ही बधके हेतु हैं **अत वह** ध्याता अबंधक है। **साधारण ससारी अपनेको शुद्ध मानकर भी, रागादिपरिणत होता है, अत निर्बन्ध नहीं है**। ज्ञानी जन भी स्वभाव दृष्टिमे च्युत हो, परसयोगजन्य नैमित्तिक भावरूप **जब** परिणत होता है, तब रागादिका योग ही उसे बधदशामे ला देता है। द्रव्यदृष्टि या स्वभाव दृष्टिसे ससारी जीव, कर्मसे अबद्ध तो सदासे है ही, तथापि उनकी वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। उसे मिटाकर स्वरूप रूप परिणमन करना ही मुक्ति प्राप्त करना है ॥१२२॥

शुद्धात्म ज्ञान ही ऐसा प्रबल हेतु है जो आत्माको निष्कर्मा बना देता है अत उसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है, ऐसा निम्न कलशमे प्रतिपादन करते हैं—

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं।
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ॥
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात् संहृत्य निर्यद् बहिः।
पूर्णज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥१२३॥

अन्वयार्थ—(**धीरोदारमहिम्नि**) क्षोभरहित उत्कट है महिमा जिसकी, ऐसे (**अनादिनिधने बोधे**) परमपारिणामिक भाव स्वरूप अनादि-अनन्त अपने चैतन्य स्वरूपमे (**धृतिम् निबध्नन्**) स्थिरताको प्राप्त करानेवाला, तथा (**कर्मणाम् सर्वंकष**) रागादि समस्त कर्मोका विनाशक, ऐसा (**शुद्धनय**) शुद्धनयका विषयभूत शुद्धात्मा, (**कृतिभि**) कृत्याकृत्यके जानकार सम्यग्दृष्टिको (**जातु न त्याज्यः**) कभी क्षणभरको भी छोडना नही चाहिए। क्योकि (**तत्रस्थाः**) उस शुद्धात्मबोधमे स्थित जन ही (**बहि निर्यत्**) स्वात्मभूमिकासे बाहिर जानेवाली (**स्वमरीचिचक्रम्**) अपनी ज्ञानकी प्रवृत्ति समूहको (**अचिरात् संहृत्य**) शीघ्र समेट कर, (**पूर्णज्ञानघनौघम्**) पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप (**एकं अचलं**) एक अविनाशी (**शान्तम् महः**) परमशान्त तेजको, (**पश्यन्ति**) अपनेमे देखते है, अर्थात् उसे प्राप्त करते हैं ॥१२३॥

भावार्थ—जिन भव्य जीवोंने शुद्धात्म दर्शनस्वरूप सम्यग्दर्शनको अपनेमे प्रकट किया है, तथा जो परमपारिणामिक भाव स्वरूप अपने अनाद्यनन्त चैतन्यस्वरूपमे स्थिर हुए हैं, अपने उस शुद्धनयके विषयभूत निजस्वरूपमे अविचल रूपसे वर्तमान रहते है। कदाचित् भी किसी भी क्षण उससे भिन्न नही होते। ऐसे भव्य ही केवलज्ञान स्वरूप परमशान्तिके स्थान, अपने पूर्ण तेजको प्राप्त करते हैं अर्थात् अरहन्त दशाको प्रकट कर केवली बनते हैं। इसके विपरीत जो क्षणभरको भी उस शुद्धात्माका आलबन छोड अशुद्ध रूप परिणत हुए, वे कर्मबध कर ससारमे ही भटके है।

शुद्धात्माके ध्यानी अपनी स्थितिको अन्य समस्त पर द्रव्योसे मोडकर पूरी-पूरी ज्ञान शक्तिको स्वात्मावबोधमे ही लगाते है। अपनी ज्ञानकी किरणोका बहिर्गमन बन्द कर, उसे अपनेमे केन्द्रित करते हैं, जिससे कर्म स्वय दग्ध हो जाते हैं व आत्मा विशुद्ध होती है। जैसे एक विशिष्ट काँच जिसे आतिशी शीशा कहते हैं, सूर्यकी किरणोको अपनेमे केन्द्रित करता है, तो उसके नीचे रखे वस्त्रमे स्वय आग लग जाती है, और वह जल जाता है। इसी प्रकार **ज्ञानी अपनी शक्तियोंको अपनेमे समेट कर केन्द्रित कर, अनादिके बँधे कर्मजालको दग्धकर, कैवल्य प्रकट कर लेता है** ॥१२३॥

यह स्थिति कैसे प्रगट होती है उसका वर्णन निम्न पद्यमे करते हैं—

रागादीनां झगिति विगमात्, सर्वतोऽप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परम, वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत् सर्वभावान्,
आलोकान्तादचलमतुल ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(**सर्वत अपि रागादीनाम् आस्रवाणाम्**) सब प्रकारसे ही रागादि भावास्रवोके (**झगिति विगमात्**) शीघ्र हो दूर हो जानेसे इस आत्मामे (**नित्योद्योतम्**) नित्य सदाकाल प्रकाशमान (**किमपि**) किसी आश्चर्यकारक (**परमम् वस्तु अन्त सपश्यत**) श्रेष्ठतम वस्तुको अपने भीतर-भीतर देखता हुआ तथा (**स्वरसविसरै**) अपने स्वरसके विस्तारसे, (**स्फारस्फारै**) अधिकाधिक रूपमे (**सर्वभावान् प्लावयत्**) जगत् के समस्त पदार्थोंको अपनेमे डुबाता हुआ (**आलोकान्तात्**) लोकालोकके अन्त तक फैलता हुआ, (**अचल**) अविनश्वर (**अतुलम्**) अतुलनीय (**एतत् ज्ञानम् उन्मग्नम्**) ऐसा ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है ॥१२४॥

भावार्थ—जब यह जीव अपने स्वरूप बोधके द्वारा रागद्वेषादि विकारोका सर्वथा अभाव कर देता है तब द्रव्यास्रवका भी अभाव होता है। आस्रवभावके अभावमे बन्धका भी अभाव हो जाता है, तथा निर्बंधदशामे पूर्वबद्ध कर्म, सोपक्रम या अनुपक्रम रूप से, निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं अतः उसे ज्ञानावरणादिके क्षयसे, अनन्त ज्ञेयोको अपनेमे प्रतिबिंबित करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला कैवल्य प्रगट होता है।

सम्यग्दृष्टिजीवमें जो आत्मदृष्टि प्रकट होती है वह दृष्टि ही मुक्ति का बीज है। उसके कारण ही जीव मिथ्याज्ञानसे विमुक्त हो सम्यग्ज्ञानी बनता है, तथा अपनी अनादिकालीन भ्रमपूर्ण

सासारिक प्रवृत्तियो को मिटाकर, आत्मानुकूल प्रवृत्तियो द्वारा, अपनेको निर्बन्ध बनानेमे सफल होकर, केवलज्ञानको प्रकटकर अर्हन्त दशा प्राप्त करता है।

ससारके दुखोका समूल नाश इसी आत्मदर्शन, आत्मबोध और आत्मध्यानसे होता है। इनका नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। अत आत्मज्ञानकी आराधना सदा करनी चाहिए। इसके बिना नवीन आस्रव भाव नही रुकता। आस्रवके न रुकने पर बंध होगा, तब मुक्तिके अनुकूल यह भूमिका न बनेगी।

श्री शुभचन्द्राचार्यने 'अध्यात्म तरगिणी' मे ऐसा भाव प्रगट किया है कि—निगोद अवस्थामे जीवमे, अक्षरके अनन्तवें भाग प्रकाशित ज्ञान भी, निरावरण और नित्योद्योत है। उसी नित्योद्योत ज्ञान स्वरूपी आत्माको अपने भीतर देखने वाले मुनि, रागादि आस्रव भावका जब अभाव करते हैं, तब देखते हैं कि वही ज्ञान, अपने स्वरससे विकसित होता हुआ, लोकालोकको अपने भीतर समाये हुये, 'केवल ज्ञान' के रूपमे निरावरण, नित्योद्योत, उदयको प्राप्त हुआ है। साराश यह कि ज्ञान भावका आलबनकर सदाकाल रागादि विकारोसे आत्माको छुडाना ही, सब दुखोसे पार, मुक्तिका स्वरूप है।

❀ इति आस्रव अधिकार ❀

●

संवर अधिकार।

—०—

सवर तत्त्वका स्वरूप ज्ञान ज्योतिसे ही प्रकट होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

आसंसार-विरोधिसवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात् प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुरत्-
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(**चिन्मयम्**) चैतन्य स्वरूप, (**निजरसप्राग्भारम्**) अपने ही रसके भारसे भरी हुई, (**उज्ज्वलम्**) प्रकाशमान (**ज्योतिः**) ज्ञानज्योति, (**आससारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव न्यक्कारात्**) अनादि कालसे ही अपने विरोधी सवर तत्त्वके विजय प्राप्त करनेसे अतिशय मदोन्मत्त जो आस्रव भाव, उस आस्रव भाव का तिरस्कार करनेके कारण (**प्रतिलब्ध नित्यविजयम्**) जिसे सदा ही विजय प्राप्त हुई है, अतएव (**सवरं सपादयत्**) संवरको उत्पन्न करते हुए, (**पररूपत व्यावृत्तं**) परज्ञेय द्रव्यो तथा परद्रव्यके निमित्त जन्य विभाव परिणतियोंसे दूर, (**सम्यक् स्वरूपे नियमितं**) तथा अपने यथार्थ स्वरूपमे ही निष्ठ, ऐसी ज्ञानज्योति (**उज्जृम्भते**) अब उदयको प्राप्त हो रही है ॥१२५॥

भावार्थ—यह जीव अनादि कालसे ही अपनी अज्ञानावस्थाके कारण अपनेको भूला तथा पर द्रव्य शरीरादि या रागादि भावोमे निजत्वकी कल्पना करता था। इसी भूलमे पर द्रव्योका सयोग करता था, तथा, उन पर द्रव्योके सयोगके निमित्तसे उत्पन्न रागादि विभाव भावस्वरूप परिणत होता था। उसकी इस परिणतिसे कर्मधाराका प्रवाह अखण्ड रीतिसे आ रहा था, यही आस्रव भाव था। इस आस्रवभावने सवर भावपर विजय प्राप्त कर ली थी, अर्थात् सवरभावका अभाव हो रहा था। सदा सर्वत्र आस्रवका प्रसार था, उसकी विजयका डका बजता था। अतः जैसे किसीको जीतने वाला राजा मदोन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार सवरपर विजय प्राप्त करनेके कारण आस्रव भी मदोन्मत्त होकर सर्वत्र फैला था।

आत्मामे सम्यग्दर्शनकी जब उत्पत्ति हुई, तब सम्यग्ज्ञान स्वरूप चैतन्यकी समुज्ज्वल निष्कलंक ज्योति प्रकट हुई, यह ज्योति चैतन्य रूपी अपने निजरसके भारसे समुन्नत है। इस आत्मज्योतिने आस्रवका मद चूर्ण किया। इस कारण संवर सन्नद्ध हो गया। सवरके आनेसे आस्रव भाव रुका। आस्रव भावके रुकनेसे यह जीव परभावोंसे भिन्न हुआ। अपने निज स्वरूपमें ही निष्ठ हुआ, यही सवर तत्त्व है। ज्ञानज्योति ही इस सवर तत्त्वको प्रकट करती है।

जबतक कर्मास्रव है तब तक जीवको कर्मका बधन है। अज्ञान भावमे कर्मास्रव सतत होता रहता है। आत्मामे काललब्धिके वश, सम्यग्गुरुपदेशके निमित्तसे, मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके उपशम

क्षय या क्षयोपशमसे, जब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हुई तभी स्वपर भेदविज्ञान होनेसे आत्माने अपने स्वरूपको पहिचाना। यही ज्ञानज्योति या चैतन्यज्योति है।

इसके उत्पन्न होते ही अनेक कर्म प्रकृतियोका, जिनके उदयकी प्रबलतामे जीव अनन्त ससारमे परिभ्रमण करता था, उनका प्रवाह रुक गया। इसके रुकनेका ही अर्थ है 'सवर तत्त्व'। इस अवस्थामे आत्मा अपने स्वरूपमे अपनेको क्रमश गुणस्थान क्रमसे नियमित करता हुआ कर्मास्रवको रोकते हुए आगे बढता है, और पूर्ण ज्ञानज्योतिके प्रकाशमान होनेपर, सर्वथा आस्रव-भावसे रहित होकर पूर्ण सवरभावको प्राप्त होता है।

सम्यग्ज्ञान ज्योतिकी यह महिमा है। वह ज्योति अपनेमे, अपने ही पुरुषार्थसे प्रकट होती है यही उसका विजयपना है ॥१२५॥

आचार्य कहते है कि भव्य जीवो! भेदज्ञानकी उत्पत्ति हो रही है अतः प्रमुदित हो जाओ—

चैद्रूप्य जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभाग द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो[1] ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिद मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(चैद्रूप्यं-च जडरूपता दधतो.) चैतन्यस्वरूप तथा जडरूपता, अर्थात् अचेतन-पना ऐसे भिन्न-भिन्न लक्षणको धारण करने वाले **(ज्ञानस्य रागस्य च)** ज्ञान और रागादि विकार इन **(द्वयो)** दोनोको **(अन्तर्दारुणदारणेन)** अपनी अन्तर्दृष्टि रूपी तीक्ष्ण आरेके द्वारा **(परित.)** पूर्णरूपसे **(विभाग कृत्वा)** पृथक्-पृथक करके, **(निर्मलमिदं)** यह समुज्ज्वल **(भेदज्ञानम्)** भेदज्ञान जो कि **(एकं शुद्धज्ञानघनौघम्)** रागादि रहित केवल अपने शुद्ध चैतन्यका ही अखण्ड पिण्ड है, **(उदेति)** उदयको प्राप्त हो रहा है। अत **(द्वितीयच्युता सन्त.)** परके सयोगसे रहित, शुद्ध सम्य-ग्दृष्टि ज्ञानी जीव, **(अध्यासिताः)** अपने निजस्वरूपमे लीन हुए **(मोदध्वम्)** आनन्दको प्राप्त होओ—प्रमुदित होओ—स्वरूपलीनताके अनुपम सुखको प्राप्त करो ॥१२६॥

भावार्थ—भेदविज्ञान एक करौंतकी तीक्ष्ण धारा वत् है। जैसे करौतसे काठ कटकर भिन्न-भिन्न टुकडोमे अलग-अलग हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानभाव, आत्मस्वभाव है, तथा रागादि विकारीभाव, अज्ञानभाव है। दोनो स्वरूपसे पृथक्-पृथक् हैं। तथापि अपने अज्ञानभावके कारण यह जीव इन दोनोमे भेद नही जानता था। रागादि विकारोको ही अपना निज स्वभाव जानकर, स्वच्छन्दतासे उनमे विचरता था। भेद विज्ञानने करौंतकी तरह अपनी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टिसे, दोनो का लक्षणभेद जब आत्मामे प्रकट किया, तब वह ज्ञानस्वभावको निजभाव जानकर, उसे ग्रहण करता है, उसमे स्थिर होता है, तथा रागादि विकारोको अनात्मीय जानकर उन्हे छोड देता है। इस प्रकार स्वरूपकी प्राप्ति तथा अन्यका परिहार होता है।

यह 'भेदज्ञान' आत्माके भीतर पूर्वावस्थामे रागादिके साथ जो घुलन था—ऐक्यपना हो रहा था—उसे दूर करता है। राग और ज्ञानके भीतर कहाँ सधि है, यह जानना बडा कठिन था।

1. परत इति पाठान्तरम्। —आत्मख्याति टीका

मोहकी गहलतामे भेद दिखाई नही देता था। सद्गुरुओंके उपदेशसे विकारो-परजन्य भावोकी जडता, तथा अपने ज्ञान स्वभावकी सचेतनताको भिन्न-भिन्न जाना—यही हुआ 'भेदविज्ञान', जिससे सन्धि टूटी।[1] इसीका माहात्म्य है जो जीवकी अनादिकालीन भूल तथा दुष्प्रवृत्ति मिटी और उसे स्वरूपकी पकड आई। आचार्य कहते हैं हे भव्य जीव! अब तेरे ज्ञानका पुञ्ज अर्थात् परविरहित शुद्ध ज्ञानका उदय हो रहा है, अत अपने आत्मस्वरूपमे स्थिर होकर उसे देख, तथा स्वात्मोत्थ अनन्त अविचल अविनाशी सुखका अनुभव कर।

अपनी भूली निधिको प्राप्त कर जैसे कोई दरिद्र प्रसन्न हो जाता है, तथा अपने पुरातन अभावावस्थाके महान् कष्टोको भूलकर, अपनी भावी सुखकी योजना बनाकर, स्वय उत्साहित हो जाता है। इसी प्रकार तू भी अपनी मिथ्यात्वकी गहलतामे परको निज मानकर जो भूल हुई—और जो अनादिसे कष्ट उठाए, उन्हे अब भूल जा। आने निजस्वरूपमे स्थिर हो अपनी विभूति-को, जो भूली थी पहिचान ले, तथा आगामी निर्वाणके परमसुखकी प्राप्तिकी योजना बनाकर, प्रमुदित हो॥१२६॥

यदि तू अपने सतत प्रयत्नसे भेदज्ञानको स्थिर रख सका तो तुझे आत्मसिद्धि होगी—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(**यदि कथमपि**) यदि किसी भी उपायसे आत्मा (**धारावाहिना बोधनेन**) अपने सतत चलने वाले भेदविज्ञानसे, (**ध्रुवम् शुद्धम् आत्मानम्**) अपने ध्रुवस्वरूप—कर्म कालिमासे भिन्न अपनी शुद्ध आत्माको (**उपलभमान**) अनुभव करता हुआ (**आस्ते**) प्रवर्त्तता है, तो (**तदयम् आत्मा**) वह जीव (**उदयत् आत्मारामम् आत्मानम्**) प्रकाशमान अपने आत्माको अथवा निजक्रीडा स्थल आत्माको, (**परपरिणतिरोधात्**) परद्रव्यसंयोग जनित विकारो परिणतिको, स्वय दूरकर (**शुद्धमेव अभ्युपैति**) शुद्धरूपमे स्वय प्राप्त कर लेता है॥१२७॥

भावार्थ—जो भेद विज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवको प्राप्त हुआ है, यदि वह जीव उसका सतत अभ्यास करे—उसकी धारा न टूटे, तो उस भेदज्ञान द्वारा प्राप्त वह अपने परमपारिणामिक भाव स्वरूप, निर्मल, शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्य प्रकाशमान अपने निज रूपको प्राप्त होता है तथा परसग-से छूट जाता है।

जिसकी भूल दूर होगी वही अपने स्वरूपको पायगा। भेदविज्ञानी भी अपनी भूलको मेटकर अपने निर्मल स्वभावका मनन करता हुआ, परसे भिन्न हो अपनी शुद्धात्माको भेदविज्ञानके बलपर प्राप्त कर लेता है॥१२७॥

१ यस्यैव यथोदितं भेद विज्ञानमस्ति स एव तरसद्भावाज् ज्ञानी सन्नेव जानाति।
—समयसार गाथा १८४-१८५ आत्मख्याति टीका

जिन्हे शुद्धात्म तत्त्वकी प्राप्ति हुई है उनको ही मोक्ष होता है ऐसा आचार्य प्रतिपादन करते हैं—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन् अक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(**अखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानाम्**) सम्पूर्ण परद्रव्योसे भिन्न स्थित तथा (**निजमहिमरतानाम्**) अपनी निजात्माकी महिमाको जानकर उसमे लीन रहने वाले (**एषां**) इन सम्यग्दृष्टि पुरुषोको (**भेदविज्ञानशक्त्या**) भेदविज्ञानके बलसे (**शुद्धतत्त्वोपलम्भः भवति**) अपनी शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। (**इति नियतम्**) यह बात सुनिश्चित है। तथा (**सति च तस्मिन्**) और उस शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धिके होनेपर (**कर्ममोक्ष**) सम्पूर्ण कर्मोसे मुक्ति (**अक्षय.**) अविनाशी अनन्त रूपसे (**भवति**) होती है यह बात भी (**अचलितम्**) सुनिश्चित है ॥१२८॥

भावार्थ—अपनी भेदविज्ञानकी शक्तिसे जो परद्रव्योसे तथा तन्निमित्त जन्य नैमित्तिक विकारी भावोंसे अपनेको दूर करके, अपनी शुद्धात्माकी महिमाका बोधकर, उसमे लीन होते हैं, उन्हे अवश्य ही शुद्धात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जिन्हे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है वे शुद्धोपयोगी जीव, अपने समस्त द्रव्य-भाव कर्म, व नोकर्मका नाशकर, अविनाशी मुक्तिकी प्राप्ति करते है यह सुनिश्चित है ॥१२८॥

सवर कैसे होता है इसका उत्तर कहते हैं—

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धात्मतत्त्वस्य उपलम्भात्**) अपनी शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर (**एष सवर.**) यह सवर (**साक्षात्**) प्रत्यक्षीभूत (**किल सपद्यते**) निश्चयसे प्राप्त होता है, तथा (**स**) शुद्धात्माकी उपलब्धि (**भेद विज्ञानत एव**) भेद विज्ञानसे होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**तत्**) उस भेदविज्ञानका (**अतीव भाव्यम्**) सदाकाल अति अनुभवन करना चाहिए ॥१२९॥

भावार्थ—आत्मा, कर्म नोकर्म भावकर्मसे सर्वथा भिन्न है, ये तीनों ससारी दशामे जीवके साथ हैं, पर ये न जीव हैं—न जीवके स्वरूपमें हैं। जीवका स्वरूप तो एकमात्र अखण्ड चैतन्य ही है। इस प्रकार दोनोको पृथक्-पृथक् जानकरके शुद्धात्माका अनुभव करना ही भेदविज्ञान है। जो भेदविज्ञानी ऐसा भेद कर, निज तत्त्वकी उपादेयता तथा परकी अनुपादेयताका श्रद्धान करता है, वही परको छोड शुद्धात्माको प्राप्त कर सकता है। शुद्धात्माकी उपलब्धि अर्थात् साक्षात्कार होनेपर, रागादिका स्वय अभाव होता है। यही संवर भाव है जो स्पष्ट रूपमे प्रकाशित हो जाता है। इस कार्य-कारण भावको विधिवत् यथार्थ समझकर भेदविज्ञानको सदैव भावना करनी चाहिए[1] प्रति समय आत्मस्वभावकी, तथा कर्म व कर्मजन्य कार्योंकी, सीमाका—भिन्न-भिन्न बोध

१. भेद विज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ.। —समयसार गाथा १८५ आत्मख्याति टीका०

करते-करते अपने शुद्धात्माकी साक्षात् प्राप्ति हो जाती है। ऐसा होनेपर कर्मका आगमन स्वयं रुक जानेसे संवर तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

(१४९) **प्रश्न**—भेदविज्ञान से आत्मा शुद्ध कैसे हो जाता है। गृहस्थ भी क्या मुक्त हो सकता है ?

समाधान—भेदविज्ञानमे तो आत्माकी उपादेयता तथा रागादिकी हेयताका बोध होता है। इस बोधके होते ही जो अपनेको ही पकड़ता है, अर्थात् आत्म-स्वभावका आलंबन लेता है, और जिन्हे 'हेय' समझा उनका आलम्बन छोडता है, उसे शुद्धात्माकी प्राप्ति हुई ऐसा समझना चाहिए। **जानने मात्रसे 'प्राप्ति हुई' ऐसा मान लेना सही नहीं है। जैसा जाना तदनुकूल परिणमन करे तो संवर होता है। वह परिणमन ही स्वयं चारित्र है।** अतः परका त्याग, **व्यवहार चारित्र' और निजका ग्रहण अर्थात् स्वरूपमे स्थिरता ही निश्चयचारित्र है, यही संवरका हेतु है। इस स्थितिमे गृहस्थको पूर्ण शुद्धात्म-प्राप्ति, तथा पूर्ण संवरकी बात स्वयं नहीं टिकती है।** गृहस्थ तो रागादिमे लीन है। श्रद्धामे हेय मानकर भी उन्हे छोड नही सका। जब तक छोड नहीं सका तभी तक गृहस्थ है, और तब तक कर्मका बंधक भी है पूर्ण निरास्रव नही है। अत. गृहस्थको मोक्ष हो जायगा ऐसा प्रश्न खडा नही रहता है। फलत. भेदविज्ञानका बारम्बार अभ्यास करना यही चारित्र है, उसीसे शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, पूर्ण आस्रवभाव रुकता है, तथा उसीको मोक्ष होता है।

(१५०) **प्रश्न**—आत्मासे आस्रवभाव भिन्न है, यह तो जान लिया। पर उनसे दूर होनेकी क्या पद्धति ? कृपया खुलासा करें।

समाधान—जब-जब क्रोधादिका प्रसंग आवे—अथवा पंचेन्द्रियके विषयोका राग आवे, तब ही विचार करे कि "मैं उपयोगमयी शुद्धात्मा हूँ। राग भाव, क्रोध भाव विकार हैं, अनात्मीय हैं, मैं उन्हे क्यो स्वीकार करूँ ? अर्थात् क्यो तद्रूप परिणमन करूँ ? वे तत्त्व मुझसे भिन्न ही रहना चाहिए।' ऐसा समझकर जब बार-बारके अभ्याससे क्रोध तथा रागसे भिन्न हुआ, तब वह स्वयं शुद्धात्मा बना, और तब ही संवर हुआ। रागादिके नाशसे तथा शरीरके नाशसे आत्माका नाश नही होता।

इसे दृष्टान्तसे समझें—

जैसे किसी झोपडीमे आग लग जाये, तो झोपडी जलती है, आकाश नही जलता। वह अपने स्वरूपमे तब भी था—अब भी है। झोपडी मूर्त्त पदार्थ है, वह अग्निका संयोग पाकर जल सकती है, पर अमूर्त्त आकाश नही जलता। इसी प्रकार शरीरादि वस्तुएँ कर्मके फलस्वरूप, कर्म जातिकी होनेसे पौद्गलिक हैं, उनके विनाशमे अमूर्तात्माका विनाश नही होता।

दूसरा दृष्टान्त—सुवर्ण अग्निमे तप्तायमान हो, तो भी स्वर्णपनेका त्याग नही करता। जब उसे देखो तब आगके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न—अपने निज स्वरूपमे ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा कर्मोदयसे तप्त होनेपर भी अपने निज स्वभावका परित्याग नही करता। वह तो साक्षात् ज्ञानी है, तीव्र कर्मोदयके समय पीडित होनेपर भी अपने स्वभावका आलंबन कर ज्ञानी ही रहे, तो आत्मा शुद्ध होता है,[२] इसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति हुई ऐसा कहा जाता है। जैसे अपने घरका

---

१. 'स्वाश्रितो निश्चय, पराश्रितो व्यवहार'—इति वचनात्।

२ प्रचण्डकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्।
—समयसार गाथा-१८४ आत्मख्याति टीका

द्वार बंदकर घरमे रहनेवाला बाहिरी उपद्रवोसे पीडित नही होता, ऐसे ही निज स्वरूपमे स्थित ज्ञानीके स्वरूपमे कर्मका प्रवेश नही होता, यही सवर है ॥१२९॥

इस भेदविज्ञान की कब तक भावना करनी चाहिए ?

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।

तावत् यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(**इदं भेदविज्ञानम्**) इस भेदविज्ञानकी (**तावत्**) तबतक (**अच्छिन्नधारया**) लगातार धारा प्रवाह रूपसे (**भावयेत्**) भावना करे (**यावत्**) जबतक (**ज्ञान**) स्वय अपना ज्ञान (**परात्**) रागादि विकारी भावोसे (**च्युत्वा**) भिन्न होकर, (**ज्ञाने प्रतिष्ठते**) अपने स्वरूपमे प्रतिष्ठित हो जाता ॥१३०॥

भावार्थ—जिस भेदविज्ञानका स्वरूप पहिले प्रतिपादित किया है, उसकी बार-बार भावना करनी चाहिए। अर्थात्—'मेरा आत्मा रागादि विकारी भावोसे सर्वथा भिन्न है। रागादि मेरे स्वरूपमे नही है, वे अनादिकालसे कर्मके निमित्तसे उत्पन्न, मेरे वैभाविकभाव है, स्वभाव नही। ज्ञान मेरा स्वभाव है। वह स्वभाव अनाद्यनन्त है। नित्य है। अविनाशी है। वह जब रागादिकी भूमिकामे उतरता है तब विकारी होता है। सो वस्तुतः वह स्वय राग स्वरूप नही है। ज्ञानसे भिन्न स्वभाव होनेसे, रागादि चैतन्यभावसे भिन्न है, ऐसा बार-बार चिन्तन करनेसे अपनी शुद्धात्माका बोध होता है। रागादिसे भिन्न आत्माका स्वाद अनुभवमे लाना चाहिए। ऐसा करते-करते आत्मा अपने ज्ञान स्वभावमे रम जायगी। तथा विकार नष्ट हो जायगा। यही शुद्धात्माकी उपलब्धि है, अर्थात् पूर्ण शुद्धात्म परिणति है।

(१५१) **प्रश्न**—क्या भेद विज्ञान भी छोडने लायक है, जो उसकी भावना सशर्त बताई गई है ?

उत्तर—अवश्य। वह भी एक विकल्प है, जो आत्माकी निर्विकल्पदशामे स्वय छूट जाता है। जब तक ऐसी दशा न हो तब तक उसकी भावना करनी चाहिए।

(१५२) **प्रश्न**—जो छोडना पडेगा उसे धारण ही क्यो करना चाहिए ?

समाधान—भेदविज्ञान उपायभूत है, आत्मा उपेय है। उपेयकी प्राप्ति पर उपाय स्वय अनावश्यक होनेसे छूट जाता है। किन्तु जो उपायको पकडेगा ही नही, वह उपेयको कैसे प्राप्त कर सकेगा ? वह तो सदा ससारी ही रहेगा ॥१३०॥

बन्ध और मोक्षका हेतु क्या है इसका विवरण—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(**ये केचन किल सिद्धा**) जो अभी तक सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए हैं, वे (**भेदविज्ञानतः सिद्धा.**) परद्रव्यो से भिन्न आत्मज्ञानसे सिद्ध हुए हैं, तथा (**ये केचन किल बद्धा**) जो अभी तक ससारमे बद्ध हैं, संसारमे हैं, वे (**अस्य अभावत**) इस भेदविज्ञानके अभावसे (**एव**) ही (**बद्धाः**) बँधे हैं ॥१३१॥

भावार्थ—अनादि कालसे ही ससारी प्राणी परद्रव्यके साथ, तथा परनिमित्तजन्य विकारी भावोंके साथ, अपनी एकताके भ्रमके कारण, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा रागादि भावकर्म, और

शरीरादि नोकर्मसे बन्धनको प्राप्त है। अनादि कालसे आजतक जो जीव ससार बन्धनसे छूटे हैं, और सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए हैं, वे इसो भेदविज्ञानके बलपर अपने उक्त प्रकारके भ्रमको तोड़कर, उन बन्धनोसे छूट कर मुक्त हुए हैं। अतः अनादि कालीन दृढ़तम बन्धनोको तोड़कर मुक्त टानेमे, सबसे प्रधान और मुख्य अथवा एक मात्र कारण, देह आदि के राग और आत्मामे भेदविज्ञान ही है ॥१३१॥

यह भेदविज्ञान आत्माका स्वरूप है अत. स्वरूपबोध ही आत्माकी मुक्तिका हेतु है—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां सवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(**भेदज्ञानोच्छलनकलनात्**) भेद ज्ञानके उछालके अभ्याससे (**शुद्धतत्त्वोपलम्भात्**) जब शुद्ध तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई, तब तत्त्वाभ्यासमे (**रागग्रामप्रलयकरणात्**) रागादि विकारोका अभाव हुआ, और रागादिके अभावसे (**कर्मणां सवरेण**) नवीन कर्मोंके आगमनका अभाव हुआ, उस सवरके कारण, (**तोष बिभ्रत्**) सन्तोष या आनन्दको धारण करने वाला, (**परमम्**) श्रेष्ठतम (**अम्लानम्**) स्वच्छ (**अमलालोकम्**) निर्मल प्रकाश स्वरूप, (**एक**) रागादि रहित शुद्ध स्वरूप, (**ज्ञाने नियतम्**) अपने स्वरूपमे ही नियत, (**शाश्वतोद्योतम्**) निरन्तर जिसका प्रकाश रहेगा, ऐसा (**एतत् ज्ञान उदितम्**) यह शुद्ध चैतन्यका अनुभव प्रकट हुआ ॥१३२॥

भावार्थ—भेदविज्ञान अनादि कालीन मूर्छाको दूर करता है, परमे निजत्वके भ्रमको दूर करता है। निजके स्वरूपका बोध कराता है। जिन जीवोने प्रयत्न पूर्वक भेदविज्ञान प्राप्त कर बार-बार उसका अभ्यास किया है, उन्हे सदा काल स्थिर रहने वाले अपने शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है। अपने स्वरूपका बोध होने पर, अपनेसे भिन्न स्वरूप जो रागादि उनका स्वयं प्रलय, अर्थात् नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि आत्मा अपने ज्ञान स्वरूपमे जब प्रवेश करता है, तब रागादिकी उत्पत्ति ही नही होती।

रागादि भावोके अभावमे नवीन कर्मोका बन्ध भो रुकता है,[1] तथा उदयागत कर्म भी विफल होते हैं। वे नवीन कर्मोंके आस्रवमे कारणभूत नही होते। फलतः कर्मोका सवर होता है। सवर होनेसे आत्मज्ञानका उदय होता है। अर्थात् अपना ज्ञान शुद्ध होकर निर्मल आत्मप्रकाश फैलता हुआ अपनेमे रहता है, फिर अन्यत्र गमन नही करता, न विकारी होता है। ऐसा ज्ञान ही केवलज्ञान स्वरूप बनता है, और यही मुक्तिका हेतु है। **सारांशमें यह सब महिमा भेदविज्ञानकी है, अत उसे प्राप्त कर उसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।**

(१५३) **प्रश्न**—जब आत्मा सदा ज्ञानस्वभावी है, और रहेगा, तब उसकी प्राप्ति तो उसे है ही। भेदज्ञान हो या न हो, उसका स्वरूप तो उसके पास ही है, अतः उपलब्धि स्वयं है ही, तब भेदज्ञान से उपलब्धि होती है, इसका क्या अर्थ है?

१ रागादिरूप भावास्रवेण बिना अस्तित्वमात्रेण, उदयमात्रेण वा, द्रव्यप्रत्यया सम्यग्दृष्टेर्बंधहेतवो न भवन्ति
—समयसार गाथा १७७-१७८ तात्पर्यवृत्ति टीका.

समाधान—है तो ऐसे ही, तथापि समीप होने पर भी उसका भान नही था। परमें निजको ढूँढ़ता था। इसी भ्रमके कारण सर्वत्र भूला-भूला भटकता था। जब भेदविज्ञानने उसे दरशाया कि कहाँ भटकता है? तेरा स्वात्मा तेरे भीतर है, तब अपने स्वरूपको पाकर भटकना छूट गया। यही स्वात्मोपलब्धि है तथा यही संसारसे मुक्ति है।

जैसे कोई मनुष्य अपने वस्त्रको जिसमे उसके रत्न बँधे थे, कन्धे पर टाँग कर उसे भूल गया, और सर्वत्र अपना वह वस्त्र ढूँढ़ता फिरा। पडोसमे भी सबसे पूछा पर किसीने भी उसके वस्त्र पर ध्यान नही दिया। अत. उसका भ्रम दूर न हो सका। वह सर्वत्र रोता चिल्लाता दुखी हुआ फिरता रहा। किसी विवेकीने पूछा कि भाई क्यो रो रहा है? तब उसने कहा कि मेरा वस्त्र खो गया। उसमे मेरे रत्न बँधे थे। तुम उसे ढूँढ़ दो, तुम्हारा बडा उपकार होगा।

विवेकीने कन्धे पर टँगे वस्त्रकी ओर उसे सकेत किया। उसने कन्धे पर वस्त्र देखकर अपनी निधि पा ली और बहुत प्रसन्न हुआ। उस विवेकीके चरणोमे पड गया और कहने लगा कि तुम परम उपकारी हो। मेरी गई हुई सम्पत्ति बता दी अन्यथा वह तो चली गई थी। तब विवेकीने कहा कि भाई! वह तो तुम्हारे पास थी, तुम्हे खो जानेका भ्रम था, इससे भटके-भटके फिरते थे। इससे उसे समाधान होता है। फिर वह सदाके लिए अपनी निधिकी रक्षामे सावधान हो जाता है।

इसी प्रकार अपना स्वरूप अपनेमे है, अनादि काल से जीव उसे भूला है, और सर्वत्र अपनापन खोजता फिरता है। परपदार्थोंमे अपनापन मान कर भी वे कभी अपने नही बने, इसीसे दुखी था। विवेकी गुरुने जब आत्माका परसे भेदविज्ञान कराया, तब उसे निज-परका भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरुके चरणोमे नत होकर बोला कि—आपने मेरी निधि दरशायी। तब सद्गुरु कहते हैं कि भाई, **मेरा उपकार मानना तो मात्र व्यवहार है। परमार्थमे तो तेरी निधि तेरे पास थी। तू भ्रमज्ञानसे उसे नहीं देख पा रहा था।** अब मुझे भेदज्ञान हुआ, निज-परकी परख आई, तो निज निधिका, जो तेरे ही पास थी, दर्शन हुआ, उसकी प्राप्ति हुई। यही निज तत्त्वकी प्राप्ति है।

(१५४) **प्रश्न**—यदि उदयागत कर्म, जीवके द्वारा ज्ञानभावका आलम्बन करने पर, विफलताको प्राप्त हो जावें तो इसका इतना ही अर्थ है कि वे फल न दे सके। पर नवीन कर्मका आगमन कैसे रुकेगा? वह तो ससारीके प्रतिसमय होता ही है।

समाधान—अवश्य होता है, पर होता है जीवके विभावभाव रूप परिणमनके कारण। यदि जीव अपने स्वभावमे रहे, विभाव रूप न परिणमे, तो ऐसे ज्ञानी जीवके बन्धके कारणोका अभाव होनेसे, नवीन कर्मका उसे बन्धन नही होता।[1] ये निर्जरा और सवर ही ससार दशासे ऊपर उठाते हैं। कर्मोंका आगमन न होनेसे और पुरातन कर्मोंके विफल हो कर निर्जराको प्राप्त होनेसे, आत्मामे स्वय सन्तोष या सुखकी उत्पत्ति होती है। यह समता भाव ही केवलज्ञानके उदयका कारण होता है, जो सदा काल शाश्वत प्रद्योतमान है ॥१३२॥

❀ इति सवराधिकारः ❀

●

१ समयसार गाथा १७७-१७८ की तात्पर्यवृत्ति टीका देखिये।

◻ निर्जरा अधिकार ◻

निरावरण ज्ञानज्योति रागादि विकारी भावोंसे आच्छादित नही होती—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(परः संवरः) पूर्वप्रकरणमे कथित उत्कृष्ट संवरभाव, (**रागाद्यास्रवरोधतः**) रागादि आस्रवभावका प्रतिपक्षी होनेसे, उसे रोकता है तथा (**निजधुरां धृत्वा**) अपनी धुराको आगे धारण करके (**आगामि समस्तमेव कर्म**) आगामी आनेवाले सभी कर्मोंको, (**दूरात् भरतः निरुन्धन् स्थितः**) दूर से ही अत्यन्त रूपसे रोकता हुआ खडा है। ऐसी स्थितिमें (**निर्जरा**) निर्जराभाव, (**प्राग्बद्धं तु तदेव**) पूर्व समयमे बाँधे उन कर्मोंको (**दग्धुं**) नष्ट करनेके लिए, (**अधुना**) इस समय (**व्याजृम्भते**) प्रकट हो रहा है। (**यतः**) क्योकि (**अपावृतं ज्ञानज्योतिः**) निरावरण ज्ञानज्योति, अर्थात् रागादि कर्मके सम्पर्कसे रहित आत्मस्वरूप, (**रागादिभिर्न मूर्च्छति**) फिर रागादि विकारी भावोंके द्वारा मूर्च्छित नही होता ॥१३३॥

भावार्थ—संवरका अर्थ ही यह है कि रागादि आस्रवभावका अभाव हो। जब आस्रवभावका अभाव होता है तो आगामी बंधयोग्य कर्म दूरसे ही रुक जाते हैं। बिना रागादिभावके वे आत्माके समीप ही नही आ सकते। संवरकी ऐसी उत्कृष्ट स्थिति होनेपर, निर्जराभाव पुरातन बँधे हुए कर्मोंको नष्ट करनेके लिए स्वय प्रकट होते हैं। अर्थात् संवरके होनेपर पुरातन कर्म जो उदयमे आते हैं, वे निष्फल होकर झर जाते हैं। संवरभावके व निर्जराभावके कारण आत्मा का आवरण रहित निर्मलज्ञान, फिर रागादिभावासे मूर्च्छाको प्राप्त नही होता, अर्थात् इस स्थितिमे आत्मा अपने स्वभावको भूलकर विभावरूप परिणत नही होता ॥१३३॥

कर्मोदयका भोगनेवाला ज्ञानी, बन्धको प्राप्त नही होता यह दिखाते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(**यत् क अपि**) जो कोई भी भव्यप्राणी सम्यग्दृष्टिजीव (**कर्म भुञ्जानः अपि**) कर्मके उदयका फलोपभोग भोगता है, तथापि (**कर्मभि न बध्यते**) वह कर्मके बन्धनको प्राप्त नही होता, (**तत् ज्ञानस्य एव सामर्थ्यम्**) वह आत्मज्ञानकी ही सामर्थ्यके कारण है। (**वा**) अथवा (**विरागस्य एव**) वीतरागभावकी ही (**किल सामर्थ्यम्**) निश्चयसे सामर्थ्य है ॥१३४॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवोके भी, समय-समय कर्मका उदय आता है, और मिथ्यादृष्टि जीवो के भी समय-समय कर्मका उदय आता है। ऐसी समानता होनेपर तत्काल सुख-दुःख आदि फलोको

भी दोनो भोगते हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि जोव, सुख-दु:खादि फलोपभोगके समय, रागद्वेषादि परिणामोके कारण, पुनः नवीन-नवीन कर्मके बन्धन बाँधता है। किन्तु सम्यग्दृष्टिजीव सुख-दुःखरूप फलोपभोग, कर्मके उदयमे भोगता है, पर उनमे राग-द्वेषादिरूप सक्लेश परिणाम नही करता, अतः कर्मके बन्धनको प्राप्त नही करता। अतः सदा तत्त्वज्ञान तथा वैराग्यकी भावना रखनी चाहिए। ऐसा करनेपर नवीन कर्मबन्ध तो नही होगा तथा पुरातन जो उदयमे आयेंगे वे कटेंगे ही, अतः संवर पूर्वक निर्जरा होगी।

(१९५) **प्रश्न**—ऐसा सुना जाता है कि "सम्यक्त्वीके भोग निर्जरा के हेतु हैं"। क्या यही बात आप यहाँ कहना चाहते हैं? तब तो सम्यक्त्वीजीवको विषयकी विरक्ति होकर साधु बनने, अथवा चारित्र पालनेको कुछ भी जरूरत नही है। क्योकि इसके विषयभोग, उसे बन्धके कारण न होकर सवर निर्जराके कारण हैं। अत: विषयभोगसे ही निर्जराकर बिना चारित्रके भी उसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

समाधान—ऐसा नही है। सम्यग्दृष्टि सुखरूप कर्मोदयको कर्मफल मानकर उसे उपादेय नही मानता, अत: उसे विषयजन्य सुख भी विषतुल्य प्रतीत होते हैं। **उसकी यह विषय विरक्ति ही उसे कर्मका संवर कराती है। भोग संवर निर्जरास्वरूप नहीं है, किन्तु भोगोंके प्रति अरुचिभाव संवर निर्जराका कारण है।**

(१९६) **प्रश्न**—इस प्रकरणमे भोगका अर्थ क्या पचेन्द्रियके विषयोका भोगोपभोग नही है? यदि नहीं है तो क्या अर्थ है?

समाधान—'भोग' का अर्थ इस प्रकरणमे कर्मदण्डका भोगना है। वह सातारूप पुण्यकर्मोदयजन्य भी होता है, और असातारूप पापोदयजन्य भी होता है। सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमे दोनो दण्ड स्वरूप हैं, अतः वह दोनोको स्वीकार नही करता। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यजन्य दण्डको दण्ड न मानकर, उससे अपना लाभ मानकर, प्रसन्न होता है, और पापजन्य स्थितिको अनिष्ट मानकर दुःखी होता है।

(१९७) **प्रश्न**—तो क्या पुण्यपापके उदयमे साता-असातारूप, अर्थात् सुख-दुःखरूप, परिणाम सम्यक्त्वीके नही होता? पुण्यपापका फल सुख-दुःख है ऐसा शास्त्रोका कथन है। क्या सम्यग्दृष्टि उस कथनको विपरीत बना सकता है?

समाधान—कथन आगमका सत्य है, अत पुण्यपापके उदयमे सुख-दुःख, सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोको समानरूपसे होते हुए भी, **सम्यग्दृष्टि दोनों स्थितियोंमे समभावी है, राग-द्वेष नहीं करता, अतः समताभावके कारण अबन्धक है।** इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि विषमभावके कारण रागी-द्वेषी बनकर कर्मबन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि उदयागत कर्मजन्य सुख-दुःखका मात्र ज्ञायक है।

दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं—

जैसे कोई अपने पडोसमे रहनेवाले व्यक्तिकी सभी गतिविधियोको जानता है। उसे प्रतीत है कि पडोसी जुआ खेलता है, सैकडो रुपया प्राप्त करता है पर भयभीत रहता है, तथा दूसरा पड़ोसी सज्जन है, व्यसनी नहीं है अर्थाभावमे है, तथापि प्रसन्न रहता है। दोनोकी स्थितियोका वह

जानकार है, तथापि उसे न एकके लाभका हर्ष है, न दूसरे पड़ोसीके अर्थाभावके कष्टका वह अनुभव करता है। अपने-अपने कर्मका फल सब भोगते हैं, और भोगेंगे, ऐसा वह जानता है। जुआको वह हानिकर मानता है, तथा दूसरे पडोसीकी सज्जनताका समर्थक है। तथापि दोनोके प्रति समभाव है। जैसा सुख दु ख प्रसन्नता अप्रसन्नताका अनुभव, दोनो पडोसी करते हैं, वैसा वह नही करता। तथापि ज्ञायक मात्र है। इसी प्रकार अपनी ही सुख दु.ख अवस्थामे ज्ञानी हर्ष विषाद न कर, समभावी रहता है—अत अबन्धक है।

(१५८) **प्रश्न**—ऐसा तो ससारमे देखा ही नही जाता कि अपनी सुख दुःख अवस्थामे कोई समता भाव रख सकता है। दृष्टान्त आपका ठीक नही है। वह तो पडोसीको बात है। उन पर बीतती है, अपने पर नही। पर ये कर्मोदय जन्य सुख दु ख तो स्वय उस एक व्यक्ति पर बीतते हैं, तब वह समता भावी कैसे रह सकता है?

समाधान--सुख दुःख कर्मोदय जन्य अवस्थाएँ हैं—ये विकारी अवस्थाएँ हैं, नाशवान् हैं, अतः सम्यक्त्वी इन बदलती हुई अवस्थामें आसक्त नही होता। वह पर्यायदृष्टिको ओझल कर, अपने अखण्ड आनन्द तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा पर दृष्टि रखता है, अतः दुःखी सुखी नहीं होता।

(१५९) **प्रश्न**--एक ही व्यक्ति पर बीतने वाली विविध घटनाओमे समता भावका दृष्टान्त बताइए?

समाधान--बहुरूपिया नाना वेष स्वय धरता है। नाटकका पात्र कभी राजा और कभी रकका वेष रख कर रगमच पर आता है। जब जो वेष रखता है, तब उस वेषकी पूरी भूमिका निभाता है, तथापि 'मैं कौन हूँ' उसे नही भूलता। इसीसे राजाके वेषमें, यथार्थ रूपमे, उन्मत्त नही होता, और रकके वेषमे, यथार्थ रूपसे, रोता नही है, क्योकि मैं क्या हूँ इसका बोध होनेसे वह दोनो अवस्थाओमे समभावी है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव, संसारकी विविध दशाओको, कर्मोदयकी स्थितिमे होनेवाले विविध वेष ही मानता है। द्रव्यदृष्टिसे आत्माका स्वयका क्या स्वरूप है इसका उसे बोध है। अत. अपने आत्मानुभवनके कारण वह समभावी रहता है, तथा उन कर्मोदयजन्य स्थितियोंमे दोनोसे विरागी रहता है।[1] यह "आत्मज्ञान" तथा कर्मजन्य स्थितियोमें "विराग" ये दोनो ही ससारसे छुडाने वाले हैं, अतः वह अबन्धक हैं। उसका यह कर्मदण्डका भोग, निर्जराका ही कारण है।

(१६०) **प्रश्न**—सुख दु.ख हो रहे हैं, और वे मेरे नही हैं ऐसा मानना क्या सच है? यदि नही, तो सम्यग्दृष्टि सत्य लोकमे नही है, काल्पनिक जगत्मे है। सत्यसे इनकार करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि सत्य को ही स्वीकार करता है। सुख दु ख मुझमे ही हैं ऐसा जानता है, तथापि वह उनमे भूलता नही। मिथ्यादृष्टि ही पर निमित्त जन्य अवस्थाओको अनुभव कर, उन्हे ही आत्मस्वरूप मान, हर्ष विषाद करता है। वह पर्याय विमूढ है, अनात्मज्ञ है, अतः दु.खी है। ज्ञानी आत्मज्ञ है, अतः पर्यायको स्वीकार करके भी उसमे मोहित नही होता।

---

१ आगे कलश १३६ में इसकी स्पष्ट व्याख्या है।

(१६१) **प्रश्न**—सम्यक्त्वी जीव रागादिभाव नही करता, अत. अबन्धक होनेसे संवरको प्राप्त है, यह तो बात समझमे आई, पर वह पुरातन कर्मकी निर्जरा करने वाला है यह कैसे सिद्ध है ?

समाधान—पूर्वबद्ध कर्म समय-समय पर उदयमें आते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव उनके उदयमे रागी द्वेषी विकारी होता है—यह प्रक्रिया सदासे आ रही है। उदयागत कर्म जीवके रागी बननेका निमित्त है। यदि उस निमित्तको अवलम्बन कर जीव रागी बना तो उदयकी सफलता है। उदयागत कर्म फलदानमे निमित्त बनकर स्वय आत्मासे पृथक् हो जाता है, अथवा कर्मरूप पर्याय त्याग अकर्म-रूप पर्यायको प्राप्त करता है। इसे ही निर्जरा कहते हैं। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा ऐसे दो भेद निर्जराके हैं। स्थिति पूर्ण होने पर उदयकालको प्राप्त कर्म जब निर्जरित होता है उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं तथा जो कर्म उदयावस्थाके कालको प्राप्त नही हैं, वे तप आदिके कारण असमयमे भी निर्जीर्ण होते हैं इसे उदीरणा कहते हैं। यही अविपाक निर्जरा है।

सम्यक्त्वी जीव उदयागत कर्मको अर्थात् उसके सुख दु.ख रूप फलको भोगता है तन्नि-मित्तभूत पचेन्द्रियोके शुभाशुभरूप फलोको भोगता है। तथापि भोगते हुए भी हर्ष विषादरूप सक्लेश परिणाम नही करता, उन्हे अपने स्वरूपसे भिन्न मानता है, अत. अबन्धक अर्थात् संवारक है।

इस सवारक स्थितिमे होने वाली कर्म निर्जरा ही सच्ची निर्जरा है। इस तरह सवरका स्वामी सम्यक्त्वी निर्जरा भी अवश्य करता है।

(१६२) **प्रश्न**—इसका क्या कारण है कि सम्यक्त्वी जीव कर्मोदयजन्य स्थितिमे सुख दु ख भी भोगता है पर हर्ष विषाद नही करता है। क्या ऐसा कभी सम्भव है ?

समाधान--अवश्य सम्भव है। सम्यक्त्व परिणामके साथ अनन्तानुबन्धी आदि जितनी कषायोका जिस गुणस्थानमे अभाव होगा उतनी-उतनी विरागता बढ़ेगी। विरागता पचेन्द्रियोके विषयोके प्रति है। विरागीका विषय भोग केवल कर्मदण्डका भोग है, क्योंकि वह उसे चाहता नही है।

जैसे किसीको जेलमे (कारागारमे) डाला जाय पर उसे कारागारमे रुचि नही है, अत रागका अभाव है। जेलके प्रति द्वेष भी नही है, क्योंकि वह समझदार है। जानता है कि मेरे अप-राधका यह फल है, इसे भोग लेना ही श्रेयस्कर है। अथवा किसी धनी व्यक्तिके घर कोई अतिथि आया। उसे सब प्रकार वहाँ सुख सुविधा है। तथापि परघरमे उसे रुचि नही है अत वह उन पराधीन सुखोको भी हेय मानता है और अवसर पाकर उन्हे छोडकर अपने घर चला जाता है।

इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव पचेन्द्रियोके विषयजन्य सुख दु.खको हेय मानता है उनमे अनुरक्त नही होता। इससे वह कर्मदण्डको अरुचिपूर्वक भोगनेसे नवीन बन्ध नही करता और उस कालमे उदयागत कर्म तो निर्जरता ही है, ऐसा स्वभाव है। वह फिर पुन आत्मामे टिक ही नही सकता। अत. संवर पूर्वक निर्जरा सम्यक्त्वीके पाई जाती है।

जैसे विष भक्षण करने वाला मृत्युको प्राप्त होता है। सर्पदशको प्राप्त व्यक्ति भी मृत्युको प्राप्त होता है। तथापि विषमारक औषधि यदि वह सेवन करे तो विष व्याप्त होने पर भी,

दोनो मृत्युको प्राप्त नही होते। इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव विषतुल्य पंचेन्द्रियोके भोग भोगते भी आत्मज्ञान तथा वैराग्यके बलसे विषय विषके विकारको प्राप्त नही होता ॥१३४॥

जो अरुचि पूर्वक विषय सेवन करता है वह असेवनकर्ता ही है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्, स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्, सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(**ना**) विरागी पुरुष (**विषयसेवनेऽपि**) पचेन्द्रियोके विषयोके सेवन करने पर भी (**विषयसेवनस्य स्वं फलं**) विषय सेवनका फल जो कर्मबन्ध है, उस फलको (**न अश्नुते**) प्राप्त नही होता है। इसका कारण यह है कि वह (**ज्ञानवैभवविरागताबलात्**) अपने आत्मज्ञानके सम्पूर्ण वैभवको लक्ष्यमे रखे है तथा पर द्रव्योके प्रति जिनका उपभोग करता है उनके प्रति विरागी है अर्थात् रुचिमान नही है। इस शक्तिके कारण वह (**सेवक अपि**) सेवन करते हुए भी (**असौ तत् असेवक**) उनका सेवन करने वाला नहीं है ॥१३५॥

भावार्थ—सामान्य ससारी जीव कर्मके उदयमे विभाव रूप परिणमन कर, कर्म बंधनको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषकी रुचि अपने आत्मवैभवको प्राप्त करनेकी है, विषय प्राप्ति की नही है। विषयोके प्रति अरुचि है, अत. इस आत्मज्ञानकी रुचि तथा परके प्रति अरुचिके बल पर ही वह सवर तथा निर्जरा करता है। वह यदि परवशतासे कर्मोदयजन्य फल भोगता भी हो तो भी वह उसका सेवन करने वाला नही है। क्योकि वह उन्हे अरुचिपूर्वक भोगता है ॥१३५॥

(१६३) **प्रश्न**—भोगनेवाला रुचिपूर्वक नही भोगता, करनेवाला रुचिपूर्वक नही करता, ऐसी बात समझमे नही आती। जगत्मे ऐसी बात नही देखी जाती किन्तु इसके विपरीत ही देखनेमें आती है।

समाधान—ज्ञानी शुभाशुभकर्मका उदय भोगता है वह उसके लिए कर्मका दण्ड है। दण्ड कोई रुचिपूर्वक नही भोगता। इसी प्रकार जो कार्य परवश, इच्छाके विरुद्ध, करने पड़ते हैं उन्हे कोई रुचिपूर्वक नही करता, किन्तु उसे करना पड़ता है। जैसे किसी व्यापारीकी दुकानपर एक सेवक है, वह उस दुकानका सब काम करता है, पर दुकानका स्वामी न होनेसे उसके लाभ हानिके फलका भोक्ता नही होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि कर्मोदयजन्य स्थितिको भोगता है पर उसे उसमें आत्मीय बुद्धि नही है, अतः उन विकारोका स्वामी न होनेसे उनके फलस्वरूप कर्मोका बन्धन नहीं करता। मिथ्यादृष्टिजीव कर्मोदयजन्य सुख-दुःखमे तथा तत्साधनभूत परिकर मे निजत्व बुद्धि द्वारा उनका स्वामी बनता है, अतः तत्फलस्वरूप कर्मबन्ध भी करता है ॥१३५॥

सम्यग्दृष्टिको नियमसे ज्ञान और वैराग्यशक्ति होती है—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्दृष्टे**) सम्यक्त्वीके (**ज्ञानवैराग्यशक्ति**) आत्मानुभवनकी तथा परके प्रति विरागकी शक्ति (**नियतं भवति**) निश्चयसे प्राप्त होती है। अतएव (**स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या**) स्वरूप की प्राप्ति तथा अपनेसे भिन्न जो पररूप उनकी मुक्ति अर्थात् त्यागसे (**स्वं वस्तुत्वं**) निजवस्तुको (**कलयितुम्**) प्राप्त करनेके लिए (**स्वं परं च इदं**) स्व तथा पर इनको (**तत्त्वत व्यतिकर ज्ञात्वा**) यथार्थमे भिन्न-भिन्न जानकर (**स्वस्मिन् आस्ते**) निजमे ही अपनी स्थितिको बनाता है तथा (**परात् रागयोगात्**) परके निमित्तसे होनेवाली समस्त रागादि परिणतिसे (**विरमति**) विरक्त होता है ॥१३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वी जीवको मिथ्यात्व कर्मके उपशमादिसे आत्मानुभवनकी शक्तिरूप सम्यग्दर्शन गुणकी प्राप्ति हुई है तथा आत्मभिन्न पर पदार्थ अनुपादेय है ऐसी श्रद्धाके कारण, परके प्रति विराग हुआ है, अतः ये दोनो ज्ञान-वैराग्य शक्तियाँ उमे नियमसे प्राप्त होती हैं।

यही कारण है कि वह स्वरूपकी प्राप्ति तथा पररूपके त्यागकी शक्तिके द्वारा, अपने स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए, स्व और परका भेद स्पष्टरूपसे जानकर, अपनी शुद्धात्मामे ही निवास करता है तथा कर्मोदयजन्य रागादि विकारोसे विरक्त होता है।

(१६४) **प्रश्न**—उनसे विरक्त होनेका क्या उपाय है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिको जब कर्मोदयसे पुण्य पापका फलभोग करना पडता है तब वह ऐसा विचारता है कि ये कर्मके विपाक हैं तथापि मेरा स्वभाव नही हैं। मेरेमे हैं, पर ये परजन्य विकार हैं। मेरा आत्मा अखण्ड चैतन्य आनन्दका पिण्ड है। मैं तो इन सब स्थितियोका ज्ञान कर रहा हूँ अत इनका ज्ञायक मात्र हूँ, वही मेरा स्वभाव है।

(१६५) **प्रश्न**—यद्यपि कर्म पुद्गल है तथापि उसके उदयमे जो विकार होते हैं वे आत्मसत्तामे होते हैं। जो अपनी सत्तासे भिन्न नही किये जा सकते उन्हे अपने न माननेका क्या अर्थ है ? आप मानो या न मानो—हैं तो वे जीवमे। अतः जीवकी सत्तासे अभिन्न होनेके कारण जीवके ही हैं। पुद्गल द्रव्यमे ये विकारीभाव नही पाये जाते, अत. आत्माके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेके कारण आत्मासे ये भिन्न हैं ऐसी मान्यता यथार्थ नही है, काल्पनिक है, असत्य है। और ऐसी असत् कल्पनाको रखने वाला सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी माना जावे यह नितान्त विरुद्ध है। धर्ममे ऐसी बातोका क्या स्थान है ?

समाधान—इसमे सन्देह नही, कि कर्म पुद्गल है, और उस कर्मके उदय कालमे ही जीव रागी द्वेषी आदि विकार भावको प्राप्त करता है। ये विकार जीवकी सत्तामे हैं, पुद्गलमे ये विकार नही होते। तथापि पर द्रव्यभूत कर्मोदयके बिना रागादि नही होते, अत ये जीवके स्वभाव नही हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है। यह असत् कल्पना नही है बल्कि सत्य बात है। परनिमित्त जन्य विकारी भावोको निज भाव मानना यह असत्कल्पना है। अत सम्यग्दृष्टि कर्मोदय जन्य विकारी दशामे भी अपने स्वरूपको नही भूलता, उसे देखता है। तथा परकी भी यथार्थस्थितिको देखता है। अत वह अवश्य ही सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी है।

(१६६) **प्रश्न**—इस प्रकार जान लेनेसे, कि रागादि मेरे स्वभाव नही हैं क्या रागादि आत्मासे दूर हो जाते हैं। मेरे घरमे सर्प है, इतना जान लेनेसे क्या सर्पका खतरा दूर हो जाता है ?

समाधान—नही, जान लेनेमात्रसे न खतरा दूर होता है, और न रागादि दूर हो जाते

हैं। किन्तु यह जानकर वह अपनेमे रागादिभावोको हेय समझकर अपनेसे दूर करता है, और अपने ज्ञानस्वभावको न छोड़ूं, विकारी न बनूं, इसका प्रयत्न करता है, तब रागादिसे दूर हो जाता है।

जान लेनेमात्रसे आत्मस्थिति प्राप्त नही होती, तो भी आत्मस्थिति ज्ञाता-पुरुषकी ही होगी। अज्ञानी तो परके साथ अपनी सत्ताका मेल मानकर उसे दूर करनेकी चेष्टा ही नही करता, अतः वह विकारका त्यागी भी नही बन सकता। यहाँ ज्ञान वैराग्य दोनो शक्तियोंके उपयोगकी बात है सिर्फ ज्ञान शक्तिपर ही जोर नही दिया ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ऐसा सुनकर जो उन्मत्त हो जाता है, आत्मा-अनात्माका भेद-ज्ञानी नही होता तो वह सम्यक्त्वशून्य मात्र अभिमानी है ऐसा कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यात्
इत्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(**अयम् अहम्**) यह मैं (**स्वयं सम्यग्दृष्टिः**) स्वय सम्यग्दृष्टि हूँ। अतएव (**मे जातु बन्ध न स्यात्**) मेरे कर्मबन्ध कदाचित् भी नही होता (**इति**) ऐसा विचारकर (**रागिण**.) रागसे पगे मिथ्यादृष्टि जोव (**उत्तानोत्पुलकवदना**) ऊपर दृष्टि उठाकर तथा मुँह फैलाकर (**अपि**) भी (**आचरन्तु**) स्वच्छन्द आचरण करें चाहे (**समितिपरतां आलम्बन्तां**) पचसमिति आदि रूप क्रियाओका आलम्बन करें, तथापि (**आत्मानात्मावगमविरहात्**) आत्मा तथा अनात्माके भेदविज्ञान-के अभावमे (**सम्यक्त्वरिक्ताः**) वे सम्यग्दर्शनसे हीन ही हैं। (**अत अद्यापि पापाः**) इसलिये इस अवस्थामे भी पापी ही हैं ॥१३७॥

भावार्थ—अध्यात्मशास्त्रमे जो ऊपर कथन किया गया है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव पचेन्द्रिय-भोगके भोगते हुए भी कर्मबन्धको प्राप्त नही होता' आगमके उक्त वचनोके पूर्ण तात्पर्यको न समझनेवाले बहुतसे मिथ्यादृष्टि रागी पुरुष अपनेको 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ' ऐसे ऊँचा मुखकर उद्घोषित करते हैं, तथा नाना प्रकार विषय भोगोको नीति-अनीतिका विचार न करते हुए भी भोगते हैं, और "सम्यग्दृष्टि विषय भोगते भी बन्धक नही है" ऐसा आगम है, ऐसी व्याख्या करते हुए अपनेको कर्मबन्धसे रहित मानते हैं।

कोई लोग किंचित् बाह्य व्रताचरणरूप प्रवर्तन करते हैं और अपनेको सम्यग्दृष्टि व व्रती मानकर रागरूप आचरण करते है। कोई मनुष्य महाव्रत तथा समिति आदि मुनिपद योग्य व्रतोका भी आलम्बन करते हैं तथापि आत्मा व शरीरके भेदको यथार्थमे न जानते हुए भी, अपने को सम्यग्दृष्टि व मुनि मानकर बन्धरहित मान बैठे हैं।

आचार्य कहते हैं कि जिनको आत्माकी भावना नही है, कर्म-नोकर्म-भावकर्मसे पृथक् आत्मा-का अनुभव नही है, वे चाहे अपनेको सम्यक्त्वी कहे, व्रती श्रावक कहें, या अपनेको महाव्रती साधु कहें, पर वे सम्यक्त्वसे भी शून्य हैं। पापमुक्त ही नही हैं, किन्तु पापका ही संचय करते हैं।

(१६७) **प्रश्न**—आत्मा अनात्माका भेद तो जिनधर्मसे बहिर्मुख अनेक सम्प्रदायके लोग भी जानते हैं, तथा कहते हैं। अनपढ़ भी मृत मनुष्यको तथा जीवित मनुष्यको देखकर भेद कर लेता है। वह जानता है कि मृतमें आत्मा नही है, जीवितमे आत्मा है। तब ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि कहलाए। मिथ्यादृष्टि तो कोई अज्ञानी विरले ही होगे।

समाधान—ऐसा नही है, सम्यग्दृष्टि हो कोई ज्ञानी विरले मनुष्य हैं। सर्वसाधारण जन आत्मा और शरीरका भेद जानकर भी आत्मा स्वय क्या है ? क्या स्वरूप है ? क्या लक्षण है ? यह नही जानते। अत आत्मस्वरूपकी सच्ची जानकारी जबतक न हो तबतक सम्यग्दर्शन नही होता।

(१६८) **प्रश्न**—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो भी जैसा आत्माका आगममे स्वरूप वर्णित है वैसा तो प्रत्येक जैनागमका अभ्यासी जानता है, तब भी आप उन सबको सम्यग्दृष्टि नही मानते ?

समाधान—आगमके कथनानुसार आत्माके स्वरूपका वर्णन आगमाभ्यासी कर सकता है। वह यह तो जानता है कि आगममे आत्माका यह स्वरूप लिखा है, तथा वैसा कहता भी है। पर आत्माके उस स्वरूपका अनुभवी नही है।

"आत्माका ऐसा स्वरूप लिखा है" ऐसा जाननेमे, तथा "आत्माका यह स्वरूप है" ऐसा अनुभव करनेमे महान् अन्तर है। जैसे मिश्री मीठी होती है इस सत्य कथनमे तथा मिश्री खाकर उसके स्वादके सत्यानुभवनमे महान् अन्तर है। उतना ही अन्तर मिथ्यादृष्टिके आगमोक्त कथनमे तथा सम्यग्दृष्टिके आत्मानुभवनमे भी है।

(१६९) **प्रश्न**—यदि कोई अपनेको सम्यग्दृष्टि कहता है और अपनेको इसी आधारपर कर्म-बन्ध रहित मानता है, तो आपको ईर्ष्या क्यो है ?

समाधान—ईर्ष्या नही है, उसपर दया है। दया इसलिए आती है कि वह बेचारा भ्रान्तिसे अपनेको सम्यक्त्वी मान, कर्मका बन्धन करते हुए भी कर्मरहित अपनेको मानकर, मोक्षमार्गी मान बैठा है, पर मोक्षमार्गसे बहुत दूर है। यदि उसे सही आत्मज्ञान हो जाय तो उसका उद्धार हो जाय। इसलिए उसे सम्बोधित करते हैं।

(१७०) **प्रश्न**—कर्मबन्ध करते हुए, मिथ्यादृष्टि रहते हुए भी, यदि अपनेको सम्यक्त्वी तथा बन्धरहित माने तो इसमे आपकी क्या हानि है ?

समाधान—हमारी कोई हानि नही है, तथापि उसकी हानि तो सुनिश्चित है। अत. उसे सावधान करनेके लिए ऐसा उपदेश है।

(१७१) **प्रश्न**—जो व्रत पालते हैं, समिति पालते है, वे तो सदाचारी है। आप उनके व्रतोकी सराहना न करके उन्हें पापी कहकर क्यो स्वय पाप करते है।

समाधान—सदाचारकी हम निन्दा नही करते, किन्तु वह सदाचार मोक्षमार्गी बन जाय इसलिए उसमे जो सम्यक्त्वभावकी रिक्तता है, उसपर उस व्यक्तिका ध्यान जावे, और मुँह फुलाकर अपनेको झूठमूठ ही मोक्षमार्गी मानकर न ठगाया जावे, इसलिए सत्यका प्रकाशन करते हैं।

(१७२) **प्रश्न**—यहाँ तो सम्यक्त्वरहित होनेपर सदाचारी महाव्रती मुनिको "पापी" कह दिया। यह तो स्वयम घोर पाप है, क्योकि "महाव्रतादि शुभकर्म है, इनसे पुण्यका बन्ध होता है",

ऐसा आगम है। इन्हे अशुभकर्म या पाप तो किसी भी ग्रन्थमे नही लिखा। मिथ्यादृष्टि जीव भी तपस्याकर जिनदीक्षासे नवग्रैवेयक तक जानेका पुण्यार्जन करते हैं, तब आप पुण्यको पाप बनाकर मिथ्यामार्गका प्रचार स्वय क्यो करते हैं ?

समाधान—आचार्य मिथ्यामार्गका खण्डनकर सम्यक्मार्गका ही प्रचार यहाँ करते हैं। वस्तुत: सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है। जब तक वह महापाप है तब तक उसके साथ की जानेवाली क्रियाएँ भी पाप ही हैं ? भले ही शुभयोग होनेसे पुण्यका बन्ध कराती है, उनसे स्वर्गादिगति मिलती है, अतः व्यवहारनयसे हम भी उन्हे पुण्यार्जन करनेवाला कहते हैं। तथापि निश्चयसे मोक्षमार्ग तो पुण्य-पाप दोनोंसे ऊपर है। अत उसकी दृष्टिसे दोनो बन्धनरूप होनेसे पाप ही हैं, इस कारण मिथ्यात्वी होनेसे पापी कहा है।[1]

सम्यग्दृष्टि न हो किन्तु सम्यग्दृष्टिपनेका अपनेमे मात्र अभिमान करे, या अपनेको सम्यग्दृष्टि माने, तथा इसी प्रकार महाव्रती न हो, पर अपनेमे महाव्रतित्वका अभिमान करें या अपने को महाव्रती मानें, तो ये दोनो मान्यताएँ मिथ्या हैं। अत मिथ्या होनेसे पापस्वरूप हैं। मिथ्यात्व-स्वरूप होनेसे सम्यक्त्व शून्य हैं ॥१३७॥

अचल चैतन्य धातुकी मूर्ति आत्माका निजस्वरूप ही उसका यथार्थ पद है, यह कहते हैं—

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(**भो अन्धाः**) अरे मिथ्यात्व तिमिरसे वस्तुस्वरूपको न देखनेवाले आत्मानुभवन शून्य जीवो, (**रागिण**) तुम परपदार्थमे रागी हुए (**असंसारात्**) अनादिकालीन ससारसे (**प्रतिपदं**) पद-पदपर (**नित्यमत्ता**.) सदा उन्मत बने (**यस्मिन् सुप्ता**) जिस चतुर्गति ससारी-पर्यायम लीन हो (**तत् अपद अपद**) वह तुम्हारा स्थान नही है, नही है, (**विबुध्यध्वं**) अत. जागो-जागो। (**इतः एत एत**) यहाँ आओ, यहाँ आओ, (**इद इद पदम्**) तुम्हारा पद यह है, यह है, (**यत्र चैतन्यधातुः**) जहाँ चैतन्यधातु (**शुद्ध शुद्ध**.) द्रव्य भावरूप परमशुद्ध (**स्वरसभरतः स्थायिभावत्वम् एति**) अपने चैतन्य-रससे भरी हुई स्थायोपनेको प्राप्त होती हे ॥१३८॥

भावार्थ—आचार्य ससारी जीवको विपरीतदृष्टि पर करुणाकर कहते हैं कि भाई तुम्हे

---

१. यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणित जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्ति कुर्वन्ति ? कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुख कारणानि इति ज्ञायन्ते ॥७४॥

पुण्य भी दुखका बीज है। तृष्णा भोग को जन्म देती है। भोगसे पापबध होता है। पुण्योदय मे राग की सेना खडी हो जाती है, जो पापका ही बीज है। —प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७४

रागमे प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद, आश्रय भेदसे किए गए हैं। सभी राग मोहनीय कर्मके भेद हैं और सदैव मात्र बधके ही कारण हैं। मोहका पाप प्रकृतिमे गिना गया है अत. वे राग पाप प्रकृति के ही वशज हैं, तथापि चारित्रके सम्पर्कमे होने वाला प्रशस्तराग या शुभ परिणाम, परम्परासे मोक्ष का साधक भी कहा गया है। —प्रवचनसार अध्याय १, गाथा ११ की उत्थानिका

आत्मदृष्टि प्राप्त नही है। उसके अनुभवनसे शून्य हो। तुम अनादिकालसे ही पर्याय दृष्टिमें ही विमूढ़ हो। नर-नारकादि पर्याय पाई, उतना मात्र अपना स्वरूप जानकर उसीमे मगन हो। उसी में रागी बने हो। यह स्थान यथार्थमे नही है।

तुम्हे अपने स्थानकी प्राप्ति करनी है। तुम्हारा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य मूर्ति है। उसमे रागादिकी कालिमा नहीं है, न उसमें नर-नारकादि विकारी पर्यायें हैं, वह तो चैतन्य धातुका बना हुआ शुद्ध चैतन्य रससे भरा हुआ है। इस तरफ देखो यह तुम्हारा स्थान है।

जैसे कोई प्राणी मदिरा पीकर अपना घर, अपना पद व अपना स्थान—भूलकर सड़क पर लुढ़क कर उन्मत्त हुआ बकवास करता था। उसे अन्य समझदार पुरुषने बुलाकर उठाया, कहा हे भ्रात! तुम मदिराके नशेमे सुध-बुधसे रहित होकर इस खराब स्थानमें पड़े हो, तुम्हारा तो पद ऐसा नहीं है, तुम बड़े उच्च कुलीन समझदार व्यक्ति हो, कहाँ पड़े हो, मोहको छोड़कर जागो, अपने स्वरूपको याद करो। तुम्हारा घर उन्नत महल है, उठो वहाँ देखो, वह है तुम्हारा घर, वहाँ सदा आरामसे रहो। जैसे वह व्यक्ति अपनी सुध-बुध ठीककर उस निम्न स्थानका परित्याग कर अपने घरमे जाता है, इसी प्रकार आचार्य अनादिकालसे मोह मदिराका पान कर अपने निज स्वरूपको भूले हुए ससारी प्राणियोको सबोधित करते हैं, तथा बताते हैं कि—पचेन्द्रिय विषय तो पर पदार्थ हैं, इनमे मत्त होकर तुम अपना अहित करते हुए दुःखी हो रहे हो। इस मोहके नशे को त्याग कर जागो! देखो! कहाँ हो? तुम्हारा यथार्थ स्वरूप क्या है? कैसा सुन्दर है? उसे प्राप्त करो तब सदा सुखी रहोगे ॥१३८॥

एक ही पद निरापद है—

एकमेव हि तत् स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(**विपदाम् अपदम्**) जो सम्पूर्ण विपत्तियोंसे रहित हैं ऐसा (**एकमेव हि पदम् तत् स्वाद्यम्**) उस शुद्धचैतन्य स्वरूप मात्र अपने पदका आस्वादन करना चाहिए। वह ऐसा श्रेष्ठतम पद है कि (**यत्पुरः**) जिसके सामने (**अन्यानि पदानि**) सासारिक सम्पूर्ण कर्मोपाधिजन्य पद (**अपदानि एव भासन्ते**) "स्वय मे अपद ही हैं"। मेरे योग्य स्थान नही हैं, ऐसा स्वय भासित होने लगता है ॥१३९॥

भावार्थ—आत्मा उपयोग लक्षणवाला है। सदाकाल ज्ञानमय है, कदाचित् भी उससे भिन्न नही है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मके निमित्तसे, तथा मोह (मिथ्यात्व) के उदयसे, ज्ञानमे अल्पता तथा विपरीतता आ सकती है, तथापि ज्ञानस्वभावका नाश कभी नही होता।

मिथ्यात्वके अभावमे जीव परमे मोहित नही होता। स्व-परका भेदविज्ञान उसे हो जाता है, अत वह वस्तुतत्त्वका ज्ञाता है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी जान लेनेपर परमे मोहित हो उसका आलम्बन नही करता। अतएव सम्यग्ज्ञानी अपने निजस्वरूपको जानकर उसमे ही रमता है, वहाँ कोई आकुलता नहीं है।

आत्मपदमे स्थित जीव जानता है कि—परपदमे लीन होना ही विपत्तिका कारण है। वे मेरे निजपद नही हैं। जैसे पर घरमे प्रवेश करनेवाला नाना आपत्तियोका भाजन बनता है, किन्तु

अपना घर सब आकुलताओसे परे है। इसी प्रकार निज आत्माके चैतन्यादि गुणोका आश्रय निज का घर है—निजका पद है, उसमे कोई आकुलता या कष्ट नही है। उमे छोडकर अन्य पुद्गल सम्बन्ध जनित, या जीवान्तर सम्बन्ध निमित्त जनित, विकारी भाव, जीवके स्वभाव विरुद्ध होनेसे विपत्तिके ही मूल हैं। अतः परपद छोड़कर निज पदका ही अनुभव करो ॥१३९॥

ज्ञानके विकल्प, ज्ञेयक कारणवश हैं, अतः उन विकल्पोसे भी दूर, सामान्य ज्ञान ही उपादेय है—

> एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
> स्वादंद्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
> आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
> सामान्यं कलयत् किलैव सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(**एष आत्मा**) यह सम्यग्ज्ञानी पुरुष, (**एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्**) अपना एक मात्र भाव जो ज्ञायक भाव, तन्मात्रसे उत्पन्न जो महास्वाद, उसे प्राप्त करता हुआ तथा, (**स्वां वस्तुवृत्तिम् विदन्**) अपनी आत्माकी जो शुद्ध परिणमन रूप पर्याय, उसे अनुभव करता हुआ, (**द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असह**) कर्म-नोकर्मके द्वन्द्वमे होनेवाले विकारी स्वादको सहन न करनेवाला, साथ ही (**आत्मात्मानुभावानुभावविवशः**) आत्माका अनुभव उसके प्रभावके वशको प्राप्त हुआ (**विशेषोदय भ्रश्यत्**) ज्ञानमे होनेवाले जो विशेष अर्थात् विकल्प उनको नष्ट करता हुआ, (**सामान्यं कलयत्**) तथा सामान्य ज्ञानकी सत्ताको स्वीकारता हुआ, (**सकलज्ञानम् एकता नयति**) सम्पूर्ण ज्ञानको सामान्यके रूपमे एकताको प्राप्त कराता है। अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानका अनुभव करता है ॥१४०॥

भावार्थ—विकल्प भेदक हैं। ज्ञानमे ज्ञेयके निमित्तसे नाना प्रकारके विकल्प होते हैं। मति-ज्ञान श्रुतज्ञानादिक भेद भी ज्ञानके विकल्प ही हैं। उन विकल्पोसे भिन्न, एक सामान्य ज्ञान सत्तावान्, निर्विकल्प अनुभव ज्ञानी करता है। यह ज्ञान कर्मोदय ससर्गसे जनित जो विकार रूप नाना विकल्प, उनसे तो भिन्न है ही, ज्ञेयके विकल्पोसे भी भिन्न है। केवल निज वृत्तिमे मगन है। वह आत्मा अपने आत्मानुभवनकी महिमाके प्रभावसे स्ववश होकर निर्विकल्प आत्माका अनुभवन करता है। अर्थात् उसीके स्वादमे लीन होकर फिर वहाँसे चिगता नहीं है ॥१४०॥

शुद्ध चैतन्य ज्ञान कल्लोलोका स्वय रत्नाकर है—

> अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयः
> निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
> यस्याभिन्नरसः स एष भगवान् एकोऽप्यनेकीभवन्
> वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(**यदिमाः अच्छाच्छा संवेदनव्यक्तय स्वयं उच्छलन्ति**) जिस चैतन्य समुद्रमे ये अत्यन्त शुद्ध-शुद्ध ज्ञान सवेदनकी लहरें स्वय उछाल ले रही हैं, तथा जो (**निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव**) समस्त द्रव्य गुण पर्यायोके समूहके रस की अतिशयताका अनुभवन

कर उन्मत्त बन रही हैं, (प. एक. अपि अनेकीभवन्) ऐसा वह चैतन्य रत्नाकर द्रव्य दृष्टिसे एक होकर भी, पर्याय दृष्टिसे अनेक रूप है। (यस्य अभिन्नरस) शुद्ध ज्ञान मात्र ही जिसका एक रस है, (स एष.) ऐसा यह चैतन्य स्वरूप आत्मा, जिसे उसकी पवित्रताके कारण (भगवान्) भगवान् भी कहते हैं, अपनी (उत्कलिकाभिः) नाना ज्ञान तरगोसे वह (अद्भुतनिधि.) आश्चर्यजनक नाना गुणरत्नोकी निधि स्वरूप (चैतन्यरत्नाकरः) चैतन्य समुद्र (वल्गति) गरज रहा है। उल्लसित हो रहा है ॥१४१॥

भावार्थ—आत्मानुभवकी उपमा एक रत्नोकी निधि स्वरूप समुद्रसे दी है। जैसे समुद्रमे शुद्ध जलकी उन्नत तरगें स्वयमे स्वयंसे उठती हैं। तरगोने अपनी उछालसे उसकी महत्ताके रससे आनन्दकी उन्मत्तता प्राप्त की है—तथा जो एक रस है, नथापि अपनी तरगोके उछालसे नाना रूप धारण करता है, अद्भुत आश्चर्यकारी है, ऐसा समुद्र अपनी महत्ताके कारण गरजता है। इसी प्रकार यह भगवान् शुद्धात्मा भी एक रत्नाकर है, जो अपनी विमल ज्ञानकी तरगोसे स्वय उछल रहा है। इस उछालमे उसके नाना गुणोकी स्थिति स्वय दिखाई दे रही है। ससारके समस्त ज्ञेयाकारोको अपने भीतर लिए हुए वे ज्ञान तरगें स्वय अपनेमे उन्नत बन रही हैं। वह एक ज्ञान रससे एकाकार होकर भी ज्ञानकी स्वच्छ पर्यायोसे नाना रूप धारण करता है। ऐसा वह आश्चर्यकारी गुणोका खजाना चैतन्य समुद्र, अपनी ज्ञान तरंगोसे गरज रहा है। उल्लासको प्राप्त होता है ॥१४१॥

स्वसवेद्यमान ज्ञान ही मोक्ष है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(परे) मिथ्यादृष्टि जीव (स्वयमेव दुष्करतरै) स्वय कठिनतर ऐसे (मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः) ये मोक्षके कारण हैं, ऐसा मान कर, नाना प्रकारके शुभोपयोग युक्त पुण्य कर्मोंके करनेसे (क्लिश्यन्ताम्) क्लेश उठाते हैं। अथवा (महाव्रततपोभारेण भग्ना) पञ्चमहाव्रत तथा नाना प्रकारके उपवासादि तपश्चरणोके भार द्वारा टटे हुए (चिरम् क्लिश्यन्ताम्) जीवनके बहुत काल पर्यन्त क्लेश उठाते हैं, सो उठाओ। तथापि ज्ञानके अभावमे मिथ्यादृष्टिको कुछ लाभ नही, वह भार ही है। वस्तुत· (स्वयं संवेद्यमानं) स्वय स्वानुभवमे आया (निरामयपद) समस्त सक्लेशोंसे रहित (इदं ज्ञान) यह आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन (साक्षान्मोक्ष) प्रत्यक्षमे ही मोक्ष है। मिथ्या-दृष्टिजन (ज्ञानगुणं बिना) सम्यग्ज्ञानके बिना उस अनुभवको (कथमपि प्राप्तुं) किसी प्रकार भी प्राप्त करनेमे (न हि क्षमन्ते) समर्थ नही हो सकते ॥१४२॥

भावार्थ—जिन्हे आत्मदर्शन नही हुआ वे आत्मदृष्टि रहित मिथ्यादृष्टि जीव हैं। इस अभिप्रायसे कि इन क्रियाओसे मोक्ष होगा, वे नाना प्रकारके व्रत और तपोका आचरण करते हैं। चूँकि मोक्षार्थी साधुजन इस-इस प्रकारके महाव्रतादि व्रत, तथा घोर तप करते हैं, अत· ये भी विविध तपस्याओका क्लेश उठाते हैं। ऐसा घोर तप करते हैं कि शरीर टूट जाता है। आचार्य कहते है कि उनका यह सब कार्य भार मात्र है। इससे मोक्षका मार्ग नही खुलता।

एकमात्र सम्यग्दर्शन, जिसे आत्मदर्शन कहना चाहिए, जो स्वानुभवरूप है, समस्त क्लेशोंसे रहित आनन्दकी भूमिका है, उससे मोक्षमार्ग खुलता है। सम्यग्दृष्टिके महाव्रतादि या उपवासादि तप उसे आनन्ददायक होते हैं। ऐसा स्वानुभव बिना ज्ञानाश्रयके नही होता, चाहे कितना भी तप करो। सम्पूर्ण महिमा सम्यग्दर्शनकी है। अत. भेदज्ञानको सर्वप्रथम प्रयत्नसे प्राप्त करना चाहिए।

(१७३) **प्रश्न**—दुष्कर तपको तथा महाव्रतादिको भाररूप क्यो कहा? माना कि सम्यक्त्व-रहित वे मोक्षके मार्गमे नही हैं, तथापि पापको तो भाररूप कहना उपयुक्त है। परन्तु पापके परि-त्यागरूप व्रतादिको भाररूप कहना क्या उपयुक्त है?

समाधान—मोक्षमार्गीके लिए पुण्यरूप तथा पापरूप क्रियाएँ दोनो भाररूप हैं। क्योंकि पुण्य-पाप दोनो कर्म हैं जो आत्मस्वरूप नही है। जो निज वस्तु नही है वह कितनी भी उत्तम हो भार ही है।

जैसे जो बोझा ढोता है ऐसा कोई मजदूर हो। उसके सिर पर मिट्टी लादी जाय तो भी उसे बोझ ढोना है, अथवा शक्कर लादी जाय तो भी बोझ ही है। उसका बोझ जबतक उतर न जाय तबतक उसे सुख नही है। पाप-पुण्य कर्म भी इसी तरह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्माके लिए बोझरूप ही हैं, अत उन्हे भार कहनेमे आया है।

(१७४) **प्रश्न**—महाव्रतादि पालनेवाले अपनेमे आनन्दित रहते हैं फिर उन्हे भार और क्लेशकारी शब्दोमे क्यो कहा है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि जीवको आत्महित की दृष्टि प्राप्त है अत. महाव्रतादिके पालनमें संसारके पापोसे मुक्ति मानकर आनन्दित होता है। मिथ्यादृष्टिकी दृष्टि पुण्यके बन्धकी दृष्टि है। एक हो क्रियामे एक मुक्तिमार्गका पथिक है, और दूसरा बन्धमार्गका पथिक है, अतः उसे भग्न और क्लेशी कहा है।

(१७५) **प्रश्न**—दृष्टि बन्ध पर हो, या मुक्ति पर हो। होता तो दोनोको पुण्य बन्ध ही है। महाव्रतादि रूप परिणामोंसे पुण्यका संचय ही तो होना है तब दोनोकी स्थितिमे क्या अन्तर है?

समाधान—महान् अन्तर है। सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्ध और पुण्यबन्धके फलको उपादेय नहीं मानता, जब कि मिथ्यादृष्टि उसे ही उपादेय मानता है। अत दोनोका अन्तर स्पष्ट है।

(१७६) **प्रश्न**—यदि मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यबन्धकारक व्रतादिके पालनमे आनन्द मानता है, तो वह न भग्न है, न संक्लेशी है, बल्कि उसे हेय माननेवाले सम्यग्दृष्टिको ही क्लेश है, और वही भग्न है, क्योंकि उसे वह करना पडता है जिसे वह हेय मानकर करना नही चाहता है?

समाधान--बन्ध और बन्धके फलमे आनन्द मानना ही तो भग्नता है, मूर्छा है, वही क्लेश है। जो उसमे आनन्द मानेगा वह उस बन्धके फलोपभोगसे पुन कर्मका ही बन्ध करेगा, जिसका उत्तरफल नरकादि दु ख है। अत मिथ्यादृष्टिका आनन्द उदर्कमे कष्टकारक ही है।

सम्यग्दृष्टि बन्धसे मुक्त होना चाहता है। अत. बन्धनको क्लेशकारक मानकर उससे छूटनेके उपाय स्वरूप आत्मानुभवन रूप जो भेदविज्ञान, उसमे आनन्द मानता है। उसका फल पुण्य-पाप बन्धनसे मुक्ति ही है। अतः वह न भग्न है, न क्लेशी है। किन्तु उसकी यह तपस्या उसे आनन्ददायिनी है। बधन मुक्ति पर दृष्टि रखकर वह तपक्लेशमे भी आनन्दित है।

(१७७) **प्रश्न**—मिथ्यामत निरूपित तप करनेवालोको, जैसे कॉंटोमे शयन करना, ऊर्ध्व मुख खडे रहना, एक पैर खडे रहना, पञ्चाग्नि तप तपना, ऊर्ध्वबाहु खडे रहना आदि, इस प्रकारके मिथ्या तप करनेवालोको, विपरीत फल प्राप्ति कहना उपयुक्त है। परन्तु जैनशास्त्र प्रणीत महाव्रतोका पालन, समिति गुप्तिका पालन, अट्ठाईस मूलगुणोका पालन करनेवाले दिगम्बर जैनसाधुओको भग्न कहना आचार्य अमृतचन्द्रको उचित नही था। वे तो स्वय महाव्रती थे, तब महाव्रतियोकी निन्दा इस प्रकार करना कहाँ तक उचित है?

समाधान—आचार्य अमृतचन्द्रने महाव्रतादि धारण करनेवाले दिगम्बर जैनसाधुओकी निन्दा नही की, किन्तु अज्ञानभाव पूर्वक किये जानेवाले उक्त कार्योकी अनुपादेयताका प्रतिपादन किया है। वे दिगम्बर जैन साधुओको सही स्थितिमे लाना चाहते है। अतएव वे कहते हैं कि आत्मज्ञान रहित तपस्या मोक्षमार्गी तप नही है। उसकी भूमिकामे आत्मज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जैसे ००००० पॉंच बिन्दुओका समूह स्वयमे किसी गणनाका प्रतिपादन नही करता, उनका योग भी शून्य है। परन्तु उसके पूर्व यदि एकका अक आ जाय तो वह १००००० एक लाख संख्या बन जाती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित व्रत तप आदि मोक्षमार्गमे उपयोगी नही हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन सहित वे अल्पमात्रामे भी हो तो भी कार्यकारी हैं, ऐसा आचार्यका अभिप्राय है।

(१७८) **प्रश्न**—मिथ्या तप करनेवाले मिथ्यादृष्टि बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं ऐसा शास्त्रोका लेख है, अत- मिथ्या तप भी बेकार नही जाता। आप जिनमत कथित महाव्रतादिको भी बेकार कहते हैं, ऐसी बात आगमानुमोदित नही जान पडती?

समाधान—कृति कोई भी बेकार नही होती। उसका फल कुछ न कुछ अवश्य होता है। इसमे विवाद नही है। यहाँ हमे यह देखना है कि उसका फल क्या होता है। यहाँ आचार्य मोक्षमार्गमे उसकी अनुपयुक्तता बता रहे हैं। स्वर्ग प्प्तिकी दृष्टिसे तो जिनमतोक्त दिगम्बर जैनसाधु, आत्मज्ञान रहित द्रव्यलिंगी हो, तो सोलह स्वर्गसे ऊपर नवग्रैवेयकमे भी उत्पन्न होता है। साथ ही सप्तम नरकमे घोर वेदना भोगनेवाले नारकीको भी कदाचित् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। वर्तमान ससारी दशामे ग्रैवेयकवासी बहुत उत्तम पर्यायमे है, और सप्तम नरकका नारकी हीन पर्यायमे है। तथापि मोक्षमार्गकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सम्यग्दृष्टि सप्तमनरकका नारकी मोक्षमार्गी है, प्रशंसनीय है, किन्तु मिथ्यादृष्टि नवग्रैवेयकवासी देव भी संसारमार्गी है। वह प्रशसा योग्य नही है। विवक्षावशात् यह सब कथन है, सो नयविवक्षाको समझकर वस्तुका निर्णय करना चाहिए।

यहाँ जो महाव्रतादि पालन करनेवालोको भग्न कहा है, वह आचार्यका पक्षपात रहित मोक्षमार्गका सही प्रतिपादन करना है। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे मिथ्यामतके अनुसार चले, चाहे जैनी तपस्या करे, दोनोमे कोई अन्तर-मोक्षमार्गकी दृष्टिसे नही है। ऐसा आचार्यश्रीका कथन है।

(१७९) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन निश्चयसे है या नही, इसकी कोई परीक्षा तो है नही, पर चारित्र मिथ्या है या सम्यक्, इसकी तो परीक्षा हो जाती है।

समाधान—ऐसा नही है, जब सम्यक्त्वकी उपस्थिति न हो तो वह चारित्र आगमोक्त पद्धतिसे भी पाला जाय तो भी वह सम्यक्चारित्र नही है। यही तो आचार्य पक्षपातरहित भावसे प्रतिपादन करते हैं। उनकी निष्पक्ष व्याख्या पर आपका ध्यान जाना चाहिए।

जो केवल बाहरी चारित्रमे लीन हैं, तथा स्वयं भेद-विज्ञानसे रहित हैं, वे मोक्षमार्गी नहीं

हैं। श्री दौलतरामजी अध्यात्मके रसिक थे, उन्होने छहढालामे इसे मिथ्याचारित्र ही लिखा है—

आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे-जे करनी तन करन छीन।
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित पंथ लाग॥

साराश यह कि जिन्हे आत्मा और अनात्माका ज्ञान नही है उन्हे भेदविज्ञान नही है, जिन्हे भेदविज्ञान नही है—उनकी समस्त क्रियाएँ केवल शरीर शोषण की हैं। मिथ्याचारित्र हैं। अतः मिथ्याचारित्रसे अपनेको मोक्षमार्गी माननेका अहकार त्यागकर, आत्महितके मार्गमे लगना चाहिए।

जैसे केवल अध्यात्म चर्चा करने मात्रसे अपनेको सम्यग्दृष्टि माननेवाले अहकारी मोक्षमार्गसे दूर हैं, इसी प्रकार भेदज्ञान रहित महाव्रतादिके अहकारी भी मोक्षमार्गसे दूर हैं। सम्यक्त्व सहित चारित्र ही मोक्षमार्गमे कार्यकारी है।

(१८०) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन तो भावात्मक है, पर चारित्र क्रियात्मक है। भावकी पहिचान तो स्वयकी स्वयको नही होती, पर क्रियाकी परीक्षा तो अपनी अपनेको भी होती है और दूसरेको भी होती है। यही कारण है कि चारित्रधारीकी क्रियामे थोडी भी त्रुटि देखी जाय तो वह निन्दाका पात्र बन जाता है, पर सम्यग्दर्शनका अहकार रखनेवाले अचारित्री स्वयको सम्यग्दृष्टि कहनेका डका पीट देते है, और समाजमे ऊचा मस्तक करके चलते हैं, तथा चारित्रके तिरस्कारमे ही अपने सम्यक्त्वकी महिमाका गान करते हैं ?

समाधान—आचार्यश्री तो वस्तुतत्त्वकी यथार्थ व्याख्या करते हैं। उसका यदि कोई अहकारी दुरुपयोग करे तो वह स्वय निगोदका पात्र बनेगा। झूठा अहकार करनेसे अथवा व्रतियोकी निन्दा या तिरस्कार करनेसे न कोई सम्यग्दृष्टि होगा, और न मोक्षमार्गी होगा।

इसी प्रकार केवल व्रतादिकोको सदोष पालन करनेपर भी अपनेको व्रती या महाव्रती माननेवाले सम्यक्त्वमे रहित चारित्रके अहकारी भी, न चारित्रधारी है और न मोक्षमार्गी हैं।

मोक्षमार्गमे स्थित वे है, जो सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी हैं। जिन्हे सम्यग्चारित्रके पालन करनेकी चटपटी है। जो अचारित्र दशामे अपनी हीनता स्वीकार करते है। चारित्रकी महिमाको जानते व मानते हैं। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है। तथा भेदविज्ञानकी महिमाको धारणकर जो व्रत सयम पालते हैं, ऐसे श्रावक या महाव्रती साधु उनसे भी आगे मोक्षमार्गमे बढे हुए हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव व्रत चारित्रको तिरस्कार दृष्टिसे नही देखते, आदर करते हैं। इसी प्रकार महाव्रती अध्यात्मका निरादर नही करते, किन्तु अध्यात्मको जीवनमे उतारते हैं। तथा आत्मरमणरूप निश्चयचारित्रको स्वीकार करते हैं जो साक्षात् मोक्षका हेतु है। जो लोग इस जिनागमके रहस्यके ज्ञाता नही हैं वे केवल भगवद्-भजन, बाह्य व्रताचरणमे मगन हैं और इन शुभकार्योसे मुक्ति मानते है। इन शुभ कार्योंका निषेध नही है, पर यह मानकर चलो कि ये पुण्यबन्धके कारण हैं, किन्तु मोक्षका पथ पुण्य-पापसे भिन्न ज्ञानाश्रयसे ही है, जो इसके आगे है वही साध्य है। जिनके हृदय कमलमे ज्ञानकला प्रकट हुई है, उनकी दृष्टि बाह्यसे सिमटकर अन्तरगको प्रकाशित करती है। वे जगत्से भिन्न आत्माका दर्शन करते है। उसके समस्त गुणोको परखते है। वे ही परमार्थी अपने परम अर्थके साधक है॥१४२॥

निजपदके अवलम्बनसे ही मुक्ति है, अतः उसे प्राप्त करो—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं, सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्, कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(**इद पदं**) यह मोक्षका मार्ग (**ननु कर्मदुरासद**) शुभ-अशुभ कर्म द्वारा अप्राप्य है, किन्तु वही (**सहजबोधकलासुलभ**) अपने सहजज्ञानकी जो कला है, उससे प्राप्त होना सुलभ है। (**ततः**) इसलिए (**निजबोधकलाबलात्**) आत्मज्ञानकी कलाके आश्रयसे (**इदं कलयितु किल**) इसे प्राप्त करनेके लिए (**जगत्**) लोक (**सततं यतताम्**) सतत् प्रयत्नशील होवे ॥१४३॥

भावार्थ—जैसे अशुभोपयोगी पापकर्मके बन्धक हैं, इसी प्रकार शुभोपयोगी पुण्यकर्मके बन्धक हैं, दोनो संसारके बन्धनमे ही स्वयम्‌को बाँधते है। मुक्ति तो केवल आत्मज्ञानके वैभवके आश्रयसे ही होती है। अत. आचार्य समारके समस्त प्राणियोको उपदेश देते हैं कि हे प्राणियो! अपने ज्ञानभावका आश्रय करना ही मोक्षको प्राप्त करनेकी सबसे बडी कला है, उसे प्राप्त करो। संसारके भी कार्य कभी पराश्रयसे नही होते, निजबलके आश्रयसे ही होते हैं, तब मोक्षका कार्य पराश्रयसे कैसे होगा ? उसके लिए भी अपना बल अर्थात् पौरुष ही प्रकट करना होगा ॥१४३॥

अपनी ज्ञान-कला ही चिन्तामणि रत्न है—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः चिन्मात्रचिन्तामणिरेव यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात् एष चिन्मात्रचिन्तामणि**) यह चैतन्यमात्र तत्त्व ही चिन्तामणिके समान (**अचिन्त्यशक्ति**) अचिन्त्य शक्तिवाला है (**ज्ञानी**) यह ज्ञानी आत्मा (**स्वयमेव देव**) स्वय देवता है। (**सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते**) स्वय सर्व अर्थोको सिद्धिका विधान करनेवाला है, तब (**अन्यस्य परिग्रहेण किम्**) किसी अन्य वस्तुके अवलम्बनसे क्या लाभ है ? ॥१४४॥

भावार्थ—आत्मस्वरूपका अनुभव ही, सम्पूर्ण अर्थोको सिद्ध करनेवाले चिन्तामणि रत्नके समान अपूर्व शक्तिका भडार है। इसीके आश्रयसे जीव ससारके सम्पूर्ण बन्धनोको तोडकर मोक्षके पथका पथिक बनता है, तथा चतुर्गतिरूप ससारके दु खोंसे छूट जाता है। पूर्वकृत कर्मका विनाश, नवीन कर्मका निरोध, ये दोनो मुक्तिके उपाय हैं, जो आत्मानुभवीको सहज प्राप्त हैं। लोकमे ऐसा वाद प्रचलित है कि चिन्तामणि रत्न जिसके पास है, वह समस्त चिन्तितार्थोको प्राप्त कर लेता है। जगत्मे ऐसी कोई अलभ्य वस्तु नही है जो उससे प्राप्त न हो। वह सर्वार्थसिद्धि दायक अचिन्त्य शक्तिवाला अनुपम पदार्थ है।

आचार्य कहते है कि हे आत्मन्! तू परकी ओर दृष्टि करके दीन हुआ ललचाता फिरता है। तूने कभी अपनी निजनिधिका दर्शन नही किया। तेरे भीतर तेरी ज्ञान-कला ऐसी अपूर्व निधि है, जो तेरे सम्पूर्ण प्रयोजनोको साधनेवाली है। वही तेरे लिए चिन्तामणि रत्नके समान शक्तिशाली वस्तु है। जिसकी शक्ति चिन्तनमे नही आती, पर स्वय अनन्तशक्ति उसमे है उसका आश्रय कर, तेरे सर्व मनोरथ पूर्ण होगे। उस आत्मानुभवके उद्योत होनेपर मिथ्यात्वका अन्धकार स्वय लुप्त हो जाता है। ज्ञानकी किरणें सर्वत्र उद्योत करने लगती हैं। वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाता है, परसे राग-द्वेष दूर होकर समता रसका स्वय उछाल होकर साम्यदृष्टि हो जाती है।

ऐसी ज्ञानी अपनी आत्मानुभवकी लहरोमें ही मगन रहता है, पराश्रयकी दीनता दूर हो जाती है। मोक्षपथ उसकी दृष्टिमे सहज दीखता है। उसका मन संसारकी समस्त वासनाओंसे दूर हो जाता है, और बन्धमार्ग छूट जाता है ॥१४४॥

समस्त-परिग्रहका त्यागी आत्मदर्शी स्वय अज्ञानसे मुक्त होकर सयमी बनता है—

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषात्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(**इत्थं**) इस प्रकार (**समस्तमेव परिग्रहम्**) सम्पूर्ण परका परिग्रह (**स्वपरयोरविवेकहेतुम्**) जो स्व आत्मा तथा उससे भिन्न जो पर पदार्थ, उन दोनोमे विवेक भावको उदित नही होने देता, उस परिग्रहको, (**सामान्यतः**) सामान्य रूपसे (**अपास्य**) दूर करके (**अधुना**) अब (**अज्ञानम् उज्झितुमना**) अज्ञान भावसे मुक्त होनेको इच्छासे (**विशेषात् तम् एव परिहर्तुम्**) उसी परिग्रहको विशेष रूपसे परित्याग करनेके लिए (**भूयः अयं प्रवृत्तः**) अब पुनः यह प्रवृत्त होता है ॥१४५॥

भावार्थ—अनादि कालसे ही मोहके उदयमे इस जीवको अपने स्वरूपका भान ही नही है। परिग्रहमे ही यह सलग्न है। उसीके सग्रहमे आनन्द मानता है और उसके वियोगमें दुखी रहता है। निजको भूलनेपर परमे निजत्वकी उसे बुद्धि आ गई है। परके ऊपर "यह पर है" ऐसी दृष्टि नही है, किन्तु उसके स्वरूपमे अपना ही स्वरूप देखता है। दोनोका भेदज्ञान उसमे नही है। यह सुनिश्चित है कि पर द्रव्य उसका कभी होगा नहीं। परका परिणमन तो परके आधीन है। अज्ञानी जन मोहसे उसमे आत्मस्वरूप देखते हैं—यही उनके दुखका हेतु बन जाता है। इस भूल और तज्जन्य दुखका नाम ही 'ससार' है। इस भूलके दूर होनेसे वह दुख भी दूर होता है। इसीका नाम 'मुक्ति' है।

आचार्य इस भूलको दूर करनेका ही उपदेश देते हैं कि हे भाई! इस परिग्रहको त्याग दे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि अन्तरग परिग्रह, और धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहका त्याग ही, आत्मस्वरूपकी प्राप्ति और मुक्तिसुखका मार्ग है, यथार्थ कारण है ॥१४५॥

ज्ञानी जीव भेदज्ञानी होनेसे, कर्म विपाकमे भी दुखी नही होते—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद् भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिन**) ज्ञानी जीवके (**पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्**) पूर्वकालमे बँधे हुए अपने कर्मके उदयकी दशामे (**यदि**) यदि (**उपभोग भवति**) पाप-पुण्यका उपभोग होता है (**अब भवतु**) तो होवे, तथापि ज्ञानीके (**रागवियोगात्**) उस कर्म उदयमे तथा उदयमे सहायक सामग्रीमें रागभावका अभाव होनेसे वह सब (**परिग्रहभावम् न एति**) परिग्रहपनेको प्राप्त नही होता। अत. उसे बन्ध नही होता ॥ १४६॥

भावार्थ—ज्ञानी जीवने मिथ्यात्व दशामे जो कर्मोका बंध पूर्वमे कर लिया है, वे समय-समय पर उदयमे आते हैं, वही कर्मका विपाक है। उस कर्म विपाकके कारण नोकर्म स्वरूप सुखदुखकी सामग्रीका भी सयोग जीव प्राप्त कर लेता है, और उस समय सामग्रीके आधार पर कर्मोदया-

नुसार सुख-दुखका उपभोग करता है। फिर भी उसे नवीन कर्मबध नही होता क्योकि वह उस सामग्री तथा उसके फलस्वरूप सुखादिका रागी नही है। "रागी बँधता है, विरागी छूटता है" यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार वीतरागी ज्ञानी पुरुष रागयोगके अभावके कारण, कर्म-की निर्जरा करता है, तथा नया बन्ध नही करता। ज्ञानीके कर्मभोग परिग्रह भावको प्राप्त नही होते अत निर्जराके ही हेतु है।

(१८१) **प्रश्न**—भोग तो बधक हा कारण हो सकते हैं, चाहे ज्ञानी करे चाहे अज्ञानी करे। "ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अबधक है" ऐसा कहना अपने मतके श्रद्धालुका सरासर पक्षपात है। पक्षपात करनेसे कल्याणका मार्ग नहीं खुलता।

यह एक प्रश्न है कि यदि ज्ञानी जहर पी ले तो क्या वह मृत्युसे बच जायगा? क्या जहर-का अजानकार ही उसे पीकर मरेगा? दोनो बातें असगत है। जहर पीने वाला अवश्य मृत्युको प्राप्त करेगा। इसी प्रकार पचेन्द्रियोके विषयोका उपभोग करने वाला जीव, ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी हो, कर्म बधको अवश्य ही प्राप्त होगा।

समाधान—यह ठीक नही है। बन्धका कारण तो रागभाव है, न कि क्रियामात्र। अत विरागीके बन्ध नही होता है। यहाँ ज्ञानीका अर्थ इतना ही नही है कि जो "बन्धके कारणोका मात्र ज्ञायक हो, पर पचेन्द्रियोमे (जानकर भी) राग करता हो।" इस प्रकरणमे उसे ज्ञानी नही माना। ज्ञानी उसे कहा है जो पचेन्द्रियोके विषयोमे राग नही करता। सासारिक सुख और दुखमे भेद नही करता। किन्तु कर्मके उदय मात्रको चाहे शुभ हो अथवा अशुभ रूप हो, समान रूपसे संसारका कारण मान कर, उससे मुक्त होना चाहता है, ऐसा जीव नवीन बन्ध नही करता।

जैसे पराधीनताको प्राप्त किसी राजाको कैदमे छप्पन व्यजन भी खानेको मिले तो भी उसमे रागी नही होता, बल्कि उसे दुखदायक ही मानता है, और पराधीनतासे छूटनेका उपाय करता है। सम्यग्दृष्टिकी भी स्थिति ऐसी ही है। वह ससारमे कितनी ही पुण्योदय जन्य विषय सामग्रीको प्राप्त हो, पर उसे दुखदायक मान, उसका त्याग ही करना चाहता है। यही कारण है कि ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अवसर पाते ही, घर गृहस्थी, राज्य-परिवार, सबका त्यागकर निर्ग्रंथ हो वनका आश्रय लेते हैं।

(१८२) **प्रश्न**—वनका आश्रय करनेकी और निर्ग्रन्थ बननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है जबकि ज्ञानी, घर गृहस्थीके समस्त भोगोपभोग तथा तज्जन्य आनन्द भोगते भी, कर्मकी निर्जरा करता है और नवीन बन्ध नही करता। इस स्थितिमे मुक्ति तो गृहस्थके भी हो सकती है, क्योकि वह ज्ञानी है, विरागी है।

समाधान—ज्ञानी गृहस्थ गृहभावमे रत नही है, ज्ञानभावमे रत है। कर्मोदयकी प्रबलतासे गृहपनेको भोगता नही है, भोगना पड रहा है। उसमे आनन्दित नही है, दुखी है। उसे छोडनेको छटपटा रहा है। जितना उसे कर्मके प्रबल उदयमे राग है उतना बन्ध वह करता है, फिर भी अल्प स्थिति अनुभाग रूप। जब वह गृहस्थाश्रमका परित्याग कर देता है तब विरागी और पूर्ण निर्ग्रन्थ बन कर आत्मसाधना करता है।

(१३८) **प्रश्न**—आपने कहा था कि ज्ञानी जीव कर्मोदयजन्य भोग भोगता है, अत भोगते हुए भी अबन्धक है निर्जरक है। पर इस समाधानमे आपने उसे अल्पबन्धक कहा, दोनो बातोमे परस्पर विरोध प्रतीत होता है अत. अपना अभिप्राय अधिक स्पष्ट करिए।

समाधान--ज्ञानी शब्द सम्यग्दृष्टि मात्रके लिए प्रयुक्त होता है। सम्यग्दृष्टि चतुर्थ, पचम, षष्ठ तथा इससे ऊपर गुणस्थानोके जीव भी कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्वका अभाव हुआ अत बडी स्थिति और अनुभागको लेकर इन्हे कर्मबन्ध नही होता। जो भी चारित्र मोहके उदय जन्य अल्पराग होता है वह नगण्य है, क्योंकि वह अनन्त ससारका कारण नही बनता। इस अपेक्षा ये सब ज्ञानी अबन्धक कहे जाते हैं, तथापि चौथेमे अव्रतीके, पचम गुणस्थानमे गृहीके, छठें, सातवें आदि मुनिके, जितना-जितना राग घटता जाता है, बन्ध भी घटता जाता है। ये सब अबन्धकपनेके मार्गपर हैं, अत कर्मोदयजन्य सुख दुखको भोगते हुए भी रागकी अल्पतासे अल्पबन्धक हैं। इसे गौणकर इन्हे अबन्धक कहा है।[1]

(१८४) **प्रश्न**—ये ज्ञानी अल्पबन्धक हैं तब इन्हे अबन्धक क्यो कहा ?

समाधान--अल्पतामे अबन्धक कहना दोषास्पद नही है। ऐसा सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है। जैसे कोई लक्षाधिपति हो और सहस्राधिपति रह जाय, तब "वह धनी मिट गया" ऐसा कहा जाता है, क्योकि वह अत्यल्प धन जो उसके पास रहा वह नगण्य है। अथवा किसीके सिरपर एक बडा-सा बोझ था, वह उसे ढोते-ढोते थक जाता था, उसका बोझ यदि मात्र पाँच किलो रह जाय तो वह कहता है कि "बोझ उतर गया" बहुत आराम मिला।

इसी प्रकार मिथ्यात्व दशामे जहाँ उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग लिए पाप बन्धता था, वहाँ अब सम्यक्त्व दशामे अल्प स्थितिका बन्ध होने लगा। उससे अब ससार परिभ्रमणकी गति मन्द हो गई, अल्प ससारी रह गया। आगे जैसे-जैसे अन्तरंग राग घटता जायगा, बाह्य अवस्था भी बदलेगी। इसी बदलाहटका नाम "निर्ग्रन्थपना" है। वह होता ही है। नवम गुणस्थानतक सूक्ष्म बन्धक होकर साधु ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानमे मोहका सर्वथा अबन्धक हो जाता है।

इस अबन्धकपनेके मार्गमे स्थितको भी अबन्धक कहा है। यह अबन्धकपना ज्ञानकी महिमा है। अत जितने अश ज्ञानी है उतने अश तो अबन्धक हो है। अत उसे अबन्धक कहनेमे कुछ बाधा नही है। उस अबन्धकके, प्रति समय उदयागत कमका उपभोग होता है, उपभुक्त कर्म निर्जरा को प्राप्त होता है, अत ज्ञानीके निर्जरा ही होती है ऐसा कहा जाता है। जितने सूक्ष्म अशमे उसे राग होता है उतना बन्ध भी होता है, तथापि मिथ्यादृष्टि अवस्थामे अनन्त संसारको बढानेवाले कर्म बन्धकी अपेक्षा, यह बन्ध अत्यल्प होनेसे नगण्य माना गया है, अतः उसे अबन्धक कहा गया है।

(१८५) **प्रश्न**—ज्ञानी अबन्धक कहा गया है, या है ?

समाधान--'है'—इसीलिए कहा गया है। न होता तो वैसा ही कहा जाता। सर्वथा अबन्धक होनेपर 'अबन्धक है' ऐसा कहा जायगा। पर जबतक किंचित् भी बन्ध है तबतक उसकी गणना अर्थात् विवक्षा न होनेसे वह 'अबन्धक' कहा जाता है ॥१४६॥

---

१. मिथ्यादृष्टे सकाशादसयत सम्यग्दृष्टे अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय जनिता, श्रावकस्यचाप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभजनिता रागादयो न सतीत्यादि। किं च सम्यग्दृष्टे सवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका भवति। तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यापेक्षया सम्यग्दृष्टिरबधक इति। —समयसार गाथा १९३, तात्पर्यवृत्ति

'मिथ्यात्व रहित चारित्रमोह सम्बन्धी उदयके परिणामको यहाँ राग नहीं कहा, इसलिए सम्यक्दृष्टिके ज्ञान वैराग्य शक्तिका अवश्य होना कहा है। मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा गया है, वह सम्यक्दृष्टिके नहीं है।' —समयसार गाथा २०० तथा कलश १३७ का भावार्थ

- ज्ञानी निष्कांक्षित है अतः इच्छा नही करता, किन्तु विरक्तताको ही प्राप्त होता है, इसका कारण बतलाते हैं—

वेद्यवेदकविभावचलत्वात् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

अन्वयार्थ—(**वेद्यवेदकविभावचलत्वात्**) वेद्य अर्थात् अनुभवन योग्य भाव और वेदक अर्थात् अनुभवन करने वाला भाव, दोनो विभाव क्षणभंगुर हैं। अत (**कांक्षितम् एव न खलु वेद्यते**) जिसकी वाछा की जाती है वह वेदन नही किया जाता। (**तेन विद्वान् न किंचन कांक्षति**) इसीलिए ज्ञानी पुरुष कुछ भी इच्छा नही करता, किन्तु (**सर्वतः अपि अति विरक्तिम्**) सभी पदार्थों से सभी प्रकार अत्यन्त विरक्तताको ही (**उपैति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ—वस्तुतः पर-पदार्थ अपनी-अपनी सत्तामे अक्षुण्ण हैं, उनका जीव भोग नही करता, न कर सकता है। 'मैंने पदार्थ भोगा' यह तो उपचरित कथन है। पदार्थका ज्ञान ही पदार्थका वेदन है और उसके प्रति राग ही उस पदार्थका भोगना कहा जाता है।

पाँचो इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियां हैं। वे तो पदार्थको जानती मात्र हैं, इस जाननेसे बन्ध नही होता, किन्तु उनके प्रति जो रागभाव होता है उससे बध होता है, उस रागभावका ही भोक्ता अज्ञानी है, तथापि 'मैंने पदार्थ भोगा' ऐसी उपचरित भाषा लोकमे बोली जाती है किन्तु यह यथार्थ नही है।

आकाक्षाका नाम ही वेद्यभाव है। आकाक्षाको भोगनेवाला रागादिभाव, वेदकभाव कहा गया है। दोनो कर्मोदयमे होते है अत दोनो ही विभाव है। दोनो अस्थायीभाव है और उनमे कालभेद-भी है। जब वेद्यभाव होता है तब वेदक भावकी उत्पत्ति नही होती, और जब वेदकभाव होता है तब-तक वेद्यभाव समाप्त हो जाता है। दोनो एक साथ कभी नही हो सकते, इसलिए कांक्ष्यमाणभावकी पूर्ति होना सम्भव ही नही है। ज्ञानी इस वस्तुस्थितिको जानता है अत वह इनमेसे किसी की भी इच्छा नही करता, कोई आकाक्षा नही करता। अत्यन्त विरक्त होता हुआ, उनका ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानी जानता है कि ससारका प्रत्येक पदार्थ क्षणभगुर है। परिवर्तनशील है। तथा मेरा ज्ञानभाव भी परिवर्तनशील है। सभी पदार्थ क्षण-क्षणमे पर्याय बदलते हैं। ऐसी अवस्थामे मैं जिसकी आकाक्षा करता हूँ वह वेद्यभाव भी क्षणभरमे विनष्ट हो जाता है। यदि अनागत पर्यायकी आकाक्षा करूँ तो तबतक मेरा वेदकभाव परिवर्तित हो जाता है। अत दोनोंके समय-समय परिवर्तन रूप होनेमे आकाक्षा और आकाक्षित दोनोका एक कालमे अस्तित्व नही बनता, अत वेद्यवेदक भावके, जो विभाव रूप ही हैं—चचल होनेसे जब दोनोका योग सम्भव हो नही है तब आकाक्षा करना वृथा है। मात्र कर्मबन्धको हेतु है। अत ज्ञानी इन सबसे विरक्तता ही को प्राप्त होता है।

जो लोकमे भोग्य माने जाते हैं वे पदार्थ तीन प्रकारके है—भूतकाल-अनागतकाल—और वर्तमान काल सम्बन्धी। इनमें जो भूतकालमे नष्ट हो गए, वे तो भोगे ही नही जा सकते क्योकि उनका अस्तित्व ही नही रहा। अनागत कालके भी भोगे नही जा सकते क्योकि वे अभी अनुत्पन्न हैं। दोनो कालके पदार्थ सत्तामे नही हैं। वर्तमान कालीन पदार्थ, जो कर्मोदयकी वरवशतामे उपस्थित है, वे सुखसाधन भी हो सकते हैं और दुखसाधन भी।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी कर्मोदयमे सञ्चित उन सभी पदार्थोंको दुखदायक पराधीन तथा विनाशीक देखता है। वह यह भी जानता है कि वर्तमानकाल भी एक समय मात्र है। अत. वर्तमानकालीन पर्याय भी क्षणभंगुर है। क्षणके बाद यह अतीतकालीन हो जायगी अतः ऐसी क्षणस्थायी पर्यायके प्रति रागादि भाव रखना श्रेयस्कर नही है। अतः वह कांक्षा नही करता, यही सम्यग्दृष्टिका नि.काक्षित अंग है। उसकी कांक्षारहितताके कारण उक्त प्रकार हो हैं।

(१८६) **प्रश्न**—समस्त संसारी प्राणी पंचेन्द्रियके विषयोको भोगते हैं, आनन्दित होते हैं। उनकी सप्राप्तिके लिए कोई पाप करते हैं और कोई धर्मात्मा पुण्य सचय करते तथा पुण्योदयमे उसे प्राप्त कर भोगते हैं। यहाँ कहा गया है कि—सम्यग्दृष्टि मात्र वर्तमानको भोगता है, तो वीतराग भावसे केवल कर्मोदय ही भोगता है, अतः अबन्धक है। ऐसी बात तो विपरीत, अनुभव विरुद्ध प्रतीत होती है।

समाधान—अनुभव विरुद्ध अवश्य है। क्योंकि ससारी जीवका अनुभव ही ऐसा है। ज्ञान भावका कभी अनुभव हुआ नही अतः वह रागीको अनुभव विरुद्ध तो प्रतोत होगा ही। तथापि जिन्होने पूर्व दशा भी भोगी है और आत्मानुभवन भी पश्चात् किया है, वे दोनो दशाओके अनुभवी जो कहते हैं वह यथार्थ है। वह उनके अनुभव विरुद्ध नही है।

संसारीजन वस्तुत. अपनेमे राग द्वेषभाव ही करते हैं और वह जिन पदार्थोंको अवलम्बन लेकर करते हैं, उन 'पदार्थोंका भोक्ता' अपनेको मानते हैं। पर यह सत्य नही है। पदार्थ तो अपनी सत्तामे अपने द्रव्य-गुण-पर्यायमे रहता है, उसका एक देशाश या गुणाश भी जीव अपनी सत्तामे नही मिला सकता अत उन्हे भोगता नही है, वह अपने रागभावका ही भोक्ता है। पदार्थका तो ज्ञाता ही हो सकता है। ज्ञाता होनेपर भी, और उनसे रागी होनेपर भी, वह उन पदार्थोंसे त्रिकाल भिन्न है। तब 'उनका भोक्ता कैसे ?' यह मिथ्या कल्पना ही अज्ञानीको ससारमे भटकाती है। इसीसे वह पदार्थके लिए दौड़ा-दौड़ा फिरता है। सम्यक्त्वी ज्ञानी वस्तुस्वभाव जानता है, अतः भटकता नही है। सन्तोष भाव रखता है ॥१४७॥

ज्ञानी परिग्रहवान् क्यो नही है ? इसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं, कर्मरागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे, स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(**रागरसरिक्ततया**) रागके रससे शून्य होनेके कारण (**ज्ञानिनः कर्म**) ज्ञानीकी कोई भी क्रिया (**परिग्रहभावं**) ममत्व परिणामको (**न एति**) प्राप्त नही होती। अत' बन्धका ग्रहण नही है जैसे (**अकषायितवस्त्रे**) कषेले पदार्थ मजीठ आदिसे न रंगे गए—'श्वेत वस्त्रमे' (**स्वीकृता एव रंगयुक्तिः**) स्वीकार किया गया भी लाल आदि रग (**इह बहिर्लुठति**) यहाँ बाहिर ही बाहिर रहता है, वस्त्रको लाल नहीं करता ॥१४८॥

भावार्थ—जैसे रंगरेज जब वस्त्रको रगता है तो उसके पूर्व वह वस्त्रको मजीठ, लोध आदि कषैले द्रव्यसे भिगो लेता है, तब रंगमे डालता है। इसका फल यह होता है कि वस्त्र पर पक्का रग चढ़ जाता है। अन्यथा अर्थात् यदि वस्त्रको कषैले द्रव्योंसे भिगोया न जावे और रगा जाय

तो वह वस्त्र ऊपरसे रँगा-सा लगता है, पर रग वस्त्रमे प्रवेश नही करता। ऐसा वस्त्र पानीमे डालनेसे उसका रंग तत्काल दूर हो जाता है।

इसी प्रकार कषाय जो रागादि परिणाम, उनसे जो जीव रगा हुआ नही है, उसकी जो कर्मोदयके भोगकी क्रियायें हैं, चाहे वह शुभोदयका भोग हो चाहे अशुभोदयका हो, उस समस्त क्रियाओसे वह कर्मबन्धको प्राप्त नही होता। दूसरा दृष्टान्त—जैसे बालक कामवासनासे रहित है, उसे कोई भी महिला उठा ले और वह उसके स्तन आदिका स्पर्श करे तो अपराधी नही होता, किन्तु वही युवावस्थामे स्पर्श करे तो अपराधी माना जाता है। दोनो अवस्थाओमे कामवासना-जन्य रागके अभाव व सद्भावका ही अन्तर है। इसी तरह ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियाओमे रागादिके अभाव और सद्भावके कारण ही बन्धके अभाव व सद्भावका कथन किया गया है।

ज्ञानी स्व-परका ज्ञायक है, अत परद्रव्यको 'यह मेरा है' ऐसा कैसे मानेगा ? उसे तो अपने निज वैभवका यथार्थ ज्ञान है। स्वमे परका प्रवेश ही नही होता तब उससे राग करना भी निरर्थक है। लौकिक ज्ञानी भी जैसे यह जानता है कि सामने खडा महल राजाका है, उसकी समस्त शोभा व सामग्री उसकी है, मेरी नही है। यदि मै उसे अपनी मान लूं और ऐसा व्यवहार करूँ कि उसे स्वीकार कर उसका उपभोग करूँ तो राज्यकर्मचारियो द्वारा बन्धनमे डाल दिया जाऊँगा। अतएव वह सब कुछ देखते हुए भी लौकिक दृष्टिसे, स्व-परके भेदको सामने रखकर ही उसे देखता है, अत ज्ञान तो करता है पर बन्धनमे नही पडता।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्व-परका यथार्थ भेदज्ञानी होता है। उसने अपने वैभवको स्वीकार किया है, अत यद्यपि परके बीचमे रहता है, लौकिकजनोमे लौकिक व्यवहारमे निपुण है, तथापि अन्तरगसे उसमे लिप्त नही है अतः अपरिग्रही ही है।

इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसे इच्छा या वाञ्छा होगी वह परका परिग्रह करेगा ? मिथ्या-न्धकारकी भूमिकासे जो दूर हो गया है, आत्मप्रकाश जिसका जग गया है, वह भूलकर भी परमे नही रमता। वह परके मध्यमे क्रिया करता हुआ भी परको स्वीकारता नही है।

जैसे, पत्थर चाहे बरसोसे पानीके मध्यमे पडा हुआ हो, पत्थरपर शैवाल भी जम जाय, तथापि उसे हथौडेसे फोडनेपर भीतर सूखा ही निकलता है। उसने पानीके भीतर रहकर भी पानीको स्वीकार नही किया। पानी उसके बाहिर ही बाहिर रहा। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ससारके समस्त सुख दुखोत्पादक सामग्रीके बीचमे रहता है, उनका कर्मोदयके वशसे उपभोग भी करता है, तथापि अन्तरग विरागताके कारण उन पदार्थोंके रागकी आर्द्रता उसके भीतर प्रवेश नही करती, वह उससे सूखा ही निकलता है। यही कारण है कि उसे अपरिग्रही—निर्बन्धक—अबन्धक आदि शब्दो द्वारा आचार्यने सम्बोधित किया है ॥१४८॥

ज्ञानीकी निर्लिप्तताको पुन कहते हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(**यत ज्ञानवान्**) क्योंकि ज्ञानी पुरुष (**स्वरसत अपि**) अपने स्वरससे अर्थात् स्वभावसे ही (**सर्वरागरसवर्जनशील:**) सम्पूर्ण राग-रससे दूर रहने रूप स्वभाववाला है (**तत:**) (**कर्ममध्यपतित अपि**) इससे कर्मके बीच पड़ा हुआ है, तो भी (**एष.**) यह ज्ञानी (**सकलकर्मभि**) सम्पूर्ण कर्मोंसे (**न लिप्यते**) लिप्त नही होता ॥१४९॥

भावार्थ—जीव चैतन्य स्वभाव वाला है, और कर्म जड स्वभावी हैं। रागादि भाव अचेतन भाव हैं, अतः चेतनका अचेतन भावसे दूर रहनेका ही स्वभाव है। फलतः सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जबतक ससारमे है तबतक शुभाशुभ कर्मोंके उदयको भोगेगा, तथापि अलिप्त रहेगा।

ज्ञानी मुनिजन घोरोपसर्गके आनेपर उन्हे सहन करते हुए भी, तज्जन्य शारीरिक अग भगादिके क्लेश उठानेपर भी, समताभावसे उन्हे सह लेते हैं। वे कहते हैं कि यह पूर्व कर्मके विपाकका फल है। पूर्व अपराधका फल है। इसे समतासे भोगना ही श्रेयस्कर है। अत उससे विचलित नही होते। अपने स्वरूपमे निमग्न रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके इन सब कर्मोंकी निर्जरा ही होनी है और वे निज रसकी निमग्नतासे कैवल्यको भी प्राप्त करते है।

भरतचक्री जैसे पुण्योदयवान् गृहस्थ थे, चक्रवर्तित्वकी सम्पदाके बीच रहते हुए भी उसे कर्मोदयजन्य विडम्बना मानकर उससे विरक्त ही रहते थे। यही कारण है कि अवसर पानेपर उसे त्याग दिया और दिगम्बरी दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्तमे ही कैवल्यको प्राप्त किया। अतः सिद्ध है कि रागादि जीवके स्वभाव नही हैं ज्ञानी ऐसा जानते हैं ॥१४९॥

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैव कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत् सन्ततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(**यस्य वशत य यादृक् स्वभाव**) अपनी स्वाधीनतासे जो पदार्थ जिस प्रकारके स्वभाववाला है (**तस्य तादृक् स्वभाव अस्ति**) उसका स्वभाव उसी प्रकार ही है उसे (**परै.**) दूसरा परपदार्थ (**अन्यादृश कर्तुं**) किसी अन्य स्वभाववाला करनेमे (**कथञ्चनापि न शक्यते**) किसी भी प्रकार समर्थ नही है (**ज्ञान न कदाचन अपि अज्ञानं भवेत्**) त्रिकाल ज्ञान स्वरूपी आत्मा कभी अज्ञान नही बन सकता, अतएव (**हे ज्ञानिन्**) हे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव! (**सन्ततं ज्ञान भवत्**) निरन्तर ही अपने ज्ञान स्वभावमे रमण करते हुए रहो तथा (**भुङ्क्ष्व**) कर्मोदयजन्य सुख-दुखके सयोगको भोगो (**परापराधजनित:**) परके अपराधजनित (**तव बंध नास्ति**) तेरे कर्मबन्ध नही होगा ॥१५०॥

भावार्थ—यहाँ आचार्यश्री सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको सम्बोधन करके कहते हैं कि हे ज्ञानी पुरुष! तेरे ज्ञानभावमे रहते हुए भी विविध प्रकारके पूर्वमे बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मोंका उदय आयगा, वह रुकेगा नहीं, और तुझे दोनों प्रकारके कर्म भोगने होंगे। तथापि तू अपने ज्ञानस्वभावकी भूमिकामे क्रीड़ा करता रहा तो तेरे कर्मबन्ध न होगा।

जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह अपने आपमे रहता है। अन्य पदार्थका सम्बन्ध, उसे पर-स्वभावमे बदल नही सकता ऐसा नियम है। तुम भी कर्मोदयजन्य सुख-दुखको भोगते हुए

भी, यदि अपने स्वभावकी भूमिकामे रहो तो उसमे रहते हुए, कर्मके बन्धनसे न बँधोगे। परके अप-राधसे कोई बन्धनको प्राप्त नही होता, स्वापराधसे ही बँधता है।

साराश यह है कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे मोह जो मिथ्यात्व, उससे तथा पदवीके अनुसार प्राप्त राग-द्वेषसे भी रहित हैं, अतः मोह, राग, द्वेषके अभावमे उनके कर्मबन्ध नहीं होता। बन्धके कारण राग, द्वेष, मोह ही हैं। इन्हे ही अज्ञानभाव कहा गया है। इस अज्ञान भावसे ही बंध होता है।

सम्यग्दृष्टि जीवका भी पूर्वबद्ध कर्मोंका यथा समय विपाक होता है और वह भोगना पडता है। नरकादि गतियोमे दु:खका विपाक भोगना अनिवार्य है। स्वर्गादि गतियोमे सुखका विपाक भोगना भी अनिवार्य है। नारकी नरककी दु:ख सामग्रीसे दूर नही भाग सकता और देव सुख सामग्रीको छोडकर दूर नही भाग सकता। दोनोको दोनो अवस्थाएँ भोगना अनिवार्य हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि जीव दोनो अवस्थाओको निज ज्ञान स्वभावसे भिन्न ही श्रद्धान करता है, मानता है। अत उन्हे भोगते हुए भी पदानुसार उनमे राग, द्वेष रूप परिणाम नही करता, किन्तु अपने ज्ञान स्वभावकी शुद्धतामे ही रहता है। अतः ज्ञानीके पदवीके अनुसार कर्मबन्ध नहीं होता ॥१५०॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत् किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन् वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(**हे ज्ञानिन्**) अरे ज्ञानी पुरुष! (**कर्म कर्तुं जातु न उचितम्**) तुझे राग, द्वेष, मोह रूप शुभाशुभ क्रियाएँ करना किसी भी प्रकार उचित नही है (**तथापि किञ्चित् उच्यते**) तो भी यह जो कहा जाता है कि (**न जातु मे परं भुंक्षे**) ये मेरे नही हैं तो भी मैं भोगता हूँ, तो (**हन्त भो दुर्भुक्त एव असि**) खेदकी बात है कि दुर्भुक्त ही हो अर्थात् तुम्हारे भोग दुर्भोग हैं, बन्धकारक ही हैं (**उपभोगत यदि बध. न स्यात्**) नाना भोग भोगते हुए भी यदि बन्ध नही है (**तत् किं ते कामचारः**) क्या यह तेरी स्वेच्छापर है? नही, इससे बन्ध न रुकेगा (**ज्ञान सन् वस**) ज्ञान रूप होकर अपनी मर्यादामे निवास कर। (**अपरथा**) अन्यथा, ऐसा यदि न किया तो, (**स्वस्या-पराधात्**) ज्ञान भावको छोड़ने रूप अपने अपराधसे (**ध्रुवं बधं एषि**) नियमसे बन्धनको प्राप्त होगे ॥१५१॥

भावार्थ—हे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव! यदि तू राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन, (कर्म) करेगा तो ज्ञानावरणादि कर्मोंका भी बन्ध तुझे नियमसे होगा। हम तुमसे पूछते हैं, कि क्या तुम ऐसा मानते हो कि "मै ज्ञानी हूँ, और मेरे कर्म बन्ध नही होता, अतः मैं नाना विषयोको भोगता हूँ मुझे कोई हानि नही है" तो तुम्हारा ऐसा मानना तुम्हारे नरकादि दुःख भोगका कारण बनेगा।

यह मानना होगा कि तुम ज्ञानीपने या सम्यग्दृष्टिपनेका मिथ्या अहकार करते हो, तुम अज्ञानी हो, इसीसे शास्त्रोके उक्त कथनका दुरुपयोग कर अपना अहित करते हो। इससे ही अज्ञानी को दुर्भुक्त कहा गया है।

यदि तुम सम्यग्दृष्टि हो, ज्ञानी हो तो परीक्षा करो। ज्ञानी ज्ञान भावमे रमता है, रागादिमे नही। अतः ज्ञानीके ज्ञानभावमे बसते हुए जो शुभाशुभ कर्म उदयमे आते हैं, उन्हे वह कर्मदण्ड स्वीकार कर भोगता है, उसमे राग-द्वेष नही करता, न उन विषयोमे रमण करता है।

भोगोपभोग स्वेच्छापूर्वक भोगते रहो और तुम्हारे कर्मबन्धन न होवें ऐसा क्या तुम्हारी इच्छानुसार होगा, कदापि नही। यह तुम्हारा स्वेच्छाचारिताका कार्य है। जो जीव अपने मोह क्षोभ विहीन शुद्ध ज्ञानाभाव मे रमण नही करता, तथा विषय कषायोमे रमता है, और अपनेको ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मानता है वह स्वय अन्धकार (अज्ञानभाव) में है। अपनेको धोखा देता है।

तुम ज्ञानभावकी मर्यादामे निवास करो। ज्ञानकी भित्तियोका उल्लघन कर यदि रागादि की भूमिकामे प्रवेश किया तो ज्ञानावरणादि नाना कर्मोंसे स्वयं लिप्त हो जाओगे। मिथ्या अहकार संसारमे डुबावेगा।

(१८७) प्रश्न--इसके पूर्व कलशमे ऐसी छूट दी गई थी कि परपदार्थोंका उपभोग तू कर, वह परका अपराध है, उससे तुझे कर्मबन्ध न होगा। अब इस कलशमे कहा जाता है कि मैं भोगता हूँ मेरे कर्मबन्ध नही है, ऐसा मानेगा तो यह तेरी गलती है, तू जरूर बँधेगा। दोनो कलशोके उपदेशमे विसंगति है। शिष्य यह नही समझ पाता कि दोनोमेंसे कौन-सा उपदेश वह ग्रहण करे?

समाधान—दोनो कलश एक ही प्रकारका उपदेश **देते हैं उनमे परस्पर विसंगति नहीं है, किन्तु सुसंगति** है। वह इस प्रकार—

प्रथम कलशमे बतलाया था कि तू ज्ञानस्वभावी है, तुझे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है अर्थात् अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावका दर्शन हुआ है। अब तू **अपने स्वभावमें रमण कर, यही निश्चय-चारित्र** है। कर्मका उदय समय-समय पर आयगा, क्योकि तूने मोही दशामे, अज्ञान दशामे, रागी द्वेषी होकर उनका बन्ध कर लिया है। उससे मत घबड़ा। तू सदा अपने स्वभावको मत छोड़। उसीमे रमण कर। तेरा त्रिकाली स्वभाव बदलनेकी शक्ति किसी भी दूसरे पदार्थमे नही है। तू अनन्त शक्तिशाली है। कर्मोदयसे तू नाना प्रकार शुभाशुभ सयोगको प्राप्त है। **तू उनके कारण अज्ञानी न बनेगा।** कर्मोदय समाप्त होगा और तू अपने ज्ञानस्वभावमें निरवरता आयगा। अत कर्मके उदयको भोगना पड़े तो भोग, ये पर-पदार्थ तेरा कुछ बिगाड नही कर सकते। तथापि इसे पढ़कर कोई विपरीत न समझे, जैसा कि प्रश्नकारने समझा है, अत उसका स्पष्टोकरण दूसरे इस कलशमे आचार्यने किया है, वह इस प्रकार कि—

तू यदि अपने ज्ञान स्वभावको छोडकर परपदार्थमे रागादि करेगा, अर्थात् कर्मके **शुभाशुभ उदयजन्य सामग्रीमें रति अरति करेगा,** तो स्वय स्वापराधी होगा और तब नवीन कर्मसे बँधेगा। कर्मोदय आवे तो आओ, उसका भोग अनिवार्य है, पर उस उदयावस्थामे रति-अरतिभाव तेरे तब होगे, जब तेरा उपयोग अपने ज्ञान-स्वभावसे च्युत होगा, तू अपने इस अपराधसे बँधेगा। परके अपराधसे न बँधेगा। ऐसा इस कलशका भाव है। दोनो एक दूसरेके अर्थके पूरक हैं, दोनोमे सुसगति है विसगति नहीं।

प्रतिकूल निमित्तोके होनेपर भी बुद्धिमान् पुरुष **अपना कार्य साधता है, उसमें उसका निजका पुरुषार्थ कारण है।** वह अपने पुरुषार्थसे **बाधक कारणोंको दूर कर स्वयं सामग्री जुटा लेता है।** इस कार्यमे उसका पुरुषार्थ कारण है अन्य साधक बाधक कारण नहीं।

जीव अपनी शुद्ध पर्याय प्रकट करनेमे अपने **पुरुषार्थका जब अवलम्बन करता है, स्वाश्रयी बनता है, पराश्रय छोड़ता है,** तब बाधक निमित्त रूप कर्मोदय विद्यमान भी रहें तो वह उन्हें विफल कर देता है। उनकी निर्जरा ही करता है, इसीको उदयका विफल करना **कहते हैं** ॥१५१॥

इसी आशयको प्रकारान्तरसे निम्न कलशमे आचार्य प्रकट करते हैं—

कर्त्तारं स्वफलेन यत्किल बलात् कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मण ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

अन्वयार्थ—(**यत्किल कर्म एव**) जिस कारणसे कर्म ही (**स्वफलेन**) अपने फलस्वरूप सुख दुख आदि भावोंसे (**कर्त्तारं**) कर्मके करनेवालेको (**बलात्**) जबरन (**नो योजयेत्**) सयोग नही करता, नही परिणमाता। किन्तु (**फललिप्सुः एव हि**) फलकी आकाक्षा करनेवाला व्यक्ति ही (**कुर्वाणः**) कर्म करता हुआ (**यत् कर्मण फलम्**) कर्मोंका फल (**प्राप्नोति**) प्राप्त करता है। (**तत्फलपरित्यागैक-शील**) कर्मके फलको त्यागना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा (**हि मुनि**) मुनि षष्ठम, सप्तम गुण-स्थानारोही साधु (**कर्म कुर्वाण. अपि**) शुभाशुभ कर्मके सद्भावमे भी (**तदपास्तरागरचनः**) उन सुख-दुखादि फलोंके प्रति राग-द्वेषकी रचनाको दूर करता हुआ, समताभावका आलम्बन कर (**ज्ञानं सन्**) ज्ञानरूप परिणमित हुआ (**कर्मणा नो बध्यते**) नवीन कर्मबन्धनको प्राप्त नही होता ॥१५२॥

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मुनिजन अपने सयताचरणके आधारपर, अपनेको अपने स्वभावकी मर्यादामे रखते हैं, अपनी सीमाका उल्लंघन नही करते, वे कभी कर्मसे नही बँधते।

कर्म बन्ध तो राग-द्वेष मोहादि विकारी भावोसे होता है। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मका उदय उस ज्ञानी मुनिको भी आता है, तथापि जैसे घोर वर्षामे भी मनुष्य अपने पक्के मकानमे जो निरास्रव हो, जिसमे पानी आने का मार्ग न हो, सुख पूर्वक बिना भीगे निवास करता है। घोरसे घोर वर्षा भी उसे भिगो नही सकती, इसी प्रकार अपने ज्ञान गृहके गर्भमे निरास्रव (कर्मास्रव-रहित) दशामे अपनेको रखनेवाला ज्ञानी, घोर कर्मोदयमे भी कर्मबन्धकी कालिमासे रहित होता है[1]। जिनके निजका निरास्रव घर नही है, वह अवश्य भीगता है। इसी प्रकार जो वीतरागी नही हैं, अथवा अपूर्ण वीतरागी हैं, वे कर्म बन्धनसे अधिक या कम मात्रामे लिप्त होते हैं।

जैसे वर्षाका जल घरमे बैठे सुरक्षित प्राणीको जबरन नही भिगोता, उसी प्रकार जो अपने निजज्ञान गर्भके बाहर नही आते, उन्हे कर्मका उदय रागी **द्वेषी बलात् नहीं बनाता। यही कारण है कि** ज्ञानी **कर्मोदयको** भोगते हुए भी **कर्मबन्धनसे अलिप्त रहते हैं** ॥१५२॥

१. प्रचण्डकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारण-सहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्। २ गाथा १८४-१८५ आत्मख्याति।

(१८८) **प्रश्न**—असंयत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत श्रावक, स्त्री पुत्र कलत्रादि भोग सामग्रीको भोगते हैं। सर्वदेश या एकदेश हिंसा करते, *सर्वदेश या एकदेश असत्य बोलते, सर्वदेश या एकदेश चोरी करते, स्त्रीमात्र या स्वस्त्री मात्रका सेवन करते, अपरिमित या परिमित परिग्रह अर्थात् पचेन्द्रियोंके विषय साधक सामग्री सचय करते हैं। व्यापार-नौकरी, उद्योग, आदि द्वारा इन सब साधनो को दिन रात बढाते हैं। जिनधर्मके अनुयायी हैं अत इनको ज्ञानी कहना तथा अबन्धक कहना, तथा जो जिनधर्मके अनुयायी नही हैं, इन सब कार्योंको वे अल्प मात्रामे भी करें, तो भी उन्हें मिथ्यादृष्टि तथा अनन्त ससारी मानना, ऐमा ही क्या आचार्यका उपदेश है ? यदि है तो यह घोर पक्षपात है।

समाधान—ऐसा कदापि नही है। कथनके तात्पर्यको प्रश्नकारने ठीक नही समझा, गलत समझा है, अन्यथा ऐसा प्रश्न ही नही होता। जिन्हें आत्मदृष्टि है, अपने त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव, चिदानन्द मूर्ति, काम क्रोधादि विकार रहित आत्म स्वभावका दर्शन हुआ है, **वे सम्यग्दृष्टि हैं।** यहाँ जैन कुलोत्पन्न हैं अतः सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसी मान्यता आचार्योंको नही है। किसी भी मानव कुलमे उत्पन्न अथवा पचेन्द्रिय सैनी पशु कुलमे भी उत्पन्न हो, नरकमे उत्पन्न नारकी भी हो, यदि उसे आत्मदृष्टि प्राप्त है तो वह सम्यग्दृष्टि है, वही जैन मार्गी है।

जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त नही हुई, सच्चे भेदज्ञान पूर्वक जिसे स्वसवेदन प्रत्यक्ष नही हुआ, वह उत्कृष्ट स्वर्गोंका देव भी हो, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मानव हो, जैन कुलोत्पन्न श्रावक, तथा बाह्य महाव्रतका आचरण करनेवाला मुनि भी हो, पर वह **मिथ्यादृष्टि** है ऐसी जैन मान्यता है।

जो असयत सम्यग्दृष्टि, तथा देश सयत श्रावक तथा महाव्रती षष्ठमादि गुणस्थानवाले साधु हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं। यह सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थानवाले तथा पंचम गुणस्थानवाले **भोगोपभोग भोगते हैं,** तथापि **भोगोपभोगोंको वे भोगने योग्य नहीं** मानते, **उनमें रुचि नहीं रखते।** भोगोको सुखकारक मानकर जैसा आसक्ति भाव मिथ्यादृष्टिको है, वैसा सम्यग्दृष्टिको नही है। उसने आत्मदर्शन किया है। अपने निर्विकार शुद्ध चिदानन्दको ही एकमात्र उपादेय, ग्रहण करने योग्य माना है। ससारके विषयोको वह उपादेय, ग्राह्य नही मानता, तथापि त्याग नही किए, अथवा पंचम गुणस्थानमे अल्प त्याग किए हैं। अपनी स्वच्छ निर्विकारी श्रद्धाके अनुसार वह इनके सम्पूर्ण परित्याग न करनेपर भी अपना मुख त्यागकी दिशामे किए है। जितना ग्रहण अभी है उसे न त्याग सकनेका उसे दुख है। अतः जितना ज्ञानभाव जागता है उतने अशमे वह अबन्धक है, और जितने अश राग नही छूटा उतने अश कर्मबन्धन करता है, तथापि तीव्र रागके अभावमे अल्प स्थिति-अनुभाग रूप बन्ध करता है अत. पूर्वापेक्षया अबन्धक है।

षष्ठमादि गुणस्थानवर्त्ती साधु भी बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण पापोका परित्यागी है, अशुभभावके कारण भी उसने दूर कर दिए हैं, तो भी शुभराग आता है उससे पुण्य प्रकृतियोका बन्ध है, पर पूर्वकी अपेक्षा ज्ञानभावमे अधिक दृढ़ है, अतः 'अबन्धक' कहा जाता है।

वही मुनि जब अपने राग-द्वेषरूप परिणामको बुद्धिपूर्वक पूर्णरूपसे त्याग करता है, तब वह **'सर्व परित्यागैक शील मुनि है'** ऐसा कहा गया है। वह मनुष्य पर्याय आदि पुण्य प्रकृति जन्य पर्यायोचित पुण्यको भोगता है, पापके उदयको भी भोगता है, तथापि रागादिकी रचनाके अभावसे

अपनी पदवी (गुण स्थान) के अनुसार कर्मबन्ध नहीं करता। ऐसा तात्पर्य आचार्यका है, इसे हृदयंगम करके सन्देह दूर करना चाहिए ॥१५२॥

जिसने कर्मके फलका परित्याग किया है वह ज्ञानी है, उसकी क्रिया भी अबन्धक है—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतितेत्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिस सम्यग्दृष्टि जीवने (**कर्मफलं त्यक्तं**) कर्मके फलका परित्याग किया है (**स कर्म कुरुते**) वह कर्म करता है (**इति वयं न प्रतीम**) हम ऐसी प्रतीति नही करते। (**किंतु अस्यापि**) फिर भी इस ज्ञानीके (**कुतोऽपि किञ्चित् तत् कर्म**) कहींसे किसी प्रकारका कुछ कर्म (**अवशेन**) पूर्वबद्धावस्थाके उदयसे (**आपतेत्**) आ जावे (**तस्मिन्नापतितेऽपि**) तो उसके आनेपर भी (**अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थित**) अपने परम ज्ञान स्वभावमे अविचलित स्थितिवाला वह (**ज्ञानी**) ज्ञानी पुरुष (**किं कर्म कुरुते**) क्या कर्म करता है (**अथ किं न कुरुते**) अथवा क्या कर्म नही करता (**इति**) इस बातको (**कः जानाति**) कौन जानता है? श्री पाण्डेराजमल जीने ऐसा अर्थ किया है—(**ज्ञानी किं कुरुते**) ज्ञानी कर्म करता है, अनिच्छुक होकर सो क्या उसका कर्त्ता हुआ? (**अथ न किमपि कर्म कुरुते**) क्रियाका कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है। (**कः जानाति**) क नाम आत्मा ज्ञायक स्वभावमात्र है ॥१५३॥

भावार्थ—कर्मके फलके प्रति उदासीन ज्ञानीके कर्मास्रव नही होता। पूर्वबद्ध कर्मको उदयमे आनेसे वह रोक नहीं सकता, अतः इसकी इच्छाके बिना भी वे उदयमे आते हैं, तथापि उस उदयस्थितिमे ज्ञानी, कर्मके परवश नही होता, किन्तु अपनी अमल श्रद्धाके अनुसार अपने ज्ञान-स्वरूपमे लीन रहता है। वह अपना उपयोग अन्यत्र न जावे, अपनेमे रखे यही उसका **पुरुषार्थ है।** यह कार्य अत्यन्त कठिन है।

(१) सामान्य जनका यह अनुभव है कि वह अपने चित्तको स्ववश रखनेमे असमर्थ है। एक रोगी जानता है कि मिष्टान्न गरिष्ठ है, उसका भोजन करना उसके लिए अपथ्य (अहितकर) है, तो भी अपने मनकी लालसाको रोक नही पाता और अपथ्य सेवन कर लेता है।

(२) एक व्यक्ति चोरी करना लांछनीय है, अपराध है, अपवाद कारक है, दण्डनीय है, यह भलीभाँति जानता है, परन्तु छिपकर चोरी कर लेता है। अपवादसे बचने, दण्डसे बचनेके लिए नाना प्रकारके असत्यका अवलम्बन करता है। वह अपनेको वश नही कर पाता।

(३) एक धनी सामने ही गरीबको दुखी देखता है, उसकी दुर्दशापर अफसोस करता है, उसकी मदद करना चाहिए ऐसा जानता है, दूसरा व्यक्ति मदद करे तो उसकी प्रशसा भी करता है पर स्वय मानसिक लोभपर विजय नही पाता अतः उसको मदद नही कर पाता।

(४) एक विद्वान् सामने उपस्थित विद्वान्‌की उत्कृष्टताको जानता है, स्वय वैसा बनना पसन्द करता है, भीतरसे उसकी विशिष्टताओंसे प्रभावित है। **अपनी हीनता जानता है, कमजोरी**

का अनुभव करता है, तथापि छल भरे शब्दोंमे प्रकारान्तरसे आत्म प्रशंसा और परनिन्दा करके व्यर्थ ही प्रसन्नताको प्राप्त होता है। चित्तको वश नही कर पाता।

(५) एक व्यक्ति परस्त्रीको नागिन समान जानता है, स्वयको सदाचारी रहनेमे अपनी उत्कृष्टता मानता है। परस्त्री लम्पटोकी घोर निन्दा करता है, तथापि कामके वशीभूत हो चोरीसे छिपावसे परस्त्रीकी भी इच्छा करता है। मनको रोक नही पाता।

(६) एक व्यक्ति सामायिक करता है। अपनी चित्तवृत्तिको सावधान रखता है, तथापि कुछ ही समय बाद उसे पता चलता है कि चित्तकी वृत्ति इतने अल्प समयमे भी आकाश-पाताल घूम आई। वह चाहते हुए भी चित्तको वश नही कर पाता।

ये कुछ उदाहरण हैं। इनमे देखा जाता है कि बडे-बडे शूरवीर-विद्वान् व सामान्य योगी भी, चित्तवृत्तिको स्थिर रखनेमे अपनेको असमर्थ पाते हैं। अत. सिद्ध है कि **अपने उपयोगको अपने स्वरूपमें स्थिर करना ही सबसे बड़ा कड़ा पुरुषार्थ है** जो कि अभ्यास साध्य है। साधु प्रारम्भमे विषय कषायोसे अपनेको हटाकर परम पुरुष परमात्माके गुणानुवादमे लगाता है। आचार्यों द्वारा प्रणीत आगमके अभ्यासमे लगाता है। तीर्थ वन्दना कर भाव पवित्र करता है। जब वह अपने पर इतना नियन्त्रण कर लेता है कि चित्तवृत्ति विषय कषायोपर तथा तत्साधनोपर नही जाती, कोई कुतूहल व आश्चर्यको खोलनेकी उत्सुकता नही है, किन्तु अब अपने इष्ट पुरुषो व कार्योमे रुक जाती है, तब वह इनसे भी चित्त मोडता है। **इन इष्ट महात्माओ जैसा स्वयं बननेको प्रयत्नशील होता है।** वह अपने चित्तको अपने स्वात्मचिंतनमे सीमित करना प्रारम्भ कर देता है। पर ज्ञेयमे चित्त हटाने पर, वह स्वय राग-द्वेष रहित वृत्ति पर उतर आता है। ज्ञानकी वृत्ति राग-द्वेषसे, तथा उनके आलम्बनभूत परद्रव्योसे **हटे और उपयोग अपनेमे ही सीमित हो जाय, यही मोक्षका सच्चा पुरुषार्थ है, यही सच्चा निश्चय सम्यक्चारित्र है।**

इस अवस्थामे कर्मोदयमे, तथा उसके फलके उपभोगकी **पराधीनतामे भी, उपयोगकी स्वबशता उसने प्राप्त कर ली है।** आत्माधीनतासे वह कर्माधीनता पर स्वय प्रहार करता है। अपने परमोत्कृष्ट शुद्ध ज्ञानके आनन्दमे अविचल यही स्थिति है जो उसके उदयागत कर्मको निष्फल बना देती है। ऐसा परम साधु अबन्धक तो है ही, उदयागत कर्मका निर्जरक भी है।

सातवेंसे दसवें गुणस्थान तक, गुणस्थानकी स्थितिके अनुसार कर्म **उदयागत होनेपर भी बुद्धिमे अस्वीकारतासे, अबुद्धिपूर्वक किंचित् रागादि हो तो कुछ आस्रव भी हो सकता है, पर वह जाना नहीं जाता।** और **क्रमशः** हीन होकर **सर्वथा** निरास्रव हो जाता है, मोक्षमार्गकी यही प्रक्रिया है, **यही पुरुषार्थ** है।

परके परिणमानेका पुरुषार्थ ससारका **पुरुषार्थ** है, मुक्तिका नही। पर परिणमाया नही जा सकता, फिर भी परको परिणमाऊँ ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। इस मान्यताके कारण वह अनन्त काल तक परको परिणमानेका उद्योग करता रहता है। चूंकि वह कार्य अनन्त कालमे भी न कर सकेगा, क्योंकि वस्तु स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वके परिणमनका ही अधिकारी है, परके परिणमनका अनधिकारी है। तथापि भ्रमवश मैं परका करूँ ऐसा विचार कर प्रयत्न करते-करते जीवको अनादिसे अबतक अनन्त काल हो गया और अनन्त काल हो जायगा पर उसमे सफलता सम्भाव्य ही नही है।

जीवका संसार-परिभ्रमण तो तब छूटेगा जब वह **इस भ्रमसे छूटकर वस्तुस्वभावका भान करे। अपना पुरुषार्थ अपनी शुद्धिकरणमे करे, यही मोक्षमार्ग है। संयताचारी साधु ही ऐसा करते हैं अथवा जो ऐसा करते हैं वे ही समताचारी हैं।** वे ही कर्मबन्धन नही करते ऐसा आचार्य कहते हैं ॥१५३॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्गोमे प्रथम निःशकित अङ्गका महत्त्व बतलाते हैं—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

अन्वयार्थ—(**भयचलत् त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि**) भयके उत्पन्न होनेपर तीन लोकके प्राणी अपने मार्गसे जहाँ विचलित हो जावें ऐसे (**वज्रेऽपि पतति**) वज्रके गिरनेपर भी (**अमी**) ये सम्यग्दृष्टि जन (**अवध्यबोधवपुषं स्वं जानन्तः**) मैं ऐसा ज्ञानस्वरूपी शरीरवाला हूँ जो 'परके द्वारा अवध्य है' ऐसा जानते हैं, अतएव (**निसर्गनिर्भयतया**) स्वाभाविक निर्भयताके कारण (**सर्वामेव शङ्कां विहाय**) सब प्रकारकी शकासे, भयसे रहित होकर (**बोधात् न च्यवते**) अपने ज्ञान-स्वभावी उपयोगकी भूमिका नही छोडते। (**सम्यग्दृष्टय एव**) सम्यग्दृष्टि जीव ही (**इद परं साहस कर्तुं क्षमन्ते**) इस प्रकारका श्रेष्ठ साहस करनेमे समर्थ हैं ॥१५४॥

भावार्थ—सम्यक्त्वके प्रभावसे जीव निःशक होता है। उसे किसी प्रकारकी शंका या भय नही होता। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं **'ज्ञानशरीरी हूँ'**। यह ज्ञान ही मेरा शाश्वत स्वभाव है। किसीके स्वभावको कोई दूसरा परिवर्तित नही कर सकता। यदि परिवर्तित हो जाय तो वह स्वभाव ही नही है, यह सुनिश्चित है।

जब मैं 'अबध्यज्ञान शरीरी हूँ' कोई पदार्थ या उसकी शक्ति मेरा कुछ बिगाड बनाव नही कर सकती, तब वज्रपात भी हो, तो उससे मेरे स्वभावमे क्या बिगडता है। आकाशसे वज्रपात हो तो वह भयंकर होता है, उन समस्त प्राणियोको-जो पौद्गलिक शरीर वाले हैं और उसीमे निजत्व मानते हैं। वे इसलिए भयभीत हो जाते हैं कि इस बज्रपातसे शरीर जल जायगा, मिट जायगा। इसका मिटना मेरा मिट जाना है। इस **तरह शरीरके नाशमे अपना** नाश तथा **उसकी** उत्पत्तिमे अपनी **उत्पत्ति माननेवाले जीव 'शुद्ध दृष्टि नहीं हैं।'** वे शरीर व आत्माके सच्चे भेदको न समझ दोनोकी एकता मान बैठे हैं। फलत. शरीरके नाशमे अपना नाश मानकर दुखी व भयभीत होते हैं। बज्रपातसे पुद्गलका ही बिगाड सम्भव है आत्माका नही।

जिनको भेदविज्ञान हो गया हो और उसके आधारपर स्वात्मदर्शन हो गया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव यह जानते हैं कि यह शरीर पौद्गलिक है—मुझसे भिन्न स्वरूप वाला जड पदार्थ है। जीवकी **कर्माधीनताके फलस्वरूप यह जीवका कारागृह है।** कारागृहको दुखका कारण जानते हैं, अतः उसके प्रति **उनका अनुराग नहीं है।** फलतः उसके नाशमे अपने नाशकी कोई शका या भय नही है॥

सम्यग्दृष्टि इसीसे सहज ही **निःशंक** या निर्भय या **निष्कंप है**। इसीका फल है कि घोरोपसर्ग आनेपर भी वे अपने ज्ञानस्वभावमे रमते हैं, अपना उपयोग वहाँसे नही हटाते, यही उनका परम पुरुषार्थ है, जो संसारके समस्त बन्धन काटकर उन्हे अतीन्द्रिय अविनाशी सुख भी प्राप्त करा देता है। सम्यग्दृष्टिका साहस धन्य है ॥१५४॥

सम्यग्दृष्टि सात प्रकारके भयोसे रहित होता है। इनका क्रमश वर्णन करनेकी इच्छासे आचार्य सर्व प्रथम, इहलोकभय और परलोकभयसे सम्यग्दृष्टि रहित है, इसका विवेचन निम्न कलशसे करते हैं।

> लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
> शिचल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
> लोकोऽय न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
> निश्शक. सतत स्वयं स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५५॥

अन्वयार्थ—(**विविक्तात्मन**) संसारके समस्त अन्य पदार्थोंसे पृथक् आत्माका (**शाश्वतः**) सदाकाल चिरस्थायी, (**सकलव्यक्त**) सम्पूर्ण रूपसे प्रकट, (**एषः एक. लोक.**) ऐसा यह एकमात्र ज्ञानलोक ही लोक है। (**यत्**) क्योकि (**अयम् एकक**) आत्मा अकेला ही (**केवलम्**) केवल इसी (**चिल्लोक**) चैतन्य लोकका (**स्वयमेव**) स्वयम् ही (**लोकयति**) अवलोकन करता है। (**अय तव लोक**) यही तेरा लोक है, (**न अपर**) इसके सिवाय जो वर्तमान संसारी पर्याय तथा तत्सबधी शरीरादि **पौद्गलिक जड़ या चेतन** पदार्थ हैं वह तेरा लोक नही है (**तवपरः**) वह तो तुझसे सर्वथा भिन्न है (**तद्भी. कुत.**) तो तुझे फिर भय क्या ? ऐसा जिसका सम्यक् श्रद्धान है वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव (**सतत नि शंक.**) निरन्तर सदाकाल निर्भय है। ऐसा (**स स्वय सहजं ज्ञानं**) वह अपने सहज ज्ञानको ही (**सदा विन्दति**) सदा अनुभवता है। उसे इस शारीरिक सयोग वियोगरूप इहलोक परलोकका भय नही होता ॥१५५॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है। उस सम्यक्त्वके आठ अग हैं। अगका अर्थ भेद नही है, किन्तु जैसे आठ काठके टुकडोके सयोगको 'खाट' ऐसी सज्ञा देते है इसी प्रकार इन आठ गुणोकी समुदाय रूपमे सामान्य सज्ञा 'सम्यक्त्व' है। अतएव ये आठ सम्यग्दर्शनके अग हैं ऐसा कहा जाता है। उनके ये नाम हैं—(१) नि शकित (२) नि काक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना। इन आठ अगोका क्रमश. वर्णन मूलग्रन्थमे किया गया है। कलशोमे इन सबका वर्णन नही है। अमृतचन्द्र स्वामीने कलशोमे उन सप्त भयोका विवेचन किया है जो सम्यग्दृष्टिमे नही होते। प्रकारान्तरसे यह वर्णन नि शकित अगका ही है। आत्माके त्रिकाली स्वभावकी श्रद्धा ही नि शकित अग है।

शंकासे भयका जन्म है, अत. इस प्रकरणमे दोनो पर्यायवाची शब्द मान लिए गए हैं। वे सात भय मिथ्यादृष्टिको ही होते हैं। जो इस प्रकार हैं (१) इह लोक भय (२) परलोक भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) मरण भय (७) आकस्मिक भय।

इस कलशमे इह लोकभय और परलोकभय दोनोंसे मुक्तिकी कथा लिखी गई है।

यह समस्त दृश्यमान ससार अनन्तानन्त जीवोका मेला है। सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त विभाव पर्यायोको भोग रहे हैं। इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध वस्तुत कुछ नही है। सम्बन्धकी मान्यता भ्रमपूर्ण है, अर्थात् काल्पनिक है। प्रत्येक जीव अपनी पर्यायका भोक्ता है, वह सुखरूप हो या दुखरूप, स्वय उसे ही भोगनी पडती है। उसकी निजकी विभाव पर्यायमे ही उसका ससार है। वह सोचता है कि मेरी वर्तमान इस पर्यायमे मेरेको कोई रोगादि न हो जाय। इस पर्यायका नाश न हो जाय। मेरे द्वारा सुखके लिए सञ्चित पदार्थोंका वियोग न हो जाय। मेरे कष्ट निवारक तथा सुखमे सहायक इष्ट जनोका वियोग न हो जाय। अथवा मेरे शरीरका या आयुष्यका अन्त न हो जाय। इत्यादि प्रकारके विविध सकल्प-विकल्प ससारी मूढ मिथ्यादृष्टिको उठते रहते हैं। और वह इन शकाओके कारण सदा भयभीत रहता है। इसे 'इहलोक भय' कहते हैं।

जब यह मिथ्यादृष्टि जीव देखता है कि मरण अवश्यम्भावी है, शरीरका वियोग सबको देखा जाता है, तब मेरे शरीरका नाश अवश्य होगा। ससारके इस अकाट्य मरणके नियमका अपवाद मैं कैसे हो सकूँगा ? इस शरीरकी रक्षाका जीवनभर प्रयत्न करनेके बाद भी यह जराजीर्ण हो गया। इसका टिकाऊपना अब नही रहता दीखता। अब इसे छोडकर जाना होगा। पर कहाँ जाना होगा ? क्या कोई अन्य लोक है ? या कुछ नही है ? मरणका अर्थ सर्वथा नाश हो जाना है क्या ? तब क्या होगा ? अथवा मरणोत्तर नया जन्म होता है ऐसा सुना जाता है, सो क्या यह सच है ? यदि नया जन्म होगा तो कहाँ होगा ? पशुओमे, पक्षियोमे, कीट-पतगोमे या वृक्षादि एकेन्द्रियोमे ? नरककी भयकर ज्वालाओमे भी तो जन्म होता है। तो क्या **मुझे इनमे कहीं जाना होगा ? यदि इनमें न जाना चाहूँ तो क्या मेरी इच्छा चल सकेगी ?** ऐसा मेरा वश तो नही है। कहते हैं अपने-अपने इस जन्मके किए कर्मके अनुसार जीव नया जन्म लेते हैं। तो मेरे ऐसे कौनसे सत्कार्य इस जन्मके हैं कि मैं उत्तम जन्म पाऊँ ? फिर जन्म भी तो भयकर है। गर्भकी वेदनाके कष्टका तो विचार मात्र भी कष्टप्रद है। हाय क्या करूँ ? परलोककी कल्पना करते ही भय लगता है। इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प जीवको आते हैं, इसे "परलोक भय" कहते है।

जिन्हे अभी परलोकका समागम समीप नही दीखता, अथवा इसी जीवनमे मस्त हैं, परलोक की तरफ दृष्टि ही नही है, वे इस लोकमे पाए जानेवाले भयमे त्रस्त हैं। जिन्हे परलोक जाना समीप दिखाई दे रहा है वे इस लोकके वियोगसे इष्ट सामग्री व इष्टजनके छूटनेके भयसे तथा आगामी कालमे अनिश्चितिके भयसे त्रस्त है। इन दोनोसे ही ससारके सभी प्राणी त्रस्त हैं, शकाशील हैं, भयभीत है। इन सब अनन्त प्राणियोमे एकमात्र सम्यग्दृष्टि प्राणी ही निर्भीक है।

(१८९) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि तो सब जानता व मानता है। उसे तो इहलोककी भी श्रद्धा है और परलोकके अस्तित्वकी भी श्रद्धा है। तब उसे तो इन दोनो लोकोके सुनिश्चित परिभ्रमणकी, और उनमे प्राप्त दुखोकी भूमिकामे और भी अधिक भयभीत होना चाहिए। आप कहते हैं कि वह दोनों प्रकारके भयोंसे रहित है तो इसका क्या कारण है ?

समाधान—कारण यह है कि सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि अपने ध्रुवचैतन्य स्वरूपको प्राप्त कर सकी है। वह इस चैतन्यलोकमे है, और सदा इसी चैतन्यलोकमे रहेगा। सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमे शरीर पौद्गलिक जड रूप एक अपनेसे भिन्न वस्तु है। उसके विनाश होने पर वह आत्माका नाश

नही देखता, और न उसकी उत्पत्तिमे अपनी उत्पत्ति देखता है। केवल पूर्वबद्ध कर्मके संयोगकी भूमिकामे होनेवाला यह लोक मेरा स्वरूप नही है। मेरा चैतन्यस्वरूप ही मेरा लोक है। जब तक कर्मका संयोग है तब तक शरीरका संयोग होता ही रहेगा। अनादि कालसे यह परम्परा चली आई है। जब तक मुक्ति न होगी यह परम्परा बनी रहेगी। इसमे हर्ष विषाद सम्यग्दृष्टिको नही होता। अतः वह शंका रहित भय रहित है।

(१९०) **प्रश्न**—यह बात आपकी सत्य नही है। बालकको उत्पत्तिका माता-पिता उत्सव मनाते है। मरणका शोक मनाते हैं, यह सब करना क्या मिथ्या है ?

समाधान—अवश्य मिथ्या है। जो माता-पिता अपने शरीरके प्रति मोही हैं तथा काम भोगकी विडम्बनासे उत्पन्न बालकके प्रति अनुराग करते हैं वह उनका मोह है। अतः उसका उत्सव मनाते है। **यथार्थमें इसमे उत्सव मनाने जैसी कोई बात नहीं है। सब जगतका मोह परिणाम ही है।**

(१९१) **प्रश्न**—यदि आपकी बातको स्वीकार कर लें, तब तो ससारमे कोई **सन्तानका परिपालन ही न करे। सभी निर्दय हों,** बालकका पालन पोषण कौन करे ? जीव रक्षाकी बातको आप **मोह परिणाम कहते हैं** तो क्या मोह परिणाम छोड निर्दय परिणाम करना चाहिए। क्या निर्दय जीव सम्यग्दृष्टि कहा जायगा ?

समाधान—नही। वस्तुके तत्त्वको समझिए। **जब मोही प्राणी कामभावसे सतप्त होता है** तब कामसपर्क करता है। इसी प्रकार कामकी वासनासे संतप्त स्त्री पुरुषका समागम होता है। उनके उस समागमके फलस्वरूप यदि कोई सन्तान होती है तो माता-पिता उसे इसलिए **प्यार करते हैं कि वह उनकी कामवासना का फल है। जीवरक्षा की पुण्य भावनासे उसे नहीं पालते।** यदि ऐसा होता तो स्वय 'परकी सन्तान' जिन्हें मानते हैं—उनका भी यथोचित पालन पोषण रक्षण करते। जीवोके प्रति दया परिणाम पालन करनेका बहुत विस्तृत क्षेत्र है उसे छोडकर केवल अपनी भोगक्रियाजन्य बालकके प्रति अनुराग, मोहका ही परिणाम है। दया परिणाम नही है।

(१९२) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टिको अपनी देहका भी मोह नही होता ? क्या वह **उसकी रक्षा** नही करता ? उसके लिए विविध **सामग्रीका संचय नहीं** करता ? शत्रुसे बचाता नही ? **रोगका इलाज नहीं** करता ? औषधि **सेवन** नही करता ?

समाधान—करता है, पर मोह परिणामसे नहीं। वह शरीरमे निजत्व नही देखता। वह अपनेसे भिन्न—जड़ वस्तु है—मैं चैतन्य का अखण्ड पिंड हूँ, ऐसी मान्यताके कारण शरीरकी रक्षा करता हुआ भी शरीरमे मोह नही करता। शरीर और आत्माका भेदविज्ञान जिन्हे नही है, वे शरीरकी उत्पत्तिमे अपनी उत्पत्ति और शरीरके नाशमे अपना नाश देखते है। वे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हे शरीरके प्रति मोह परिणाम होता है। उनके इहलोक और परलोक भयका कारण यही मोह है। दर्शन मोह कर्मके उपशम-क्षय क्षयोपशमकी अवस्था होनेपर आत्म सूर्यका प्रकाशमय उदय जिनके हुआ है वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं, उनका मोह परिणाम अस्त हो गया। देहात्म भेद विज्ञान प्रकट हो गया। अतः उस देहके संयोग वियोगसे हर्ष विषाद नही होता।

(१९३) **प्रश्न**—लोक धर्म प्रभावना हेतु जन्मोत्सव मनानेमे क्या हानि है ? धर्मात्मा पुरुषोकी ही तो जन्म जयन्तियाँ हम मनाते हैं। इससे तो धर्मकी प्रभावना ही होती है।

समाधान—इस प्रश्नका समाधान पहले कलश १० की टीकामे कर दिया है। धर्म प्रभावना तीर्थंकरोके कल्याणकोके मनानेसे होती है। जिन धर्मात्माओके जन्मकी आप जयन्ती मनाते हैं, वे जन्मके समय सामान्यजन' थे, सम्यक्दृष्टि नही थे। पचमकालमे कोई सम्यक्दृष्टि जीव यतः मनुष्य पर्यायमे जन्म नही लेता। अत मिथ्यादृष्टिकी जयन्ती मनाना प्रकारान्तरसे मिथ्यात्व पोषण ही है। जो महाव्रती महाव्रतको प्राप्त हुए उनके **'दीक्षा दिवसको यदि मनाया जाय तो उचित माना जा सकता है** क्योकि 'मुनिपनेका जन्म' दीक्षाके समय हुआ है। जन्म **तो उनकी अव्रती दशाका हुआ था।** व्रती अपनी अव्रती दशाका उत्सव मनावे, या दूसरोको मनानेको प्रेरणा दे तो इससे बढ़कर **अविवेककी बात कोई नही है।**

अतः जन्मकी खुशी जिन्हें है वे देह संयोगकी खुशी मानते हैं। जब कि सम्यग्दृष्टि देहको कारागारकी तरह दुखदायक अनात्मरूप मानता है। अनात्मरूप पदार्थोको सम्यग्दृष्टि हेय तत्त्व मानता है। यही कारण है कि उसे उनके सयोग या वियोगमे हर्ष विषाद नही है। **संयोगमे हर्ष हो तो वियोगमे विषाद भी अवश्यम्भावी है।**

(१९४) **प्रश्न**—विद्वान्, धर्मात्मा, प्रवक्ता या त्यागी व्रती, साधुजन स्वय अपनी जयन्ती नही मनाते, न मनानेकी प्रेरणा करते है। **यह कार्य तो धर्म प्रभावनाके उद्देश्यसे उनके भक्तजन किया करते हैं अत उनको इसका दोष प्राप्त नहीं होना चाहिये?**

समाधान—प्रथम तो सज्जनो को **ऐसा स्वीकार नहीं करना चाहिए** कि आप मेरा जन्मोत्सव मनाओ। फिर भी यदि भक्तजन मनाते हैं **तो भक्तोंके हितकी दृष्टिसे ऐसे कार्यसे उन्हें रोकना चाहिए। यह कार्य धर्मप्रभावनाका नहीं है, व्यक्ति प्रभावनाका भले ही हो।** जो कार्य धर्मका है नही उससे धर्म प्रभावना कैसी ? **मिथ्या मान्यताको प्रोत्साहित करना अकल्याणकारी है।**

इहलोकके पदार्थ, शरीर तथा पचेन्द्रियोके साधनभूत सचेतन-अचेतन या मिश्र पदार्थ हैं। इनके संयोगमे हर्ष मनानेका अर्थ है कि इनका वियोग, जो अवश्यभावी है, उसके प्रति विषादकी भावना होगी, तथा इस विषाद प्राप्तिकीआशकाका भय होगा। यही तो **इहलोक भय** है।

सम्यक्ज्ञानी पुरुष, परमे निजत्वकी मिथ्या कल्पनाका दूरसे ही परिहार करता है, अत. उसे परके सयोग-वियोगमे किसी प्रकार हर्ष विषाद, भय या आश्चर्य नही है। वह अपने चैतन्य चिदानन्द ज्ञानमूर्त्तिमे रमता है अतः उसी लोकमे उसका निवास है। अन्य लोक न उसके है, न उनमे रमता है, न उनका उसे भय या शका है। उसका जो चैतन्य लोक है वह उसीको देखता है। निःशंक निर्भय होकर वह अपने सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

श्री शुभचन्द्रजीने इस श्लोकका अर्थ भिन्न प्रकारसे दिया है, उसका साराश इस प्रकार है—यह लोक शाश्वत है। किसीका बनाया नही है, न अन्य कोई लोक इसके अलावा है। सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा ज्ञात है अज्ञात नही। वे उसे ही अवलोकन करते हैं तब सम्यग्दृष्टिको उसकी नित्यताकी श्रद्धाके कारण भय नही है। और अन्य लोकके अभावसे परलोकका भी भय नही है। ईश्वर कर्तृत्वका भी यहाँ निषेध किया गया है ॥१५५॥

(१९५) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमान अवस्थामे सशरीर तो है। भले ही शरीरसे भिन्न पदार्थ हो तथापि शारीरिक वेदना मेरे न आवे ऐसी चिन्ता तो वह करता ही होगा ?

समाधान—वह ऐसी शका भी नही करता इसी बातको आगामी कलशमें स्पष्ट करते हैं—

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

अन्वयार्थ—(**अनाकुलै**) निराकुल सम्यग्दृष्टि जीवोके द्वारा (**सदा**) निरन्तर ही (**निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदकबलात्**) अभेद रूपसे अपनेमे उत्पन्न जो वेद्य-वेदक भाव, उसकी पूर्ण सामर्थ्यसे (**एकं**) एकमात्र (**अचल**) निश्चल (**ज्ञान**) ज्ञान भाव ही (**स्वय वेद्यते**) स्वय रूप अनुभव किया जाता है। (**एषा एका एव हि वेदना**) यही एकमात्र उनका वेदन है (**अन्यागतवेदना एव हि न**) इसके सिवाय अर्थात् ज्ञानानुभवनके सिवाय अन्य पदार्थ पौद्गलिक शरीरादि-गत वेदन उनको निश्चयसे नही ही है। तब (**तद् भी कुत ज्ञानिन.**) उसका भय ज्ञानीको कैसे हो (**स**) वह तो (**सततं निश्शक**) सदा निर्भय होकर (**स्वयं सहज ज्ञानं**) अपने सहज स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपको ही (**सदा विन्दति**) सदा अनुभवन करता है ॥१५६॥

भावार्थ—वेदना पीडाको कहते हैं और वेदना अनुभवको भी कहते हैं ऐसी व्याख्या लोकमे प्रचलित है। तथापि पीडा भी अनुभव रूप ही है। ज्ञान द्वारा ही उसका अनुभव किया जाता है। अत इस दृष्टिसे दोनो एकार्थक है।

जब मिथ्यादृष्टि जीव देहमे आत्मबुद्धि करता है तब देहमे होनेवाले रोगादिकी पीडाका अनुभव करता है। उसका ज्ञानोपयोग उसीको वेदता है। कर्मोदय जन्य समस्त सुख दुःखोका वेदन ज्ञानके उपयोगसे ही होता है। यदि उपयोग अन्यत्र हो जाय तो उस कालमे सुख दुःखका वेदन नही होता।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि सदा विकल्पकी भूमिका छोडकर, अभेद अखण्ड आत्मापर अपना उपयोग रखता है। अत. आकुलतारहित होता है, और उसी निराकुलतामे स्वय वेदक और स्वय वेद्य, ऐसी अभेद दशाको जब प्राप्त होता है, तो अन्य पदार्थकी वेदना, अनुभवनपना, से रहित होता है। उस समय शरीरादिमे रोगादि पीडा हो तो भी उसे उसकी वेदनाका अनुभव नही होता। जिसका शरीरकी ओर उपयोग ही न हो उसे तत्सबधी वेदना भी कैसे होगी। उसकी वेदना, अनुभवनपना तो एकमात्र अपने स्वरूपकी वेदना ही है, वह परकी समस्त आकुलताओसे रहित निर्भयपनेसे अपने सहज ज्ञानस्वभावके वेदनको ही स्वीकारता है। यही कारण है कि सासारिक वेदनाभय उसे नही होता। इस तरह सप्तभयोमे तृतीय भयसे भी वह रहित है ऐसा जानना चाहिए।

(१९६) **प्रश्न**—शरीरमे पीडा हो और उसका सम्यग्दृष्टि वेदन न करें, यह बात क्योकर समव है ? सभी संसारीजन शरीरगत वेदनाका अनुभव करते हैं।

समाधान—ऐसा नही है। ज्ञान होना अलग बात है और पीडामे व्यथित होना अलग बात है। जब शरीरसे मोह होता है उस समयकी पीडाके अनुभवमे, तथा शरीरके प्रति निर्मोह दशामे, पीडाके अनुभवमे अन्तर है। प्रथम मोही व्यक्ति उस पीडामे रागद्वेषरूप परिणमन करता है, वह शरीरको हानिको अपनी हानि मानता है, जबकि निर्मोही, 'शरीर परपदार्थ जडात्मक है उसके नाशमे मेरा नाश निहित नही है' ऐसा मानता है। सुख दु.खकी उत्पत्तिमे 'मान्यता' का बहुत बडा हाथ होता है।

एक उदाहरणसे समझिए—एक बालक नीली कमीज पहिने अपने घरके बाहर सडकपर खेलता था। पिताने सडकपर खेलनेको मना किया, पर उसने पिताके वचनपर ध्यान न दिया। आधा घटे बाद एक मोटर उधरसे निकली। बार-बार हारन देने पर भी सामने वाला बालक दूर न हुआ और मोटरके नीचे आ गया। भीड इकट्ठी हो गई। पिताको चिंता हुई कि क्या हो गया? दूरसे देखता है कि नीली कमीजवाला बालक मोटरके धक्केसे घायल हो गया। उसे दस कदम चलनेपर मूर्च्छा आ गई। मूर्च्छा आनेपर उसकी दुकानसे सब नौकर-चाकर दौडे। उसे उठाकर दुकानपर लाए। उपचार किया। होश आनेपर रोने चिल्लाने भागने लगा। दरवाजेपर उसका वही पुत्र खडा था, उसने कहा पिताजी कहाँ जाते हो? पिता अपने बालकको देखता है तो तुरन्त शोक भूल जाता है। वह बालक जो घायल हो गया है किसी अन्यका है, इतना सुनते ही उसका तमाम दु ख दूर हो गया। पूर्वमें सोचा था कि 'मेरा बालक कुचल गया' तो अपार कष्ट पाया, दूसरे समय मालूम हुआ कि वह बालक मेरा नही है, पराया है, तो दु.ख दूर हुआ। इसी तरह शरीर अपना है ऐसा जानने वालेको अपार दु ख होगा। शरीरमें परत्वका यथार्थ भान करने वाला दु खी न होगा।

(१९७) **प्रश्न**—शरीर आत्माका सयोग है तो पीडा होगी। चाहे वह मान्यतामें 'स्व' हो या 'पर'। एकक्षेत्रावगाहताके कारण दु ख दोनाको समान होगा ऐसी हमारी मान्यता है।

समाधान—मान्यता इसलिए है कि शरीरके सम्बन्धमें आप निजत्वका परित्याग नही कर सके। जो भी व्यक्ति जो कुछ निर्णय करता है, अपने अनुभवके आधारपर करता है। तथापि उसे दूसरे अनुभवीके अनुभवका भी लाभ उठाना चाहिए।

(१९८) **प्रश्न**—क्या आपका शरीरसे निजत्व परिणाम छूटा है और आप शारीरिक रोगकी पीडामे दु खका अनुभव नही करते।

समाधान—करते हैं। इसका कारण शरीरको अपनेसे भिन्न जानकर भी उससे पूर्ण मोह नही छूटा। जिनका छूट गया है वे अनुभवी साधुजन ऐसा कहते है कि शरीरका मोह छूट जानेसे शरीरमे क्या हो रहा है इस तरफ ज्ञानी उपयोग ही नही लाते। ज्ञान सुखका हो या दु खका हो, उपयोग वृत्तिके आधारपर होता है। ज्ञानी अपने उपयोगकी वृत्ति शरीरादि समस्त परद्रव्यो-की ओरसे हटा लेते हैं, तब तज्जन्य सुखका भी अनुभव नही करते और तज्जन्य दु.खका भी अनुभव नही करते। अपने ज्ञान स्वभावमे उपयोग वृत्ति होनेसे उसीका वेदन करते हैं। अत. शरीरमे राग निमित्तक शारीरिक वेदनाका भय उन्हे नही है।

जब मुनिराज सप्तमगुणस्थानसे श्रेणीपर आरूढ होते है, तब उनका उपयोग बुद्धिपूर्वक रागादि परिणतिसे रहित होता है। वे अपनी आत्माके ध्यानमे रमण करते हैं। ऐसे समय कोई

दुष्ट घोरसे भी घोर उपसर्ग करे तो भी उनका उपयोग उस व्यक्तिकी तरफ, उस उपसर्गकी तरफ, या अपने शरीरकी तरफ नही जाता। तबही वे निर्विकल्प ध्यानी, समस्त घातिया कर्मोंका क्षय कर केवली बनते हैं। यदि उनका किंचित् भी उपयोग ज्ञानस्वभावी आत्मासे हटकर शरीरादि पर आवे, तो घाति कर्मका क्षय नही हो सकता। जैसे—

(१) भगवान् पार्श्वनाथपर कमठके जीवका उपसर्ग।
(२) सुकुमालपर स्यारनी कृत उपसर्ग।
(३) पाडवोपर दुर्योधन पक्षके दुष्टो द्वारा किया उपसर्ग। शास्त्रोमे ऐसे बीसो उदाहरण हैं जिनसे यह सब सिद्ध है।

(१९९) **प्रश्न**—आप महापुरुषोके दृष्टान्त देते हैं। उनके अनुभवको वे जानते हैं। हमे अनुभव कराइए कि हम समझ सकें कि उपयोग वृत्ति अन्यत्र होने पर शरीरकी पीडाका भान नही होता?

समाधान—सुनिए। एक व्यक्ति दुकानदार है दिनके बारह बजे हैं। भूख लग आई है। पर दुकानपर एक ऐसा ग्राहक आ गया है जो कई हजारका सौदा ले रहा है। वह मोलभाव भी अधिक नही करता—विश्वास करता है। जो भाव सौदाका बता देवे उसे लेना स्वीकार कर लेता है। सौदेका रुपया भी नगदो दे रहा है। दुकानदार सोचता है, इतना मुनाफा मुझे गत एक माहमे भी नही हुआ—जो मुझे आज मिल रहा है। सौदा बेचते-बेचते उसे दो बज गये। पेटमे भूख है पर उपयोग उस ओर नही है। बडा लाभ जो मिल रहा है।

इतनेमे घरसे नौकर आता है कि सेठजी बहुत देर हो गई खाना खाने चलो। वह कहता है जाआ-जाओ फुरसत नही है। शाम तक खा लेंगे। इस समय शारीरिक पीडा भूखकी है, पर उपयोगकी वृत्ति अन्यत्र होनेसे, अधिक लाभकी मान्यताके कारण दु:खो नही होता। तथापि इसी समय घरसे खबर आई कि एकमात्र आपका लाडला पुत्र छतपरसे नीचे गिर पडा, काफी चोट आ गई है। इतना सुनते ही पुत्रके रागसे वह सौदेका राग छोडकर घरकी तरफ भागता है। उपयोग अब पुत्रके बचावपर है, अब न भूखका दु:ख है, न सौदा बिकनेका सुख है। एकमात्र उपयोग पुत्र की सुरक्षापर है।

(२) मखमलके गद्देपर सोनेवाला सोती अवस्थामे जमीनपर लुढ़का दिया जाय तो उसका उपयोग मखमलपर व जमीनपर नही जाता। अतः तज्जन्य सुख दु:खका वेदन नही होता।

(३) सुप्तावस्थामे जागृत दशाके सम्पूर्ण ससार व वैभव परसे उपयोग हट जाता है। अत यदि लुट रहे हो तो सुप्तावस्थामे उसका दु:ख नही होता। जागृत होनेपर उस तरफ उपयोग जावे तो दु:ख होता है।

(४) किसीका पिता सोमवारको मरणको प्राप्त हुआ। उसे बुधवारको तार मिला। उपयोग के अभावमे उसे सोमवार तथा मगलवारको कोई दुख नही हुआ।

(५) सामायिक करते, पूजा-पाठ करते, स्तुति करते हुए यदि उपयोग अन्यत्र चला जावे तो उक्त धार्मिक क्रियाएँ भी भूल जाती हैं क्योकि उपयोग नही है।

उक्त लौकिक जनोंके अनुभव किये गये उदाहरणोंसे सिद्ध है कि सुख या दुखका अनुभवन उपयोगवृत्तिके आधार पर होता है।

ज्ञानी साधुजन अपना उपयोग जितना-जितना परसे हटाकर स्वकी ओर लगाते हैं, उतना-उतना ही परनिमित्तजन्य विकल्पों, आकुलताओं, सुख-दुःखों तथा रागद्वेष परिणामोंसे वे दूर रहते हैं। यही कारण है कि शरीरादि परसे उपयोग हटाकर, स्वात्मरमण करने वाले सदुपयोगी **साधुओंको, पदवीके अनुसार श्रावकों व अविरत सम्यग्दृष्टियोंको** भी, शरीरादिजन्य पीड़ाकी वेदना नहीं होती। अत वे **वेदनाभय से रहित हैं** ॥१५६॥

(२००) **प्रश्न**—सभी संसारी प्राणी परसे ही अपनेको रक्षित मानते हैं। रक्षकके अभावमे **त्रस्त होते हैं**। क्या सम्यग्दृष्टि रक्षकके अभावमे शंकाडोल नही है ?

समाधान—नही। वह अपने एकत्वका, अपने अविनाशी स्वभावका बल रखता है, अत. उसका विश्वास है कि वह अपने स्वभावमे सुरक्षित है। उसका नाश ही असम्भव है तब अरक्षितता **का प्रश्न ही** उपस्थित नही होता। इसे ही अरक्षा भयका अभाव कहते हैं।

निम्न कलशमें यही प्रतिपादित है—

यत् सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(**यत् सत् तत् नाशं न उपैति**) जो समस्त वस्तु जगत्मे सत्तारूप है वह कभी नाशको प्राप्त नही होती। (**इति**) इस प्रकारकी (**नियतं वस्तुस्थिति.**) वस्तुकी मर्यादा निश्चयसे (**व्यक्ता**) प्रकट है। इसमे फेर-फार न हुआ, न है, न होगा। इसी नियमके अनुसार (**ज्ञानं सत्**) मेरा आत्मा जो ज्ञानस्वरूपी है वह भी सत् है (**तत् स्वयमेव किल**) उसकी यह सत्ता स्वयमेव है। परकृत नही, ऐसा निश्चय है। (**ततः**) इसलिए (**अस्य**) इन ज्ञानकी या आत्माकी (**अपरैः**) दूसरोके द्वारा (**त्रातं किम्**) रक्षा कैसी ? (**अस्य अत्राणम्**) इसकी असुरक्षा (**अत न किञ्चन**) अत कुछ नही है। जबकि ऐसा है, तब (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी पुरुषको (**तद्भी. कुत भवेत्**) असुरक्षाका भय कहाँसे हागा ? अर्थात् हो ही नही सकता। (**स**) वह ज्ञानी पुरुष (**सततं निश्शंक**) निरतर निर्भय निशक होकर (**स्वयं**) अपने आप अपने (**सहज ज्ञान**) स्वाभाविक सहज ज्ञानानद स्वभावका (**सदा विन्दति**) सदा अनुभव करता है॥१५७॥

भावार्थ—जो पदार्थ है वह स्वय 'सत्' रूप है। उसका अस्तित्व स्वयका स्वयसे है। 'सतो स विनाश' जो है उसका नाश नही होता तथा 'नाऽसत उत्पत्ति' जो है नहो, उसकी, नवीन द्रव्य की, उत्पत्ति नही होती। इस अकाट्य नियमका कोई अपवाद नही है।

ऐसी स्थितिमे ज्ञानी विचारता है कि मैं भी एक 'सत्तावान्' पदार्थ हूँ। मेरी उत्पत्ति नही है, मैं 'अनादि-अनन्त' पदार्थ हूँ। **जब मेरा नाश हो ही नहीं सकता तो असुरक्षितताका प्रश्न ही नहीं आता।** जब असुरक्षित नही, स्वय स्वरूपसे ही सुरक्षित हूँ, तो 'मेरा कोई रक्षक नही'

ऐसी शंका भी नही होती। अत. किसीको अपना रक्षक मानकर उसकी खोज व्यर्थ है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टिकी है। उसे असुरक्षाको शका नही—भय नही है। वह असुरक्षाभयसे मुक्त है और सदा काल अपने सहजानद परिपूर्ण, ध्रुव, शाश्वत स्वभावपर दृष्टि रखकर उसीका अनुभव करता है। यही उसका अत्राणभयसे रहितपना है।

(२०१) **प्रश्न**—सिद्धान्ततः यह कथन ठीक है, पर सिद्धान्तमे तथा व्यवहारमे अन्तर है। मुनिजन तपस्या करते हैं। दुष्टजन उपसर्ग करते हैं, और सम्यग्दृष्टि श्रावकजन उनका उपसर्ग दूर करते हैं। क्या सम्यग्दृष्टि श्रावकोंके लिए मुनिजनके उपसर्ग दूर करनेकी आज्ञा शास्त्रोंके आचार्योंने नहीं दी ?

समाधान—दी है। श्रावक अपने धर्मानुरागसे ऐसा करते हैं और करना चाहिए, **तथापि जिन पर उपसर्ग है वे रक्षाकी आकांक्षा नहीं करते।**

(२०२) **प्रश्न**—श्रावक यदि सम्यग्दृष्टि है तो वह स्वयं जानता है कि आत्मा मेरी भी अरक्षित नही है, उपसर्ग सहित मुनिकी भी आत्मा अरक्षित नही है। तब क्या आवश्यकता है कि वह उपसर्ग दूर करनेकी वृथा चेष्टा करे ?

समाधान—यद्यपि सिद्धान्तत आचार्य भी जानते हैं और श्रावक भी जानते हैं, तो भी धर्मात्माकी उस "मुनि पर्याय" की सुरक्षाका उपदेश देते हैं। ताकि उनके द्वारा धर्म प्रवृत्ति रहे। तथा वे स्वय भी धर्म साधन कर सकें।

(२०३) **प्रश्न**—यही तो हमने प्रारम्भमें कहा था कि सिद्धान्त अलग है और व्यवहार अलग है। यह उपदेश आचार्योंके सिद्धान्तसे भिन्न व्यवहारपरक हैं। सिद्धान्तसे व्यवहार प्रायोगिक होनेसे श्रेष्ठ है। सिद्धान्त तो मात्र बुद्धिका व्यायाम है ?

समाधान—ऐसा नही है। व्यवहार जो धार्मिक आधारपर किया जाता है वह शुभराग है। उपदेश भी शुभराग है, और उपसर्ग दूर करना भी शुभराग है। इस शुभरागसे धर्मकी परम्परा तो चलती है पर मुक्ति नही होती। मुक्ति व्यवहार छोड़कर, सिद्धान्तका आश्रय करनेसे होती है। अतः सिद्धान्त श्रेष्ठ है व्यवहार हेय है।

(२०४) **प्रश्न**—तब ऐसे हेय व्यवहारका उपदेश देना आचार्योंके लिए ठीक नही है। स्वय सिद्धान्तसे विचलित होकर हेय मार्गपर आते हैं, और शिष्योंको भी सिद्धान्त मार्गसे विचलित कर हेय मार्ग पर लाते हैं। ऐसे स्व-पर अकल्याणकारी साधुओका उपदेश भी श्रावकोंको सुनना व मानना नहीं चाहिए ?

समाधान—परको सुनाना व सुनना दोनो व्यवहार शुभ हैं यह सत्य है, और व्यवहार हेय है यह भी सत्य है, पर आचार्य 'सिद्धान्त' से उतारकर व्यवहार पर नही लाते, किन्तु व्यवहारके प्रयोगसे सिद्धान्तके मार्गपर लाते हैं। सिद्धान्तका यदि जीवनमे आलम्बन आ गया तो सिद्धान्ती साधु, स्वय किसीसे रक्षाकी आकाक्षा नहीं करता। आत्मद्रव्य तो सुरक्षित है। पर्याय वर्तमान असुरक्षित है, वह नाशवान् है, सो सिद्धान्ततः उसे भी कोई अविनाशी नही बना सकता। तथापि जितने समय मुनिकी मुनित्व पर्याय कायम रहे, उतने समय तक सन्मार्गकी परम्परा कायम रह सकती है। ऐसा मानकर जो विकल्प शुभरागके आए, उनसे ऐसा उपदेश कथन व श्रवण बनता

है। वह धर्मकी परम्पराके चलनेमे हेतुभूत होनेसे तत्काल ग्राह्य है, स्वय वह धर्मरूप नही है। वह स्वय धर्मरूप हो तो इसी शुभोपयोगसे मुनि व श्रावक मुक्त हो जायेंगे, पर ऐसा होता नही।

जैनाचार्य भी आत्मकल्याण हेतु अन्तमे सर्व व्यवहार छोड परमार्थका ही आश्रय करते हैं। उनका उपदेश भी यही है कि अशुभ व्यवहार छोड शुभरूप व्यवहार करो। यदि उसे भी छोडकर शुद्धोपयोगी बन सकते हो तो साधुपद अगीकार कर शुद्धोपयोगी बनो। आत्मकल्याण व्यवहारसे न होगा। परमार्थका आश्रय करनेवाले यति ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। सिद्धान्त वस्तुत. साध्य है, व्यवहार उसको पूर्ण प्राप्त करनेका एक मार्ग है।

(२०५) **प्रश्न**—यदि व्यवहार हेय है तो उसे स्वीकार करना ही अश्रेयकर है। उसका उपदेश देना व स्वय पालन करना अनुचित है। परमार्थको छोडकर व्यवहारका आश्रय करना शास्त्रोपदेशके विरुद्ध है ?[1]

समाधान—यह यथार्थ है। पर सम्यग्व्यवहार परमार्थको छोडकर नही चलता, किन्तु परमार्थको साध्यकोटिमे—लक्ष्य भूत बनाकर, उसकी प्राप्ति जब तक न हो तबतक, परमार्थियोके वदन स्तवन अनुकरणमे शुभरागरूप होता है। यदि कोई पुरुष सम्यग्व्यवहारका आलम्बन न करे और परमार्थ भी हाथमे न हो, तो मिथ्याचारी बन जायगा। अत शुभका आश्रय उस स्थितिमे अनिवार्य है।

(२०६) **प्रश्न**—क्यो अनिवार्य है ? क्या शुभसे शुद्धताका जन्म है ? यदि कोई पुरुषार्थी शुभाशुभ प्रवृत्तिको परित्याग कर शुद्धोपयोग रूप परिणत हो तो क्या हो नही सकता ? यदि हो सकता है, तो शुभाचारका उपदेश क्यो दिया जाता है ?

समाधान—शुभसे शुद्धताका जन्म है—ऐसा नही है, किन्तु शुद्धोपयोगी ही तब बनता है जब शुभोपयोगका अभाव होगा। तथापि शुभोपयोग अशुभोपयोगसे ऊपर उठाता है। अशुभोपयोगकी प्रवृत्तिका परित्याग शुभोपयोग प्रवृत्तिके अवलबनपर ही होता है।[2] सामान्य मार्ग ऐसा ही है। अत शुभाचारका उपदेश दिया गया है। हाँ, यदि कोई विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थसे एक साथ शुभाशुभका परित्यागकर शुद्धोपयोगी साधु बन सके तो उसका कोई निषेध नही है। ऐसा पुरुषार्थी शुभोपयोग करे ऐसा उपदेश जिनागमका नही है।[3]

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको ऐसी श्रद्धा है कि आत्मद्रव्य अपने आप सुरक्षित है, कोई अन्य रक्षक द्वारा रक्षित नही है। तथापि भावना ऐसी है कि यदि धर्मात्मा जन उपसर्गादिसे पीडित न हो, तो उनके धर्मसाधन अबाधित हो सकेंगे, तथा अन्य जन उनके सम्पर्कका लाभ उठा सकेंगे, अत. धर्मात्मा साधक पर आये उपसर्गको दूर करनेकी शुभ भावना होती है, जो शुभराग रूप है। वह सिद्धान्त पक्षकी तुलनामे अपराधरूप है। उसका फल स्वयके लिए पुण्य प्रकृतियोके बध रूप ही है।

---

१. मोत्तूणणिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।
समयसार गाथा १५६।

२ सुहजोगस्स पवत्ति, संवरण कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगे संभवदि। —आचार्य कुन्दकुन्द, बारस अनुवक्खा।

३. कोई द्रव्यलिंगी साधु प्रथम गुणस्थानसे एक साथ सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त करके सप्तम गुणस्थान प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षासे ही यह कथन है। सप्तम गुणस्थानमें साधु शुद्धोपयोगी बन जाता है।

यदि कोई धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, परोपकारकी भावना न करे, अपने **स्वात्मरमणका आश्रय** ले और श्रद्धाके तथा वस्तु स्वभावके अनुकूल परकी सुरक्षा का, उपसर्ग दूर करनेका विकल्प न करे, निर्विकल्प समाधिमे ही स्वय आरूढ हो तो वह अपराधी नहीं है—वह कर्म बंधन नहीं करेगा। वह **धर्मात्मा मोक्षमार्गी** है ॥१५७॥

जिस प्रकार परका आक्रमण नही हो सकता अतः मेरा जीव द्रव्य स्वय सुरक्षित है, इसी प्रकार परका प्रवेश भी मुझमे नही हो सकता, न पर मेरा स्वरूप मिटा सकता। अतः अगुप्तिभय भी सम्यग्दृष्टिको नही होता ऐसा निम्न कलशमे प्रतिपादन करते हैं—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(**वस्तुनः किल स्व रूपं**) प्रत्येक वस्तुका स्वयका स्वरूप (**अस्ति**) है, यही (**स्वरूपे परमा गुप्ति.**) उसकी स्वरूपमे परम गुप्ति है। (**यत् कोऽपि पर.**) क्योकि कोई दूसरा पदार्थ (**प्रवेष्टुं न शक्त.**) उसमे प्रवेश ही नही कर सकता। (**अकृतं ज्ञानं च नुः स्वरूपं**) अनाद्यनत स्थिति वाला ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है। अथवा उसका ज्ञानस्वरूप परकृत नही है, अनुत्पन्न है। (**अतः एव अस्य ज्ञानिन**) इसलिये इस ज्ञानी पुरुषके (**काचन अगुप्तिः न भवेत्**) कोई अगुप्तिपना नही है, (**तत् भीः कुत.**) इसलिए उसे अगुप्तिजन्य भय भी कैसे होगा। यही कारण है कि (**स**) वह ज्ञानी (**सततं निःशंक**) सदा निर्भय होकर (**स्वयं सहज ज्ञानं**) स्वत अपने शुद्ध चैतन्यको (**सदा विंदति**) सदा अनुभवन करता है ॥१५८॥

भावार्थ—अत्राणभय और अगुप्तिभय ये दोनो शब्दार्थकी दृष्टिसे एकसे प्रतीत होते हैं तथापि दोनोमे इस प्रकारका अन्तर है।

(१) अत्राणभयका अर्थ है कि परके आक्रमणसे मेरा नाश न हो। रक्षा करनेवाला कोई नही है ऐसी शका होना अत्राण है।

(२) अगुप्ति भयका अर्थ यह कि पर मेरे अस्तित्वमे प्रवेश कर मुझे बिगाड देगा। ऐसा भय, स्वयकी कमजोरीका भय, अगुप्ति भय है।

सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि मेरा कभी नाश नही होना है। मैं अविनाशी हूँ अतः पर रक्षककी मुझे कोई आवश्यकता नही है। मैं असुरक्षित नही हूँ। यदि अत्राण भयका अभाव है।

इसी प्रकार मैं स्वय स्वरूपमे ठोस हूँ, परका मेरेमे प्रवेश नही, मेरे ज्ञानादि धनका कोई हरण नही कर सकता, स्वय अछेद्य अभेद्य हूँ, यह अगुप्तिभयका अभाव है। सम्यग्ज्ञानी जानता है कि मैं ही नही, संसारकी प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे अपने अस्तित्वमे है, वह अपने ही कारणसे है, अतः स्वरूपसे अस्तित्वपना होनेसे, वह स्वय सुरक्षित है। तथा जो वस्तु स्वास्तित्वसे है उसमे परका नास्तित्व भी है—अतः परका प्रवेश नही है, स्वय गुप्त है। उसे स्वास्तित्वके कारण अत्राण-भय नही है, और पर नास्तित्वके कारण अगुप्तिका भय नही है।

आत्मा सहज ज्ञानका पुञ्ज है। उसका यह अनाद्यनन्त स्वरूप न कभी नाश हुआ है, और न कभी नाश होगा। न वह पर वस्तुमे प्रवेश करता है, न परका उसमे प्रवेश हो सकता है। न

वह स्वभावसे च्युत होता है, न पर स्वभावका कभी ग्रहण करता है। उसकी ऐसी ही मर्यादा त्रिकाल अबाधित है। अतः उसे न अपने खोए जानेको, अपने विनाशकी, अपनी गुण सम्पत्तिके अभावकी शका है, और न परके प्रवेशका, परके साथ एकाकार हो जानेका डर है। अतः अपनेको भी एक वस्तु मानकर, वस्तुस्वभावके अनुसार ज्ञानी जीव सदा अपने सहजज्ञान चैतन्यमूर्ति नित्यानन्द स्वभावमें रहता है, उसीका निर्भय होकर अनुभवन करता है ॥१५८॥

(२०७) **प्रश्न**—द्रव्य दृष्टिसे उक्त विचार सही है, पर जब तक यह जीव संसारी है, तब तक सदेह है। सदेहावस्थामे देहका वियोग तो अवश्यभावी है, अतः मरणकी शका तो सदा रहेगी। ज्ञानी भी सोचता है कि पता नहीं कब मरण हो जावे।

समाधान—यह सत्य है तथापि ज्ञानी मरणसे भी भयभीत नही होता। क्यो नही होता यह निम्न कलशमे प्रतिपादित है—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(**प्राणोच्छेदं**) प्राणोके विनाशको (**मरणम्**) मरण (**उदाहरन्ति**) कहा करते हैं। (**अस्य आत्मनः**) इस आत्माका (**प्राणाः किल**) प्राण निश्चयसे (**ज्ञानं**) ज्ञान ही है। (**तत्**) वह ज्ञान (**स्वयमेव**) स्वत. ही (**शाश्वततया**) आत्मामे सदा काल स्थायित्वपनेके कारण (**जातुचित् नोच्छिद्यते**) कदाचित् भी नाशको प्राप्त नही होता। (**अतः तस्य मरणं**) जब ऐसा है तब उस आत्माका मरण, ज्ञानप्राणके सदा सद्भावके कारण (**न किंचन भवेत्**) कुछ भी नहीं है। (**तत् ज्ञानिनः**) तो ज्ञानी पुरुषको (**कुतः भीः**) कैसे भय होगा ? यही कारण है कि (**सः**) वह ज्ञानी (**सततं**) निरन्तर (**स्वयं सहजं ज्ञानं**) स्वतः अपने सहज ज्ञानको (**निश्शंक. सदा विन्दति**) निर्भय होकर सदा अनुभव करता है ॥१५९॥

भावार्थ—"**प्राणोंका नाश ही मरण है**" यह सर्व सामान्य जन विदित है। जब यह ज्ञात होता है कि "अमुक व्यक्ति मर गया" तो उसकी व्याख्या भी यही समझी जाती है कि उसके प्राणोका नाश हो गया।

व्यवहारतः प्राण दस प्रकारके हैं। स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र, ये पाँचो इन्द्रियाँ इन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। यदि ये इन्द्रियाँ जो बाह्यमे दिखाई देती हैं अपना-अपना काम करना बन्द कर दें तो समझा जाता है कि यह मृत हो गया। इसकी सब इन्द्रियाँ निस्तेज हो गई। इन्द्रियोके काम न करने पर भी उसके यदि मन वचन काय ये तीन बल प्राण हैं—अर्थात् जब तक मनोबल है—या वचन बल है—या शरीरमे नाड़ी संचालन आदि काम करनेकी, हिलने-डुलनेकी शक्ति है, तब तक भी इन तीन प्राणोके कारण वह जीवित माना जाता है। इन आठ प्राणोके सिवाय श्वासोच्छ्वास भी एक प्राण है जो प्रत्यक्ष प्रमाणके रूपमे देखा जाता है। इन्द्रियाँ काम न करती हो, मनोबल भी देखनेमे न आवे, बोले भी नही, शरीर भी हलन-चलन न करे और श्वास आती जाती हो तब तक प्राणीमे प्राण है वह जीवित है ऐसा माना जाता है।

अन्तिम प्राण तो आयु प्राण है। उक्त प्राणोंके न दिखाई देने पर भी यदि आयु है—तो व्यक्ति जीवित रहता है। शेष प्राणोका कार्य लौट आता है। पर आयुके अन्त हो जानेपर कोई जीवित नही रहता। नौ प्राणोंके कार्य आयु प्राणके अस्तित्वकी सूचना मात्र हैं। वस्तुतः तो आयु ही एक मात्र सही प्राण है। फिर भी ये दस प्राण कहे गये हैं। इन सबका वियोग ही मरण है। मरणके बाद शरीर स्वय सड गल जाता है। आत्मा शरीरको छोड जाता है। शरीर और आत्मा को एक मानने वाले मोही, शरीरके नाशमे अपना नाश मानते हैं, अपनी सत्ताको मेटना कोई नहीं चाहता इसीसे शरीरकी सब प्रकार सुरक्षा करते हैं। मरणसे भयभीत होते हैं।

सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि शरीरसे शरीरान्तर होना यह जगत्का अनिवार्य नियम है, अतः उसमें दुःख मानना वृथा है। जो होना है वह होता है। चाहे कोई हर्ष माने, चाहे विषाद करे, उससे जगत्का नियम खंडित नही होगा। अत नाशवान् शरीरके विनाशमे तत्वज्ञानी कभी दुखी नही होता, वह मरण भयसे रहित है।

(२०८) **प्रश्न**—तो क्या सम्यग्दृष्टि स्वेच्छासे मरणको स्वीकार कर लेता है?

समाधान—मरण आवे तो सम्यग्दृष्टि तो उसे स्वेच्छासे समाधिभाव पूर्वक स्वीकार करता है। समाधिमरण तो उसके लिए महोत्सव है। दुख कारक नही है।

(२०९) **प्रश्न**—तब तो स्वेच्छापूर्वक फाँसीपर चढ़नेवाले राजनैतिक कैदी, अपघात करनेकी इच्छासे पानीमे डूब जाने-आगमे जल जाने, स्वय फदा लगाकर, विषभक्षणकर प्राणोका विसर्जन करनेवाले व्यक्ति, सब महोत्सवपूर्वक, आनन्दपूर्वक ही स्वेच्छासे मरणको वरण करते हैं। ये सब आपकी व्याख्याके अनुसार सम्यग्दृष्टि हैं, मोक्ष पदके अनुगामी है, ऐसा मानना चाहिए?

समाधान—ऐसा नही है। युद्ध भूमिमे भी जो मरणकाल आनेपर, युद्धके परिणामोसे विरत हो, सम्यग्ज्ञान पूर्वक समाधिका, समताभावका आलम्बन करते हैं, उनका मरण 'समाधि मरण' हो सकता है। इसी प्रकार जलमग्न, आगमे जलता हुआ, किसी सर्पादि द्वारा डँसा हुआ विषग्रस्त, फाँसीपर लटका हुआ प्राणी भी, उस समय समस्त रागद्वेष मूलक भावनाको दूर करके, आत्मस्वभाव के चिन्तनमे रत हो, तो समता भावी बनकर समाधिको प्राप्त हो सकता है। इन सबमे समाधि पूर्वक मरणकी कीमत है। केवल मरणके उद्देश्यको लेकर किसी भी प्रकार स्वेच्छासे मरण करना सम्यग्दृष्टिका लक्षण नही है।

(२१०) **प्रश्न**—जैन श्रावक या जैन साधुको समाधि-मरण स्वेच्छासे स्वीकार करनेका शास्त्रोमे उल्लेख है, तब आपका कथन क्या शास्त्र विरुद्ध नही है?

समाधान—नही है। कारण यह है कि दोनो स्थितियोमे महान् अन्तर है—

१. अपघात करनेवाला जीवनसे नही जूझता, उससे हार जाता है, अतः कायर होकर मरण स्वीकारता है।

२ भोगी, जीवनमे प्राप्त होनेवाले विषय भोगोंसे अपनेको ऊपर उठा नही पाता, अतः विषयी मनोवृत्ति वाला होनेसे, विषयोंके वियोगमें मरणको प्राप्त होता है।

३. युद्ध भूमिमे अपनेको अर्पित करनेवाला **लौकिक लाभका** या **मरणोत्तरकालमे भी प्रतिष्ठा का लोभी है अतः लोभ** कषायपर विजय न कर पानेसे मरणको वरण करता है।

४. संसारके अन्य जान जोखिमी कार्योंको भी मनुष्य लौकिक लाभ—नाम, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि के लोभसे करता है। जीवन समाप्त करनेपर भी उस लोभपर विजय प्राप्त नही कर पाता।

५ समाधिमरण करनेवाला श्रावक या साधु इन सबसे भिन्न प्रक्रियावाला है। **उसे जीवन से उदासी नहीं** है। जीवनकालमे समस्याओसे जूझता है, उनका आत्मसयमनके, नैतिकताके, धार्मिकताके, परोपकारके, निःस्वार्थताके, आत्मविश्वासके आधारपर सामना करता है, सुलझाता है। वह मानव जीवनको बहुत मूल्यवान् मानता है और श्रेष्ठतम जीवन बिताता है।

चूंकि मरण अवश्यभावी है। अत. यदि वह समय आ गया है ऐसा निश्चय होता है, तो अपनेको सावधान करता है। जीवन उसका भोग प्रधान नही है **त्याग प्रधान है**, अत भोगोकी अनासक्तिके कारण मरणका भय उसे नही है। आत्माके अमरत्वपर भरोसा है, अतः उसके नाश होनेकी आशका नही है। लोक प्रतिष्ठाका भूखा नही है, अत जीवन अर्पण करनेका भाव उसे नही आता। शरीराश्रित कल्पित नामका भी उसे मिथ्या मोह नही है। 'मरणोत्तर कालमे मेरा नाम तो रहेगा' ऐसी मिथ्याधारणाओमे भी वह नही फँसता, और न इन लोभोस जीवनका उत्सर्ग करता है।

बीमारी—अपघातके अन्य कारण—कोई आकस्मिक विपत्ति—शरीरपातके किन्ही भी कारणोके सामने आनेपर, वह उन सबका इलाज, उपाय तथा प्रतिकार करता है। जब उपाय न चले और मरण सुनिश्चित जान पडे तो इस देहसे नाता तोडकर, स्वावलम्बी होकर, अपने अखड आनन्द ज्ञान स्वरूपको दृष्टिमे रखकर, ससारकी समस्त वस्तुओका मोहत्याग, समस्त जनोसे वैर-त्याग, सबपर क्षमाभाव लाकर, सबसे क्षमायाचना करके, सुख-दु ख, जोवन-मरण, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोगमे समान बुद्धि रखकर, मरणको स्वीकारकर दे त्याग करता है। इसे समाधिमरण स्वीकार करना कहते है। "समाधि लेकर मरण करना" यह समाधिमरणका अर्थ नही हे। बल्कि "मरणके समय समाधि लेना" ऐसा अर्थ है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे यह बहुत स्पष्टताके साथ लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

अर्थात् भयानक उपसर्ग आनेपर, घोर दुर्भिक्ष पडनेपर, अत्यन्त वृद्धावस्था हो जानेपर, अथवा शरीर रोगी होने पर, इन सभी अवस्थाओमे, यदि कोई इनका प्रतिकार, याने दूर करनेका उपाय न रहे (इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि प्रतिकार हो तो प्रथम प्रतिकार करे) तब धर्माराधनाके साथ शेष जीवनकी समाप्तिको सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं।

उक्त कथनसे समाधिमरण और अपघातादि मरणका भेद समझकर ज्ञानी जीवोका कर्त्तव्य है कि जब तक जीवन रहे, जीवनको भोगोमे व्यतीत न कर, मानव जीवनको उपयोगी बनावें। तथापि मरण, जो अवश्यभावी है, आवे तो कायर न बने, किन्तु उसे भी स्वीकारकर उसे महोत्सव बनावें। सम्यक्त्वीमे मरणके भय न होनेका प्रमुख कारण यह है कि वह जानता है कि

लौकिक दृष्टिसे उक्त दस प्राणोका वियोग मरण है, पर परमार्थसे जीवके ये दस प्राण तो इक जन्मा हैं। जिस जन्ममे पाये गये उसी जन्मकी समाप्तिके साथ समाप्त हो जाते है। जन्मान्तरमे जन्मान्तर-का शरीर तथा तत्सम्बन्धी इन्द्रियादि प्राण होते हैं।

वह देखता है कि ये प्राण तो शरीरके बधनमे जीवके साथ रहने वाले हैं। आत्मा शरीरसे भिन्न है। उसके प्राण तो मात्र ज्ञान दर्शन उपयोग हैं, जो सदा काल रहते हैं। आत्माका स्वयंका अस्तित्व ज्ञान-दर्शन स्वभावमे है। इनका कभी नाश होता नही है, इसीसे तो आत्माका अभाव नहीं होता है।

जैसे मनुष्य दिनमे दो-तीन बार वस्त्र बदल लेता है। वस्त्र उतर जाते हैं पर मनुष्य तो वही है। अथवा नाटकके रंगमचपर आनेवाला पात्र विविध वेष रखकर आता है। उसके वेष उतर जाते हैं—बदल जाते हैं—पर मनुष्य जो पात्र था वह तो वही रहता है। इसी प्रकार शरीर, रूप, वस्त्र या वेष बदल जाता है पर आत्मा तो सदा एक ही रहती है।

आत्मा या जीव शब्द एकार्थक है। जो जीवित रहे, या जीवित था, या जीवित रहेगा उसे जीव कहते हैं। यह जीव सदाकाल अपने चैतन्य भावमे ही जीवित रहा है, जीवित है, और जीवित रहेगा। अतः ज्ञानदर्शन ही मेरा यथार्थ प्राण है। मैं उसीसे सदाकालसे जीवित हूँ। और सदा उसीसे जीवित रहूँगा। वह मेरा निज स्वभाव है, वह कभी छूट नही सकता—न अन्य रूप परिणमन कर सकता है—अत. मैं अपने ज्ञान-दर्शन उपयोग प्राणोसे सदा जीवित हूँ, मेरा मरण ही सभाव्य नही है तब मरणका भय कैसा ?

शाश्वत स्वभावी ज्ञानानन्दी मैं हूँ। परसे असयुक्त हूँ, अजर-अमर हूँ, जब मेरा मरण नही तब भय कैसा ? मरण तो शरीरका होता है। क्योकि जन्म भी उसीका होता है। जन्म शरीरका हो और मरण आत्माका हो ऐसा होता ही नही। अत. शरीरके मरणमे मुझे भय कैसा ? ऐसा जान ज्ञानीके मरणका भय नही होता। वह अपने सहज ज्ञानानन्द स्वभावका ही सतत अनुभव करता है ॥१५९॥

यह माना कि मरण काल सुनिश्चित हो जावे तब सम्यग्ज्ञानी भय नही करता, पर अकस्मात् मोटर एक्सीडेण्ट हो जाय, मकानमे आग लग जाय, समुद्र यात्रामे जहाज डूबने लगे, हवाई यात्रामे विमान ध्वस्त हो जाय, ऐसी विषम परिस्थितिके आनेपर भी क्या ज्ञानीको भय नही होता ?

इस प्रश्नका समाधान ही निम्न कलशमे दिया गया है—

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(**एकम् ज्ञानम् अनाद्यनन्तम् अचलं किल**) मै एक ज्ञान मात्र हूँ। मेरा यह स्वभाव अनादि कालसे है। अनन्त काल तक मेरा यह स्वभाव रहेगा। न कभी चलायमान हुआ, और न कभी चलायमान होगा। (**एतत् स्वतः सिद्धम्**) वह ज्ञान स्वभाव मेरा परकृत नही है

किन्तु स्वयं सिद्ध है। (**यावत् तावत् इव सदैव हि भवेत्**) वह जितना जिस भाँति था उतना उसी भाँति सदा रहता है (**अत्र द्वितीयोदय न**) इसमे किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश नही है, अथवा यह दूसरे प्रकारके पदार्थके रूपमे बदल भी नही सकता। (**तत्**) इस कारणसे (**न अत्र किंचन आकस्मिकं भवेत्**) मेरे स्वरूपमे आकस्मिक रूपसे आने वाला कुछ भी नही है। (**तत् कुतः ज्ञानिन भी.**) तब ज्ञानीको भय भी किसी प्रकारसे नही है। इस आकस्मिक भयके अभावमे (**स.**) वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव (**सततं निश्शङ्कः**) सदैव निर्भर होकरके, अपने (**सहज ज्ञानं**) सहज स्वरूप ज्ञानानंदको (**स्वयं सदा विन्दति**) स्वयमेव, रमण करता है, सदा आनदित होता है, अनुभवन करता है ॥१६०॥

भावार्थ—आकस्मिक भयके दो कारण हैं—या तो निजका कुछ छिन जानेकी आशका हो—उसके बिगडनेकी आशका हो या उसके नाशकी आशका हो। अथवा किसी दूसरे पदार्थके द्वारा अपनी कुछ हानि होती लगे, उसका अपनेमे प्रवेश हो—या वह अपनी पूर्ण सत्ता हम पर जमा लेगा, ऐसी आशंका हो।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, जो स्वसवेदन प्रत्यक्षसे अपने स्वरूपका दर्शन कर रहा है और उसमे निःशक है, वह जानता है कि मैं ज्ञान स्वभावी ध्रुव अचल पदार्थ हूँ। मेरा निजका ज्ञान छिनने वाला नही है, वह बिगड़ने वाला भी नही है, न नाश होने वाला है। इसके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ मेरी कुछ हानि कर सके, मेरी सत्तामे प्रवेश कर सके, या मुझपर अपनी सत्ता जमा सके, ऐसा भी नही है।

मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव सदासे है, सदा रहेगा। वह अचल है अर्थात् हीनाधिक नही हो सकता। तब समस्त अन्य पदार्थ ससारमे जो हैं—वे रहो। मेरा वे कुछ बिगाड करनेमे समर्थ हो नही हैं। किसी भी वस्तुको न कोई बिगाड सकनेकी सामर्थ्य रखता है, न कोई वस्तु अपने स्वभावसे कभी च्युत होती है। यह सामान्य नियम है। मैं भी एक आत्म द्रव्य हूँ और वे ही शाश्वत नियम, जो प्रति द्रव्य, प्रति गुण, और प्रति पर्याय रूप, वस्तु मात्रपर लागू हैं, मुझपर भी लागू हैं। तब मैं अपने द्रव्यकी सत्तामे—अपने गुणोमे—अपनी ही पर्यायोमे रहा हूँ, और सदा रहूँगा। न मैं जीवसे अजीव बन सकता—न मेरे ज्ञानादि गुण अज्ञानादि रूप बनेंगे—और न मेरी सचेतन पर्याय कभी जड पर्याय बनेगी। तब मुझे भय किस बातका ? यह निश्चल श्रद्धान ज्ञानीको है, अतः वह सदा अपने ज्ञान स्वभावमे निर्भय रहता है।

(२११) **प्रश्न**—ज्ञानी ज्ञान स्वभावमे सदा कहाँ रहता है ? वह क्या खाता पीता नही, व्यापार नही करता, आता जाता नही, धन सचय नही करता ? यदि यह सब करता है तो कैसे ज्ञान स्वभावमे सदा रहता है ?

समाधान—इस प्रश्नका समाधान पहिले आ चुका है फिर भी कहते हैं **ज्ञानी चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके सब जीव होते हैं।** उससे ऊपर तो अर्हन्त सिद्ध हैं, वे तो सम्पूर्ण ज्ञानको प्राप्त हैं। उनके सम्बन्धमे प्रश्न ही नही उठता, प्रश्न इन गुणस्थानोका है, अतः इनकी चर्चा करेंगे।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायसे रहित हैं। उसकी श्रद्धा अपने स्वरूपमे अपनेपनकी हो गई है। परमे उसे परत्व बुद्धि आ गई है। अतः पर-

रमण उस जीवके स्वप्नमे भी नही है। अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृति है। उसके अनुदयमे सम्यग्दृष्टिकी परमे आसक्ति छूट गई, यही उस जीवके पर-रमणका अभाव है।

उस जीवको अपने स्वरूपकी दृढ श्रद्धा है, और उसमे स्थिरता है, यही उसका चारित्र गुण है। मद, मूढता और अनायतन आदि दोषोसे रहित सम्यग्दर्शनकी इसी स्थिरताको आचार्य कुन्दकुन्द भगवान्ने 'सम्यक्त्वाचरण' कहा है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चाध्यायीके प्रणेताने इसीको 'स्वरूपाचरण' कहा है।

अप्रत्याख्यान आदि बारह कषायो तथा नोकषायोके उदयके कारण, उस जीवने अभी व्रत-सयम धारण नही किया है, अत. वह अव्रती कहा गया है, तथापि वह खाना-पीना, आना-जाना, धन-सचय करना आदि जो भी क्रियायें करता है, अपने स्वरूपको न भूलकर ही करता है। ज्ञान-स्वभावी निजात्माकी श्रद्धा उसे सदाकाल रहती है, इसीसे कहा गया कि वह सम्यग्दृष्टि जीव सदा ज्ञान-स्वभावमे रहता है।

पचमगुणस्थानी श्रावक एकदेश व्रती है, अत वह बुद्धिपूर्वक पच पापो का एकदेश परि-त्याग कर चुका है। इस परित्यागमे एक मान्य हेतु है उसको परके प्रति परत्वकी तथा अपने ज्ञान स्वभावके प्रति निजत्वकी श्रद्धा।

इस श्रद्धान व तद्रूप एकदेश त्यागके कारण, वह शेष आठ कषायोकी विद्यमानतामे **अपने पदके योग्य वस्तुका सग्रह करता है।** पदके योग्यका तात्पर्य यह है कि श्रावकको ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, उनमे क्रमश. पचेन्द्रियो के विषय तथा **तत्पोषक बाह्य पदार्थ छूटते जाते हैं।** अतः जिस प्रतिमारूप पदवीमे **जितना त्याग है, उतनेके संचयका व सम्हालका तो प्रश्न ही नहीं है।** जितना शेष बचा है **उसको साज सम्हाल करता है।** तदनुसार पचेन्द्रियोके विषय भोगता है, तथापि उन्हे हेय मानता है अत. उनसे **उदासीन है।** उनके प्रति आसक्ति नही है। **उसकी रुचि अपने स्वभावमें है।** अत जहाँ **रुचि है, रति है—उसीमें लीनता** है। **इसलिए** इसे भी 'ज्ञान स्वभावमे लीन रहता है' ऐसा कहना सुसगत है।

षष्ठम गुणस्थानवाले श्रमणोकी तो बात ही निराली है। मोहके साथ-साथ उनके बारह कषायोका भी अभाव हो चुका है। अतएव सम्पूर्ण पापोसे उनका सम्बन्ध छूट गया है। उठने-बैठनेमे भी, खाते हुए, पीते हुए, सोते हुए भी वे सदा सावधान हैं। अपनेमे प्रमाद दशा न आने पावे इसके लिए सदा सन्नद्ध हैं। अतः उनका भी ध्यान सदा स्व-रमण पर ही रहता है।

आगेके सातवेंसे बारहवें गुणस्थान **तकके ज्ञानी तो ध्यानावस्थित हैं।** वे केवल आत्मनिष्ठ हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सातो प्रकारके भयसे रहित हो, निर्भय होकर स्वानुभव करते हैं, यह स्वानुभव ही स्वरूप रूप आचरण है अतः उसे स्वरूपाचरण भी कहते हैं।

(२१२) **प्रश्न**—स्वरूपाचरण चारित्रको यथाख्यात चारित्र कहना चाहिए। वह तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे ही सभव है। फिर चौथे गुणस्थानोंसे ही आपने स्वरूपाचरणकी बात कैसे कही ?

---

१. तं चेव गुण विसुद्ध जिण सम्मत्तं सुमुक्ख ठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं॥ —चारित्र प्राभृत, गाथा ८.

समाधान—स्वरूप रूप आचरणका प्रारभ तो चतुर्थ गुणस्थानमे हो जाता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पूर्णता क्रम-क्रमसे होती है, अत. वे तीन हैं। वस्तुत. वे तीन मात्र व्यवहारसे हैं, **परमार्थसे वे तीनों एक आत्मस्वरूप ही हैं।**[1] जब सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब सम्यक्त्वके घातक दर्शन मोहनीयका उपशमादि होता ही है। उसीके साथ चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबधी कषायका भी उपशमादि होता है। उसका फल भी है। जहाँ सम्यक्त्व गुण प्रकट होनेपर, परमे परत्व-बुद्धि आती है, वहाँ परके प्रति अनासक्ति आना भी सहज स्वभाव है। अत आसक्तिकी कारण-भूत अनतानुबधी कषायका भी, उदयमे अभाव होना आवश्यक है। इन दर्शनमोह व अनतानुबधी दोनोके उपशम-क्षयोपशम या क्षय बिना चतुर्थ गुणस्थान ही प्रकट नही होता।

(२१३) **प्रश्न**—पडित दौलतरामजीने छहढालामे महाव्रतोके वणनके बाद **स्वरूपाचरणकी बात** लिखी है। तब उसके पूर्व उसकी उत्पत्ति बताना सुसगत कैसे होगा ?

समाधान—छहढालामे स्वरूपाचरणका पूर्ण स्वरूप बताया है। उससे क्या स्थिति होती है यह बताया है। वह दशा **सप्तमादि गुणस्थानगत आत्मध्यानीकी है। पर उसका प्रारंभ, परमे अनासक्तिसे चतुर्थ गुणस्थानमे हो हो जाता है। अनतानुबधी कषायके जानेका वह** फल है। पूर्णता होनेपर स्वरूपाचरण यथाख्यात रूपमे प्रकट होता है। तथापि चतुर्थ गुणस्थानके स्वरूपाचरण और यथाख्यात चारित्रके स्वरूपाचरणमे महान् अन्तर है। वह आशिक है, प्रारभिक है, और आगे उसकी पूर्णता है।

सम्यग्दृष्टि निश्शक निर्भय होता है यह जाना, पर यह तो सम्यक्त्वका सिर्फ नि शकित अग हुआ। सम्यग्दर्शनके और भी सात अग हैं उन सबका क्या फल है सो कहते है—

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन् पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(**टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाज.**) टाँकीसे उकेरी गई पाषाण रेखा या मूर्तिके समान, चिरस्थायी अपने निज रससे खचित, ज्ञान स्वभाव ही है सर्वस्व जिसका, ऐसे (**सम्यग्दृष्टे.**) सम्यक्दृष्टि जीवके (**यदिह लक्ष्माणि**) जो सवेग निर्वेदादि गुण या नि शकादि आठ गुण या आठ चिह्न हैं वे (**सकल कर्म घ्नन्ति**) रागादि भाव कर्मोका नाश करते हैं। (**तत् तस्य**) इसलिए उस ज्ञानीके (**अस्मिन्**) पूर्वोक्त स्थितिमे (**पुन अपि**) फिरसे (**मनाक् अपि**) थोडा सा भी (**कर्मणो बन्धः**) कर्मोका बन्ध (**नास्ति**) नही होता। किन्तु (**पूर्वोपात्तं तत् अनुभवत.**) पूर्व बद्ध कर्म जो सत्तामे हैं उनका उदय आने पर उनका भोग करते हुए उसे (**निश्चितम्**) निश्चयसे (**निर्जरैव**) निर्जरा ही होती है ॥१६१॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अपने "ज्ञान-सर्वस्व" का पूर्ण अधिपति है। उसके नि.शकित-नि.-काक्षित आदि सम्पूर्ण लक्षण या गुण उसके समस्त विकारी भावोको दूर करते है। उन विकारी

---

१ ववहारेणुव दिस्सइ णाणिस्स चरित्त दसण णाण।
ण वि णाण ण चरित्त ण दंसण जाणगो सुद्धो ॥ —समयसार गाथा ७

भावोंके अभावमे उसे नवीन कर्मबन्धन किंचित भी नही होता। अतः उसके पूर्ण सवरभाव है। पूर्वबद्ध जो कर्म रागादि भावोसे बाँधे थे, वे यथासमय उदयमे अवश्य आयेंगे। उदयागत होने पर उनके फलके परित्याग रूप अवस्थामे, उसे नवीन कर्मोंका बन्ध नही होता। सवर भावकी स्थितिमे वे कर्म निर्जराको ही प्राप्त होते हैं। सवर पूर्वक निर्जरा ही मुक्ति पथके लिए श्रेयस्करी है।

(२१४) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शनके वे आठ अग कौनसे हैं? उनका क्या स्वरूप है, जिससे समझा जा सके कि वे कर्मके सवर निर्जरामे हेतु बन जाते हैं?

समाधान—आठ अगोके नाम लिख चुके हैं। उनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **नि शंकित**—शका या भय रहित होकर दृढ़तम आत्म स्वरूपका श्रद्धान नि शकित अग है। सात प्रकारके भयोसे सम्यग्दृष्टि रहित है यह ऊपर बताया गया है। वह उसका वास्तविक स्वरूप है। ऐसी निर्भयतामे हेतुभूत उसका जिनशासनका दृढ श्रद्धान ही है। उसे पूर्ण श्रद्धा है कि श्री जिनेन्द्र ही परमाराध्य हैं, उनके वचन ही श्रेष्ठ शास्त्र है, जिनका स्वाध्याय या मनन करना चाहिए। आगमानुकूल सदाचरण युक्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, दिगम्बर जैनसाधु ही परमगुरु या सद्गुरु है, अत इनका उपदेश परम ग्राह्य है। यह व्यवहारत नि शंकित अग है।

(२) **नि कांक्षित**—जिसे आत्म रसका स्वाद आ गया है वह अन्य रसका आकाक्षी नही होता। अत सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण सासारिक काक्षाओसे रहित, आतम रसास्वादी है। यही परमार्थसे उसका नि काक्षित अग है। व्यवहारत, आत्म भिन्न पदार्थोंमे ऐसा उसका विश्वास है कि उनका सयोग कर्माधीन है, नाशवान् सयोगमे सुख नही है, सुखाभास है। वह सुखाभास भी दु खोसे मिश्रित है, एकान्त सुखका आभास उसमे नही होता। उन सासारिक सुख भोगोमे रागादि कषायोका आलबन रहनेसे, वे पाप बन्धके कारण बनते है, जिनका फल अत्यन्त दु ख है। ऐसे दुखान्त फलवाले सासारिक सुखकी, उसे किंचित भी वाछा नही होती। यह नि काक्षित अगका व्यावहारिक रूप है। यही उसके अनन्तानुबधो रागका अभाव या वीतराग भाव है।

(३) **निर्विचिकित्सा अग**—जो वस्तुको उसके स्वरूपमे देखता है, उसे धर्ममे प्रीति होती है। धर्मके परिपालनमे विचिकित्सा नही होती। मिथ्यादृष्टि मदकषायवान् कदाचित् धर्मका परिपालन करे तो उसे पालते-पालते कभी उदासीनता, विरक्तिका भाव, भी आ जाता है, इसे ही विचिकित्सा कहते है। ज्ञानीको अपने स्वरूप रूप प्रवर्तनमे दृढ रुचि है, यही उसका निर्विचिकित्सा अग है। वह अन्य धर्मात्माजनोकी सेवा करता है, साधुओकी वैयावृत्ति करता है, यही उसका व्यावहारिक रूप है। उनकी सेवामे शारीरिक मलादिके कारण उसे घृणा नही होती। शरीर का स्वभाव सडन-गलन है, चाहे अपना हो या साधुका हो उससे घृणा कैसी? अत व्यावहारिक रूपमे धर्मात्माओसे प्रीति करता हुआ सेवा करता है। यह निर्विचिकित्सा अग है। यही द्वेषका अभाव है।

(२१५) **प्रश्न**—शरीरसे आनेवाली दुर्गन्धको दुर्गन्ध न मानना, साधुके मलमूत्र दूर करनेमे घृणा न होना अस्वाभाविक है, यह कैसे हो सकता है? यह तो शिष्टतापूर्ण भी नही है। फिर सम्यग्दृष्टि ऐसा कैसे कर सकता है। सम्यग्दृष्टिका अर्थ तो साँची दृष्टि वाला है। सब पदार्थोंको

वे जैसे हैं, वैसा देखना चाहिए। निर्मलको निर्मल और समलको समल न माने तो कैसा सम्यग्-दृष्टि है ?

समाधान—यह सत्य है कि सम्यग्दृष्टि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही देखता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नही करता। मिथ्यादृष्टि रागी है तो अपनी कामेच्छाकी पूर्तिमे साधनाभूत महिलाके मलमूत्र आदि स्थानोमे रमता है, अपने बालकोका मलमूत्र स्वच्छ करता है, पर दूसरोके बालकादिके मल-मूत्रको अशुद्ध मान घृणा करता है। वस्तुत विचार करो तो मलमूत्र तथा शरीरादि सब अमेध्य हैं, चाहे आपके हो, आपकी पत्नी, पुत्र, पितादिके हो, चाहे पर पुत्रके हो, चाहे साधुके हो, चाहे अन्य धर्मात्मा श्रावकके हो, चाहे पापी रोगी कुष्टादि व्याधि ग्रसित रकके हो। **सम्यग्दृष्टि ही उन सबके यथार्थ स्वरूपको समभाव से देखता है, अत घृणा नहीं करता।** उसे विषयवाछा नही है, अत समान **पदार्थोंमे भेद नहीं करता**। रोगादि अवस्थामे **उन्हें उनके स्वरूपमें** जानकर उनमे **घृणा भाव नहीं करता सबकी** समान भावसे सेवा करता है।

(२१६) **प्रश्न**—तब तो रोगीकी सेवासे कमाई करनेवाले डाक्टर, नर्स, कपाउडर तथा पाखाना साफ करनेवाले मेहतर ही बडे सम्यग्दृष्टि हैं, जो सबकी समान भावसे सेवा करते है।

समाधान—वस्तुत ये **कार्य यदि आजीविकाके हेतु न किये जाँय** तो सचमुच सम्यग्दृष्टिकी मर्यादाके कार्य हैं। पर जिनका प्रश्नमे उल्लेख है वे इन्हे आजीविकाके लिए करते हैं सेवाके लिए नही। जो कार्य धर्महेतु किये जाने चाहिए वे यदि **आजीविकाके** साधन **बन** जाते है तो उनमेसे **धर्मभाव दूर हो जाता है**। वे मात्र एक व्यापारके रूपमें ही सामने आते हैं।

(२१७) **प्रश्न**—आजीविकाके साथ धर्म हेतु किये जानेवाले कार्य, मन्दिरका पूजन करना, बच्चोको धर्मशास्त्र पढाना, प्रवचन करना, साहित्य रचना, साधुओकी सेवा हेतु तथा आहारकी व्यवस्था हेतु साथ रहना, ये तो सब सातिशय पुण्य बधके कारण हैं। क्या आप इन्हे भी धर्म नही मानते ?

समाधान—नही मानते। **धर्मके कार्य केवल धर्म भावसे** ही किये जाँय तो धर्म हैं। **आजी-विका हेतु किए जायँ तो वे आजीविकाएँ हो हैं।** उन कार्योंको करते हुए यदि आजीविकाकी दृष्टि प्रधान न हो, सेवाकी भावना प्रधान हो, तो वे किंचित् पुण्य बन्धके कारण बन सकते हैं। उन्हे व्यवहारमे धर्मका कार्य कहते हैं।

उक्त प्रश्नोत्तरोंसे फलित है कि सम्यग्दृष्टि समस्त **वस्तु धर्मोको यथार्थ रूपमे देखता है।** मलको मल, मूत्रको मूत्र ही समझता है, तथापि उनके कारण धर्मात्माकी सेवासे मुकरता नहीं है। उसे अपना पावन कर्तव्य मानता है और घृणाको दूर कर उनकी सेवा करता है।

(२१८) **प्रश्न**—घृणाका अभाव तो म्लेच्छ भी करता है। चोर व्यभिचारी भी करता है। अघोरी भी करता है, तो क्या इन कार्योंकी परिगणना निर्विचिकित्सा अगमे की जायगी।

समाधान—नही। कारण यह है कि इन सबको घृणाका अभाव नही है। **ये मात्र अपने प्रमाद या मलिन स्वभावके** कारण या **आजीविकाके** कारण ऐसा करते हैं। ये पापके प्रति घृणा नही करते पर **धर्मके प्रति घृणा करते हैं,** अत. उसमे निर्विचिकित्सा अंग नही है।

(२१९) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि धर्मात्माकी सेवा करता है। उसे प्रीति करता है पर मिथ्यादृष्टियो पापियोके प्रति घृणा करता है, अत. वह भी सर्वत्र विचिकित्सा रहित नही है, ऐसा क्यो न माना जाय ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको धर्मात्माके रूपमे देख धर्मरुचिसे उसकी सेवा करता है। पापीके पापको हेय मानकर भी पापीसे प्रेम करता है। उसे **पापसे छुड़ानेके लिए उसपर हितदृष्टि रखता है।** जो व्यक्ति सडे-गले व्याधिग्रस्त, पाप पकमे फँसे प्राणियोके प्रति घृणा करता है वह सम्यग्दृष्टि ही नही है। **विचिकित्सा सम्यग्दृष्टिको नहीं होती पर विवेक होता है। वह सेवा करके भी लौकिक शुद्धता अशुद्धताका ख्याल रखता है और अशुद्धि दूरकर शुद्धतापूर्वक प्रवर्तन करता है।**

(२२०) **प्रश्न**—तो क्या जैन साधु विवेक नही रखते? वे स्नानादि नही करते, शुद्धि अशुद्धिका ध्यान नही रखते।

समाधान—यह विचार गलत है। जैन साधु **मल-मूत्र परित्यागकर** लौकिक **शुद्धि** भी करते हैं, पर **वास्तविक शुद्धि** तो **आत्माकी** पवित्रता है। अत वे **उक्त कार्यके बाद भी कायोत्सर्ग करके अपने परिणाम शुद्ध करते हैं।**

शरीर अशुचि, अपवित्र है यह वे जानते व मानते हैं, तथापि पापाचार आरम्भ रहित होनेसे स्नानादि क्रियारूप जलस्नान नही करते। शरीरका शृंगार नहीं करते। गृहस्थ तो शरीरसे पापाचार भी करता है अत. आरम्भ रहित न होनेसे स्नानादि करता है। साधुजन परम विवेकी हैं ऐसा जानकर उनको सब प्रकार सेवा करना चाहिए। **जो उनके संयममार्गमें बाधक न हो वही सेवा यहाँ ग्राह्य है।**

४ **अमूढ़ दृष्टित्व चतुर्थ अंग है।** सम्यग्दृष्टिके निजात्मतत्त्वसे भिन्न सभी पचेन्द्रिय विषयो पर मोहभाव नही है, यही उसकी मोह रहित दृष्टि है। इसे **अमूढ दृष्टित्व** कहते हैं। अपने निश्चय ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभावमे रुचि है यही उसका पारमार्थिक रूप है तथा समस्त पर पदार्थोंमे मोहका अभाव है। मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गियोकी सराहना मन वचन कायसे न करना ही अमूढ दृष्टित्व है। यही उसका व्यावहारिक रूप है।

(२२१) **प्रश्न—निर्मोहका अर्थ तो निर्दय** परिणाम है। क्योकि **शास्त्रकारोने दयाको मोहका परिणाम लिखा है।** दूसरी तरफ दया परिणाम करनेका भी उपदेश है। ऐसे परस्पर विरुद्ध व्याख्यानमे अमूढदृष्टित्व अङ्गका पालन कैसे हो सकता है?

समाधान—भाव शुभरागरूप और अशुभरागरूप दोनो प्रकारका है। जो शुभरागरूप है वह दया है। तथापि मो**हरहित परिणाम सर्वश्रेष्ठ है, उसमे न दया है, न निर्दयपना।** ऐसा नही है कि जहाँ दया नही है वहाँ निर्दयपना ही हो। यदि दया शुभराग है तो निर्दयपना द्वेषका परिणाम है। सम्यग्दृष्टि पदके अनुसार दया, शुभराग करता है पर द्वेषभाव नही करता। अशुभराग भी नही करता। रागद्वेष रहित समताभावका आलम्बन हो जानेपर, अपने आत्माके रत्नत्रय स्वरूपके अनुसार, परकीय शुभाशुभ रूप रागद्वेषमे प्रवृत्ति नही करता। उसकी यही मोहरहित दृष्टि ही अमूढदृष्टि अङ्ग है।

सम्यक्त्वके इन आठ अङ्गोमे प्रथम नि शंकित अङ्गसे आत्माकी अखण्ड श्रद्धाके रूपमे जीवको सम्यक्त्वका यथार्थ स्वरूप प्राप्त होता है। दूसरे निष्कांक्षित अङ्गसे, विषयोके प्रति अनाकाक्षा हो जानेसे तद्विषयक रागका अभाव होता है। तीसरे निर्विचिकित्सा अङ्गसे अनिष्ट पदार्थोंके प्रति

घृणा या तिरस्कारका परिहार होनेसे, तद्विषयक द्वेषका अभाव हो जाता है। चौथे अमूढ दृष्टित्व अङ्गके द्वारा गृहीत मिथ्यात्वके साधनोका परिहार हो जानेसे, उसमे मोहभावका अभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानीमे राग, द्वेष, मोहके अभावका समयसार कलश ११९ का पूर्व कथन, इन अगोमें स्पष्ट लक्षित हो जाता है।[1] इन चार अगोकी साधनासे सम्यग्दृष्टि जीवका आन्तरिक व्यक्तित्व सस्कारित हो जाता है। अन्य जीवोके प्रति उसका व्यवहार शेष चार अगोके द्वारा परिष्कृत होता है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

५ **उपगूहन अङ्गका** स्वरूप है जो अपने सम्पूर्ण गुणोको अपने भीतर सुरक्षित रखे। उपगूहन छिपानेको कहते हैं, सो जो चीज सुरक्षित करना है—वह बाहिर नही फेकी जाती, घरके भीतर सुरक्षित रखी जाती है। ज्ञानी अपने गुणोको बाहिरी विकारी भावोकी हवा नही लगने देता। अपने भीतर अन्तर्गर्भगृहमे ही छिपाकर रखता है। यही परमाथत उपगूहन है। उपगूहनका दूसरा नाम उपबृहण है जिसका अर्थ बढाना है। ज्ञानी अपने गुणोको निरन्तर वृद्धि करता है यही उसका उप-बृहण नामका वास्तविक गुण है।

व्यवहारत उपगूहनका अर्थ इस प्रकार है—धर्मात्मा गुणी पुरुषोमे यदि कदाचित् कोई दोष दिखाई दे जाय तो उसका प्रचार व प्रसार नही करना, बल्कि उनमे गुण बढे ऐसी सहायता करना। व्यावहारिक पक्षमे उपगूहन व उपबृहण दोनो अर्थको लिए यह सम्यग्दर्शनका अंग है।

(२२२) **प्रश्न**—बडे पुरुष यदि गलती करें तो उसे छिपा लेना, तथा सामान्य जनका दोष उजागर करना क्या यह कोई नैतिक कार्य है?

समाधान—दोष किसीका हो, बडे पुरुषका हो चाहे छोटे पुरुषका हो, उसे **उजागर कर उसके प्रचार व प्रसारका कार्य उस व्यक्तिके अपवादके लिए ही किया जाता है।** अत. **परापवादका कार्य श्रेष्ठ कार्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि परापवाद नहीं** करता। उपगूहनके लक्षणमे केवल यही बताया है कि धर्मात्माको कदाचित् दोष लगे तो उसे प्रकट कर उसका प्रसार नही करना। दूसरोका करना ऐसा नही बताया गया।

इसका मूल अभिप्राय यह है कि दोषवादनसे धर्मात्माके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होकर लोग धर्मके मार्गसे विरत होने लगते हैं। तथा धर्मात्मा भी "धर्मके पालनके मार्गमे अपवाद करने वाले लोग है" ऐसा मानकर, धर्मके प्रति शिथिल हो सकते हैं। इससे दोषोद्घाटन करना लाभके लिए न होकर धर्मकी हानिके लिए कारण बन सकता है इसलिए दोषोद्घाटन न करना दोनोके लाभके लिए है।

(२२३) **प्रश्न**—हम समझते हैं कि इससे हानि होगी। दोषोद्घाटनसे होनेवाले अपवादके भयसे दोषकर्त्ता भी दोषसे विरत होगा, तथा दूसरे लोग भी इसी अपवादके भयसे दोष न करेंगे, अत **पर दोष प्रकाशनको सम्यक्त्वका गुण माना जाना चाहिए न कि दोषोका छिपाना।**

समाधान—दोष दृष्टि ही सम्यग्दृष्टिके नही होती। वह तो गुणोका गवेषी है। जो गुण जिसमे मिले उसे ग्रहण करता है। अपने दोष दर्शनसे तो दोष दूर होते है, परन्तु पर दोष दर्शन

१ राग द्वेष विमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भव ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम् ॥
—आस्रव अधिकार-समयसार कलश ११९ ।

तो आत्म प्रशसाके अभिप्रायसे लोग करते हैं। अत आत्म-दोष दर्शन तथा पर गुणोत्कर्ष करना ही सज्जनोका लक्षण है।

भयोत्पादन करके किसी धर्मात्माके सुधार करनेकी बात सोचना ही गलत है। यदि दोष दूर करनेकी प्रबल आकाक्षा किसीके हित दृष्टिसे है, **तो उसका दोष एकान्तमें उसीसे कहकर उसे दूर करनेकी प्रेरणा करनी चाहिए।** इस स्थितिमे उसे अपना दोष दीखेगा—**स्वयं अपवाद न हो यह चिन्ता होगी, और दोष छूटेगा।**

परका दोष प्रकाशन तो उसका अपवाद रूप है। उसके हो जाने पर ऐसा ही सोचा जा सकता है कि "अब तो अपवाद हो ही गया," क्या शेष रह गया ? ऐसे विचारसे धर्ममे शिथिलता ही आयेगी। अपवादकारकके प्रति दुर्भाव भी आ सकता है जिसका फल अनिष्ट ही होगा। अतः दोषोद्घाटन न करना ही उपगूहन अगका व्यावहारिक पक्ष है। निश्चय तो परकी अपेक्षा न करके स्वयमे गुण वृद्धि करना यथार्थ उपगूहन है।

(२२४) **प्रश्न**—धर्मात्माके दोष दूर करनेका फिर क्या मार्ग है ?

समाधान—उसे ही **स्थितिकरण अंग** कहते हैं। उपगूहनके बाद इसीलिए छठवां स्थिति-करण अग कहा गया है। जैसे मार्ग चलनेवाला पुरुष यद्यपि स्वय देखकर चलता है। तथापि क्वचित् कदाचित् उपयोग चूक जानेसे असावधानी हो जाती है, और मार्गमे ठोकर खा जाता है। जो मार्ग चलता ही नही है उसे क्या ठोकर लगेगी। ठोकर खाकर चलनेवाला सावधान हो कर चलता है पर मार्ग चलनेका परित्याग नही करता। ऐसे समय दूसरे हितैषी व्यक्तियोका काम है कि मार्गमे यदि पत्थर पडा है, जिससे कोई यात्री गिर सकता है, तो उसे मार्गसे हटावें, यह सेवा होगी।

यदि ऐसा न करके मार्गमे भूलसे धक्का खाने वालेकी मदद न करे, बल्कि उसका हास्य करे तो यह सज्जनोचित कार्य नही है, किन्तु अशिष्टता पूर्ण कार्य है। इस प्रकार मोक्षमार्गी यदि अपनी असावधानीसे मार्गमे भूल जाय या रागादि विषम परिस्थितिमे उसके व्रतको दूषण लग जाय, तो सज्जन पुरुष उसका हास्य या अपवाद न कर, उसकी सेवा कर, धर्मके मार्गमे उसे दृढ़ करता है। यही सज्जनोका काम है। यह सम्यक्त्वोका स्थितिकरण नामक गुण है या सम्यक्त्वका छठा अग है।

'धर्म' धर्मात्माके आश्रयसे ही चलता है। धर्मात्माके अपवादसे धर्मका अपवाद हो जाता है। अत धर्मके मार्गको पवित्र बनाये रखनेके लिए धर्मात्माका स्थितिकरण आवश्यक है। उपगूहन अगकी पूर्ति स्थितिकरण अगसे ही होती है। यह उसका व्यावहारिक रूप है। परमार्थसे तो स्वाश्रय छोडकर पराश्रय करना ही विचलित होना है। स्वय अपने ज्ञायक स्वभावसे विचलित न होकर उसीमे स्थिर रहना ही निश्चयसे स्थितिकरण अग है।

७. इस स्थितिकरणसे धर्मात्माओमे **वात्सल्य अग** प्रकट होता है। 'वत्स' बालकको कहते हैं। बालकके प्रति किसीको द्वेष नही होता, न उसका कोई अपवाद करता है। उसके गुण प्रकट हो इस अभिप्रायसे उसे बढ़ावा ही दिया जाता है। यह सामान्य प्रचलन लोकमे है। इसी प्रकार धर्मात्माके प्रति द्वेष न हो, उसका अपवाद न हो, उसमे गुण प्रकट हो, इसलिए सम्यक्त्वी उसे बढ़ावा ही देते हैं, यही वात्सल्य अंग है।

मार्गसे भूले-भटके धर्मात्माको धर्ममार्गमे स्थिर करनेकी क्रिया स्वय धर्मवत्सलता है। यह धर्मवात्सल्यका भाव सभी अंगोको प्रभावित करता है। स्वय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणोकी प्राप्तिके प्रति अनुराग, निश्चय पक्षमे वात्सल्य गुण है। वह जिनके है उनका व्यावहारिक पक्ष धर्मात्माओंके प्रति वात्सल्य भाव रहता ही है।

रत्नत्रयके प्रति अनुराग—निश्चय वात्सल्य है रत्नत्रयके आराधकोके प्रति वात्सल्य, व्यवहार वात्सल्य है। दोनो पक्षोमे परस्पर पूर्ण मैत्री होती है।

धर्मके उक्त गुणोके अवलबनसे धर्मका विस्तार बढता है उसे ही प्रभावना अंग कहते हैं—

८ प्रभावना अग—अपनी आत्मामे दिन-दिन रत्नत्रयके तेजको बढाते जाना यह आत्म प्रभावना ही निश्चयनयसे प्रभावना अग है[1]। बाह्य प्रभावनाके रूपमे जिनेन्द्रका रथ चलवाना, दान देना, तपस्वियो की रक्षा करना, दुखी रोगी जनोका आहार-औषधि आदि तथा अन्य आवश्यक सहायता द्वारा दुखापहरण करना, ये सब जिनधर्मकी प्रभावनाके व्यावहारिक अग हैं। अथवा जिनधर्मके प्रभावके अन्य सभी सामयिक उपाय प्रभावना अगरूप हैं।

स्वय ज्ञानारूढ होकर अपने विषय कषाय जन्य मनोरथोके मार्गपर उस ज्ञानरथको चलाना, अर्थात् प्रत्येक कार्य ज्ञानमय हो, विवेकपूर्ण हो, धर्मकी अभिवृद्धिकारक हो, स्वयको प्रभावित करें, तथा दूसरोको भी प्रभावित करें, वह प्रभावना अग है।

(२२५) प्रश्न—आजकल भगवान्के रथ चलानेका कार्य प्रभावनाका अग नही रह गया, उससे अप्रभावना होती है। स्कूल-कालेज खोलना, छात्रावासोमे छात्रोको निशुल्क पठन-पाठनकी सुविधा देना, तथा गरीबोको धन देना, वस्त्र देना, आजीविकामे लगाना, ये सब जिनधर्म प्रभावनाके कार्य हैं, अत: रथ चलाना बद करना चाहिये ?

समाधान—भगवान्को रथमे विराजमान् कर स्तुति भक्ति करना, तथा भगवान्के उपदेशोका गद्य या पद्योमे प्रचार-प्रसार करना, भगवान्के विहारका प्रतीक है। इन्द्रादि देवोने भगवान्के विहारके समय सर्वत्र दुदुभी बजाई है। धर्मका उद्घोष किया है। समवशरण रचना की है। दिव्यध्वनिका सर्वत्र प्रसार किया है। समस्त साधारण जनोमे धर्म प्रसारका यह अग है, अत इसे रोकनेकी बात प्रभावना अगको रोककर अप्रभावना करना है। ऐसा शास्त्रोमे तथा इतिहासमे प्रसिद्ध है अत. धर्मीको इसे रोकना नही चाहिए।

यह अवश्य है कि इसके सिवाय धर्म प्रचार व प्रसारके अन्य अनेक अग हैं, उनका भी आलबन करना चाहिए। जो पूजा-प्रभावना द्वारा, रथोत्सव, जलयात्रा, पचकल्याणक द्वारा, धर्म प्रभावना करना चाहते है वे उस मार्गसे करें। जो विद्या प्रसार, रोगीसेवा, जनसेवा द्वारा करना चाहते हैं वे उस मार्गमे करें। सभी प्रभावनाके अग हैं। किसी प्रभावनाके अगको रोकना श्रेयस्कर नही है। विद्याप्रसारमे धार्मिक विद्याका प्रसार मुख्यतया करना चाहिए। लौकिक विद्या जो जैनधर्म व उसके सिद्धान्तोके अविरुद्ध हो, वही प्रभावनामे सहायक बन सकती है। धर्मके विरुद्ध तरीकोंमे आजीविका तथा उसके साधनोका प्रसार, धमके लिए बाधक हैं, उनमे धन व्यय करना अपव्यय है, हानिकारक है। अप्रभावना कारक है।

१. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्म ॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ३०

(२२६) **प्रश्न**—क्यो अपव्यय है ? उससे हमारे बालक सुखपूर्वक उत्तम आजीविका उपार्जन **करते हैं, बडे-बडे** ओहदो पर जाते हैं। राजनैतिक क्षेत्रमे बढ़ते हैं। अत. इस ओर समाजके बालकोको बढाना सद्व्यय है, और यह प्रभावनाका अग है ?

समाधान—ऐसा आप लौकिक दृष्टिसे सोचते व कहते हैं। **लौकिक कार्य** प्रभावनाके **अंग तभी बनते हैं** जब ये धर्मका घात न करते हो। बालक बढ़ें, उत्तम आजीविका करें तथा सुखपूर्वक जीवनयापन करें इसमे आपत्ति नही है। बडे ओहदोपर रहे, राजनैतिक क्षेत्रमे रहें, पर इन सब पर रहकर यदि **अहिंसापूर्ण तरीकेसे आजीविका** करें, सत्यपूर्ण जीवन बितायें, जनहितके कार्य करें तो ग्राह्य है। धर्म प्रभावना कारक है। पर यदि केवल राजनैतिक हथकडे अपनावें, सैर-सपाटा करें, जनताको ठगें, अधिकारी होकर **जनताको** पोडित करें, घूसखोरी बढावें तो उसे समाज व धर्मकी अवनति ही कहा जायगा। तब धनका अपव्यय ही होगा, अप्रभावनाकारक ही होगा, अतः धर्मकी प्रभावनाको लक्ष्यमे रखकर निर्दोष पद्धतिके कार्य ही प्रभावनाके अग हैं।

सम्यग्दृष्टि इन सभी अगोको अपने जीवनका अग बनाता है।

इस प्रकार सप्त भय रहित, अष्टाग सहित, सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गमे प्राणीको बढाता है ॥१६०॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन गुणोके कारण ही आगामी कर्मोका सवर तथा पूर्व कर्मोकी निर्जरा करता है, इस बातको निम्न पद्यसे कहते हुए आचार्य निर्जराधिकारको पूर्ण करते हैं—

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्ज्जरोज्जृंभणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(**निजै. अष्टाभि अङ्गै सगत**) अपने निजके निश्चय सम्यक्त्व सम्बन्धी आठो अगोसे सहित होनेसे (**नवम् बन्धं निरुन्धन्**) नवीन कर्मका सवर करता हुआ तथा (**प्राग्बद्धंतु**) पूर्वमे स्वापराधसे बाँधे कर्मोको (**निर्ज्जरोज्जृम्भणेन**) अपने निर्जरा योग्य परिणामोके उठानसे (**क्षयम् उपनयन्**) क्षय करता हुआ वह (**सम्यग्दृष्टि**) सम्यग्दृष्टि जीव (**स्वयम् अतिरसात्**) स्वय स्वानुभवोत्पन्न अत्यन्त आनन्दके रससे भरा हुआ (**आदिमध्यान्तमुक्तम्**) आदि, अन्त और मध्य भावसे रहित (**ज्ञानं भूत्वा**) ज्ञानमय होकर, अर्थात् आनन्द विभोर होकर, (**गगनाभोगरंग विगाह्य**) समस्त लोकाकाशरूपी नृत्यशालाकी रगभूमिको व्याप्त कर (**नटति**) नृत्य करता है ॥१६२॥

भावार्थ—जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होनेसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव पर दृष्टि आई है, वह जीव उक्त आठ गुणोमे सपन्न होकर, परसे दृष्टि हटाकर, स्वय ज्ञानके रसास्वादमे विभोर होकर नृत्य करता है। अर्थात् जैसे कोई धीरोदात्त नायक आनन्द मग्न हो, नाटकको रगभूमिमे सर्वत्र अभिनय पूर्वक नृत्य करता है, उसी प्रकार ज्ञानके रसमे मग्न ज्ञानी सर्वत्र अपनी ज्ञान लीला करता है। उसके इस कार्यसे उसे ज्ञानभावके कारण नवीन कर्मोका सवर होता है, तथा पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आकर बिना फल दिये निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं ॥१६२॥

सारांश यह कि सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपमे निश्शक—निर्भय है, पर विषयोकी इच्छा नही करता, स्वरूप निमग्न है, किसी प्रकारकी विचिकित्सा रागादिके अभावसे उसे नही है, दृष्टि स्वच्छ है, अपनेको अपने स्वरूपमे दृढतासे स्थित किये है, अपनी शक्तिको बढाता है, अपने स्वरूपका अनुरागी है, अपने गुणोके प्रकाशमे दत्तचित्त है। इसलिए उसे नवीन कर्मोका बन्ध नही होता।

यद्यपि चतुर्थसे नवमे गुणस्थान तक पदवीके अनुसार रागादि कर्मास्रव होता है, तथापि जड रहित वृक्षका भाग जैसे कुछ काल हरा रहे, पर वह सूखनेको ही है—पनप नही सकता, उसी प्रकार जडरूप मोह (मिथ्यात्व) व अनन्तानुबन्धी कषाय रस जिसका सूख गया है—उसे अल्प बन्ध हो तो भी वह बन्ध उसे संसारमे बाँध रखनेमे समर्थ नही है। अत "अनुदरा कन्या" के प्रयोग-की तरह, अल्प बन्धको अबन्ध ही कहा। इस तरह नवीन कर्मका अल्प बन्धक या अबन्धक ज्ञानी अपने उदयागत कर्मदण्डको समतासे भोगता है। अत उसे निर्जरा कहा है। ऐसी निर्जरा ही मोक्ष-मार्गकी साधिका है। इस प्रकार निर्जरा भी रगमच से निष्क्रान्त हुई।

इति निर्जरा-अधिकार

●

▫ बन्ध अधिकार ▫

ससारके रगमच पर जब बन्ध जगत्को उन्मत्त करता हुआ क्रीडा कर रहा था, तब ज्ञानका उदय उसकी मत्तताको मेट कर स्वय प्रकाशमान होता है—

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटंनाटयत्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ।।१६३।।

अन्वयार्थ—(**रागोद्गारमहारसेन**) रागादि परिणतिकी उत्कटता, वही हुआ महामदकारक रस, उस मादक रससे (**सकलं जगत्**) सम्पूर्ण जगत्के जीवोको (**प्रमत्तं कृत्वा**) उन्मत्त बनाकर (**रसभावनिर्भरमहानाट्येन**) कर्मानुभागके नाना रसभावोसे उपलक्षित महान् नृत्यके द्वारा (**क्रीडन्तम्**) अपनी मदोन्मत्त क्रीडामे मग्न, ऐसे (**बन्धं**) कर्मबन्धको (**धुनत्**) कपायमान करता हुआ—नष्ट करता हुआ (**आनन्दामृतनित्यभोजि**) निजानन्दके अमृतका नित्य भोग करनेवाला (**निरुपधि ज्ञानं**) विभावभावकी उपाधियोसे रहित ज्ञान, जो कि (**धीरोदारमनाकुलम्**) धीर है, उदार है, और अनाकुल रूप है, अर्थात् आनन्दमग्न है वह (**सहजावस्थां**) अपनी स्वाभाविक दशाको (**स्फुट नाटयत्**) स्पष्ट करता हुआ अर्थात् अपनी सहजावस्थामे होनेवाले स्वाभाविक नृत्यको प्राप्त करता हुआ, प्रकाशित करता हुआ (**समुन्मज्जति**) रंगमच पर उदयको प्राप्त होता है—प्रकट होता है ।।१६३।।

भावार्थ—जैसे नाटकके रगमच पर कोई खलनायक पात्र मद पीकर, उन्मत्त होकर, सब दर्शकोको अपने अभिनयसे प्रभावित करते हुए झूम-झूमकर नाचता था। उसे दूसरा नायक पात्र जो धीर है, उदार है, निराकुल है, अपनी स्वभाव दशामे है, वह अपने स्वाभाविक कौशलको दिखाकर आनन्दित करता हुआ प्रकट होता है, तब खलनायक रगमच छोडकर भाग जाता है।

इसी प्रकार 'बन्ध' जो राग-द्वेष मोहका रस पिये था, और उन्मत्त होकर जगत्के जीवोके हृदय रूपी रगमच पर नाच रहा था, किसी सम्यग्दृष्टि जीवको निजात्मतत्त्वकी दृष्टि आई, तब उसे भेदविज्ञान हुआ। वह भेदविज्ञानी अपनी धीरता, उदारचरितता तथा निराकुल भावके आधार पर अपनी सहजावस्था रूप नृत्य करता है। तब उस जीवके हृदय रूपी रगमचसे बंधकी रागादि विकारी भावनाएँ स्वय भाग जाती हैं।

जैसे प्रकाश और अधेरा दोनो विरोधी पदार्थ है। दोनोके उदयमे कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अँधेरेमे ज्ञानका अभाव होता है। सम-विषम-स्थल नही दीखते। इष्ट पदार्थ पासमे रहते हुए भी प्राप्त नही होते। अनिष्टकारक सर्पादि जहरीले जन्तुओसे मुठभेड हो जाती है। मनुष्य मदोन्मत्तकी तरह अज्ञान भावमे लडखडाता है। इसी प्रकार अज्ञानी भी मोहावेशमे स्व-परका भेद न जानकर, हित-अहितका विवेक न पाकर, हितकर उपदेशको छोडकर, अहितकारक विभाव भावोमे फँसकर दुःख उठाता है, जैसे प्रकाश हो जाने पर उसे हित-अहितका भेदज्ञान हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानका उदय होने पर जीवको स्व-परका बोध हो जाता है। इष्ट जन सद्गुरु आदिके उपदेशकी प्राप्ति हो जाती है। अनिष्टकारक पंचेन्द्रियोके विषय तथा उनके साधन, क्रोधादि कषाय भाव, तथा उनके साधनोकी भयकरता, अनिष्टकारिता भी भासित हो जाती है। वह अनिष्टसे बचकर इष्टमे प्रवृत्त हो जाता है। अधकारको प्रकाशको तरह आत्माका सहजज्ञान, अनादिके अज्ञानान्धकारको मिटाकर इष्ट मार्गका दर्शन कराता है ॥१६३॥

जीव अनादि कालसे ज्ञानावरणादि कर्मोसे बधा है। उसका मूल कारण उसका स्वापराध है—वह है रागादि परिणाम। वह न हो तो जीव बधनमे नही पड सकता। मिट्टीसे भरे अखाडेमे तेल लगाकर उतरने वाले पहलवानको तनमे मिट्टी चिपक जाती है। बिना तेलवालेको मिट्टी नही लगती। यह एक दृष्टान्त है। इसी तरह बिना राग-द्वेषभावके जगत्का प्राणी अपने पदके योग्य सासारिक क्रियाओंके करते रहनेपर भी कर्मलिप्त नही होता। इस बातको निम्न पद्यसे प्रकट करते हैं—

न कर्मबहुलं जगत् न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

अन्वयार्थ—(कर्मबहुलं जगत् न बंधकृत्) जगत्मे कर्मकी वर्गणाएँ भरी हैं, वे बंध कराती हैं ऐसा नही है। जीवके **(चलनात्मकं कर्म न)** हलन चलन करानेवाले मन वचन-कायकी क्रियायें जीवको बध नही कराती। **(नैककरणानि वा न)** नाना प्रकारके बाह्य साधन, इन्द्रियाँ आदि भी जीवको बध नही कराते **(चित् अचित् वधः न बंधकृत्)** सचेतन अचेतन पदार्थोका घात भी कर्मबंधन नही कराता, किन्तु **(यत् उपयोगभूः)** जीवके ज्ञानोपयोगकी भूमि जब **(रागादिभिः समम् ऐक्यं समुपयाति)** रागादि विकारी भावोके साथ एकता को प्राप्त होती है **(स एव किल)** तब यही एकमात्र अवस्था **(नृणाम्)** प्राणियोके लिए **(बंधहेतुर्भवति)** बधका कारण होती है ॥१६४॥

भावार्थ—कर्मबधन व उसका फलभोग ही ससार है। ससार दुखमय है, यह सभी मत-मतातरोका अनुभव है। इस बधनका क्या हेतु है ? यह न जाननेके कारण जीव भ्रममे हैं। वह उस दुखको दूर करनेके विविध उपाय करता है पर असफल रहता है। क्योकि यथार्थ कारणोका ज्ञान उसे नही है।

कोई कहते हैं कि लोकमे कार्मण वर्गणा भरी पडी है अत- जीव स्वय उनके मध्य पतित होनेसे उनसे बँध जाता है। आचार्य कहते हैं बन्धनका यह सही हेतु नही है। कार्मण वर्गणाएँ तो सारे लोकाकाशमे है। यदि उनकी उपस्थिति मात्रसे जीव कर्मके बधनमे आ जावे, तो सिद्ध परमात्मा भी पुनः कर्मबधनमे आ जावेंगे। अतः यह हेतु सही नही है।

कोई कहते हैं मन-वचन कायकी क्रिया जीव करता है। अत कर्मास्रव होता है। कर्मास्रव होगा तो बंध भी होगा। जैन ग्रन्थकारोने आस्रवके कारण मन-वचन-कायके योग बताये हैं। आचार्य कहते हैं कि मन, वचन, कायकी क्रियायें यदि बधकर्त्ता हो तो वीतराग प्रभुके अर्हन्त दशा तक योग हैं अत वे भी बंधनबद्ध हो जायगे।

(२२७) **प्रश्न**—क्या वीतराग छद्मस्थ ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानमे या तेरहवें गुणस्थानमे केवलीके कर्मबन्ध नही होता ? एक साता वेदनीयका बन्ध तो वहाँ भी ग्रन्थोमे लिखा है।

समाधान—आस्रव होता है, कर्मवर्गणा आती हैं, पर वह बन्ध स्थिति-अनुभागसे रहित है, अत. उसी क्षण ही वे खिर खिर जाती हैं, अत उसे बन्ध नही कहते।

(२२८) **प्रश्न**—"समयट्ठिदिगो बन्धो" इस प्रमाणसे एक समयकी स्थितिका बन्ध तो साता वेदनीयका केवलीके भी बताया है। आपने लिखा स्थितिबन्ध ही नही होता यह विरोध क्यो है ?

समाधान—"द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य" वेदनीय कर्मका जघन्य **स्थितिबंध बारह मुहूर्तका** होता है। यदि स्थिति बन्ध केवली भगवान्‌को होता तो कमसे कम बारह मूहूर्तका बन्ध होता। **एक समयका स्थितिबंध किसी कर्मका नहीं** होता। अत सिद्ध है कि आस्रव होता है, प्रकृति प्रदेश बन्ध होता है, **पर स्थिति अनुभागबंध नहीं** होता। एक **समय मात्र** सम्बन्ध होकर छूट जाते हैं। उसे ही समयस्थिति वाला बन्ध लिखा है। यहाँ बन्ध शब्द उपचरित है।

नाना प्रकारके वैभव तथा पचेन्द्रियोको अच्छे लगनेवाले जो विविध करण—साधन हैं, उनके कारण जीव बन्धनको प्राप्त होते हैं, ऐसा कोई कहते हैं। आचार्य कहते हैं यह भी ठीक नही है। यदि ऐसा हो तो भगवान् तीर्थंकरके समवशरणमे अचिन्त्य विभूति है। नाना करण साधन भूत हैं, पर उनके कारण वे तो बन्धनका प्राप्त नही होते।

कोई कहते है कि एकेन्द्रियमे पचेन्द्रिय पर्यन्त जो जीवराशि है, उसके मरणसे हिंसाका जन्म होता है और उसमे कर्मका बन्धन होता है। आचार्य कहते हैं यह भी उसका मूल कारण नही है। सभी जीव अपनी आयुके क्षयसे मरणको प्राप्त होते हैं। यदि उनके मरण मात्रसे कोई जीव कर्म-बन्धनको प्राप्त हो, अपराधी हो, तो जगत्‌मे कोई साधु अहिंसक या निरपराधी न रह सकेगा।

ईर्या समितिसे चलनेवाले साधुजन सावधान होकर चलते हैं, बचाव रखते हैं कि किसी जीवका घात न हो जावे, फिर भी कदाचित् जीव मर जाता है, तो उन्हे भी कर्मबन्ध होगा जबकि **आगमका वचन है कि समितिमे प्रवर्तमान साधुके शरीरादि निमित्तको पाकर किसी प्राणीका मरण हो जाय तो उस निमित्तसे भी उन्हें हिंसा का पाप या बंध नहीं होता।** अन्यथा "ण हि तस्य तण्णिमित्तो बन्धो" इस आगम वाक्यका विरोध हो जायगा। अत. चेतन अचेतन द्रव्यका मरण भी बन्धका कारण नही है।

(२२९) **प्रश्न**—जब कर्मसे भरा हुआ जगत्—मन-वचन-कायकी क्रियाएँ—पचेन्द्रियोके रमणीक अरमणीक विषयभूत पदार्थ—तथा चेतनादि वध, ये सब बन्धनके कारण नही हैं तब जीवके बन्धका अन्य क्या हेतु है ?

समाधान—बन्धका कारण परपदार्थ नही होता, स्वापराध ही होता है। अतः जब जीवका उपयोग रागादि विकारोसे विकृत होता है तब वे ही अशुद्ध उपयोग स्थित रागादि परिणाम, जीव को कर्म बन्धके कारण होते हैं—ये ही मूल हेतु हैं। इस कारणकी विद्यमानतामे अन्य सब हेतु, उपचारसे हेतु बन जाते है और रागादि विकारोके अभावमे वे सब हेतु, कर्म बन्धके हेतु नही बनते बन्धका अन्वय-व्यतिरेक पूर्ण-रीत्या जीवके रागादि अशुद्ध भावोसे है अत वे ही कारण यथार्थ कारण मानना चाहिए।

(२३०) **प्रश्न**—मूल कलशमे 'नृणाम्' पद दिया है जिसका अर्थ होता है मनुष्योके बन्धका कारण रागादिसे उपयोगकी एकता है। तो क्या बन्ध, मात्र मनुष्योको होता है? अथवा मनुष्योंके सिवाय अन्य जीवोको बन्धके कोई अन्य कारण हैं? या उनके बन्ध ही नही होता?

समाधान—सभी जीवोको बन्धका कारण अपना रागादिभाव रूप अपराध ही है अन्य कुछ नही। मनुष्य शब्द तो यहाँ उपलक्षण मात्र है। अर्थात् मनुष्यादिके बन्धका कारण यही है, उससे प्राणी मात्रको समझ लेना चाहिए। नृणाम् पद यहाँ जीव मात्रका बोधक है ॥१६४॥

रागादि रहित विरागीके कर्मबन्ध नही होता इसे प्रकारान्तरसे प्रतिपादित करते हैं—

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(**लोक कर्म तत अस्तु**) लोक कार्मण वर्गणासे भरा हुआ हो तो हो। (**तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म**) जो योग प्रदेश चलनात्मक क्रियाएँ भी (**स च अस्तु**) हो तथा (**अस्मिन् तानि करणानि सन्तु**) इनके सबके साथ पाँचो इन्द्रियो मन तथा इनके साधन स्वरूप अन्य पदार्थ रूप करण भी हो, तथा (**तत् चिदचिद्व्यापादन अस्तु**) वह चेतन अचेतनका घात भी हो, तथापि सम्यग्दृष्टि जीव यदि (**रागादीन् उपयोगभूमिम् अनयन्**) यदि उपयोगकी भूमिकामे रागादि रूप परिणमन नही करता और (**केवलं ज्ञान भवन्**) मात्र अपने ज्ञान स्वरूपमे रहता है—तत् रूप ही परिणमन करता है—तो (**कुत अपि**) किसी भी प्रकारसे (**सम्यग्दृगात्मन**) उस सम्यग्दृष्टि जीवको (**नैव बन्ध:**) बन्ध नही होता, यह (**ध्रुवम्**) सुनिश्चित है ॥१६५॥

भावार्थ—कलश १६४ मे कौन-कौनसे हेतु कर्म बन्धके कारण नही हैं यह प्रतिपादित किया था। इस १६५ मे उसीका विधिमुखेन निषेध किया है। इसमे बताया है कि सारा लोक कर्मसे भरा है तो भरा रहो, मन-वचन-कायके निमित्तसे आत्म प्रदेशोका परिस्पन्द होता है तो होता रहो, पाँचो इन्द्रियाँ तथा मन व तत्साधन बाह्य पदार्थ हैं तो बने रहो, चेतनाचेतन पदार्थका घात होता है तो होता रहो। मात्र ये हेतु बन्धके कारण नही हैं। किन्तु ये सब बन्धके कारण तब बनते हैं जब जीव स्वय अपने उपयोगमे रागादि रूप परिणमन करे। उसके अभावमे शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमे हुए जीवको कदाचित् भी कर्मबन्ध नही होता। वह अप्रमादी है।

ज्ञानकी महिमा अगाध है, वह प्राप्त हो जाय तो स्वच्छन्द आचार करने पर भी क्या जीव कर्मसे नही बँधता, ऐसी शका उठने पर उपदेशका यथार्थ प्रयोजन, निम्न कलशमे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(**तथापि**) ऐसा उपदेश सुननेपर (**ज्ञानिनां**) ज्ञानी पुरुषोको (**निरर्गलम्**) अनियन्त्रित-असंयमित (**चरितुं**) आचरण करना (**न इष्यते**) उचित नही है। क्योकि (**सा निरर्गला व्यापृति**) वह स्वच्छन्द असंयताचार रूप निरर्गल प्रवृत्ति (**किल**) निश्चयसे (**तदायतनमेव**) बन्ध का ही आयतन है "ज्ञानीके कार्य बन्धकृत् नही हैं" इसका यह अर्थ है—कि (**अकामकृतकर्म**) बिना इच्छाके जो क्रियाएँ (**ज्ञानिनां**) ज्ञानीके होती हैं (**तत्**) वे क्रियाएँ, रागरस रहित होनेके कारण (**अकारणम् मतं**) बन्धके लिए हेतु नहीं हैं। ज्ञानी ज्ञानक्रियाका कर्त्ता है। अन्य क्रियाओ का कर्त्ता नही है। भले ही वे निरिच्छ ज्ञानीके होती हो, ज्ञानी उनका स्वामित्व भाव से कर्त्ता नहीं है। यदि कहा जाय कि ज्ञानी (**जानाति च करोति च**) जानता भी है और करता भी है तो (**द्वयं किमु न विरुध्यते**) ऐसा कहना क्या विरुद्ध कथन नही है। अर्थात् विरुद्ध है। ज्ञाता करता नही है, करता ज्ञाता नही है ॥१६६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषके पूर्वबद्ध कर्मके उदयमे क्रियाएँ होती हैं, वह उनका 'कर्त्ता' नही है। कर्त्ता वह होता है जो इच्छासे राग-द्वेष-मोहसे उन्हें करता है। इच्छा मोहका परिणाम है। मोहका अभाव होनेमे ज्ञानी इच्छा नहीं करता। उसका निःकांक्षित होना सम्यग्दर्शनकी एक आवश्यक भूमिका है। अत. वह कर्त्ता नहीं है—ज्ञातामात्र है।

यदि इस उपदेशके हार्दको हृदयङ्गम न करके कोई अज्ञानी अपनेको ज्ञानी मानकर इस आशयसे कि मैं ज्ञानी हूँ अतः मेरे कर्मबन्धन तो होगा नही, मनमानी रागादिकी क्रियाएँ—पचेन्द्रिय विषय भोग करे, तो उसकी इस अर्गला रहित—नियत्रण रहित—स्वेच्छाचारिता पर आचार्य प्रतिबन्ध लगाते है। यह सुनिश्चित है कि **व्यवहार चारित्रका अभाव हो और निश्चय चारित्र हो ऐसा त्रिकालमे नहीं होता**। यह हो सकता है कि बाहिरी चारित्र हो और अन्तरग न हो। अतः जिसे अन्तरगमे रागादिका अभाव हो ऐसा साधु, कर्मोदय जनित स्थितिमे आहारादि क्रिया करता है, पर निरिच्छ है, अतः मिथ्यात्वीकी तरह बन्ध नही करता, अतः उसे अबन्धक ही कहा। जो जीव सदा ज्ञानभावमे रहते हैं, ऐसे श्रेणीपर आरूढ साधु तो बुद्धिपूर्वक समस्त बाह्य क्रियाओसे मुक्त हैं। उस काल मे कर्मोदय वशात्, शरीर सम्बन्ध होनेसे, शरीरकी वर्गणाओका आवागमन, श्वासोच्छवास-नाड़ियाँ-यत्र सचालन-तथा अन्य शारीरिक क्रियाएँ ध्यानावस्थामे भी होती हैं। अथवा वचनवर्गणाओ मनोवर्गणाओका आवागमन होता है, उससे आत्मप्रदेशकी जो क्रियाएँ हैं वे रागादि इच्छापूर्वक नही हैं, अत ये भी कर्मबन्धनका कारण नही हैं। वहाँ मात्र प्रकृति प्रदेश बन्ध है, या अल्पस्थिति अनुभाग है, वह अबन्ध ही है, ऐसा जानना। अपने स्वभावसे रमण करना, तथा रागादि रूप परिणमन करना, ये दोनो कार्य एक साथ नहीं होते। अत दोनो क्रियाएँ एक साथ होना विरुद्ध हैं ॥१६६॥

इसी विषयको और स्पष्ट करते हैं—

जानाति यः स न करोति, करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु:
मिथ्यादृशः स नियतं स हि (च) बन्धहेतुः ॥१६७॥

र्थ—(**य जानाति**) जो जानता है (**स न करोति**) वह करता नही है (**य तु करोति**) जो करता है (**अयं न जानाति**) वह जानता नही है। (**तत् कर्म किल राग**) करना है वह निश्चय से राग है। (**राग तु अबोधमयम् अध्यवसायम् आहु**) रागको अज्ञान रूप अध्यवसान कहते हैं। (**स. नियतं मिथ्यादृशः**) वह अज्ञान भाव नियमसे मिथ्यादृष्टि जीवको होता है। (**स च बन्धहेतु**) और वही अज्ञान भाव बन्धका कारण बनता है ॥१६७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जानता है अर्थात् अनुभवन करता है, वह कर्मोदय जन्य फलोकी इच्छा नही करता। जो जीव कर्मोदय जन्य फलोमे, सुखदुखोमे, रागद्वेष रूप इच्छा करते हैं अर्थात् तद्रूप परिणमते हैं, वे मिथ्यादृष्टि स्वात्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेमे असमर्थ हैं।

कर्मोदयके फलको स्वीकार करना अर्थात् तद्रूप परिणमना ही राग है, यही रागादि परिणमन **अज्ञान भाव** है। सम्यग्दृष्टि कर्मके प्रति व फलके प्रति निष्कांक्ष है, भले ही उदयागत कर्मका फल उसे भी भोगना पडता है, सो वह पूर्वबद्ध कर्मोंका भोक्ता तो है। पर नवीन कर्मबन्ध का कर्त्ता नही है। मिथ्यादृष्टि जीव, स्वरूप अनुभवनके अभावमे—परमे स्वत्वका अनुभवन करता है, अतः परके प्रति उसे मोह है। वह परकी अभिलाषा करता है। जिसकी अभिलाषा करता है, उसका 'लोभ' है। उसके बाधकके प्रति, 'क्रोध' है। परको प्राप्ति होनेपर उस वस्तुका 'अहकार' है। न प्राप्ति होनेपर तत्प्राप्तिके लिए 'कूट कपट' का प्रयोग है। इस प्रकारसे चारो प्रकारकी कषायोको अपनेमे उत्पन्न करता है। इस अज्ञानभावका कर्त्ता नियमसे मिथ्यादृष्टि है। और वह अज्ञानभाव ही नियमसे उसके बन्धका कारण है।

(२३१) **प्रश्न**—लोकमे यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'जो कर्त्ता सो भोक्ता' और जो 'भोक्ता सो कर्त्ता' इसलिए जो कर्मके उदयको भोगेगा वह कर्त्ता भी होगा, और जो करेगा वह भोगेगा भी।

समाधान—ऐसा नही है। प्रथम वाक्य तो ठीक है कि 'जो कर्त्ता है वह भोक्ता है।' जिन जीवोने पूर्वमे अपनी स्वरूप दृष्टिके अभावमे रागादि रूप परिणमन किया है—अपनी उस अज्ञान-दशामे उन्होंने अपनेको कर्मके बधनमे बद्ध किया है। यहाँ अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बाँधता है ऐसा कहा है। वह उस कर्मके बधके फलका भोक्ता भी अवश्य होगा। संसार परिभ्रमण ही उसका फल भोगना है। दूसरा वाक्य कि, जो भोक्ता है सो कर्त्ता है, ठीक नही है। कारण ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है। उसे आत्मदर्शन हो चुका है, वह अपने स्वरूपकी अखण्ड सत्ता स्वीकार कर चुका है। उसे परमे निजपनेका बोध अब नही है। निजको ही निज मानकर उसमे ही रुचि है। परको अपनेसे सर्वथा भिन्न देख उसमें पूर्ण अनासक्ति—अनाकांक्षा—उपेक्षाभाव—रागद्वेषसे रहितपनेका भाव उत्पन्न हो गया है। अत न उन्हे चाहता है न उनमे सुख-दुख मानता है।

अपने स्वरूपानुभवनके कालमे पर पदार्थ ज्ञानके विषय भी नही हैं। अतः सम्यग्दृष्टि अबन्धक है, अकर्त्ता है। इसी दृष्टिसे उसे निर्विकल्प अनुभव ही कहा है।[1]

---

१ शुद्ध स्वात्मोपयोगो य स्वय स्याज्ज्ञान चेतना।
निर्विकल्प स एवार्थादर्था संक्रान्तसङ्कृते ॥ —पचाध्यायी, उत्तरार्ध—८५१

एवं—"चैतन्य स्वरूप जो सविकल्पसे निश्चय किया था, उस ही मे व्याप्य-व्यापकरूप होकर, इस प्रकार प्रवर्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशाका नाम 'निर्विकल्प अनुभव है।"
मोक्षमार्ग प्रकाशक—रहस्यपूर्ण चिट्ठी, सोनगढ़—चौथा संस्करण, पृष्ठ ३४३

(२३२) **प्रश्न**—अनुभवनके कालमे यदि परपदार्थ ज्ञानके ज्ञेय बनें तो क्या इतने मात्रसे कर्म-का बन्ध हो जायगा ? क्या परको पर जानना भी बन्धकारक है ।

समाधान—परको पर जानना बन्ध कारक नही है । तथापि परपदार्थ उसके स्वानुभवनके विषय नही हैं, इसीको "पर पदार्थ ज्ञानके विषय नही हैं" ऐसा कहा है । उपयोग यदि स्वरूपानु-भवमे है तो पर क्या हैं ? कहाँ हैं ? इसका उसे अवकाश ही नही है । सामान्यत. सम्यग्दृष्टि परको पर रूप तो जानना ही है परन्तु स्वानुभव जब करता है, तब तो उन्हे उपयोगमे न लाकर ही करता है । वह स्वानुभव करना ही जानना है । जाननेमे पराश्रयसे होनेवाले रागादि अज्ञान नही करता इसलिए "कर्त्ता नही है ।" ऐसा उसे कहा । जानने और करनेमे 'विरोध' इसी अपेक्षासे कहा है । ज्ञानी अनुभवके कालमे उदयागत कर्मके फलरूप परिणमन नही करता, इसी का अर्थ है कि फल भोगता है, पर तद्रूप परिणमनका कर्त्ता नही है । अत. उक्त कथन सुसगत है ।

(२३३) **प्रश्न**—स्वानुभवी सम्यग्दृष्टि जीव क्या सारे संसारसे न्यारा प्राणी है जिसे अपने सिवाय किसीकी परवाह नही है । न किसीकी चिन्ता है । ससारके दु खी-दीन प्राणियो पर दया, उनकी सहायता करना, उन्हे विपत्तिसे बचाना आदि लोकोपकारी कार्य उसके सम्यग्दर्शनके विरुद्ध हैं क्या ?

समाधान--सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनका स्वय कर्त्ता है । तत्त्वतः कोई किसीका कर्त्ता नही होता । मैं दूसरेका उपकार कर सकता हूँ यह मिथ्या अभि-मान है । कोई किसीका उपकार या अपकार नही कर सकता ।

(२३४) **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो पुण्य पाप दोनोका अभाव हो जायगा । पुण्य-पापका अभाव होनेसे चतुर्गति ससारका अभाव होगा । तब शास्त्रकारो द्वारा कथित लोक-अलोक पुण्य-पापके फल, सब असत्य ठहरेंगे ?

समाधान—असत्य तो कुछ है ही नही, तथापि सम्यक्त्वकी बात ही कठिन है । परकर्तृत्व के भ्रमवश ही जीव परका सचय विचय करता है । नाना रचनाएँ करता है । पुण्य-पापका बन्ध करता है इसीसे चतुर्गति ससार है । इन सबका हेतु मिथ्यात्व है, भ्रमदृष्टि है, उसका अभाव नही है तब ससार असत्य कैसे होगा ।

(२३५) **प्रश्न**—जब मिथ्यात्व स्वय भ्रमदृष्टि है तो उसका फलभूत ससार भी भ्रमवश ही दीखता है । वह यथार्थ कैसे है ?

समाधान—भ्रम अभावात्मक नहीं होता, वह भी सद्भाव स्वरूप होता है । जहाँ रस्सीमे सर्पका भ्रम होता है—वहाँ रस्सीका भी अस्तित्व है और मान्यतामे सर्पका भी अस्तित्व है । रस्सी सर्प नही, और बोध सर्पका है । जिस सर्पका बोध है वह वहाँ नही है पर अन्यत्र वह सत्यभूत है । केवल वहाँ रस्सीका बोध होना था, सो वह नही है—इससे वह भ्रमात्मक ज्ञान कहा जाता है ।

(२३६) **प्रश्न**—रस्सी और सर्प अपने-अपने स्थान पर रहे, पर जिसे रस्सीमे सर्पका ज्ञान है—वह ज्ञान तो असत्य है ?

समाधान—वह केवल एक अपेक्षतासे असत्य है । जो नही है उसका बोध हो रहा है अतः असत्य है । पर आप उसकी दृष्टिसे विचार करो—तो क्या वह भयका बहाना करता है, या

यथार्थमे उसे भय हो रहा है ? यदि भयभीत है तो भय सकारण है—या अकारण। यदि सकारण है, तो भयरूप कार्य और उसका कारण ये दोनो कारण कार्य सत्य हैं—अन्यथा कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति कैसी ?

(२३७) **प्रश्न**—भ्रम भी सत्य है, और भ्रम रहित भी सत्य है, ये दोनो बातें परस्पर विरुद्ध हैं। एक कुछ कहिए। दोनो सत्य कैसे ? सत्य तो एक होता है दो सत्य नही हो सकते ?

समाधान—सत्य कभी एकांगी नही होता, वह सापेक्षताको लिये ही होता है। जैसे—रामदत्तके तीन पुत्र हैं। एक २८ सालका, दूसरा २५ का, तीसरा २० सालका है। बडेका नाम—शरद है, दूसरे-मझलेका नाम—किशोर है, और तीसरे छोटेका नाम राजेश है। किशोर छोटा भी है, और बडा भी, दोनो सत्य है। क्या दोनो सत्य बडे और छोटेंकी अपेक्षा नही रखते।

(२३८) **प्रश्न**—किशोर बडा भी है, राजेशसे,—छोटा है शरदसे, यह तो व्यवहार सापेक्षतासे है। यदि स्वय उसे देखा जाय तो क्या उसे छोटा बडा कह सकते है ?

समाधान—उस अवस्थामे यदि छोटे बडेका प्रश्न कोई उपस्थित करे तो—उत्तर होगा—यह तो पर सापेक्ष व्यवहारमे ही छोटा बडा है। पर निरपेक्ष व्यवहारमे "न छोटा ही है, न बडा ही है।" यह कथन भी स्वसापेक्ष है, सर्वथा निरपेक्ष नही। प्रकारान्तरसे तीन बातें स्वय फलित हुईं—

१. किशोर बडेकी अपेक्षा छोटा है। २. छोटेकी अपेक्षा बडा है।

३. दोनो अपेक्षा छोडकर स्वयकी अपेक्षा "न छोटा है न बडा है।"

इसके सिवाय सापेक्षताएँ भिन्न-भिन्नरूप मे बढती जायँ तो निर्णय भी बदलते जायँगे। वे सभी निर्णय उन-उन अपेक्षाओसे सत्य होगे। सिद्ध हुआ कि सत्य एकागी नही होता अत ससार भी है, उसका चातुर्गतिक रूप भी सत्य है और उनके कारणभूत पुण्य-पाप भी सत्य हैं।

(२३९) **प्रश्न**—तब परकर्तृत्व भी सत्य है। परका उपकार अपकार करनेसे ही तो पुण्य-पाप होते हैं ?

समाधान—नही। परके उपकारकी मात्र भावना करना आपके वशमे है, उससे पुण्यार्जन हो सकता है। इसी प्रकार अपकारकी भावना करना आपकी स्वेच्छापर है, उससे पापार्जन हो सकता है पर आप परका उपकार अपकार नही कर सकते।

(२४०) **प्रश्न**—यदि भावना मात्रसे पुण्य-पाप हो जाता है तो पुण्य-पाप करना बहुत सरल है। करना धरना कुछ नही हैं, सब ससारके उपकारकी भावना करो सातिशय पुण्य बंध हो जायगा ?

समाधान—सामने वाले व्यक्तिके स्वय पुण्योदय हो तो उसका उपकार हो जाता है, यदि पापोदय हो तो अपकार स्वय हो जाता है।

(२४१) **प्रश्न**—बिना किये उपकार अपकार कैसे हो जाता है ? और उससे हमे पुण्य-पाप कैसे बंध जाता है ?

समाधान—आपके मनमे यदि दूसरेके भले होनेकी भावना है कि आप उसकी सुख सुविधा रूप पदार्थोंका उसे दान करें तथा स्वय उसके अनुकूल देहादिकी क्रिया करें, यह आपके वशकी बात है। यदि उसके शुभ कर्मका उदय हो तो आपके साधन व क्रियाएँ उसकी सुख सुविधामे मात्र

निमित्त पड़ सकेंगी यदि उसके पापका उदय हो तो आपके कोई कार्य उसे सुख-सुविधा नही पहुँचा सकते। इसी प्रकार आप किसीकी बुराईका भाव कर सकते हो, तदनुकूल परके बाधक कारण उपस्थित कर दुःखी बनानेके निमित्त जोड सकते हो, तथापि यदि उसके पुण्योदय है, तो आपके ये निमित्त उसे दुःखी नही कर सकते यह भी निश्चित है।

आपको पुण्य और पाप बध आपकी भावनाके कारण ही होता है। आपकी क्रियाएँ तथा साधन मामग्रीका एकत्रीकरण उस भावनाका फल है। ये दोनो निमित्तभूत कहे जायंगे तब, जब उसके पुण्य-पापके उदयसे वह सुखी दु खी बन सके। यदि उसे पुण्य-पापका उदय नही है तो वह सुखी दुःखी न बन सकेगा। तब आपके भाव और चेष्टाएं निमित्त नही कही जायेंगी।

(२४२) **प्रश्न**—जब निमित्त नही हो सकी, तो हमारी चेष्टाएँ व भावनाएँ सब निष्फल हैं।

समाधान—परको सुखी दु खी करनेमे अवश्य निष्फल हैं। तथापि आपके अपने परिणामोंके अनुसार पुण्य और पापका बध अवश्य होगा अत वे चेष्टाएँ सफल हैं, निष्फल नही हैं ?

(२४३) **प्रश्न**—दूसरेकी भलाई भी नही हुई, बुराई भी नही हुई, पर हमे व्यर्थ पुण्य-पाप बँध गया यह कोई प्रक्रिया है ?

समाधान—प्रक्रिया सही है। प्राणी अपनी सुकृति और दुष्कृति रूप परिणति तो स्वेच्छासे करता है अत उससे पुण्य-पाप बध होना भी अनिवार्य है। किन्तु दूसरेका भला-बुरा होना उसके भाग्य दुर्भाग्यके उदयपर अवलम्बित है। यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् तो तीर्थंकर सभी तीनो लोकोके जीवोके हितका उपदेश करते हैं तब उस निमित्तसे सारा संसार मुक्त हो जायगा।

(२४४) **प्रश्न**—कैसे हो जायगा ? वे अपने-अपने कर्मानुसार प्रवर्त्तेगे। भगवान् केवल उपदेश कर सकते हैं, उठाकर स्वर्ग-मोक्षमे थोड़े ही धर देंगे।

समाधान—जैसे भगवान्मे परकर्तृत्व नही है ऐसे ही ससारके सभी प्राणियोमे परकर्तृत्व नही है। वे भी किसीको सुखी दुखी नही कर सकते।

(२४५) **प्रश्न**—भगवान् तो वीतराग हैं, अत उनमे परके कर्तृत्वका प्रश्न ही नही उठता। उन्हे इसी वीतराग भावके कारण कर्मका बध भी नही होता, पर अन्य ससारी प्राणी तो राग-द्वेष युक्त है, उन्हे शुभराग भी होता है, और अशुभराग भी है, इससे वे तो परका शुभाशुभ करते हैं, तभी तो बधक हैं ?

समाधान—वीतरागी राग-द्वेषके अभावसे पुण्य-पाप बंध नही करते। संसारी प्राणी शुभाशुभरागसे पुण्य-पाप बंध करते हैं। यह सिद्धान्त स्वय प्रश्नकारके कथनसे सिद्ध हो गया। तथापि—ससारी प्राणी परका शुभाशुभ कर सकते हैं यह सत्य नही है। वे परके शुभाशुभका निमित्त तो बन सकते हैं—पर उसे कर नही सकते। प्राणी अपने परिणामसे ही पुण्य-पापका बंध करते हैं।

(२४६) **प्रश्न**—क्या केवल परिणामोंसे बध हो जाता है ?

समाधान—केवल परिणाम ही वह कर सकता है अतः वही अपराध है। उस स्वापराधसे ही बंधता है। परके कारण नही बंधता। सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनो संसारमे हैं। दोनोंकी प्रवृत्ति समान है। दुनियासे न्यारे दोनो नही हैं। केवल न्यारे हैं अपनी दृष्टिमे। अर्थात् परका

कर्त्ता न सम्यग्दृष्टि है, न परका कर्त्ता मिथ्यादृष्टि है। दोनो परके कर्त्ता नही। जीवद्रव्यके सिवाय अन्य कोई द्रव्य जो अचेतन है, वे भी किसी अन्य सचेतन अचेतन द्रव्यके कर्त्ता नही हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि इस रहस्यका जानकार है और मिथ्यादृष्टि इस रहस्यमे अनभिज्ञ है मात्र इतना अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि यह जानकर, कि मैं अपनी शुभरागकी भावना वशात् उपाय करूँ, वह मेरा कर्तव्य है, परोपकारके कार्य करता है। इसके बाद भी परकी भलाई परके कर्मोदयके अनुसार होगी। इस सत्य परिज्ञानके कारण वह इच्छानुसार काम न होनेपर भी दुखी नही होता। मिथ्या-दृष्टि भी प्रयत्न करता है और सत्य परिज्ञानके अभावमे उसकी इच्छानुसार परका परिणमन न होनेपर दुखी होता है। यदि मैं परका कर सकता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता दूर हो जाय, तो दुखका अभाव हो जाय।

(२४७) **प्रश्न**—जब मै परका कुछ कर नही सकता तब परके भले बुरेकी भावना करना भी निष्फल है?

समाधान—आत्महितकी दृष्टिसे दोनो भावनाएँ नही करनी चाहिए। उनसे आत्मा पुण्य-पापसे बध जाती है। अपने स्वभावसे च्युत होकर शुभराग भी आत्महितकी दृष्टिसे 'अपराध' है। अतः बधनका कारण है। तथापि रागादि न छूटें तब तक अशुभ रागसे छूटनेका उपाय शुभरागका आलम्बन ही है। उससे बध तो होगा पर अशुभरूप न होगा।

यदि बन्धन स्वीकार करना है तो शुभ बधन स्वीकार करिये, शुभ परिणाम करिये। यदि बधन स्वीकार नही है—ऐसी परिस्थितिमे आप अपनेको ला सकते हैं, तो आप शुभाशुभ राग छोड वीतरागभाव स्वीकार करिये, क्योकि दोनो परिणाम बधनके हेतु होनेसे अपराध हैं ॥१६७॥

इसी तथ्यको निम्न कलशमे आचार्य निष्कर्षके रूपमे प्रतिपादन करते हैं—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
[1]अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

अन्वयार्थ—(**स्वकीयकर्मोदयात्**) अपने-अपने उदयागत कर्मके अनुसार ही सभी जीवोके (**मरणजीवितदुःखसौख्यम्**) मरण, जीवन, दुख, सुख, होते हैं। यह (**सर्वं सदैव नियतम् भवति**) सब सदा नियत है अर्थात् कर्मानुसार मरण-जीवन सुख-दुख नियत है, तदनुसार ही प्राणी उसे प्राप्त करते हैं। (**पर.**) कोई (**पुमान्**) पुरुष (**परस्य**) दूसरे पुरुष या प्राणीके (**मरणजीवितदुःखसौख्यम्**) मरण-जीवन दुख-सुख (**कुर्यात्**) करे ऐसा मानना (**एतत् इह अज्ञानम्**) यह सब अज्ञान भाव हो है यथार्थ नही है ॥१६८॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी ससारमे जीवन-मरण अपनी आयु कर्मके अनुसार करता है। सुख दुख अपने पुण्य पापके उदयानुसार ही प्राप्त करता है। यह सनातन सत्य नियम है। उससे कोई जीवन दे सकता है, या मरण दे सकता है, सुख दे सकता है, या दुख दे सकता है, ऐसा मानना अज्ञान-मूलक है।

(२४८) **प्रश्न**—क्या ईश्वरके द्वारा प्राणी कर्मफल नही पाते ?

समाधान—ईश्वर-परमात्मा स्वय वीतरागी है। उसी वीतरागीका तो यह उपदेश है कि यथार्थमे कोई किसीका कर्त्ता-धर्त्ता विधाता नहीहै । सभी प्राणी अपने कर्मका स्वय कर्त्ता-धर्त्ता-विधाता है, अत अपनी बुराईके वे स्वय जिम्मेवार हैं, और अपनी उन्नतिके भी स्वयं जिम्मेवार हैं। भगवान् तो ऐसा ही उपदेश करके मार्गदर्शन कर गए हैं। उस मार्गपर चलकर प्राणी अपना भला कर सकते हैं ।।१६८।।

इसी अभिप्रायको नीचे कलशमे प्रकारान्तरसे कहते हैं—

अज्ञानमेतदधिगम्य परात् परस्य
पश्यन्ति ये मरण-जीवित-दुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ।।१६९।।

अन्वयार्थ—(**ये मिथ्यादृश**) जो मिथ्यादृष्टि जीव (**एतत् अधिगम्य**) इस बातको मानकर (**परस्य**) दूसरेके (**मरण-जीवित-दु ख-सौख्यम्**) मरण-जीवन, दुख व सुख आदिको (**परात्**) किसी अन्यमे होना (**पश्यन्ति**) देखते है या मानते हैं (**एतत् अज्ञानं**) वह उनका अज्ञान है। (**ते अहंकृति-रसेन**) वे अपने इस अज्ञान जनित अहकारके रसमे मग्न हो (**कर्माणि चिकीर्षव:**) कर्म करनेकी इच्छा करने वाले (**आत्महन· भवन्ति**) आत्मघाती हैं (**इतिनियतम्**) यह निश्चित है ।।१६९।।

भावार्थ—यद्यपि कलश १६८ मे यह स्पष्ट बता दिया जा चुका है तथापि जो विपरीत-मोहित दृष्टि वाले अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि मै परका उपकार या अपकार करनेमे, जीवन देने सुखी करने या मरणको प्राप्त कराने या दुखी करने आदिमे, समर्थ हूँ वे अज्ञानी जन अपने मिथ्या अहकारमे लीन होकर परका कर्त्ता अपनेको मानकर कर्म बधके कर्त्ता बनते हैं। यह उनका भाव उनके लिए स्वय घातक है।

(२४९) **प्रश्न**—'आत्मघाती महापापी' ऐसी लोकोक्ति है। इसके अनुसार अपना अपघात करने वाले ही आत्मघातक हैं। पर जिसे आप मिथ्यादृष्टि कहते हैं—पापी है। वह तो परका घात करता है उसे (**आत्महनः**) आत्मघाती क्यो कहा ?

समाधान—यह पिछले समाधानोमे भी स्पष्ट कर दिया गया है और इस कलशमे भी कर दिया गया है कि मिथ्यादृष्टि भी परका घात नही कर सकता। मैं परका घात करता हूँ—कर सकता हूँ"—ऐसा मात्र अभिमान वह करता है। सम्यग्दृष्टि साँची तात्त्विकदृष्टि वाला है, वह ऐसा अहकार नही करता ? क्योकि वह जानता है कि मैं किसीको सुखी-दुखी नही कर सकता। सब जीव अपने-अपने शुभाशुभकर्मके उदयके फलस्वरूप स्वय संसारमे सुखी-दुखी होते हैं। मैं किसीको मार नहीं सकता। जीवित नही कर सकता। सब अपने आयु कर्मके उदयमे जीते हैं व आयु कर्मके क्षयसे मरते हैं। मैं किसीके शुभाशुभ कर्मका कर्त्ता नही हूँ—सभी प्राणी स्वय कर्त्ता व स्वयं भोक्ता हैं। वस्तुकी स्थिति ऐसी है, अत. मिथ्यादृष्टि भी ये सब परके काम नही कर सकता। किन्तु परकर्तृत्वके इस अध्यवसानसे ही वह कर्मका बधन करता है।

(२५०) **प्रश्न**—तो क्या सम्यग्दृष्टिके पुण्यका भी बध नही होता ? यदि होता है तो वह भी इसी अध्यवसानके कारण बधको प्राप्त होता होगा। जब यह अध्यवसान दोनोमे पाया गया तब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमे अन्तर क्या है। परकर्तृत्वका अध्यवसान दोनो करते हैं, सम्यक्त्वी परोपकार रूप शुभ अध्यवसान करता है, वह पुण्यबध करता है। मिथ्यादृष्टि अपकाररूप अध्यवसान करता है, वह पाप बंध कर लेता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है "परका कर्त्ता मैं हूँ" ऐसी मिथ्या धारणा सम्यग्दृष्टिके नही है। जिनकी ऐसी धारणा है वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। सम्यग्दृष्टि जोव चतुर्थादि गुणस्थानोमे देव-पूजा-गुरुपास्ति-स्वाध्याय आदि सत्कर्म करता है। उस समय शुभरागरूप परिणमता है, इसलिए पुण्य बध करता है। वह इन सत्कर्मोंमे राग इसीलिए करता है कि—सर्वज्ञके उपदेशने—**परम्परागत वीतराग गुरुओंने, और उनके रचित सद्ग्रन्थोंने** ही उसे यह "अमोघ मन्त्र" बताया है कि "तू परका कुछ नही कर सकता—किन्तु तू तेरा भला बुरा अवश्य कर सकता है।"

सर्वज्ञके इस उपदेशको मानकर ही उसे उन पर भक्ति आयी है। वह विचारता है कि इन्होने उपदेश दिया है—मेरे भाग्यसे मैंने उसे स्वय स्वीकार किया है। **मेरे तत्वज्ञानके लिए वे निमित्त बने अतः व्यवहारसे वे आदर योग्य हैं।** यदि उनमे मेरा आदर भाव रहेगा तो उस तत्त्व-ज्ञानके प्रति भी आदर भाव रहेगा। अत उस आदर भावसे वह शुभबध कर लेता है।

(२५१) **प्रश्न**—वह यह आदर भाव व्यवहारमें करता है तो **क्या मायाचारी नहीं है**, जो परमार्थसे उनका आदर न कर मात्र व्यवहारसे करता है ?

समाधान—ऐसा मानना मिथ्या है। परमार्थसे तो आदर उस तत्त्वज्ञानके प्रति आया है जो उसकी आत्मामे जगा है। उसीके कारण तो तन्निमित्त, देव गुरु शास्त्रके प्रति आदर भाव आया है, अत माया कषायका यहाँ क्या स्थान है ? यह व्यवहार कपट रूप नही है बल्कि बदना नमस्कारादि व्यवहार ही है।

मायाचारी तब होती जब बाहरसे आदर करता, भीतरसे उनका अनादर करता। पर ऐसा नही है। वह अन्तरग बहिरगसे आदर करता है, तभी पुण्यबध होता है। यदि मायाचारोसे करता तो उसे पापबध होता—पुण्यबन्ध नही होता। मायाचारी तत्त्वदृष्टि वाला नही होता।

(२५२) **प्रश्न**—जब वह आन्तरिक-दृष्टिसे भी उन महान् सत्ताओंको स्वीकार करता तथा उनकी सेवा भक्ति करता है तो वह बधनमे क्यो पडता है ? इससे तो उसको मुक्ति होना चाहिए ?

समाधान—मुक्ति तो वीतराग भावको प्राप्त करनेसे होती है, वीतरागके रागसे नही होती। राग तो बन्धका कारण है चाहे शुभ हो या अशुभ हो, तथा वह सम्यग्दृष्टिको हो चाहे मिथ्या-दृष्टिको हो।

सम्यग्दृष्टि अपने शुभाशुभ भावोसे पुण्य-पाप दोनो बाँधता है, और मिथ्यादृष्टि भी शुभा-शुभ भावोसे पुण्य-पाप दोनो बाँधता है। ऐसा नही है जो सम्यक्त्वी पुण्य ही बाँधे और मिथ्यादृष्टि पाप ही बाँधे।

(२५३) **प्रश्न**—तब दोनोमे भेद क्या रहा ? दोनो पुण्य-पाप बाँधेंगे और तदनुसार शुभाशुभ रूप चतुर्गति ससारमे परिभ्रमण करेंगे मुक्ति तो दोनोंसे दूर है। मुक्ति सम्यक्त्वीको भी कैसे होगी ?

समाधान—ठीक रास्ते पर आप चल रहे हैं। मुक्ति इन दोनोको इस स्थितिमे न होगी। मुक्तिके लिए पूर्ण "वीतराग भाव" ही कारण होगा ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश है। जब तक पूर्ण

"वीतराग भाव" न होगा तब तक सम्यग्दृष्टि भी मुक्त न होगा। इसमे कोई सन्देह नहीं है। तथापि "वीतराग भाव" सम्यग्दृष्टिके ही प्रगट होगा, मिथ्यादृष्टिको नहीं। कारण सम्यग्दृष्टि "वीतराग भाव" का ही उपासक और उसीका आकाक्षी है। वह अशुभ राग छोड़कर, व्रतादि स्वीकार कर, छट्ठे गुणस्थानमे सातिशय शुभोपयोगी होगा। पश्चात् सप्तम आदिमे क्रमशः स्वयं शुद्धोपयोग पर आरूढ़ होकर, मुक्तिके मार्गमे बढ़ता जायगा तथा मुक्ति प्राप्त करेगा। स्वयं पूर्ण वीतराग बनने पर वीतरागीकी भी उपासना स्वय छूट जाती है।

मिथ्यादृष्टि पुण्यका उपार्जन भी करे तो उसके फल स्वरूप प्राप्त, पचेन्द्रियोंके विषयोंमें फँसकर पुनः पापबन्ध करेगा। कारण यह है कि उसे "वीतराग भाव ही उपादेय है" ऐसा श्रद्धान् नही है। "मैं ही अपना भला-बुरा करनेमे समर्थ हूँ—पर नही" ऐसी श्रद्धाके अभावमें वह, अपना भी भला-बुरा परसे होगा, ऐसा मानता है। जो परावलंबी है, वह मुक्त न होगा। स्वावलम्बी ही मुक्त होगा। सम्यग्दृष्टि वीतराग भावमे जितना-जितना बढता है, परावलम्बन छोड़कर उतना-उतना ही स्वावलबी बनता जाता है। दोनोमे यही भेद है, अतः एक मुक्त हो जाता है, दूसरा अपनी मिथ्या धारणाओसे स्वय अपना अहित करता है अतः "आत्मघाती" है, ऐसा आचार्यका कथन है ॥१६९॥

मिथ्या अध्यवसान ही बंधका कारण है—

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

अन्वयार्थ—(**अस्य मिथ्यादृष्टेः**) इस मिथ्यादृष्टि जीवके (**यः अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते**) जो यह अज्ञान स्वरूप अध्यवसान दिखाई देता है (**विपर्ययात्**) विपरीत रूप या मिथ्यात्व रूप परिणाम होनेसे (**स एव बधहेतु**) वही बधका कारण है ॥१७०॥

भावार्थ—परका कुछ भला-बुरा कर सकता हूँ ऐसा जो मोह युक्त अध्यवसान है—वह विपरीत है—आत्महितके विरुद्ध अतत्त्व श्रद्धान् रूप है—अतः वह बन्धका कारण है, अज्ञान स्वरूप है। सम्यग्दृष्टिके ऐसा मिथ्या अध्यवसान नही होता।

(२५४) **प्रश्न**—पिछले प्रश्नके समाधानमे आपने कहा था कि सम्यग्दृष्टि भी शुभाशुभ रूप पुण्य-पाप बाँधता है। यहाँ कह रहे हैं कि अध्यवसान भाव सम्यग्दृष्टिके नही होता, ऐसा कथन विरुद्ध प्रतीत होता है?

समाधान—बुद्धि-व्यवसाय-अध्यवसान-मति-विज्ञान-चित्त-भाव-परिणाम ये सब शब्द एकार्थक हैं।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यवसानका सामान्य अर्थ तो जीवके सकषाय परिणाम ही हैं। तथापि इस प्रकरण मे मोह (मिथ्यात्व) युक्त परिणामको ही मिथ्या अध्यवसान कहा है। उसे ही बन्धका कारण कहा है।

---

१ बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥ —समयसार गाथा २७१

(२५५) प्रश्न—बन्ध तो सम्यग्दृष्टिको भी होता है ऐसा शास्त्रोमे कहा है। पिछले समाधानोमे भी कहा गया है, तो क्या वह अध्यवसान भाव नही है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिका अध्यवसान मोह रहित होनेसे इस प्रकरणमे "अध्यवसान" नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसानको ही यहाँ अध्यवसान व बन्धका कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवको मिथ्या अध्यवसानके अभावमे 'अबन्धक' ही कहा है। उसे पिछले समाधानों मे, व अन्यत्र शास्त्रोमे शुभाशुभ पुण्य-पाप रूप बन्ध करना लिखा है, वह अल्प बन्ध उपेक्षणीय है। वह अनन्त ससारका कारण नही है। अत. उस बन्धका बन्ध नही माना। इसीसे चतुर्थादि गुण-स्थानो मे शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति होने, तथा अल्प स्थिति अनुभाग रूप बन्ध होनेपर भी, अबन्धक ही कहा है। मिथ्यादृष्टिको ही एक मात्र बन्धक कहा है, क्योकि मिथ्यादर्शनके प्रभावसे वही अनन्त ससारके कारणभूत कर्मोंका अधिक स्थिति अनुभाग रूप बन्ध करता है।

साराश यह कि ग्रन्थमे जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसानको ही "अध्यवसान" मानकर चला है। अतः यह अध्यवसान शब्दका अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए ॥१७०॥

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(**अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन विमोहितः**) इस प्रकारके मिथ्या अध्यवसायसे व्यर्थ विमोहित (**आत्मा**) प्राणी (**यत् आत्मानं न करोति**) आत्माको अर्थात् अपनेको जिस पदार्थसे एकत्व रूप न करता हो (**तत्**) ऐसा पदार्थ (**किञ्चनापि न**) कोई भी नही है ॥१७१॥

भावार्थ—मैं परका कर्ता हूँ पर मेरा कर्ता है। मैं परको चाहे जैसा कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ भी इष्ट अनिष्ट कर सकता है, ऐसे मिथ्या विकल्पोसे मोहित होकर अपनेको पर पदार्थसे एकत्व रूप स्थापितकर, अपना इतना अनिष्ट करता है, जितना अनिष्टतम कार्य हो सकता है। सबसे अन्तिम अनिष्ट पाँच प्रकार संसार परिवर्तन है जो अनन्त काल तक प्राणीको दुःखी बनाता है। उस अनिष्टको मोही प्राप्त करता है। इष्ट फल मोक्षके प्रति कारणत्वके अभावसे ही मिथ्या अध्यवसानको निष्फल कहा, ससार रूप दुखद फल तो उसका है ही ॥१७१॥

मोहकी महिमा अनुपम है ऐसा बताते हैं—

विश्वाद् विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावात्
आत्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) यह जीव (**विश्वात् विभक्तः अपि**) ससारके सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न है तथापि (**यत्प्रभावात् आत्मानम्**) जिस अध्यवसानके प्रभावसे अपनेको (**विश्वम् विदधाति**) विश्वके स्वरूपसे अभिन्न रूप बनाता है, अर्थात् मानता है। (**एषः**) यह उसका (**मोहैककन्द. अध्यवसायः**) मोहमूलक अध्यवसाय है, अर्थात् इस प्रकारके अध्यवसायकी जड मोहकन्द ही है, (**येषां एष नास्ति**) जिनको यह नहीं है (**त एव यतय.**) वे ही यति हैं ॥१७२॥

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयमे जो परके साथ एकाकारकी बुद्धि है, वह मोह परम्पराकी जड़ है। उससे अनन्तकाल तक प्राणी परमे मोहित हो भटकता रहेगा।

वस्तुत जीव सब द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। जीव द्रव्य भी अनन्तानन्त हैं। वे सब लक्षणकी समानता रखते हुए भी परस्परमें अपने-अपने गुण, पर्याय, धर्मको लिए भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार, विविध परिस्थितियोंसे गुजर रहा है। एक घरमे रहनेवाले माता-पिता, भाई-बन्धु, अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। कोई किसीका सुख-दुःख बाँट नही सकता, अतः वे भी पृथक्-पृथक् हैं। तब अन्य अनन्तानन्त जीव तो भिन्न-भिन्न ही हैं, इसमे सन्देह नहीं है। फिर भी प्राणी अपनी मोह परिणतिसे अपना स्वरूप न जानकर परमे निजपना मानता है और सारे विश्वको अपनाता है। ऐसी मिथ्या-मोहकी जड जिनकी उखड गई है वे ही यतीश्वर हैं।

(२५६) **प्रश्न**—क्या सम्यक्त्वी गृहस्थकी मोहकी जड नही उखड़ी ? सम्यग्दृष्टिके तो चतुर्थ गुणस्थानमे भी मोहका परिणाम नही हैं, तब मोह रहितको यतीश्वर कहनेका क्या तात्पर्य है ? यहाँ **गृहस्थको भी मोह रहित होनेसे यतीश्वर कहा गया है ऐसा है क्या ? या यतीश्वरके ही मोह रहितपना है अत वे ही सम्यग्दृष्टि हैं ? अन्य सब चौथे पाँचवें गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि हैं ?**

समाधान—भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके, तथा उनके ग्रन्थोके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यके सामने जो शिष्य वर्ग था उसे लक्ष्यमे प्रधान रखकर ही उन्होंने वर्णन किया है। उसीका एकदेश गृहस्थ पर लागू करना चाहिए। इसलिए यतीश्वरको प्रधान लक्ष्य करके ही आचार्य कहते हैं। वे उन्हे सम्बोधन कर कहते हैं कि यदि यति होकर भी तुमने परके साथ एकताका भाव रखा तो वह मिथ्यात्व होगा और तुम बन्धनमे पड़ोगे।

चतुर्थ पंचम गुणस्थानी भी मोह रहित है। वह भी परके साथ रहता हुआ भी उनसे एकाकारता नही रखता। यति तो समस्त गृहारम्भ, धनादि, परिग्रह, परिवार आदि, परिकर छोड़ चुका है—तब यति सज्ञाको प्राप्त है। गृहस्थ अभी उनसे छूट नही सका है तथापि वह भी मोह रहित है।

वस्तुत बाह्य त्याग करनेका उतना बड़ा महत्त्व तभी है—जब वह **मोहके परित्याग पूर्वक हों। अन्यथा उसका मोक्षमार्गमे महत्त्व नहीं है।** इसी बातको निर्देश करनेका तात्पर्य श्री अमृतचन्द्र स्वामीका इस कलशमे है। वे मोहजन्य अध्यवसायसे दूर यतिको ही यतीश्वर कहते हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि मोहसे दूर रहकर मोहकी समस्त सामग्रीका परित्याग करना ही मोक्षमार्गमे इष्ट है। इसलिए गृहस्थकी चर्चा न कर, यतिकी चर्चा की है। **चतुर्थ पंचम गुणस्थान** मे वह **मिथ्याध्यवसाय तो नहीं है** जो परके साथ **एकताका प्रदर्शन करे**—तथापि वह रागभावका सर्वथा परित्याग तो नही कर सका, जो करना था। **अतः यतियोंका अनुयायी वह है,** पर यति नही है। यति तो उसे ही कहते हैं जो अपने स्वरूपमे ही संयत हो। अतः यतीश्वरसे जो तात्पर्य है वह यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है ॥१७२॥

अध्यवसान भावका त्याग ही समस्त अन्याश्रित व्यवहारका त्याग है, ऐसा इस कलशमे कहते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

अन्वयार्थ—(**जिनैः**) भगवान् जिनेन्द्रने (**सर्वत्र**) पद-पदपर ग्रन्थोमे (**अध्यवसानमेव त्याज्यं**) अध्यवसान ही त्याग करने योग्य हैं ऐसा (**यदुक्तम्**) जो कहा है (**तत् मन्ये**) सो मैं ऐसा मानता हूँ कि (**निखिल अपि व्यवहारः**) सम्पूर्ण व्यवहार ही (**त्याजित**) छुडाया है, जो कि (**अन्याश्रय**) अन्य के आश्रयसे होता है। निजाश्रयसे नही होता। जब जिनेन्द्रका ऐसा उपदेश है तो ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि (**अमी सन्तः**) ये सज्जन पुरुष (**एकमेव सम्यङ्निश्चयम्**) एकमात्र सम्यक् निश्चयको (**निष्कंप**) अविचलित रूपसे (**आक्रम्य**) अवलम्बन लेकर (**शुद्धज्ञानघने**) शुद्ध ज्ञानसे घन स्वरूप अर्थात् ठोस (**निजमहिम्नि**) अपनी महिमामे ही (**धृतिम्**) धैर्य (**किम् न बध्नन्ति**) क्यो नही बाँधते।।१७३।।

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रका उपदेश आचार्योंने प्रत्येक जैन ग्रंथमे निबद्ध किया है। प्रत्येक उपदेशका तात्पर्य इतना ही है कि **स्वाश्रय करो। पराश्रय छोड़ो।** जितना ससारका व्यवहार है **वह पराश्रयसे होता है। पराश्रयके त्यागका** उपदेश ही **परमार्थका उपदेश है।**

यहाँ सम्पूर्ण अध्यवसानोको त्यागनेका उपदेश दिया गया है, उससे तात्पर्य यह निकलता है कि जिनेन्द्र आपको **समस्त पराश्रित व्यवहारको** त्यागनेका ही उपदेश देते हैं। जब भगवान् स्वय ऐसा उपदेश देते हैं तो अमृतचन्द्राचार्य शिष्य वर्गसे कहते हैं कि सज्जन पुरुषो, आप उपदेशको स्वीकार कर अपनी निज महिमासे सर्वोत्कृष्ट शुद्धात्मामे ही धैर्य व सन्तोष क्यो नही करते ? पराश्रित व्यवहारमे क्यो भटकते हो ?

(२५७) **प्रश्न**—क्या व्यवहार सर्वथा त्याज्य है ऐसा तात्पर्य समझें ? यदि ऐसा है तो कौन जीव महाव्रतादिको धारण करेगा, यह एकान्त उपदेश तो लोगोको चारित्र मार्गसे दूर फेंक देगा ?

समाधान—व्यवहार **तब तक आलंबन योग्य है जब तक जीव स्वाश्रयको पूर्णतया प्राप्त न हो जावें।** जैसे जलमे तैरनेकी इच्छा रखने वाला प्रारम्भमे पराश्रयसे तैरना सीखता है। फिर जब कुछ कुछ सीख जाता है तब पराश्रय छोड़कर स्वावलम्बन करता है। जब कभी स्वसामर्थ्य कमजोर पड़ती है, तब फिर परावलम्बन कर लेता है। पर वह इसलिए परावलम्बन नही करता कि हमेशा परावलम्बी रहूँ, बल्कि इसलिए करता है कि अभ्यासकर स्वावलम्बी बन जाऊँ। जब निष्णात हो जाता है तब परावलम्बनका सर्वथा परित्याग करता है, तभी सच्चा तैराक होता है।

इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि प्रारम्भमे स्वावलम्बनकी भावनासे ही, जो स्वावलम्बी हैं, उनकी ओर देखता है। वे उसे बढ़नेके लिए महाव्रतादिकी क्रियाएँ बताते है। वह उनका आलम्बन करता है।

यह आलम्बन इसलिए नहीं करता कि उनको पकडकर बैठ जाय, उनसे मुक्ति हो जायगी, बल्कि इसलिए कि हम भी स्वावलम्बी हो जाँय।[1]

आचार्य कहते हैं कि तुम जो पराश्रयसे होनेवाली पुण्य क्रियारूप व्यवहार **करते थे—वह इसलिए कि पापारंभसे बच जाओ।** अब उससे बच गये हो तो **पराश्रय व्यवहारको छोड़कर स्वाश्रयको प्राप्त करो** ॥१७३॥

यहाँ प्रश्नके रूपमे आचार्य यह कलश लिखते हैं—मानो कोई शिष्य अपने गुरुसे पदार्थके उपदेशको सुनकर प्रश्न करता है कि हे गुरो !

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

अन्वयार्थ—(बन्धनिदानम्) बधके कारण **(शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता.)** शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकाश अर्थात् ज्ञानचेतनारूप शुद्धात्मासे सर्वथा भिन्न **(रागादयः)** रागादि विभावपरिणाम हैं **(इति उक्ताः)** ऐसा आपने कहा। सो समझा। अब प्रश्न यह है कि—(तन्निमित्तम्) इन रागद्वेष रूप विभाव परिणामोका कारण **(किमु आत्मा वा पर॰)** क्या स्वय आत्मा है कि अन्य पदार्थ पुद्गलादि बाह्य पदार्थ हैं ? **(इति प्रणुन्नाः)** ऐसे प्रश्नकार द्वारा सविनय पूछे गए आचार्य **(पुनः एवं आहुः)** फिर इस प्रकारसे प्रश्नका उत्तर देते हैं ॥१७४॥

भावार्थ—यह जाना कि रागादि विभावरूप जो परिणाम, आत्मामे समय-समयपर उत्पन्न होते हैं, तथा यह आत्मा उन विभाव-परिणामोके निमित्तको पाकर, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र आदि आठ मूल प्रकृतिरूप, तथा १४८ उत्तर प्रकृतिरूप, तथा उत्तरोत्तर भेदरूप, द्रव्य कर्मोंसे, बन्धको प्राप्त हो जाता है। तथापि प्रश्न उत्पन्न होता है कि रागादि परिणाम जो आत्मामे होते हैं वे किस कारणसे होते हैं ? क्या आत्मा स्वय उनका कारण है ? यदि आत्मा कारण हो, तो सिद्धात्मा हो जाने पर भी कर्म बन्ध हो जायगा, वे पुनः ससारी बन जायेंगे। अथवा आत्मभिन्न, शरीरादि पुद्गल द्रव्य उन बन्धका कारण हैं ? अथवा स्वयं ज्ञानावरणादि ही आकर जीवको बन्धनमे डाल देते हैं ? या ससारकी अन्य सचेतन-अचेतन वस्तुएँ उनके कारण हैं ? ॥१७४॥

शिष्यने जब प्रणत होकर जिज्ञासु भावसे ऐसा उत्तम प्रश्न किया, तो आचार्य इस प्रश्नका उत्तर शिष्यके समाधान हेतु इस प्रकार देते हैं—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) यह शुद्ध चैतन्य मूर्तिस्वरूप आत्मा **(आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् न जातु याति)** स्वयंके रागादि परिणमनमे निमित्त अर्थात् कारण रूप नही है। **(तस्मिन् निमित्तम्)** किन्तु आत्मामे रागादि उत्पन्न होनेका निमित्त कारण **(परसग एव)** पर द्रव्यका सम्बन्ध ही है, **(अयम् वस्तुस्वभाव॰ उदेति)** वस्तुका ऐसा ही स्वभाव हे कि वह निमित्तरूप परसगसे ही नैमित्तिक

१ कलश ५ भी देखिये।

भावको प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं (**यथा अर्ककान्त**) जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वालारूप परिणत स्वय नही होता, किन्तु सूर्यके निमित्तको पाकर वैसा परिणमता है ॥१७५॥

भावार्थ—(१) सूर्यकान्त एक मणि है, जो पार्थिव परमाणुओका एक पिण्ड है। स्वयं अन्य पार्थिव मणियोकी तरह शीतल है। किन्तु उसमे यद्यपि ज्वालारूप परिणमनकी योग्यता स्वयंके कारण है, तथापि बिना सूर्यके निमित्तके वह ज्वालारूप परिणमन नही कर सकता। इसी प्रकार—

(२) 'चन्द्रकान्त' एक मणिहै। अन्य पार्थिव मणियोके समान यह भी पार्थिव परमाणुओ का एक स्कन्ध है। स्वय जलीय परिणमनकी योग्यता रखता है पर बिना चन्द्रोदयके जलरूप परिणमन नहीं कर सकता। चन्द्रोदयमे वह जल प्रवाही हो जाता है।

(३) अर्ककान्तका एक अर्थ स्फटिक भी होता है। स्फटिक भी एक मणि है—अन्य पार्थिव मणियोकी तरह पार्थिव पुद्गल स्कन्धोका एक पिण्ड है। स्वय स्वच्छ श्वेतरगका होता है, तथापि उसके पीछे यदि लाल-नीला-हरा फूल लगा दिया जाय—तो स्वय लाल-नीला-हरा प्रतीत होने लगता है। उसके इस परिणमनमे अन्य पदार्थका संसर्ग ही निमित्त कारण है।

इसी प्रकार आत्मा स्वभावत. शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तथापि ससारी दशामे अशुद्ध है। यद्यपि अशुद्ध चैतन्य ही रागादिका उपादान कारण है, तथापि वह स्वय बिना निमित्तके रागादि विभावरूप परिणमन नही करता। उसके रागादिका निमित्त कारण उन कर्मोंका उदय है, जो इस जीवने अपनी अनादिकालीन अशुद्ध अवस्थामे बाँध रखे थे। वस्तुका यह स्वभाव है। जो स्वय उदयको प्राप्त है।

(२५८) **प्रश्न**—क्या स्वभाव है वस्तुका ?

समाधान—वस्तुका स्वभाव परिणमनशील है। वह कभी मिटता नही, चाहे वस्तु शुद्ध हो या परसंगसे अशुद्ध हो।

(२५९) **प्रश्न**—जब वस्तु स्वयं परिणमनशील है तो परिणमन होगा हो, फिर निमित्तका कोई स्थान नहीं है। उसकी चर्चा ऊपर क्यो की गई है ?

समाधान—वस्तुके परिणमन दो प्रकारके हैं, स्वभावरूप परिणमन और विभावरूप परिणमन। स्वभावरूप परिणमन तो स्वयं होता ही है। उसमें वस्तु स्वय उपादानरूप कारण और काल द्रव्य, उसके परिणमनमें सहज उदासीन निमित्त है। विभावरूप परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे ही होता है। विभावपरिणमनमे दोनो ही एक दूसरेके निमित्त भी बन जाते हैं।

यहाँ जीवके विभाव परिणमनके सम्बन्धमे प्रश्न आया है। सो जो आत्मा अशुद्ध, संसारी है वह स्वयं अपने अशुद्ध परिणमनमे उपादान कारण है। अर्थात् परिणमनरूप शक्ति उसकी स्वय की है। तथापि विभावरूप रागादि भावोके परिणमनमे, कर्मोदय आदि ही निमित्त हैं। इन निमित्तोके अभावमें आत्माका रागादिरूप परिणमन नहीं हो सकता ॥१७५॥

वस्तुका ऐसा स्वभाव है यह ज्ञानी जानता है, अत. वह अपनेको रागादि रूप नही करता, इसका उल्लेख इस कलशमे करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यात् नातो भवति कारकः ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**इति**) उक्त प्रकारसे (**स्वयं वस्तुस्वभावं**) अपनी निज-आत्मा रूप वस्तुके स्वभावको (**जानाति**) रागादिसे भिन्न जानना है। (**अतः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**) इसलिए अपनेमे रागादिरूप विभाव परिणाम नही करता है (**अतः कारकः न भवति**) अत. रागादिका कर्त्ता भी नही है ॥१७६॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जानता है कि वस्तु पर निमित्तसे ही विभावरूप परिणमन करती है। यदि पराश्रय न किया जाय तो रागादि विभाव परिणमन नही होगे। उनके अभावमें कर्म-बधन भी नही होगा।

(२६०) **प्रश्न**—पूर्वबद्ध कर्मका उदय यदि रागादिमे निमित्त है तो ऐसा कर्मोदय क्या ज्ञानी-को नही होता ? यदि होता है तो निमित्तके आधारसे नैमित्तिक परिणमन भी करेगा। तब रागादि-की उत्पत्ति होना कैसे रुकेगा ?

समाधान—पूर्वबद्ध कर्मका उदय ज्ञानीके भी आता है और अज्ञानीके भी आता है। ज्ञानी अपने ज्ञान भावका आश्रय लेता है—क्योंकि वह वस्तु स्वभावको जानता है। वह जानता है कि यदि निमित्तका आश्रय लिया तो विकारभाव होगे और बंध होगा। इसलिए कर्मोदयमें भी अपनेको संयत रखकर कर्मोदयके अनुकूल रागादिरूप परिणमन नही करता।

(२६१) **प्रश्न**—क्या यह स्वेच्छाकी बात है ? जब परिणमनशीलता अर्थात् स्वभाव रूप या विभाव रूप दोनो प्रकारकी योग्यता पदार्थमे स्वय-स्वयंके ही कारण हैं, तब क्या कारण है कि विभाव परिणमनमे समर्थ कारणके रहनेपर भी विभावरूप परिणमन न करे ?

समाधान—यह सही है कि दोनो प्रकारके परिणमनकी योग्यता द्रव्यमे स्वय है। परन्तु विभावरूप परिणमनमे परका निमित्त ही कारण बनता है। सो मन्द उदय रूप कर्म हो, और आत्मा स्वभावमे रहे, तो विभावरूप परिणमन न होगा। निमित्त कारक नही होते—उन्हे यदि साधु परिणमनमे निमित्त बनावें तभी वे निमित्त कारण बनते हैं अन्यथा नही।"[1]

स्वभाव-स्पर्शी साधु इस पुरुषार्थसे सत्तास्थित कर्मके स्थिति अनुभागमे हीनता करके, आगामी उदयकी धारामे परिवर्तन कर सकता है। मंदोदयमे पुरुषार्थ सफल होगा, तीव्रोदयमे नहीं, यहाँ ज्ञानीकी बात कही गई है।

(२६२) **प्रश्न**—मिट्टीमे घट परिणमनकी योग्यता है। कुम्भकार उसे घट बनानेमे निमित्त है। यदि कुम्भकार उसका घट बनाना चाहता है तो क्या मिट्टीकी स्वेच्छा पर है कि वह बनना चाहे तो बने, न बनना चाहे न बने ?

---

१. द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुन कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय । —प्रवचनसार, अध्याय १, गाथा ४५. (तात्पर्य वृत्ति)

समाधान—यह उदाहरण अचेतनका है। उसमे इच्छा नही होती, सचेतनमे होती है। अत सचेतनके लिए अचेतनका दृष्टान्त ठीक नही है।

(२६३) **प्रश्न**—यदि कोई सचेतन स्वेच्छासे मुक्ति जाना चाहता है, तो क्या कर्मोदयकी विविध विचित्रताओंके होनेपर भी, वह मुक्त हो जायगा ?

समाधान—अवश्य हो जायगा। पाण्डवादि महापुरुषोने, भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकरादि महापुरुषोंने तीव्रसे तीव्र प्रहार करनेवाले असाता कर्मोदयको स्वीकृत नही किया, अतः वे मुक्ति-गामी हुए।

(२६४) **प्रश्न**—इस पचमकालमे मुक्ति नही होती, ऐसा कहा जाता है, हम तो इसी कालमे मुक्ति जाना चाहते हैं, तो क्या हम कर्मोदयकी उपेक्षा कर सकते हैं, और मुक्त हो सकते हैं ?

समाधान—केवल इच्छा मात्रसे मुक्ति नही होती। मुक्तिके साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। इनकी पूर्णता होनेपर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। रत्नत्रयकी लीनता ही वस्तुतः कर्मकी उपेक्षा या कर्मफलकी अस्वीकारता है। पचमकालमे यह लीनता सम्भव नही है। इसलिए पंचमकालमे मुक्ति नही होती।

अज्ञानी वस्तु स्वभावको नही जानता, अत. तद्रूप परिणमन करता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यात् अतो भवति कारकः ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(**इति स्वं वस्तुस्वभावं**) उक्त प्रकारके अपने निजवस्तुके स्वरूपको (**अज्ञानी न वेत्ति**) अज्ञानी नही जानता है (**तेन**) इस कारणसे (**सः**) वह (**रागादीन्**) रागादि परिणामोको (**आत्मनः कुर्यात्**) अपनेमे करता है। (**अत. कारक भवति**) इसलिए ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उन रागादि अशुद्धभावोका कारक अर्थात् कर्त्ता होता है ॥१७७॥

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायका स्वय कर्त्ता है, अपनी ही पर्यायका स्वय भोक्ता है। यह मूल सिद्धान्त है। इसकी पूर्वमे कई बार चर्चा आ चुकी है। तदनुसार यह भी निर्णीत है कि जीव रागादिभाव अपनेमे करेगा वह उनका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता भी होगा। तथा जो ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वका वेत्ता—अपने हिताहितका सच्चा परिज्ञायक है, वह अपने स्वरूप रूप परिणमन कर, उस स्वभावका कर्त्ता तथा स्वभावका ही भोक्ता होता है। ज्ञानीको इस मूल सिद्धान्तका भान रहता है, अत. कर्मोदयकी स्थितिमे विचलित नही होता। अज्ञानी इस मूल तत्त्वका अजानकार है अत स्वरूपसे विचलित होकर ससारके दु.ख भोगता है।

(२६५) **प्रश्न**—ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि भी, स्वीकार किये हुए कर्मोदयकी प्रबलतासे, सयमभाव से च्युत हो जाते हैं। तब उन्हे प्रायश्चित्तादिका विधान शास्त्रोमे वर्णित है। यदि केवल स्वेच्छा ही से सचेतनके सम्पूर्ण परिणमन हो, तो मुनिको कभी दोष लग ही नही सकता। ऐसा नही कहा जा सकता कि मुनि जब मुक्तिकी इच्छा करते हैं, तथा रागादिरूप परिणमना नही चाहते, तब नही परिणमते। कभी-कभी उनकी इच्छा रागादि परिणमनकी हो जाती है तब वे रागादिके कारक

हो जाते हैं। यदि ऐसा हो तो आत्मा ही कारक है, चाहे जब रागादि करे, चाहे जब न करे। तब 'तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव' इस कथनकी सार्थकता नही रह जाती ?

समाधान—कारक तो आत्मा है पर अशुद्धात्मा, संसारी आत्मा है। शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टिसे वह अकारक है। इसका तात्पर्य यह कि आत्मा स्वभावसे तो रागादि करता नहीं है पर कर्मबद्ध होनेसे अशुद्धात्मा रागादि करता है।

रागादि रूप परिणमन करना ही, रागादिका कर्तृत्व है। ज्ञान भावसे, या सयमसे च्युत होने पर, न ज्ञानी-ज्ञानी रह जाता है, न संयमी-सयमी रह जाता है। वह प्रायश्चित्त विधानसे जब पुनः सयम भावपर आरूढ़ होता है, तब पुनः संयमी बनता है। सयम भावसे नही गिरना ही कर्मकी उपेक्षा है। वहाँसे पतित हो जाना ही कर्मफलकी स्वीकारता है।

(२६६) **प्रश्न**—एक ही आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, ऐसा परस्पर विरोधी कथन कैसा ?

समाधान—अपेक्षाभेदसे दोनो कथन बनते हैं। इसमे विरोध नही है, यह बात पिछले समाधानोमे बताई जा चुकी है।

(२६७) **प्रश्न**—अवस्थाभेदसे अशुद्ध अवस्थामे कर्त्ता हो जाता है, और शुद्धावस्था आनेपर अकर्त्ता भी हो जाता है। यह कथन तो अनेकान्तरूप बन सकता है, पर एक ही अशुद्धात्माको उस अवस्थामे अकर्त्ता कहना युक्ति सगत नही है ?

समाधान—विभाव दशामे भी वस्तु-स्वभावका नाश नही होता। यदि नाश हो जाय तो फिर परसग छोड़नेपर भी स्वभाव दशा नही आ सकती। अत· जब स्वभावपर दृष्टि हो अर्थात् उसकी अपेक्षा देखें तो कहना पड़ेगा कि स्वभावसे तो आत्मा, कर्मके निमित्तजन्य रागादिकका कर्त्ता नही है। परके लक्ष्यके निमित्तसे रागादिका कर्त्ता है। इस कथनका ही तात्पर्य यह है कि यदि परकी अपेक्षा छोड़ दें तो उस विवक्षासे उसे अकर्त्ता भी कह सकते हैं।

(२६८) **प्रश्न**—पूर्व प्रश्नके इस अशका समाधान नही हुआ कि, मुनिको भी ज्ञानी होते हुए, दोष लगते हैं, तब ज्ञानी बधकर्त्ता नही है ऐसा कथन कैसे सुसगत है ?

समाधान—ज्ञानी जिस काल ज्ञानभावरूप परिणमन नही करता तब वह अज्ञानी ही है। क्योकि रागादि परिणमन अज्ञानभाव हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको अज्ञानी नही कहते, इसका हेतु दूसरा है। यहाँ मोह जो मिथ्यात्वभाव है उसे ही अज्ञानभाव कहा है। मुनि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, अव्रती सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, और श्रावक भी पचम गुणस्थानी ज्ञानी है, क्योकि मोह-रहित है। तथापि मोहके अभावमे भी, उसके परिवारजन, राग-द्वेष, अल्प मात्रामे उदयमे पाये जायँ, तब यदि साधु कर्मोदयकी परवशतासे, तद्रूप परिणमे, तो अल्प बन्धको प्राप्त करता है। यह बात पहिले भी कही गई है। यदि वर्त्तमान पर्यायकी विवक्षा न करके, मूल वस्तु-परक स्वभावकी विवक्षाकी जाय, तो यह सीधा नियम है कि मोह तथा राग-द्वेष आदि सब विभाव-भाव, आत्माके शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं, अतः 'अज्ञान' हैं, और यह अज्ञान ही बन्धका कारण है। निर्मोह-वीतरागद्वेषादि विभाव परिणमनसे रहित, आत्माके शुद्ध चैतन्यके अनुकूल जो परिणमन हैं, वे ही शुद्ध ज्ञानभाव

हैं और वे ही अबन्धके हेतु हैं। इसी सामान्य नियमको लक्ष्यमे रखकर ग्रन्थमे ज्ञानी अज्ञानीका विवेचन है।

(२६९) **प्रश्न**—क्या गृहस्थ सम्यग्दृष्टि अपनेको रागादिरूप परिणमन न होने दे, तो वीतराग होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है?

समाधान—जो वीतराग होगा, रागादिरूप परिणमन न करेगा, वह गृहस्थीको स्वीकार कैसे करेगा? वह तो गृहत्यागी स्वत हो जायगा। मुक्ति तो सराग दशासे होती ही नही।

(२७०) **प्रश्न**—बाह्यपरिग्रह तो जड अचेतन पदार्थ है, शरीरका सम्बन्ध है—उसे ज्ञानी अपने से भिन्न मानता है, उसी प्रकार बाहिर दीखनेवाले वस्त्र-आदि भी अचेतन जड हैं उन्हे भी अपनेसे भिन्न ही मानता है। मान्यतामे परपदार्थमे निजत्वभावना सम्यग्दृष्टिको नही होती, अत मोहाभावमे वह ज्ञानी कर्म बन्ध नही करता। पहिले ऐसा प्रतिपादन इसी ग्रन्थमे किया गया है। अतः ऐसा सिद्ध होता है कि बाहिरका वेष कुछ भी हो, उससे मुक्तिका मार्ग नही रुकेगा। मोक्ष तो आन्तरिक परिणामोकी शुद्धताका फल है?

समाधान—यह सत्य है कि मोक्ष आन्तरिक परिणामोकी शुद्धताका फल है, इसमे किंचित् सन्देह नही है। तथापि यह विचारणीय है कि बाह्य परिग्रहको जीव स्वेच्छासे स्वय स्वीकार करता है या वह उसके साथ संलग्न हो जाता है?

शरीर तो कर्मोदयकी विचित्रतासे स्वय प्राप्त है। उसे वस्त्रादिकी तरह त्याग नही किया जा सकता। पर अन्य परिग्रह तो अपने रागादि परिणामोके अनुसार ही जीव सञ्चय करता है। यह सब बिना राग परिणामके तो होता नही।

(२७१) **प्रश्न**—बाह्य क्रियाएँ कुछ भी हो, पर अन्तरग परिणाम शुद्ध हो तो बन्ध कैसे होगा? बन्ध तो परिणामोसे है?

समाधान—अवश्य, बन्ध परिणामोसे है, तथापि द्रव्यपरिग्रह ता भावपरिग्रह पूर्वक ही सभाव्य है। 'मेरे परिणाम शुद्ध है'—ऐसा अभिमान परिग्रही करे—यह वञ्चना मात्र है। द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रहमे निमित्तनैमित्तिकपना है। जबतक ज्ञानी निमित्तभूत पुद्गल द्रव्यको बुद्धि पूर्वक नही त्यागता, तबतक नैमित्तिकभूत रागादिका परित्यागी नही हैं। यदि बुद्धि पूर्वक रागादिका त्याग करना चाहता है तो द्रव्य परिग्रहका परित्याग अनिवार्य है।[1]

(२७२) **प्रश्न**—यदि बाह्य परिग्रह ही रागादिका हेतु है तो पशु-पक्षी आदिके बाह्य परिग्रह का अभाव होनेसे उन्हे वीतराग मानना अनिवार्य होगा? चूंकि ऐसा नही है, अतः उक्त समाधान ठीक प्रतीत नही होता?

समाधान—परिग्रह होना न होना अलग बात है, और उसे स्वीकार करना न करना अलग बात है। दोनोमे महान् अन्तर है। पशु-पक्षी आदि अपरिग्रही नही है—कारण उन्हे बाह्य

१ परद्रव्य निमित्त नैमित्तिका आत्मनो रागादि भावा। तत पर द्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव निमित्तमस्तु। यावन्निमित्त भूतं द्रव्य न प्रतिकामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिक भूत भाव न प्रत्याक्रमति न प्रत्याचष्टे च ॥

—समयसार, बधाधिकार, गाथा २८३-८४-८५ आत्मख्याति टीका.

परिग्रह प्राप्त नही है। यदि प्राप्त होता है तो वह उन्हे अस्वीकृत नही होता—स्वीकृत होता है। वे अज्ञान भावसे दुखी हैं उन्हे परिग्रहको संचय करने तथा रखनेकी कलाका ज्ञान नहीं है, इससे नग्न हैं। वे परिग्रहके त्यागी नही हैं।

मनुष्य पर्यायमे इसका ज्ञान है। वह परिग्रहको ग्रहण करता है तथा उसका सचय करता है, अत उसके बाह्य परिग्रह देखा जाता है। वह उसे बुद्धि पूर्वक स्वीकार किए है। अतः जबतक वह बुद्धि पूर्वक उसका त्याग नही करता तबतक रागी है, त्यागी नही है। सिद्ध है कि जो ज्ञानी निमित्तभूत सचेतनेतर बाह्य पदार्थोको स्वीकार किए है—उनको सकल्पपूर्वक त्यागकर स्वय जबतक दिगम्बरत्व स्वीकार नही करते, तबतक वह आन्तरिक नैमित्तिकभूत रागादिकका त्यागी भी नही है। यही कारण है जो आत्महितेच्छु रागादिसे दूर हो वीतरागी बनना चाहते हैं, वे बाह्य परिग्रहको परित्याग कर दिगम्बरत्वको स्वीकार करते हैं ॥१७७॥

अग्रिम कलशमे यही प्रतिपादन करते हैं—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

अन्वयार्थ—(**इति आलोच्य**) द्रव्य भावमे निमित्त नैमित्तिकपनेकी इस प्रकार आलोचना अर्थात् विचारणा करके, तथा (**तत् परद्रव्यं**) उस परद्रव्यको जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे भिन्न है (**समग्रं**) सम्पूर्ण रूपसे (**बलात्**) ज्ञानको शक्ति पूर्वक (**विवेच्य**) अपनेसे पृथक् करके, (**तन्मूलाम्**) तथा परद्रव्यका स्वीकार है मूल कारण जिसका (**बहुभावसन्ततिम्**) ऐसी विविध प्रकारके विभाव भावरूप भावकर्मकी सन्ततिको (**समम्**) एक ही साथ (**उद्धर्तुकाम.**) उखाड फेंकनेकी इच्छा करनेवाला आत्मा, (**निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद् युतम्**) अत्यन्त प्रवाहसे परिपूर्ण जो सवित् अर्थात् स्वसवेदन ज्ञान, उससे सहित (**आत्मानं**) ऐसी अपनी आत्माको (**समुपैति**) प्राप्त करता है। (**येन**) उस कारणसे (**उन्मूलितबन्धः**) बन्धको जडसे उखाडकर (**एष**) यह (**भगवान् आत्मा**) निर्बंध स्वरूप भगवान् आत्मा (**आत्मनि स्फूर्जति**) स्वय अपने स्वरूपमे प्रकाशमान होता है ॥१७८॥

भावार्थ—बाह्य परिग्रहकी स्वीकारता अन्तरङ्गमे रागादिके बिना नही होती। इसका यह अर्थ नही है कि बाह्य पदार्थसे राग होगा तो बाह्य सामग्री सचित हो ही जानी चाहिए। तथापि जो भी सचय करता है या कर सकता है, अथवा जिनके पास बाह्य परिग्रह देखा जाता है, वे अपने रागके कारण ही उसे स्वीकार किए हुए हैं। यह सुनिश्चित है।

इन रागादि भावोका परित्याग कैसे हो? इसका उपाय आचार्य बतलाते हैं। पूर्व सूत्रमें द्रव्यको निमित्त और भावोको नैमित्तिक बनाया था। अर्थात् बाह्य परिग्रहके निमित्तसे अन्तरगमें रागादि नैमित्तिक भावोकी उत्पत्ति होती है। अत यदि रागादिसे मुक्त होना चाहते हो तो प्रथम अपनी स्वसंवेदन शक्तिसे बाह्य परिग्रहको, तथा रागादिको, अपने स्वरूपसे सर्वथा भिन्न स्वीकार करो। यह स्वीकारता ही सम्यग्दर्शन है। और ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। पश्चात् तत्त्वज्ञानपूर्वक बाह्य द्रव्यका अपनेमे पृथक् करो, अर्थात् उनका त्याग करो, क्योकि उनकी

स्वीकारता रागोत्पादनका हेतु है। इसलिए रागादिको यदि जडसे उखाडनेकी इच्छा हो तो प्रज्ञाके द्वारा भिन्न स्वीकार किए गए, अपनेसे भिन्न पदार्थोंको स्वीकार न करो, तब देखोगे कि भगवान् आत्मा अपने ज्ञानरससे ही परिपूर्ण प्रवाहसे युक्त है, और वह अपनेमे स्वय प्रकाशमान है।

(२७३) **प्रश्न**—यदि अन्तरगसे रागका त्याग हो, तो बाह्य परिग्रह स्वीकार ही क्यो करेगा? अतः प्रथम रागका त्याग होना चाहिए?

समाधान—यह सत्य है कि अन्तरग रागादि मिट गए हो तो बाह्य परिग्रहका सचय ही न करेगा। पर प्रश्न यह है कि अन्तरगका त्याग प्रथम कैसे हो? क्या परिग्रहके रहते हुए रागका त्याग संभाव्य है? कदापि नही। तब बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे छूटनेका उपाय क्या है? इस प्रश्नका समाधान ही उक्त कलशमे दिया गया है।

(२७४) **प्रश्न**—रागका त्याग निश्चय मार्ग है, और बाह्यका त्याग व्यवहार मार्ग है। जब निश्चय होगा तो तदनुकूल व्यवहार सम्यग्व्यवहार होगा। निश्चयकी प्राप्तिके बिना व्यवहार मिथ्या व्यवहार है।

आप पहिले कह चुके हैं कि वीतरागता निश्चयधर्म है, वह 'निश्चय चारित्र' है, क्योकि वह आत्मस्वरूप है। अत वह होवे तो परका त्याग "व्यवहार-चारित्र" कहा जायगा। वीत-रागता रूप निश्चय-चारित्रके बिना जो महाव्रतादि रूप बाह्य चारित्र है, वह तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधुके भी होता है, अत वह हेय है। केवल निश्चय चारित्र ही उपादेय है। वही सच्चा धर्म है। निश्चय रत्नत्रयको ही सच्चा मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार मोक्षमार्ग तो हेय है क्योंकि वह पराश्रयसे होता है, और पराश्रित मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नही है?

समाधान—'निश्चयचारित्र पूर्वक व्यवहार चारित्र होता है' यदि ऐसा माना जाय तो यह क्रमभग मान्यता होगी। निश्चय, व्यवहारका कारण है—ऐसा नही है। क्योकि निश्चयकी ओर जितना-जितना जीव बढ़ता है, उतना-उतना पराश्रय छूटता जाता है, इसीसे निश्चयको व्यवहारका निषेधक कहा गया है, व्यवहारका उत्पादक नही[1]।

व्यवहारका कारण है व निश्चय साध्य है—ऐसा क्रम है। द्रव्यलिंगी साधुके कारण रहते भी कार्य नही देखा जाता यह सत्य है, सो निमित्त कारणभूत जितने पदार्थ हैं वे कार्यको उत्पन्न कर ही दें ऐसा नियम नही है। यही कारण है कि जो निमित्तके आधारपर भी कार्य न हो, तो उन्हे "निमित्त कारण" उस व्यक्तिके लिए न माना जायगा। जिनका कार्य सम्पन्न हो उन्हे वे "निमित्त कारण" हुए, ऐसा कहा जायगा।

---

१ एव ववहारणओ पडि सिद्धो जाण णिच्छय णयेण।
णिच्छय णयासिदा पुण मुणिणो पावति णिव्वाण॥

—समयसार, बंधाधिकार। २७२

एवं—तत्राचारदीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद् व्यवहार नय प्रतिषेध्य। निश्चय नयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वाद् तत्प्रतिषेधक।

—समयसार, बंधाधिकार गाथा—२७६-७७।
आत्मख्याति टीका,

(२७५) **प्रश्न**—उक्त नियमके रहते हुए 'निमित्त कारण' को कारणपना असिद्ध है, ऐसा मानना चाहिए। क्योकि उसके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक न मिला। अर्थात् कहीं निमित्तकी उपस्थितिमे कार्य हुआ—कही उसकी उपस्थितिमें भी कार्य न हुआ। तब उसे कारण कैसे कहा जाय? कार्य कारणभावकी व्याख्या न्यायशास्त्रमे लिखी है कि "अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्य-कारणभाव।" अत निमित्तकी अकारणता सिद्ध है।

समाधान—पूर्णरीत्या अन्वय व्यतिरेक तो कार्यका अपने उपादान कारणके साथ ही मिलता है, अत 'कार्य कारण भाव' यथार्थ रूप से अपने उपादानके साथ ही है। वस्तुतः यथार्थ कारण तो स्वोपादान ही है। तथापि उपादानके अपने कार्यपरिणति कालमे, जो बाह्य पदार्थ अनुकूल सामग्रीरूप होते हैं, वे निमित्त कारण कहलाते हैं।

निश्चय चारित्र रूप वीतराग भावकी उत्पत्ति जब होगी तो "बाह्य परिग्रहका त्याग" उसकी उत्पत्तिमे अनुकूल सामग्री होगी। उसके बिना निश्चय चारित्रकी उत्पत्ति नही होती। दिगम्बर जैन साधु महाव्रती होते हैं, सो यद्यपि महाव्रतादि पुण्यभाव है, तथापि वे अशुभ रागकी सामग्रीके त्यागरूप हैं, अतः अन्तरंग अशुभ रागके त्यागमे निमित्त बन जाते हैं। यह वीतरागताके प्रति राग है, वीतरागताकी प्राप्तिमे साधनभूत है। यह आवश्यक नही है कि जो बाह्य त्याग करके महाव्रतादि स्वीकार करें, उन्हे अन्तरंग रागका त्याग हो ही जाय। तथापि जिन्हे वीतराग चारित्र होगा उन्हे पूर्वमे बाह्य त्यागरूप व्रतादि अवश्य होगे। बिना महाव्रतादिकी भूमिकाके वीतराग चारित्र नही होता।

(२७६) **प्रश्न**—इसका अर्थ यह हुआ कि महाव्रतादि जो पुण्यभाव माने गए वे—शुभराग रूप परिणाम—वीतरागभावकी उत्पत्तिमे कारण हैं। सो क्या शुभरागसे वीतराग भाव होगा, या शुभरागके अभावसे वीतराग भाव होगा?

समाधान—शुभ और अशुभ दोनो रागादिके अभावसे वीतरागभाव होता है तथापि वीतराग भावकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है?

(१) सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टि जीवके अध करण आदि परिणाम होते हैं। जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे कारण हैं। ये परिणाम मिथ्यादृष्टिके ही परिणाम हैं, तथापि इन परिणामोको स्वीकार किए बिना सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नही होती। अतः इन्हे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व होने पर इनका अभाव होता है। आशिक राग यहाँ छूटता है।

(२) सम्यग्दृष्टि जीवके जब अपनी श्रद्धाके अनुसार पर पदार्थमे हेय बुद्धि है, तब उसकी बुद्धि पूर्वक परके आशिक त्यागकी क्रिया, उसके "देशव्रत" रूप चारित्रके परिणामोमे हेतुरूप पड़ती है। यहाँ आशिक वीतरागभावकी वृद्धि हुई।

(३) सम्यग्दृष्टि श्रावकको अपनी तात्त्विक श्रद्धाके अनुरूप, परके त्याग रूप वीतराग भावको बढानेका, जब परिणाम होता है, तब महाव्रतादि स्वीकार करने रूप क्रिया, उसको वीत-राग परिणामोके बढ़ानेमे कारणभूत होती है। वह सावधानी पूर्वक, अप्रमादी होकर उन्हे स्वीकार करता है। अतः सप्तम गुणस्थान ही सर्वप्रथम होता है। पीछे प्रमाद दोष लग जानेपर छठे

गुणस्थानमे आता है। उसकी बाह्य त्याग रूप महाव्रतादि क्रिया उसके वीतराग भावके बढ़नेमे कारण बनती है।

(४) आगे श्रेणीमे जैसे-जैसे जीव बढता जाता है, वैसे-वैसे शुभक्रियाएँ मिटकर शुद्ध परिणाम-रूप वीतराग भाव प्रकट होता जाता है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, तथा सूक्ष्म सापराय, इन चार सयमोको जब जीव प्राप्त रहता है, तब तक इन सयमोमे वीतरागभाव पूर्ण नही प्रकट हुआ है। जब तक वीतराग भाव पूर्ण नही होता, तबतक अबुद्धि पूर्वक रागभावका मिश्रण भी चलता है। जैसे-जैसे राग मिटता है, वीतराग भाव बढता जाता है, और पूर्ण राग मिटने पर वह ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे छद्मस्थ वीतराग बन जाता है।

सर्वप्रथम अशुभ भाव छूटकर शुभ होते है, फिर शुभ छूटते जाते है और शुद्ध परिणाम होते जाते हैं, यहीं क्रम है। सो यह व्यवहार कथन है। परमार्थसे स्वाश्रय ही शुद्धताको जन्म देता है।

(२२७) **प्रश्न**—क्रम तो ठीक है, उसमे कोई विवाद नही है, परन्तु शुभका अभाव ही तो शुद्धताका कारण हुआ, न कि शुभ भाव उसका कारण हुआ।

समाधान—यथार्थ कथन तो यही है, तथापि विचारणीय यह है कि शुभका अभाव तो अशुभकी उत्पत्तिका भी कारण हो जाता है, तब क्या शुभका आश्रय न किया जाय ? यदि ऐसा विचार किया जाय तो एक ही बात फलित होगी कि शुभ और अशुभ दोनोका आश्रय छोडा जाय, तब ही शुद्ध वीतराग परिणाम उत्पन्न होगा।

सो स्वीकार है। सिद्धान्त भी यही है। यदि कोई भाग्यवान् दोनो एक साथ छोड सके तो किसी भी प्रकारकी आपत्ति नही है। केवल वे जीव जो मिथ्यात्व गुणस्थान छोडकर, एक साथ सम्यक्त्व और चारित्रका आश्रय सप्तम गुणस्थान करते है, गुणस्थान क्रमसे नही चढते, उनकी अपेक्षा यह कथन है।

(२७८) **प्रश्न**—सिद्धान्तका निर्णय तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होने पर हो जाता है। तब शेष क्या रहा। सम्यग्दृष्टि अपनी श्रद्धामे शुभ-अशुभ दोनो 'रागो' को समान रूपसे हेय मानता है। यदि अशुभको हेय तथा शुभरागको उपादेय माने, तो वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्यभावका पूर्ण निषेध मोक्षमार्गमे है। क्योकि पुण्यबध "बन्धन" ही होता है। जिससे बधन हो वह पुण्यभाव, शुभराग, सर्वथा हेय है। कथञ्चित् भी उपादेय नही हो सकता।

समाधान—सिद्धान्तत: प्रश्नकारका कथन बिलकुल सही है। तथापि सिद्धान्त जान लेने मात्रसे सिद्धान्तकी प्राप्ति नही हो जाती। उसे प्राप्त करनेके मार्ग हैं। उन मार्गोंसे ही उसतक पहुँच जा सकता है, अन्यथा नही।

इसे एक उदाहरणके द्वारा समझिए। शीतल जलकी इच्छासे कोई कुम्भकार घडा बनाना चाहता है। सिद्धान्तत. घट ही उसकी इच्छाकी पूर्ति कर सकेगा। सिद्धान्तकी बात भी यही है, तथापि घट कैसे प्राप्त हो ? इसके लिए मिट्टी उपादान कारण है, सो वह ले आवे, और चाहे कि इच्छामात्रसे घट बन जावे, तो नही बनता। उसे बनानेके लिए वह चक्र-दण्ड आदिकी योजना करता है। इन साधनोके आधार पर प्रथम-स्थास, काश, कुशूल आदि पर्यायें मिट्टीमे प्रकट होती हैं, वे इसे उस समय इष्ट है, क्योकि इनके बिना घट न बनेगा। यदि इन्हे सर्वथा अनिष्ट मानकर

न बनावे, तो घट भी न बनेगा। वह सिद्धान्त लिए बैठा रहेगा और घटकी रटना करता रहेगा पर प्यासा ही रहेगा।

जबतक घटाकार पूर्ण न बन जावे तबतक उसे वे सब आकार इष्ट हैं, जो घट बनानेके लिए अनुकूल साधन बनते है। घट बन जाने पर वे सब हेय हैं, क्योकि उनके रहते हुए घट नही बन सकते, अत: वे घटके कारण हैं या नही, इसपर विचार करे। वे न बनें तो घट नही बन सकता—अत: वे कारणभूत है, तथा तत्काल उपादेय है। यदि वे बने रहे तो भी घट न बन सकेगा, अतः वे बाधक हैं, अनुपादेय हैं, क्योकि उनका अभाव ही घटका कारण है, वे नही। अतः वे हेय है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियोमे उनकी उपादेयता व हेयता है। वस्तुतः वे घटसे भिन्न हैं। उनसे शीतल जल प्राप्ति असम्भव है। यह तो दृष्टान्त हुआ, इसे वीतरागभाव रूप निश्चय चारित्रके ऊपर घटित कीजिए।

"पूर्ण वीतराग भाव ही निश्चय चारित्र है" यह सुनिश्चित सिद्धान्त है। इसमे मतभेद नही है। "शुभराग निश्चयसे चारित्र नही है" बल्कि उसके अणुमात्र भी रहते हुए पूर्ण वीतराग भावकी उत्पत्ति नही होती। "वीतराग भाव ही सर्व प्रकारसे उपादेय है"—अन्य भाव हेय है—सिद्धान्ततः यह कथन सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण सत्य है। तथापि इसे प्राप्त करनेका मार्ग क्या है ?

जो वीतरागी बनना चाहता है, वह एक साथ वीतरागी नही बनता। वह चतुर्थ, पचम, षष्ठादि गुणस्थानोको प्राप्त करके उसमे श्रेण्योरोहण करके वीतरागी बनता है। यह सामान्य नियम है। अत इन गुणस्थानोमे अपने स्थानके योग्य-शुभ-भाव आना अनिवार्य हैं, न चाहते हुए भी ये भाव आते हैं, अत वे तत्कालीन परिस्थितिमे कही बुद्धि-पूर्वक, कही अबुद्धिपूर्वक स्वीकार किए जाते है। आगममे उल्लेख मिलता है कि पापभाव सर्वथा हेय है, पुण्यभाव कथचित् उपादेय है—वीतरागभाव सर्वथा उपादेय है। इसीका तात्पर्य ऊपर खुलासा किया गया है।

इस कलशमे श्री अमृतचन्द्राचार्य यही कह रहे है कि द्रव्य और भावमे निमित्त नैमित्तिकपना है अत द्रव्य रूप निमित्तको त्यागने पर, नैमित्तिक रागादि भाव दूर होगे। आत्मिक बलपूर्वक अर्थात् अपनी उत्कृष्ट तात्त्विक आत्मश्रद्धा तथा भेद विज्ञानके बलसे, समस्त निमित्तभूत बाह्य पदार्थोंको अपनेसे सर्वथा पृथक् करे। पृथक् करनेका अर्थ आत्म-स्वभावसे सर्वथा विपरीत जान उन्हे स्वीकार न करना है। जो ऐसा करते है वे मुनिजन अपनी आत्माको ज्ञानके रस प्रवाहसे भरा हुआ पाते है। ऐसी आत्मा ही अपने तेजसे स्वय प्रकाशमान होती है ॥१७८॥

इस स्थितिमे उत्पन्न ज्ञानज्योतिके ऊपर फिर आवरण नही आ सकता, इसका प्रतिपादन करते है—

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिर साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वत् यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

अन्वयार्थ—(**रागादीनाम् कारणानाम्**) बन्धके कारण रागादि कर्मके (**उदयं अदयं दारयत्**) उदय जन्य विभावोको जड़से दूर करके, तथा (**तत्कार्यं विविधं बन्धं**) उनका कार्य जो विविध

प्रकारका कर्म बन्धन उसे (अधुना सद्यः एव प्रणुद्य) अब तत्काल ही मेट करके (क्षपिततिमिरं ज्ञानज्योतिः) अज्ञानान्धकारको मिटानेवाली यह ज्ञानकी ज्योति (तद्वत् साधु सन्नद्धम्) ऐसी प्रकट हुई है कि (यद्वत् यस्य प्रसरं) जिससे उसके विस्तारको (अपरः क अपि) कोई भी दूसरी वस्तु (न आवृणोति) आवरण नही कर सकती ॥१७९॥

भावार्थ—ऊपर लिखे प्रकारसे उत्पन्न आत्माकी ज्ञानज्योति, रागादि विभावभाव, जो कर्म बन्धके कारण हैं, उनको निर्दयतासे विदारण करती है, जिससे आत्मामे अब ज्ञानावरणादि कर्म नहीं बंधते। अब अज्ञानाधकारकी विनाशक ज्ञानज्योति इस तरह निरापद हुई है कि उसके लोकालोक पर्यन्त विस्तारको कोई रोक नही सकता।

सारांश यह है कि जब जीव, गुण स्थान क्रमसे बढता हुआ वीतराग बनता है, तो तेरहवें गुणस्थानमे ज्ञान-ज्योति पूर्णरूपसे प्रकट होती है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर अज्ञान स्वरूप जो रागादिक बन्धके कारण थे, वे सर्वथा तत्काल ही मिट गये। इसे ही रूपक देकर निर्दयपनसे मेटना लिखा गया है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥१७९॥

इति बन्धाधिकारः समाप्तः।

●

▫ मोक्ष अधिकार ▫

इस प्रकरणमे रंगमंच पर मोक्षतत्त्व आता है—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद् बन्ध-पुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्-सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

अन्वयार्थ—(**प्रज्ञाक्रकचदलनात्**) प्रज्ञा अर्थात् हेयोपादेयका ज्ञान करानेवाली बुद्धि वही हुई करोत, उस करोतके द्वारा दलेजानेसे (**बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य**) बंध तथा आत्माको भिन्न-भिन्न करके पश्चात् (**उपलम्भैकनियतं**) स्वभावकी प्राप्तिसे जो सुनिश्चित है ऐसे (**पुरुष**) आत्माको (**साक्षात् मोक्षं नयन्**) साक्षात् प्रत्यक्ष ही मुक्तिकी ओर ले जाता हुआ (**इदानीम् उन्मज्जत्**) इस समय उदयको प्राप्त होनेवाला (**सहजपरमानन्दसरसं**) अपने स्वाभाविक श्रेष्ठतम आनन्दरससे परिपूर्ण (**परं पूर्णं ज्ञानं**) ऐसा उत्कृष्ट केवलज्ञान (**कृतसकलकृत्यं**) जिसने करणीय सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर लिए हैं वह (**विजयते**) विजयशील है ॥१८०॥

भावार्थ—जैसे करोत नामक शस्त्र काष्ठ पर चलाया जाता है उससे काष्ठ दो खण्ड रूपमे अलग-अलग हो जाता है। उसकी एकता मिट जाती है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी आत्मा जब अपनी भेद विज्ञानरूपी करोतको, बन्ध और आत्माकी सयोगी अवस्था पर चलाता है, तब बन्ध दशामे एकरूप दीखने वाले कर्म बन्ध और आत्मा भी, पृथक्-पृथक् प्रतिभासमान होने लगते हैं। बन्ध जडरूप और आत्मा उससे रहित प्रत्यक्ष ही अबन्धरूप चैतन्यरूप प्रतिभासमान होते हैं।

उस समय जीवके केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान अपने स्वाभाविक देह और इद्रियोके आधार रहित, केवल, स्वात्मोत्थ, उत्कृष्ट आनन्द रसको झराता हुआ, उदयको प्राप्त होता है। 'पुरुषको बन्धनमुक्त करना' इतना ही कार्य ज्ञानका है। तब पुरुषको साक्षात् मोक्ष दशामे पहुँचाने वाला वह ज्ञान कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् करने योग्य सकल कार्यको पूर्ण कर सदा काल आत्माको आनन्द प्रदाता विजयशील रहता है ॥१८०॥

(२७९) **प्रश्न**—प्रज्ञा द्वारा बन्ध और पुरुषको भिन्न-भिन्न जाननेवाला भेदज्ञानी जानता है कि आत्मा वस्तुत: सदासे मुक्त है, तब उसे प्रज्ञासे भिन्न-भिन्न करनेकी बात क्यो कही। जो एक हैं उन्हे भिन्न-भिन्न करना है, जो भिन्न-भिन्न ही है उन्हे क्या भिन्न करना है ?

समाधान—बन्ध जडरूप तथा आत्मा चैतन्यरूप है—यह भेद-विज्ञान द्वारा सम्यग्दृष्टि जानता है। तथापि लक्षण भेद होनेपर भी वे अनादिसे परस्परको निमित्ति-नैमित्तकतासे एकरूप जैसे बन रहे है, उन्हे ज्ञानके बलसे भिन्न-भिन्न करनेकी बात कही गई है।

कोई बन्धनबद्ध पुरुष अपने घरकी स्वतन्त्रताका, और कारागार रूप बन्धनकी पराधीनताका बोध कर ले तो उतने मात्रसे बन्धन-मुक्त नही होता। चाहे ऐसा ज्ञान बहुबार और बहुत

कालतक और बहुत प्रकारसे भी होता रहे। इसी प्रकार अनादि बन्धन बद्ध आत्मा, जिनागमके उपदेशसे, सद्गुरुकी संगतिसे, जिनेन्द्रके दर्शनसे, अपने स्वरूपको तथा कर्म बन्धनके स्वरूपको, भली-भाँति जान लेवे तथा उसपर पूर्ण श्रद्धा करे, तो भी इतने मात्रसे वह बन्धन रहित नहीं होगा।

जब कारागार स्थित पुरुष अपने सदाचारसे अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर देता है, तब कारागारसे भी छूटनेकी स्थिति आ जाती है तभी स्वतन्त्र होता है। इसी प्रकार जीव भी सम्यक् चारित्रसे अपनेको निर्दोष बनाता है, तब कर्मके सम्बन्धसे छूट कर स्वय स्वतन्त्र हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं।

(२८०) **प्रश्न**—यदि सदाचारसे बन्धन छूटते हैं तो उसीका उपदेश होना कल्याणकारी है। जिनागमके अभ्यास—सद्गुरु संगति, तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धान आदि कारणोका क्या उपयोग है?

समाधान—तत्त्वज्ञानी तथा तत्त्वश्रद्धानी ही वस्तु तत्त्वके अनुकूल आचरण कर बन्धन मुक्त हो सकता है। उसके बिना **सम्यक्चारित्र** सम्भव ही नहीं है। यथार्थ ज्ञान श्रद्धानके बिना किया जाने वाला आचरण, स्वयं सदाचरण नहीं होगा, किन्तु आचरणकी नकल होगी। नकलसे असलके प्रयोजनकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञान, सत्सगति आदिका उपयोग सुनिश्चित है।

प्रज्ञाके द्वारा बन्ध और पुरुष किस प्रकार जुदे-जुदे होते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस कलश द्वारा करते हैं—

प्रज्ञा छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्न-भिन्नौ ॥१८१॥

अन्वयार्थ—(**इयं शिता प्रज्ञाछेत्री**) यह प्रसिद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी छैनी (**कथमपि सावधानैः निपुणैः**) किसी भी उपायसे कुशल पुरुषो द्वारा सावधानी पूर्वक, (**रभसात्**) तेजीके साथ, (**आत्मकर्मोभयस्य**) आत्मा तथा कर्म इन दोनोंके (**सूक्ष्मे अन्त:संधिबन्धे**) अत्यन्त सूक्ष्म जो मध्यका बन्धरूप सन्धिस्थल है, वहाँ (**पातिता**) गिराई गई। तब वह (**अभितः भिन्न-भिन्नौ कुर्वती**) सब प्रकारसे उन दोनोको इस प्रकार भिन्न-भिन्न करती हुई जो (**आत्मानम्**) आत्मा को तो (**अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे**) आत्मामे ही स्थित, शाश्वत, स्पष्ट, प्रत्यक्षीभूत, प्रकाशमान चैतन्यके प्रवाहमें (**मग्नम्**) मग्नकर, तथा (**बन्धं च अज्ञानभावे**) बन्धको चैतन्य विकाररूप, अज्ञानमय रागादि भावोमे (**नियमितं कुर्वती**) निश्चित करती हुई, (**निपतति**) गिरती है ॥१८१॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष सर्वप्रथम तो अपने भेद विज्ञान द्वारा, अनादिकालसे एकाकार जैसी हो रही आत्माकी कर्म संयोगज अशुद्ध परिणति, तथा निज स्वभावकी महिमा, उन दोनोको भिन्न-भिन्न लक्ष्यमें लेता है, जानने लगता है। पश्चात् अपने शुद्धात्माके अनुभवन रूप

क्रियासे, उन दोनोको भिन्न-भिन्न कर देता है। तब स्पष्ट होता है कि जो अपने प्रकाशसे स्थित है वह चैतन्य स्वरूप तो मैं हूँ, और मेरेमे जो रागादि भाव थे वे जड़के सम्बन्धसे उत्पन्न हुए, अखण्ड चैतन्यसे भिन्न, अचेतन भाव थे। अब वे दोनो पृथक्-पृथक् हुए। तब आत्मा अशुद्ध रूप परिणमन-का त्याग कर, शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करता है, यही मोक्ष है।

यहाँ प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञानके साथ होनेवाली स्वानुभूति रूप निज ज्ञानसंपत्ति, उसे तेज धारवाली छेनीकी उपमा दी है। छेनीका काम है कि यदि कुशल पुरुष द्वारा वह दो पदार्थोंके योग मे उनकी ठीक सन्धिपर पडे, तो उन्हे पृथक्-पृथक् कर देती है। यदि चलाने वाला कुशल न हो और छेनी संधिपर न पडे, तो वे दोनो पदार्थ पृथक् नही हो सकते।

इसी प्रकार आत्मा अनादि कालसे ही असावधान है। उसमें ज्ञान संपत्ति तो है, पर असाव-धानीके कारण उसे सधिकी ठीक पहिचान कर उसपर नहीं चलाई, इसीसे अबतक कर्म बन्धनसे नही छूटा। छेनी कितनी उत्तम हो, पर जबतक संधिस्थल पर नही चलाई जायगी, तबतक दोनोको अलग-अलग करना शक्य नही है।

जीवको जबतक सम्यग्दृष्टित्व प्राप्त नही है, तबतक 'ये दो हैं'—ऐसा भान ही नही हुआ। कर्मजन्य अशुद्ध परिणतिको ही निज परिणति मानता आता है, तब दूर किसे करे? उस अज्ञान दशामे वह ज्ञान बधको ही पुष्ट करनेम लगा रहा। तथापि दृष्टि प्राप्त होनेपर आत्माका निज स्वरूप, तथा अपनी अशुद्ध परिणतिका बोध हुआ, तब संधि दृष्टिगोचर हुई। बार-बार दोनोंके भेदज्ञानका अनुभव करते-करते, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभवन करने लगा। उसने परका विकल्प छोडकर केवल स्वानुभव किया कि मैं स्वय अखण्ड चैतन्यानन्द स्वरूप हूँ। मेरेमें अन्य वस्तुका न सम्बन्ध है और न तज्जन्य विकार हैं। यही आत्मा और कर्मको भिन्न-भिन्न करना है।[1]

इस प्रज्ञाके द्वारा आत्मा अपने रागादि भिन्न शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, और जड़ कर्म जो पौद्गलिक आत्मामे बन्धरूप थे, वे स्वय अकर्म परिणतिको प्राप्त हो जाते हैं। परस्परका निमित्त-नैमित्तिकपना मिट गया। इसीका अर्थ हुआ कि वे भिन्न-भिन्न हो गये, आत्मा कर्ममुक्त हुआ और कर्म आत्मासे छूटे। न कर्म कर्मरूप रहा, और न आत्मा कर्मबद्ध रहा। इसीका नाम मुक्ति है। यही सबसे बडा गुण (पुरुषार्थ) था सो वह सफल हुआ।

धन्य है इस प्रज्ञाकी महिमाको जिसने अनादि बन्धनमे बद्ध भ्रमित आत्माको, उस भ्रमके चक्रसे निकाल कर, सही स्थितिमे ला दिया। यद्यपि इस दशाको प्राप्त करनेवाला कर्त्ता स्वयं आत्मा है, तथापि कार्यके लिये करणकी आवश्यकता रहती है सो इस कार्यमे करण स्वयका ही ज्ञान है, अन्य वस्तु नहीं है। इसीसे निश्चयनय, कर्ता, करण तथा कर्म तीनोको आत्मासे अभिन्न मानता है। अर्थात् आत्मा स्वय अपनी भेद विज्ञान परिणतिके द्वारा अपनेको शुद्ध परिणतिरूप परिणमाता है।

(२८१) प्रश्न—उक्त कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा ही मुक्त नही हुआ, कर्म भी

---

१. कलश १३०-१३१ भी देखिये।

मुक्त हुआ। बंधनमे दोनो थे। दोनोकी अशुद्ध परिणति थी वह दूर हुई। जब ऐसी बात है तो आत्माकी ही मुक्तिकी चर्चा क्यों है, कर्मके मुक्त होनेकी चर्चा क्यो नही आती ?

समाधान—आत्मा चैतन्य स्वभावी है। कर्म जड स्वभावी है। आत्मा अपने मुक्त होनेके लिये ही पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थसे वह कर्मबधनसे छूट जाता है, और तन्निमित्त जन्य अपनी अशुद्ध परिणतिका भी त्यागकर शुद्ध रूपमे परिणत होता है। यद्यपि इस प्रक्रियामे जडकर्म भी आत्मासे छूटा, अर्थात् पुद्गल वर्गणाओकी कर्मरूप परिणति थी, सो वह छूट गई, अत कर्म भी आत्मासे छूटा यह सही है। तथापि उपदेश तो चैतन्यको ही दिया जा सकता है, जडको नही।

जैसे लोहेकी बेडी किसी पुरुषके पैरमे पडी थी। पुरुषने उस अवस्थामे बधनका अनुभवन किया, उसी कालमे वह साकल भी पुरुषमे लिपटी हुई बधनपने को प्राप्त है। जब पुरुष अपने पुरुषार्थसे बेडी तोडकर अलग हो जाता है, तब वह उसके बधनसे मुक्त होता है। उस कालमे बेडी भी पुरुषके बधनसे मुक्त हो जाती है। यद्यपि पुरुषार्थ पुरुष स्वय करता है, बधनका तथा मुक्तिका अनुभवन भी वही करता है। जड शृखला भी बद्ध मुक्त हुई तथापि वह अचेतन होनेसे अपनी दोनो दशाओका परिज्ञान नही करती। इसी प्रकार चैतन्य स्वभावी पुरुष, अपने बधनका भी अनुभव करता है और पुरुषार्थ द्वारा बन्धन मुक्त होकर, उस स्वतन्त्रताके आनन्दका भी अनुभव करता है। जड कर्म, यद्यपि बद्ध मुक्त है, तथापि उन्हे दोनो दशाओका ज्ञान नही है, अत. तज्जन्य दुःख-सुख भी नही हैं।

(२८२) **प्रश्न**—अज्ञानी जीवको भी 'मै बँधा हूँ या छूटा हूँ' या 'मुझे छूटना है' इस बातका ज्ञान नही रहता। तब जड पदार्थ और अज्ञानी आत्मा दोनो समान है। फिर अज्ञानीको उपदेश क्यो दिया जाता है ? वह भी तो जडके ही समान बन्ध-मुक्त दशाका अज्ञानी है ?

समाधान—यद्यपि ऐसा है, तथापि अज्ञानी और जड पदार्थमे महान् अन्तर है। जड तो चैतन्य शून्य है, पर अज्ञानी आत्मा चेतन्य शून्य नही है। उसका चैतन्य मूच्छित है। मूच्छितकी मूर्च्छा दूर हो सकती है, इसलिए उसे उपदेश दिया जाता है। जड़को नही दिया जाता। नशेमे मूच्छित व्यक्तिका उपचार किया जाता है कि वह होशमे आ जावे। मोहयुक्त आत्मा अपने चैतन्य स्वभावको अपनेमे रखते हुए भी उसे भूला है, अत. उसे सम्बोधित करके सावधान करते है। सोता हुआ व्यक्ति जगाया जा सकता है, मृत नही। आत्मा निज ज्ञानके अभावमे मोहयुक्त होनेसे सुप्त है, अत उसे सम्बोधित कर जगाते है। उसे भेदविज्ञान होनेपर अपने स्वभावकी महिमाका ज्ञान होता है और उसमे उत्कृट पुरुषार्थ जगता है।

(२८३) **प्रश्न**—पुरुषार्थ जगने मात्रसे काम हो जाता है क्या ?

समाधान—नही पुरुषार्थ करनेसे काम होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका होना पुरुषार्थका जागना है, पर चारित्रका धारण करना उस पुरुषार्थका करना है। जिन जीवोने उस पुरुषार्थको किया है, वे ही अपनी दुरवस्थासे ऊपर उठ सके तथा सदवस्था प्राप्त कर सके है। यही आत्माकी शुद्धावस्था है और यही मोक्ष है।

ज्ञानके द्वारा आत्मा-कर्म दोनोका योग है यह जाना जा सकता है, पर कर्म दूर किया कैसे जा सकता है ? प्रज्ञा छैनी केवल उनकी सधिको ही बता सकती है। ज्ञानका कार्य वस्तु स्थितिका

मात्र बोध कराना है पर उसे भिन्न-भिन्न करनेके लिए कौन-सी छैनी है यह इस कलश मे आचार्य कहते हैं—

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलात् भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१८२।।

अन्वयार्थ—(यत् भेत्तुं शक्यते) जो पर सयोग भिन्न किया जा सकता है उसे **(सर्वम् अपि)** सभी को **(स्वलक्षणबलात् भित्त्वा)** दोनोके अपने-अपने लक्षणोसे भिन्न-भिन्न करके यह अनुभव करना है कि **(चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा)** चैतन्य लक्षण की मुद्रा उससे चिह्नित अन्य सभी विकल्पोसे रहित जिसकी महिमा है, ऐसा **(शुद्ध चित् एव अहम् अस्मि)** शुद्ध चेतन तत्त्व ही मैं हूँ। **(यदि कारकाणि यदि वा धर्मा यदि वा गुणा. भिद्यन्ते)** यदि आत्मा स्वय कर्त्ता है, वह अपने ज्ञानादिकरणके द्वारा ही अपनी शुद्ध परिणतिरूप कर्मका कर्त्ता है, ऐसे कर्त्ता कर्म करण आदि कारक भेद होता हो तो हो। अथवा उसमे अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म भेद भी होते हैं। अथवा वह अनन्त ज्ञान दर्शन सुख-शक्ति आदि गुणोका आधार है ऐसा कर्त्तादि कारकजन्य—अथवा धर्मजन्य—या गुणभेदजन्य भेद, आत्मामे है ऐसा कहा जा सकता है। पर **(भिद्यन्ताम्)** ये भेद इनमे रहो, किन्तु **(विभौ विशुद्धे चिति भावे)** सर्वावस्थामे व्यापक अपने विशुद्ध चैतन्य भाव मे **(काचन भिदा नास्ति)** कोई भेद नही है।

भावार्थ—प्रज्ञा जैसे जाननेका उपाय है उसी प्रकार वह छेदनेका भी उपाय है। पुरुष ज्ञान द्वारा जैसे रत्नको परख लेता है, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा ही उसे स्वीकार करता है। रत्न तो भिन्न पदार्थ है। सभवत उसे जानने मात्रसे प्राप्ति सभव न भी हो, पर आत्माको तो जाननेमात्र से ही भेद विज्ञान होता है। उसे जानकर उसी प्रज्ञासे अपने स्वरूपमे रमणरूप क्रिया हो सकती है। वही स्वरूपकी उपलब्धि है।

कर्मको आत्मस्वरूपसे भिन्न कर्मरूप जानकर उसमे ममत्वका परित्याग करना ही उसका छोडना या दूर करना है। आत्म स्वभाव तथा कर्म स्वभाव और उसके निमित्तसे होने वाले अपने विभाव का परिज्ञान ही सबसे कठिन कार्य है। आत्मा अनादिसे ही अपने स्वभावका अजानकार है, और परमे निजपनेका उसे भ्रम है। केवल वह भ्रम ही दूर करना है। वह दूर हुआ कि निज-सपत्ति की प्राप्ति हुई। वह तो अपने मे ही थी कही बाहिर से लाना नही है जो बाहिरसे आती है वह निज सम्पत्ति नही है ऐसे भेदज्ञानके द्वारा ज्ञानी स्वरूपको ग्रहण करता है। स्वरूपके ग्रहणसे परका त्याग स्वयं हो जाता है। इसीका अर्थ कर्मका भेदन, त्याग, दूरीकरण या नाश करना है। अन्य कुछ नही है। इस स्वरूपानुभवमे आत्मा यह देखता है कि मैं शुद्ध चैतन्यका प्रवाह हूँ। मेरी आत्मामे कर्त्ता करण-कर्म आदि षट्कारकके भेद भी नही हैं। न गुणभेद है, न धर्म भेद है। मैं तो मात्र एक चैतन्यका अखण्ड पिण्ड हूँ। उसीका सतत प्रवाह चल रहा है। उसमे परका तो प्रवेश है ही नहीं। इतना ही नही किन्तु उस अखण्ड चैतन्यके प्रवाह की व्यापकता मे एक रस ही सर्वत्र है। एकरसतामे भेदकी कोई गुजाइश नही है।

(२८४) **प्रश्न**—आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उपयोग दो प्रकारका है—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। यहाँपर आत्माको शुद्ध चैतन्य मात्र कहा है सो दोनो कथनमे सुसगति है या विसगति ?

समाधान—दोनोमे सुसंगति है। जिसे उपयोग कहा है वही प्रतिभासमान चैतन्यगुण है। उसके द्वारा प्रतिभासित होनेवाले पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शन और विशेष प्रतिभासको ज्ञान कहते हैं।

(२८५) **प्रश्न**—यह द्विविधता चेतनामे स्वयंके कारण है, या पदार्थकी द्विविधताके कारण है ? यदि पर सापेक्षताके कारण द्विविधता है तो वह चैतन्यका स्वभाव नही, विकार कहा जायगा। ऐसी स्थितिमे केवलज्ञान-केवलदर्शन चैतन्यके विकार है, स्वभाव नही, ऐसा कहना उपयुक्त होगा ?

समाधान—चेतनामे द्विविधता अपने ही कारण है, परके कारण नही। प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है। चेतना भी सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य चेतनाको दर्शन चेतना और विशेष चेतना को ज्ञान चेतना कहते हैं। जैसे समुद्रमे उठने वाली विविध कल्लोलें समुद्रका विकार नही हैं, वे शुद्ध जलात्मक समुद्र स्वरूप ही हैं। समुद्रको देखनेपर शुद्ध समुद्र ही दिखाई देता है। कल्लोलोमे भी समुद्र ही दिखाई देता है। वे कल्लोलें समुद्रके स्वरूपमे ही सम्मिलित है। समुद्र अपनेमे, अपने ही कारण, अपने ही द्वारा, अपने स्वरूप रूप दिखाई देता है। कल्लोलें समुद्रकी हैं, समुद्रमे ही हैं, समुद्रके लिए ही है, समुद्रको ही प्राप्त है, समुद्र द्वारा ही प्राप्त हैं, ऐसा कहिए, या यो कहिए वे स्वय समुद्र हैं। उस काल उन्हे छोडकर समुद्र अन्य कुछ नही है।

इसी प्रकार आत्मा पदार्थको सचेतन करती है। संचेतन उसका गुण है, स्वभाव है। पदार्थ प्रतिभासन स्वरूप ही सचेतना है। पदार्थोंके साथ उसका चेतक-चेत्यमान, अथवा ज्ञान-ज्ञेय, या दर्शन-दृश्यमानका सम्बन्ध है। विकार स्वभाव नाशक होता है। चेतनाके विकल्प, विकल्प हैं, विकार नही हैं। अभेद अखण्ड पदार्थोमे जो भेद होते हैं वे उसके ही विकल्प हैं। अन्यके नही हैं। ऐसी विवक्षा पूर्वक समझना चाहिए कि समुद्रके दृष्टातकी तरह आत्मामे भी षट्कारक व्यवस्था इस प्रकार है कि आत्मा जानता है, अपनेको जानता है, अपने द्वारा जानता है, अपने लिए जानता है, अपनेसे जानता है, अपनेमे जानता है। इस प्रकार आत्मा स्वयको जानता व देखता है, अथवा चेतता है, ऐसा निश्चय कथन है। आत्माकी स्वच्छतामे परका भी प्रतिभास है। अत परकी अपेक्षा विकल्प करना मात्र व्यवहार है। एक वस्तुमे स्वके आश्रयसे जो भेद किये जाते हैं, वे वस्तुके ही अश हैं, विकार नही हैं। आत्मामे स्वके आश्रयमे होनेवाले विकल्प भी चैतन्यके ही विकल्प हैं। वे विकारी भाव नही हैं, अतः केवलज्ञान व केवलदर्शन भी चैतन्यके विकार नही है।

अभेद नयसे आत्मा एक मात्र अखण्ड चैतन्य पिण्ड है। उसमे भेद या विकल्प नही है। इसी कारणसे इस कलशमे कहा गया है "मैं शुद्ध चैतन्य हूँ"। इसमे यदि कर्त्ता, कर्म, करण, आदिके भेद कहे जाते हैं तो भेद कारकोके हैं, शुद्ध चैतन्यमे उन कारकोके भेदसे, अथवा गुणभेदसे, या धर्मभेदसे, भेद कहे जाते हैं। वे भेद उन कारको, गुणो व धर्मोंके भेद हैं, शुद्ध चैतन्य तो अभेद रूप एकमात्र वस्तु है। जब उसमे कारक कृत, गुणकृत, धर्मकृत भेदोका ही प्रवेश नहीं तब पुद्गल कर्म, तथा उनके उदय जन्य रागादि विकारोके कारण तो भेद हो ही नहीं सकता। वे तो अन्य वस्तु ही नहीं हैं। वे आत्मासे भिन्न लक्षण वाले हैं, अत. उनका पृथक् वस्तुत्व स्वय सिद्ध है।

(२८६) **प्रश्न**—क्या रागादि विकार रूप वस्तु, जिसे आत्मासे भिन्न वस्तु कहा गया है, उसके और आत्माके प्रदेश भेद हैं ? यदि हैं तो रागादि कौनसे द्रव्य हैं ?

समाधान—रागादि भिन्न द्रव्य नही हैं। न उनके प्रदेश आत्म द्रव्यसे भिन्न है। वे तो आत्माके विकारी भाव हैं। वे विकारी भाव आत्म-प्रदेशोमे ही हैं, किन्तु आत्म द्रव्यके स्वरूपसे भिन्न हैं।

(२८७) **प्रश्न**—जब दोनो अभिन्न प्रदेशीय हैं तो उन्हे भिन्न वस्तु कैसे कहा गया ?

समाधान—पृथक्ता तथा अन्यत्वमे अन्तर है। आत्मा और पुद्गल कर्ममे, द्रव्य भेद होनेसे प्रदेश भेद है। प्रदेशभेदपना दोनोके पृथक्पनेका हेतु है। परन्तु एक ही द्रव्यमे होनेवाले गुण पर्यायके भेद, अपने नामसे भिन्नता रखते है। लक्षणकी भिन्नता रखते हैं, तथा उनका प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। अतः उनमे परस्पर अन्यत्व है, पृथक्पना नही है।

(२८८) **प्रश्न**—आत्माके ज्ञान-दर्शन-सुख-अमूर्तत्व आदि गुण, नाम मात्र को पृथक् हैं। वस्तुत तो पृथक् नही है ?

समाधान—यह यथार्थ है कि वे पृथक् नही हैं। क्योंकि एक ही आत्म प्रदेशमे पाए जाते हैं। तथापि उनके लक्षण और कार्य भिन्न हैं, अतः उनमे अन्यत्व है। वे भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

(२८९) **प्रश्न**—द्रव्य और वस्तु दोनो एक हैं फिर आपने उनमे भेद कैसे किया ?

समाधान—उनमे भेद है इसलिए ऐसा लिखा है। द्रव्य, गुण पर्यायवान् होता है। किन्तु गुणोमे गुण नही रहते।[1] इसी प्रकार पर्यायें व्यतिरेकी हैं अर्थात् परस्पर भिन्न-भिन्न है। वे क्रमसे होती हैं, अत पर्यायोमे पर्यायें नही रहती।

इस प्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोकी स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जिनमे प्रकार भेद हैं वे भिन्न-भिन्न द्रव्य न होनेपर भी वस्तु भेद रूप हैं। सत्ता भेदसे द्रव्य भेद माना जाता है, पर लक्षण भेदमे द्रव्य भेद हो ही जाय ऐसा नही है। अत- द्रव्य और वस्तुमे भेद है। इसे उदाहरण द्वारा कहते है—

स्वर्णमे स्वर्णपनेके गुण है, वे नाना है। पर स्वर्ण नाना नही है। नमककी एक डली है, उसमे क्षारपना, कर्कशपना, श्वेतपना, अपनी गध, ऐसे रूप-रस-गध-स्पर्श चार गुण हैं, पर नमक एक है, चार नही है। ऐसा भी नही है कि जो रूप है, वही रस है, वही स्पर्श है। प्रदेश अभेदकी अपेक्षा तो सभी गुण एक हो ठौर है तथापि उनमे वस्तु भेद है। रूप नेत्रसे देखा जाता है, रस जिह्वासे जाना जाता है। यदि वे दोनो सर्वथा एक वस्तु हो तो हाथके स्पर्शमात्रसे, या नेत्रके द्वारा देखने मात्रसे उसके चारो धर्मोंका बोध हो जाना चाहिए, पर ऐसा नही होता। देखे हुए व्यञ्जनका स्वाद नही आता, उसे जिह्वा ससर्ग करना ही पडता है। अत- प्रदेश भेद न होनेपर भी, नमकके रूप-रस-गध-स्पर्श आदिमे वस्तुभेदपना है।

इसी प्रकार स्वर्णके विविध गुणोकी स्थिति भी, उनमे स्वर्णसे भिन्न वस्तुत्व सिद्ध करती

१. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ॥४१॥ —मोक्षशास्त्र अध्याय ५

है। सोनेके हार, कटक, बाजूबन्द, करधनी, आदि नाना आभूषण बनाये जाते हैं। वहाँ पर्यायभेद निश्चित है, उनके नाम भी भिन्न हैं, आकार भी भिन्न है, उनमे लोक रुचि भी भिन्न-भिन्न है। अतः उनमे वस्तुभेदपना सुनिश्चित है, तथापि स्वर्णसे वे सब अभिन्न है। वे उससे पृथक् द्रव्य नहीं हैं।

इन दृष्टान्तीमे भली-भाँति सिद्ध है कि द्रव्यभेद अलग चीज है, और वस्तुभेद या अर्थभेद अलग चीज है। नमक और स्वर्णको दृष्टान्तमे द्रव्यके स्थान पर, तथा उनके विविध गुणोको द्रव्यके गुणोंके स्थान पर, तथा उनकी विविध पर्यायोको द्रव्यकी विविध पर्यायोके स्थानपर मानकर, यदि आप विचार करें तो द्रव्यकी ये पर्यायें और गुण भिन्न-भिन्न वस्तु है, तथापि एक ही द्रव्य प्रदेशमे विलीन होनेसे पृथक् प्रदेशत्व इनमे नही है ॥१८२॥

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। चेतना भी स्वय सामान्य विशेषात्मक है। अतएव ज्ञानदर्शन रूपता ही उसके अस्तित्वका सूचक है—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात् सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकात्
आत्मा चान्तमुपैति तेन नियत दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति[1] चित् ॥१८३॥

अन्वयार्थ—(**जगति**) इस जगत्मे (**चेतना अद्वैता अपि**) यह चेतना यद्यपि निश्चयसे देखा जाय तो अद्वैत अखण्ड एक है, तो भी यदि (**दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् चेत्**) वह एकान्तसे अद्वैत रूप ही हो और दर्शन ज्ञान रूप अपने भेदोका सर्वथा परित्याग करे तो (**तत्सामान्य-विशेषरूपविरहात्**) सामान्य तथा विशेषोके अभावमे (**सा**) वह चेतना (**अस्तित्वमेव त्यजेत्**) अपना अस्तित्व भी छोड देगी। (**तत् त्यागे**) अस्तित्वके अभावमे (**चित अपि जडता**) आत्मा जडताको प्राप्त हो जायगी (**व्यापकात् विना**) व्यापक के बिना (**व्याप्य न**) व्याप्यका भी अभाव हो जाता है। पश्चात् (**आत्मा च अन्तम् उपेति**) आत्माका भी अभाव सिद्ध होगा (**तेन**) इसलिए यह मानना ही चाहिए कि (**चित्**) चेतना (**दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्ति**) दर्शन ज्ञानरूप हे ॥१८३॥

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वय सामान्य विशेषात्मक है। चैतन्य उसका सत्सामान्य स्वरूप है, तथा ज्ञान-दर्शन आदि उमीके विशेषरूप है। यदि चैतन्यको सवथा एक ही माना जाय, तो वह सामान्य विशेषात्मक नही रहेगा। स्वरूपके अभावमे वह अवस्तु होगा। चैतन्यके अवस्तु होनेपर या तो आत्मा जडरूप माना जायगा, या उसका भी अभाव सिद्ध होगा। चेतनागुण व्यापक है। व्यापक चेतनागुणके अभावमे व्याप्यरूप आत्माका भी अभाव सुनिश्चित है। इन दोषोको दूर करनेके लिए यही मानना सुसगत है कि आत्मा चैतन्यवान् है, वह अपने सत्सामान्य तथा सद्विशेषोके कारण कथचित अद्वैत है, सर्वथा अद्वैत नही है।

(२९०) **प्रश्न**—सचेतन करने वाला चेतयिता, जाननेवाला ज्ञाता और देखने वाला द्रष्टा,

१ 'अस्तु' इति पाठान्तरम्।

शब्दोसे व्यवहृत होता है। क्या आप उनमे परस्पर सबध बनाकर उनकी एकरूपताका ही प्रकारान्तर, से समर्थन करते हैं ?

समाधान—ऐसा नही है। चेतयिता-ज्ञाता-द्रष्टा ये तीनो एक आत्माके ही रूप हैं। भिन्न-भिन्न क्रियाओसे भिन्न-भिन्न शब्द बन गये हैं पर वे क्रियाएँ एक ही आत्माकी क्रियाएँ हैं। उनमे परस्पर सम्बन्ध हैं, और द्रव्य दृष्टिसे उनकी एकता भी स्पष्ट है।

चेतना जिन वस्तुओको प्रतिभासित करती है वे वस्तुएँ सामान्य और विशेषरूप हैं। इनका अतिक्रमण वे नही कर सकती अतएव चैतन्यमे ज्ञानरूपता व दशनरूपता स्वय सिद्ध है। इन दोनोके बिना चैतन्य स्वय कुछ न रह जायगा, क्योकि पदाथ सामान्य विशेषात्मक है। इसक परित्यागका अर्थ उसके अस्तित्वका ही अभाव होगा जो इष्ट नही है।[1] अपने स्वरूपके उच्छेद होनेपर वस्तुका उच्छेद अविनाभावी है। अतः चेतना ज्ञान दर्शन रूपताको लिए हुए है यही मानना चाहिए।

(२९१ **प्रश्न**—आत्मामे चैतन्यभाव है यह सत्य है। पर रागादिभाव भी तो आत्मामें हैं, आत्माके प्रदेशोमे है। आत्मासे उनका पृथक् प्रदेशत्व नही है। जैसे ज्ञान भिन्न है उसी प्रकार रागादि क्रोधादि भी तो आत्मप्रदेशोमे अभिन्न हैं ? उन्हे अनात्मीय भाव क्यो कहते हो ?

समाधान—शुद्ध चैतन्यके परिणाम जैसे शुद्धज्ञान, शुद्धदर्शन हैं, इस प्रकार रागादि क्रोधादि शुद्ध चैतन्यके परिणाम नही हैं। वे पौद्गलिक जड कर्मके सयोगमे, उनके उदयके निमित्तसे होनेवाले भाव है जो शुद्ध चैतन्य स्वभावको आच्छादित या मलिन करते है। आत्म प्रदेशोमे होनेपर भी वे अनात्मीय भाव हैं। विकारके कारणोके नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है। स्वभावका कभी नाश नही होता। रागादि तो विकारी पर्यायें थी अत नाशको प्राप्त होती है ॥१८३॥

तो फिर आत्मीय क्या है ?—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततः चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

अन्वयार्थ—(**चित**) आत्मा के (**चिन्मय**) चैतन्य मय (**एव**) ही (**एक भावः**) एकमात्र भाव है। (**ये परे भावा** उस चिन्मय भावसे भिन्न जो अन्यभाव हे (**ते परेषाम्**) वे आत्म भिन्न पदार्थके भाव हे। (ततः) इस तर्क सगत निर्णयके कारण (**चिन्मय**.) चैतन्य स्वरूप (**भाव एव ग्राह्य**) भाव ही आत्माको स्वीकार करने योग्य है। (**परे भावा**) शेष पर भाव (**सर्वत हेया एव**) सम्पूर्ण रूपसे छोडने योग्य ही है ॥१८४॥

भावार्थ—आत्मा चैतन्य प्रतिभास स्वरूप है, वह उसका लक्षण हे। यह लक्षण उसका आत्मभूत लक्षण है। यह चैतन्य खण्ड-खण्ड रूप नही होता, अखण्ड पिण्ड रूप है। उसमे रागादि स्वसापेक्ष नही है, परमापेक्ष हैं। सयोगजभाव वस्तुका स्वरूप नही होता। विकार होता है।

१ सामान्य विशेषात्मक तदर्थो विषयः। —परीक्षामुख.

जिस प्रकार कर्म, नोकर्म शरीरादिक, अथवा कर्मके उदयानुकूल, सहयोगी अन्य नोकर्म, स्वयं पर द्रव्य हैं, इसी प्रकार कर्मके उदयमे जीवके चैतन्यमे जो विकार हैं, वे सब शुद्ध अखण्ड चैतन्यभावसे भिन्न भाव हैं। अतएव आत्माको अपने अखण्ड शुद्ध चैतन्यभावको ही अपना स्वरूप स्वीकार करना चाहिए। परभावो अर्थात् पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों, व तन्निमित्त जन्य रागादि विकारो की पृथक्ता तो है हो, किन्तु कर्म निमित्त जन्य, चैतन्यकी क्षायोपशमिक अवस्थाओको भी छोड़कर, अखण्ड शुद्ध चैतन्यका स्वरूप ही यहाँ अभिष्ट है।

(२९२) **प्रश्न**—रागद्वेष परिणाम जीवमे होते हैं, जडमे नही होते। अत इनको जीवके भाव ही मानना चाहिए। परभाव कहना तर्क सगत नही। यदि ये जीवमे न होकर पुद्गलमे होते तो परभाव कहे जाते। तब ऐसे 'पर पदार्थ और परभाव आत्माको स्वीकार नही करना चाहिए' यह उपदेश यथार्थ माना जाता?

समाधान—यह सत्य है कि रागादि विकारी परिणाम जीवमे ही होते है, जडमे नही, अत वे जीवके हैं। अशुद्ध निश्चयनयसे ऐसा ही है। तथापि यहाँ कथन शुद्धनिश्चयनयका है। इस नयसे कहा जाब तो जो परनिरपेक्ष भाव आत्मामे है वही आत्माका त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य भाव है। रागादि सयुक्त आत्मा, अशुद्ध आत्मा है। अतः रागादि छोड़नेका अर्थ है कि अपनी अशुद्धावस्था को, जो पर संयोग निमित्त जन्य हो, उसे छोड़कर शुद्ध चैतन्यावस्था को प्राप्त करना चाहिए।

(२९३) **प्रश्न**—अनादिसे आत्मा कर्म सयुक्त है तन्निमित्त जन्य विकार भी अनादि से हैं। ऐसी दशामे उन कर्मोका व विकारोका ससर्ग छूट ही कैसे सकता है?

समाधान—आत्मामे ज्ञानशक्ति ही ऐसी शक्ति है। उस ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मा स्व परका भेद समझकर, पररूप परिणमन त्यागकर, स्वाधीन परिणमन करने लगता है। अनादि अज्ञानरूप परम्परा भी टूट जाती है। जैसे बीजसे वृक्ष होता है, ऐसी अनादि परम्परा है। तथा बीज जला-देनेपर उसकी भावी परम्परा समाप्त हो जाती है। इस दृष्टान्तसे समझना है कि जीवकी परा धीनताकी परम्परा, ज्ञान द्वारा ससारके बीज भूत मोहको दग्ध कर देनेपर, स्वय समाप्त हो जाती है। जीव कर्मकी पराधीनतासे छूटकर स्वय शुद्ध हो जाता है।

(२९४) **प्रश्न**—जब जीव पराधीन है, तब वह परवश है। जैसे बन्धनमे बँधा कैदी जब बन्धनसे छूटे, तब स्वतन्त्र विचरण कर सकता है। बन्धनसे तब छूटे जब कैदो छोड़ दिया जाय, छोड़ने वाला न छोडे तो स्वतन्त्र कैसे हो? इसी प्रकार जीव जिस कर्मके बन्धनमे अनादिसे है वह कैसे छूटे? यदि कर्म छोड दे तो वह स्वन्तत्र विचरण कर सके?

समाधान—दृष्टान्त ठीक नही है। कैदी यद्यपि अपने अपराधके कारण, परके द्वारा बाँधा गया है, तथापि बाँधनेवाला व छोडनेवाला अन्य सचेतन पुरुष है। यद्यपि बाँधना छोडना उस सचेतन राजकीय पुरुषका कर्म है, तथापि वह अपराधीको ही बाँधता है, निरपराधको नही। परन्तु कर्म चैतन्य स्वरूप नही, जड स्वरूप ही है। वह जीवको बाँधता नही है। स्वापराधसे जीव स्वय जड पौद्गलिक कर्मोंको खीचकर अपनेको उनसे बाँध लेता है।

यद्यपि वे सूक्ष्म कर्म दिखाई नही देते, न जीव यह जानता है, कि कब कर्म आए और मैंने अपनेको कब बाँध लिया। तथापि वे जीवके अपराधसे आते हैं और जीव उनसे बँधता है। यह

युक्ति से सिद्ध है कि जीव ही जब अपने अज्ञान परिणामसे उनसे अपनेको बाँधता है तब जीव ही अपने ज्ञान परिणामसे, उस बन्धनको स्वय दूर कर सकता है। अतः रागादि रूप बन्धनकारक भावोको यहाँ परभाव कहा, और उनके छोड़नेका तथा आत्मामे स्वभाव जन्य ज्ञानभावको स्वीकार करके स्वतःको स्वतन्त्र करनेका उपदेश दिया है।

अपने स्वभावका भावरूप परिणमन ही ज्ञानभावको स्वीकारता है, तथा परसापेक्ष अशुद्ध परिणमनका अभाव ही परका त्याग है, यही उपदेशका सार है ॥१८४॥

मोक्षार्थीको एकमात्र चैतन्य भावका ही आलम्बन करना चाहिए यह आचार्य कहते हैं—

सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्तचरितैः मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिस्सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणाः
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धं चिन्मयम्**) जो शुद्ध चैतन्याकार (**एकमेव**) एकमात्र (**परमं ज्योति**) उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप है (**सदैवाह अस्मि**) मैं सदा वही हूँ। (**एते**) ये (**पृथग्लक्षणा**) जिनका स्वरूप मुझसे भिन्न रूप प्रकट है ऐसे (**ये तु विविधाः भावाः**) जो विविध प्रकारके असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसान भाव (**समुल्लसन्ति**) उठते हैं (**ते अहं नास्मि**) वे मैं नही हूँ। (**यत अत्र ते समग्रा अपि मम परद्रव्यम्**) क्योकि यहाँ वे सबके सब मेरे लिये परद्रव्य हैं। (**अयम् सिद्धान्तः**) ऐसा यह सिद्धान्त (**उदात्तचित्त-चरितैः-मोक्षार्थिभि.**) मनस्वी सदाचारी श्रेष्ठ मोक्षार्थी पुरुषोको (**सेव्यताम्**) सेवन करना चाहिए ॥१८५॥

भावार्थ—जो जीव संसारके दुखोंसे छूटना चाहते हैं वे उदात्तचित्त, मनस्वी, उत्कृष्ट, मोक्षार्थी, सदाचारी पुरुष हैं। उन्हे यह सिद्धान्त स्वीकार करना कल्याणकारी है कि आत्मा अपने स्वरूपका विचार करे, तो वह देखेगा कि वह चैतन्यका अखण्ड प्रवाह है। तथापि जैसे नदीके पूरमे मार्गमे बहुत-सा कूडा-कचरा भी बहकर आ जाता है, पर वह नदीका अंश नही है, जलप्रवाहको गँदला करनेवाली विकारी वस्तु हैं। इसी प्रकार चैतन्यके प्रवाहमे प्रवहमान, रागादि विकार भाव, आत्माके उस पवित्र चैतन्य प्रवाहको मलिन करने वाले भिन्न-भिन्न भाव हैं। वे आत्मा नही हैं। बुद्धिमान् मोक्षार्थी पर वस्तुको छोड़कर निज वस्तुको ही ग्रहण करते हैं ॥१८५॥

पर द्रव्यका ग्रहण अपराध है ऐसा कहते हैं—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः[1] ॥१८६॥

अन्वयार्थ—(**परद्रव्यग्रहं कुर्वन् अपराधवान्**) परद्रव्यको ग्रहण करनेवाला अपराधी है। जो अपराधी है वह (**बध्येत एव**) नियमसे बंधनको प्राप्त होता है। (**स्वद्रव्ये संवृतः मुनिः**) किन्तु

१. यति· इत्यपि पाठान्तरम्।

मुनि अपने आत्म द्रव्यमे ही सुरक्षित है, वे (अनपराधः) निरपराध हैं, अत (न बध्येत) बन्धको प्राप्त नही होते ॥१८६॥

भावार्थ—लोकमे यह बात सुप्रसिद्ध है कि जो वस्तु पराई है, उसे ललचाई दृष्टिसे देखना भी अपराध है। ग्रहण तो अपराध है ही। जो परवस्तुको निज वस्तु बनाता है वह अपराधी बधनमे पडता है। जो निरपराधी हैं, स्वद्रव्यकी, स्वक्षेत्रकी, स्वकालकी व स्वभावकी महिमामे रत हैं, वे संवृत हैं, अर्थात् सुरक्षित हैं। वे कभी बधनको प्राप्त नही होते। इसीलिये अपनी आत्माके गुणोमें जो सुगुप्त है, कभी परमे प्रवेश नही करते, वे मुनिजन निरपराधी है। कर्मके बन्धनसे वे नही बँधते।

जो अपनी मर्यादा तोड़ते हैं, पर द्रव्यको ग्रहण करते हैं। शरीर-वचन-मन स्त्री, पुत्रादि शुद्ध चैतन्यसे भिन्न होनेसे, शुद्धात्माकी दृष्टि वालेके लिए परवस्तु है। जो परद्रव्यको आत्मभावसे स्वीकार करते है, उनसे ममत्व करते हैं, वे अपराधी है, और प्रति समय नियमसे कर्मबधनमे बधते ही है।

(२९५) **प्रश्न**—अपराधी बँधता है यह ठीक है। परवस्तु—परस्त्री परधन हर्ता राज्य कर्मचारियो द्वारा बधनमे डाले जाते है, पर अपने घर, स्वस्त्री-स्वपुत्र-स्वधनादिको स्वीकार करने वाला तो महाजन है? उसे राजकोष पुरुष नही बाँधते क्योकि वह निरपराध है। ऐसा भाव कलश का निकलता है। तब आप उस गृहस्थको जो महाजन है, अपराधी और बन्धनबद्ध कैसे कहते है?

समाधान—लोकमे जो अपराधी है वे बन्धते हैं, यह आपको सिद्धान्त समझानेके लिए मात्र दृष्टान्त है। यहाँ राजकीय बन्धन के दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तकी सिद्धि करनी है। दार्ष्टान्त है—जीवका कर्मबन्धन बद्ध होना। अपने चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि त्यागकर, जो चैतन्यसे भिन्न ससारके किसी भी द्रव्यसे, उसके गुणोमे व पर्यायोसे, तथा कर्मोदयकी स्थितिमे उत्पन्न हुए अपने आन्तरिक रागादिपरिणामोंसे, ममत्व करता है—उनमे अपनापन मानता है, उन्हे हितकारी मानता है, वह अपराधी है। वह अपराधी कर्म के बन्धनमे अवश्य बन्धता है ॥१८६॥

इसी आशयको आगामी कलशमे स्पष्ट करते है—

अनवरतमनन्तैर्बध्यते　　सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

अन्वयार्थ—(सापराध) अपराधी (अनवरतम्) निरन्तर ही (अनन्तैः) अनन्त कर्मपुद्गलोंसे (बध्यते) बँधता है। (निरपराध) जो अपनी शुद्ध चैतन्य परिणतिका आश्रय करने वाला अपराधरहित है, (बधनं जातु नैव स्पृशति) वह कभी भी बन्धनको प्राप्त नही होता। अतएव (अयम्) यह संसारी जीव (अशुद्धं स्वं नियतं भजन्) अशुद्ध आत्माको ही निरन्तर सेवन करता है, अर्थात् अशुद्ध परिणतिमे परिणत हो रहा है, अत (सापराध) वह निश्चित अपराधी है। किन्तु (साधु-

शुद्धात्मसेवी) शुद्धात्माको भले प्रकार सेवन करने वाला (**निरपराधः भवति**) अपराध से रहित है, अतएव बन्धनको प्राप्त नही होता ॥१८७॥

भावार्थ—पर द्रव्यको अपनाने वाला उन समस्त परद्रव्योके बंधनमे है। उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति-सयोग-वियोगमे, सुख-दुख रूप आकुलताको प्राप्त होता है। सूक्ष्म पुद्गल अनन्त-कर्म परमाणुओसे भी, जो ज्ञानावरणादि रूप है—बन्धता है, जिसका परिपाक दु.खोत्पादक है। जो शुद्धात्मरूप परिणमन करते है वे शुद्धात्मसेवी है। वे न परसे ममत्व करते है, न परको निज रूप से एकाकार करते है। अत. न उन पदार्थोसे बधते हैं, और न पुद्गल कर्मसे बन्धते हैं, न रागादि विकारी भावोमे बधते हैं, वे निर्बन्ध है ॥१८७॥

अतएव—

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीन चापलं, उन्मूलितमालम्बनम्।
आत्मन्येवालानितं चित्त
आसंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥

अन्वयार्थ—(**अत**) उक्त कथनके अनुसार (**प्रमादिनः**) जो रागादि प्रमादके वश हो (**सुखासीनताम् गता**) कर्मजन्य आकुलताको ही मुख मानकर उसमे निमग्नताको प्राप्त हैं, (**हताः**) वे मोक्षमार्गमे भ्रष्ट हुए। इस उपदेशसे (**प्रलीनं चापलम्**) उनकी चपलता मिटाई (**आलम्बनम्-उन्मूलितम्**) पर द्रव्यके आलम्बनको जडसे उखाड दिया तथा (**आसंपूर्ण विज्ञानघन उपलब्धे**) पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक (**चित्तम्**) अपने मनको (**आत्मनि एव आलानितम्**) अपने स्वात्मामे ही बाँधा उससे ही सम्बद्ध किया ॥१८८॥

भावार्थ—जो जीव रागादि भावोका आलम्बन कर, परद्रव्यको आश्रय कर, उसमे सुख मानकर अपनेको आनन्दित मानते थे, और उसीसे मत्त थे, वे आत्महितमे प्रमादी थे। ऐसे प्रमादी जन मोक्षमार्गमे बहुत दूर है। किन्तु जिन्होने विज्ञानघन आत्माका आश्रय लिया—उनको योगकी चपलता छूट गई, परावलम्बन छूटा—स्वाधीनता आई, आत्माका स्वाद आया और वे परम सुखी हुए। ऐसा जानकर ससारी जन पर पदार्थका, मोह-राग-द्वेषका, परित्याग करे तो उन्हें स्वात्मोपलब्धि हो सकती है तथा वे बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

(२९६) **प्रश्न**—प्रमाद क्या है? उसके द्वारा क्या हानि होती है। उससे बचनेके क्या उपाय हैं?

समाधान—आत्म स्वभावकी प्राप्तिमे असावधानी को प्रमाद कहते है। यह ससारी प्राणी सासारिक पदार्थोके सचयमे उनमे रागादि करनेमे, सलग्न है, अत. आत्महितके मार्गमे प्रमादी है। प्रमादी ससार परिभ्रमण करता है और विविध दुख उठाता है, यही बड़ी हानि है। मुख्यतः प्रमादके पन्द्रह भेद कहे गए है। चार कषाय, चार विकथा, पाँच इन्द्रियोके विषय, निद्रा और स्नेह। प्रमादसे बचनेका उपाय आत्महितमे सदा जागते रहना ही है। जो आत्महितमे सावधान है वही जागता है। जो विषय कषायोमे लगा हुआ है वह आत्महितमे सोता है, यही प्रमाद है, और दुख उसका फल है।

मोह राग द्वेष ये तीन प्रमाद मुख्य हैं। प्रमादके सम्पूर्ण भेद इनका ही विस्तार हैं। इनमे

मोह और द्वेष ये दोनो तो अत्यन्त अशुभ हैं। राग शुभ अशुभ दोनो प्रकारका होता है। पचपरमेष्ठीके गुणानुराग पूर्वक भक्तिका राग, शुभराग है, पचेन्द्रियके विषयोके प्रति राग अशुभराग है। दोनो प्रकारके राग भी प्रमाद ही हैं।

(२९७) **प्रश्न**—अशुभराग आत्महित घातक है, अत. उसे प्रमाद कहना उपयुक्त है। पर पंचपरमेष्ठीमे भक्तिरूप शुभराग तो प्रमाद नही है। आत्महितमे जो सावधान है वे ही पचपरमेष्ठीकी श्रद्धा भक्ति करते हैं। जिनभक्तिका बहुत बडा माहात्म्य आगममे आचार्यों द्वारा वर्णित है। आप उसे भी प्रमाद कहकर आत्महित के विरुद्ध बताते हैं। तब क्या आत्महितैषी वह है जो पंचपरमेष्ठीकी श्रद्धा भक्ति करना छोड दें ?

समाधान—पचपरमेष्ठीकी भक्ति अशुभरागसे बचाती है। पचपरमेष्ठीके वीतरागता आदि गुणोके प्रति अनुराग बढाती है, अत. इस दृष्टिसे वह वीतरागताके प्रति साधक भी है। इसी कारण जैनाचार्योंने इसे कथञ्चित् उपादेय भी कहा है। तथापि शुभकर्ममे शुभयोग तथा मन्दकषायपना कारण है, उससे जीवको पुण्यका बन्धन होता है। मोक्षार्थीके लिए बन्धन इष्ट नही माना जा सकता अतः शुभ राग को भी प्रमाद कहा।

जो आत्माको शुभाशुभ कर्मोंसे निवृत्त करके, अपने ज्ञानानन्दको सीमाके भीतर रखता है, वह उस प्रमादका प्रायश्चित रूप प्रतिक्रमण है, यह बात इस गाथा मे स्पष्ट है—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥—समयसार, गाथा ३८३

अर्थात् शुभाशुभके विस्ताररूप जो पूर्वकृत कर्म हो, उनसे अपनेको भिन्न कर लेना ही, प्रमादका प्रतिक्रमण है।

(२९८) **प्रश्न**—प्रतिक्रमणका क्या अर्थ है ? उसके कितने प्रकार है। उनका क्या स्वरूप है, और उनका करना मोक्षमार्गीके लिए इष्ट है या नही ?

समाधान—प्रतिक्रमण प्रतिशरण-परिहार-धारणा-निवृत्ति-निन्दा-गर्हा और शुद्धि, ये आठ प्रतिक्रमणके ही प्रकारान्तर हैं, इनका विस्तार निम्न प्रकार है—

प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषोको प्रायश्चित्तादि द्वारा दूर करना।

प्रतिशरण—दोषोके दूर करने हेतु परमगुरुकी शरण प्राप्त करना।

परिहार—दोषोके दूर करने हेतु प्रायश्चित्त स्वरूप सावधि त्याग करना।

धारणा—दोष दूर करने हेतु कुछ विशिष्ट व्रतोका धारण करना।

निवृत्ति—दोषोके दूर करने हेतु कुछ परित्याग करना, उनसे चित्त वृत्तिको रोकना।

निन्दा—अपने दोषोके प्रति पश्चात्ताप करना, स्वयके समक्ष दोषोकी निन्दा करना।

गर्हा—गुरु समीप अपने दोषोकी निन्दा व पश्चात्ताप करना।

शुद्धि—अपने दोषोको दूर करना, परिणामोमे शुद्धि उत्पन्न करना। गुरुदत्त प्रायश्चित्तको स्वीकारना ही शुद्धिका कारण है।

ये सब दोष दूर करनेके उपाय मोक्षमार्गीके लिए उचित हैं। इन्हें अमृत कुम्भ कहा है। इनसे वह पापक्रियाओसे दूर होता है। किए पापो पर पश्चात्ताप करता है। भविष्यमे पाप न करनेका भाव उत्पन्न होता है। पापास्रव दूर होकर उसे पुण्यास्रव होता है।

(२९९) **प्रश्न**—समयसारमे इन प्रतिक्रमणादिकोको विषकुम्भ कहा है, और प्रतिक्रमण आदिके अभावको अर्थात् अप्रतिक्रमणादिको अमृत कुम्भ कहा है। सो इस कथनसे आपका कथन विरुद्ध पडता है। किसे यथार्थ मानकर आचरण करना चाहिए ?

समाधान—समयसारमे 'द्रव्य प्रतिक्रमण' को विष कुम्भ और 'अप्रतिक्रमण' को अमृतकुम्भ कहा है, यह यथार्थ है। इस कथनकी विवक्षा स्पष्ट करते है।

लगे हुए दोषोका प्रतिक्रमण नही करने रूप जो अप्रतिक्रमण है वह तो सभी मिथ्यादृष्टि जीवोमे होता है। वह तो विष कुम्भ ही है, सर्वथा पापरूप ही है। उसे अमृतकुम्भ नही कहा गया। यहाँ उसकी चर्चा ही नही है। दोषोका निराकरण ज्ञान भावमे स्थित होने पर ही होता है। ऐसी दशामे वह शुद्धोपयोगी साधु स्वय निर्दोष है। दोषोकी वहाँ कोई सम्भावना ही नही है।

ऐसी जो श्रेष्ठ दशा है वह ही 'अप्रतिक्रमण' दशा है, वह अमृतकुम्भ है। यह अप्रतिक्रमण, उस प्रतिक्रमणसे भी श्रेष्ठ है जो सदोष अवस्थामे, दोष निवारण हेतु किया जाता है। यह द्रव्य प्रतिक्रमण अर्थात् बाह्यप्रतिक्रमण भी, उसी शुद्धोपयोग दशाको प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। शुद्धोपयोगकी प्राप्ति जब तक नही होती तब तक वह साधु शुभोपयोगी ही रहता है। इस प्रतिक्रमणसे पाप प्रक्षालन तो होता है परन्तु शुभआश्रव ही होता है। इस कारण वह उपरोक्त प्रथम अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा 'अमृतकुम्भ' है, परन्तु शुद्धोपयोगकी भूमिकासे नीचे होनेके कारण उसे ही 'विष कुम्भ' भी कहा गया है। शुद्धात्माकी आराधनासे रहित होनेके कारण इस प्रतिक्रमणको भी अपराध माना है। समस्त आश्रवभाव, मोक्ष मार्गमे अपराध ही है।

(३००) **प्रश्न**—प्रतिक्रमण करने वाला यदि निश्चयकी दृष्टिसे अपराधी है तो साधुको अप्रतिक्रमण ही श्रेष्ठ मानना चाहिए ?

समाधान—वस्तुत ऐसा ही है, परन्तु मिथ्यात्वके साथ जो दोष रूप अप्रतिक्रमण है वह श्रेष्ठ नही है। वह तो 'विष कुम्भ' ही है। प्रतिक्रमणको इस सदोष अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है और अमृत कुम्भ कहा गया है परन्तु ऊपरकी शुद्धोपयोगीकी भूमिका रूप 'अप्रतिक्रमण' को, इस प्रतिक्रमणकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेसे, 'अमृत कुम्भ' कहा गया है।

(३०१) **प्रश्न**—शुद्धोपयोगीका अप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है, यह तो ठीक है, परन्तु प्रतिक्रमण करने वाला साधु भी तो उसी शुद्धोपयोगी भूमिका पर जाता है तब उसके प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहना कैसे सगत है ?

समाधान—द्रव्य प्रतिक्रमण शुद्धात्म भावनाके उद्देश्यसे ही किया जाता है, परन्तु जब तक वह शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप नही बनता तब तक शुभोपयोग रूप है। शुद्धोपयोग रूप नही है। अध्यात्मकी दृष्टिमे यह, आश्रव भाव होनेके कारण अपराध है। इसीलिए उसे विषकुम्भ कहा है। जब वह साधु शुभोपयोगसे ऊपर उठकर, शुद्धोपयोगी बनता है तब उसकी उस अवस्थाको ही यथार्थ 'अमृतकुम्भ' कहते है। विवक्षा भेदसे यथार्थ स्थिति समझ लेने पर, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणके स्वरूपमे कोई विरोध या सशय नही रहता।

उपदेशका यथार्थ ग्रहण ही कल्याणकारी है—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः-
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जिस मोक्षमार्गमें (**प्रतिक्रमणमेव**) दोषोको दूर करनेके अभिप्रायसे किया जानेवाला शुभराग रूप प्रतिक्रमण भी (**विषं प्रणीत**) रागात्मक होनेसे विषरूप वर्णित किया गया है (**तत्र**) उस मोक्षमार्गमें (**अप्रतिक्रमणम् एव**) दोषको दूर करनेका उपाय न करना, अशुभरागादि रूप ही प्रवृत्ति करना, ऐसा अप्रतिक्रमण (**कुतः सुधा स्यात्**) कैसे अमृतरूप कहा जा सकता है ? (**तत्**) तब (**जनः**) यह प्राणी (**अध. अधः प्रपतन्**) उपदेशको विपरीत ग्रहणकर, नीचे गिरता हुआ (**किं प्रमाद्यति**) क्यो प्रमादरूप प्रवर्तता है ? उपदेशका यथार्थ भाव ग्रहण कर (**निष्प्रमाद**) प्रमादको छोडकर (**ऊर्ध्वं उर्ध्वं**) उन्नत-उन्नत मार्ग पर (**किं न अधिरोहति**) क्यो नही चढता ॥१८९॥

भावार्थ—उपदेश तो यह था कि शुभरागादि रूप प्रतिक्रमण, वन्दना, स्तुति आदि परिणाम भी पुण्यास्रवके कारण होनेसे व्यवहारसे मोक्षमार्ग है। तथापि दोषयुक्त अप्रतिक्रमण और शुभरागरूप प्रतिक्रमण, इन दोनो विकल्पोसे रहित, अपने स्वभाव परिणमन रूप, तृतीय अवस्था रूप अप्रतिक्रमण ही निश्चयसे मोक्ष मार्ग है। वहाँ कुशिष्यने उलटा अर्थ ग्रहण कर पापात्मक अप्रतिक्रमणको श्रेष्ठ मान लिया। उसपर आचार्य प्रश्नात्मक आश्चर्य करते हैं कि प्राणी यथार्थ उपदेश ग्रहण कर ऊँचा क्यो नही बढता ? विपरीत ग्रहण कर हीनाचारी प्रमादी क्यो बनता है ?

"अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुट स्यात्" ऐसा पाठ मानकर शुभचन्द्रजीने इसका अर्थ किया है कि प्रतिक्रमण तथा अप्रतिक्रमण दोनो अवस्थाओंसे भिन्न जो अप्रतिक्रमण है वह सुधाका, अमृतका कुम्भ है ॥१८९॥

कौन साधु शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं—

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवात् अलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धता व्रजति मुच्यते चाऽचिरात् ॥१९०॥

अन्वयार्थ—(**प्रमादकलित अलसः**) प्रमादी आलसी व्यक्ति (**कथं शुद्धभावो भवति**) कैसे शुद्धभाव रूप शुद्धात्मा बन सकता है (**यत**) क्योकि (**अलसता**, आलसोपना (**कषायभरगौरवात्**) (**प्रमाद भवति**) कषायके भारमे ही गोरवशाली है, प्रमाद है। (**अत मुनि**) इसलिए साधु (**स्वरस-निर्भरे स्वभावे**) आत्माके निजरससे परिपूर्ण अपने स्वभावमें ही (**नियमित भवन्**) नियमित होकर (**परम शुद्धताम् व्रजति**) उत्कृष्ट शुद्धोपयोगमय होता है, तथा (**च अचिरात् मुच्यते**) और शीघ्र ही मुक्ति धामको प्राप्त होता है ॥१९०॥

भावार्थ—अपनी स्वभाव स्थितिमे शिथिलताका नाम ही प्रमाद है। विविध प्रकारके कषाय जन्य विकल्प ही आत्माको अपने स्वभावमे स्थिर नही रहने देते। आत्महितका इच्छुक समताभावी सयमी साधु, रागादि कषाय मार्गसे अत्यन्त दूर रहकर, आत्महितमे सावधानी रखकर, अपनेको अपने स्वभावमे ही बाँधकर, परम पवित्रताको स्वय प्राप्त होता है। यही शुद्धोपयोग है[1]। इसीके फलसे प्राणी शीघ्र ही सासारिक दुखके कारण कर्मबन्धके बन्धनसे भी शीघ्र छूट जाता है। इसी द्रव्यकर्म-भावकर्मसे छूटनेको मुक्ति कहते हैं जो शुद्धोपयोगीको ही प्राप्त होती है ॥१९०॥

(३०२) जो प्रमादी नही है न आलसी है—आत्मनिष्ठ गृहस्थ है, वह भी तो परमशुद्धताको प्राप्त हो सकता है। तब कलशमे 'मुनिः' पद देकर उसका कर्तृत्व मुनिको ही क्यो स्वीकार किया है ?

समाधान—जो अपने हितके मार्गमे अपूर्ण है, वह अभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोके भारसे सयुक्त है, ऐसा गृहस्थ आत्मश्रद्धानी या आत्मज्ञानी हो, पर आत्मनिष्ठ नही हो सकता। पूर्ण शुद्धोपयोगी नही हो सकता। गृहका ग्रहण, गृहिणीका ग्रहण, वित्तका सचय, परिवार-का परिकर, ये सभी कषायके कार्य है। कषायवान् आत्महितमे प्रमादी ही है। यदि उसे अप्रमादी, निरालस बनना है तो वह इनका सेवन न कर, केवल अपने ज्ञानभावमे ही निमग्न रहेगा। यह अवस्था मुनि अवस्था ही होगी। इसमे मुनि दशामे ही शुद्धताकी प्राप्ति और मोक्षका कर्तृत्व है। गृहस्थ दशामे नही।

(३०३) **प्रश्न**—गृहस्थ भी यदि धन-स्त्री-पुत्रका परित्याग कर दे और मुनि अवस्था धारण न करे, तो क्या शुद्धोपयोगी होना शक्य नही है ? क्या मात्र वस्त्र रहनेसे शुद्धोपयोगमे बाधा आ सकती है ?

समाधान—वस्त्रका परिग्रहण बाधक है। जब समस्त परद्रव्यसे भिन्न होनेपर ही स्वात्म-सिद्धि हो सकती है, तब वस्त्रका भी परिग्रह कैसे होगा ? वस्त्र देहकी तरह जन्मसे साथ नही आता, वह बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है। बुद्धिपूर्वक किसी भी वस्तुका ग्रहण, बिना उस वस्तुके प्रति आकर्षण या रागके सम्भव नही है। अत बिना मुनिदशाके न परम शुद्धि होती है, न पूर्ण शुद्धोप-योग होता है, और न मुक्ति होती है।

(३०४) **प्रश्न**—क्या नग्नता आत्मशुद्धिमे साधक है ? यदि ऐसा है तो द्रव्यलिंगी जैन साधु, परमहस दशामे चलने वाले अजैन सन्यासी, सूफीमतके लोग अथवा आजकल विदेशोमे नग्न रहकर जीवनयापन करनेवाले स्त्री-पुरुष, ये सब आत्मनिष्ठ होकर मुक्ति प्राप्त क्यो नही करते ?

समाधान—ये सब तनके नग्न है, पर मनके नग्न नही हैं। मनकी नग्नता समस्त मानसिक विकारोसे रहित होनेपर ही होती है। विकार आत्माके स्वभावसे भिन्न आत्मघातक है। उसके रहते हुए नग्नताका अभाव ही है, भले ही शरीर नग्न हो। परसम्पर्कके अभावमे ही आत्मनिष्ठता आती है अन्यथा नही।

१ सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥

—प्रवचनसार, प्रथम अध्याय, गाथा १४

(३०५) प्रश्न—तब मनकी नग्नताकी ही बात करनी चाहिए। तनकी नग्नता क्यो आवश्यक है ?

समाधान—मनकी नग्नता हो तो तनकी नग्नता उसकी भावनासे पूर्व ही आ जाती है। कारणके अभावमे कार्य नही देखा जाता। आन्तरिक परित्यागकी भावना होनेपर बाह्यका परित्याग अवश्यम्भावी है। हाँ, बाह्यका त्याग हो और अन्तरग विकारोका त्याग न हो, ऐसा हो सकता है। तनकी नग्नता, मनकी नग्नताके अभ्यासका प्राथमिक रूप भी हो सकता है। तथापि यदि कोई इसे कपटसे धारण करे और इसके द्वारा साधुपदकी प्रतिष्ठा, तथा लौकिक लाभ प्राप्त करे, तो वह निर्विकारी नहीं है, अतः आत्मनिष्ठ नही होता। उसकी समस्त क्रियाएँ निष्फल हैं।

(३०६) प्रश्न—बाह्य परित्याग करनेवाले भले ही आन्तरिक परिग्रहके त्यागी न हो, तथापि पदकी प्रतिष्ठा, उत्तम भोजन, लोक मान्यता आदि फल तो प्राप्त होते हैं। तब उसे निष्फल क्यो कहा ?

समाधान—जब मात्र बाह्य त्यागका यह फल है, तब यदि वह त्याग अन्तरंग त्याग सहित हो तो कितना लाभदायक न होगा इसका स्वय विचार करो। निष्फल तो इसलिए कहा गया है कि इस पदका जो वास्तविक फल, आत्मशुद्धि और मुक्ति है, वह फल उसे प्राप्त नही होता। इससे वह क्रिया निष्फल कही गई है ॥१९०॥

शुद्ध और मुक्त होने का क्या मार्ग है, कौन व्यक्ति उसे प्राप्त करता है, इसका वर्णन करते हैं—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं

स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।

बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-

चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥

अन्वयार्थ—(**अशुद्धिविधायि**) अशुद्धताका प्रसार करने वाला (**समग्र परद्रव्यं**) सम्पूर्ण परद्रव्य है, (**तत् किल त्यक्त्वा**) उसको निश्चयसे त्याग करके (**य स्वय स्वद्रव्ये रतिम् एति**) स्व बल से जो अपने शुद्ध आत्म द्रव्यमे लीन होता है (**स**) वह वीतरागी सम्यग्दृष्टि साधु (**नियतं**) निश्चयसे ही (**सर्वापराधच्युतः**) सम्पूर्ण अपराधोसे रहित, निरपराध होता है। तथा (**नित्यमुदितः**) सदा काल उन्नत या आनन्द स्वरूप होता हुआ (**बंधध्वंसम् उपेत्य**) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म, तथा नो कर्मके बधनोका अभावकर, (**स्वज्योतिरच्छोच्छलत्चैतन्यामृतपूरपूर्ण-महिमा**) अपनी आत्म ज्योतिसे स्वच्छ, उछलते हुए चैतन्यरूप अमृतके पूरसे परिपूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा वह साधु (**शुद्धो भवन्**) पवित्रताको प्राप्त हुआ (**मुच्यते**) मुक्तिको प्राप्त होता है ॥१९१॥

भावार्थ—परद्रव्य का ग्रहण ही अशुद्धताका कारण है। शुद्ध वस्तु लोकमे भी वही मानी जाती है जो स्वय अपने स्वरूपमे हो, एक हो, परसपर्कसे सर्वथा रहित हो। आत्मा भी जब समस्त परद्रव्यको तथा विकारीभावोको, अशुद्धताका कारण जानकर, स्वयके पुरुषार्थसे दूर करता हुआ एक मात्र निजस्वभावमे लीन होता है, वह सर्वथा अपराधोसे रहित होकर, कर्म बधन का ध्वस कर देता है। अपनी ज्ञानज्योतिके निरन्तर होनेवाले स्वभाव परिणमन रूप, स्वच्छ

चैतन्यामृतपूरसे परिपूर्ण महिमा वाला होकर पवित्र बनता है, तथा कर्म बधनसे मुक्त होता है ॥१९१॥

मोक्ष अधिकारको समाप्त करते हुए आचार्य मोक्षके पवित्र स्वरूपकी महिमा कहते हैं—

बन्धच्छेदात् कलयदतुल मोक्षमक्षय्यमेतत्
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीन महिम्नि ॥१९२॥

अन्वयार्थ—(**बन्धच्छेदात्**) कर्म बन्धनके छेदनेसे (**अतुलं अक्षय्यम् मोक्षम्**) जिसकी कोई तुलना नही है ऐसे अविनाशी मोक्षको (**कलयत्**) प्राप्त करता हुआ, (**पूर्णं ज्ञानं**) सम्पूर्ण केवलज्ञान (**नित्योद्योत स्फुटितसहजावस्थम्**) नित्य ही प्रकाशमान प्रकट की है अपनी स्वाभाविक अवस्था जिसने तथा (**एकान्तशुद्धम्**) जो सर्वथा शुद्ध है, पवित्र है, तथा (**एकाकारस्वरसभरत**) अपने स्वभाव मात्र रूप जो स्वरस उसके द्वारा परिपूर्ण (**अत्यन्त गम्भीरधीरम्**) अत्यन्त गम्भीर, और धीर है, (**अचले स्वस्यमहिम्नि**) अविचलित अपनी स्वयकी उत्कृष्ट महिमामे जो (**लीन**) संलीन है (**एतत्ज्वलितम्**) वह पूर्ण ज्ञान सदा के लिए प्रकाशमान है ॥१९२॥

भावार्थ—मोक्षका स्वरूप यही है कि जीव अपने द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मके समस्त बधनो को छेदकर उससे स्वय रहित हो जाय। वह कभी नाशको प्राप्त नही होता। उस अवस्थामे जीव अपनी निजात्म महिमामे लीन पूर्ण-ज्ञान ज्योतिको प्राप्त होता है। वह ज्ञानज्योति एकमात्र चैतन्य रसके निरन्तर चलनेवाले प्रवाहसे—परिणमनसे सहज गम्भीर और सदा निराकुल है। जीवकी ऐसी पवित्रावस्थाको ही मोक्ष कहते हैं।

(३०७) **प्रश्न**—मोक्ष तो तीन लोकके ऊपर है, ऐसा शास्त्रोमे वर्णित है। अत क्या वहाँ जाकर जीवकी शुद्धदशा स्वय हो जाती है ?

समाधान—नही। मोक्ष जीवकी विशुद्ध दशाका नाम है। भले ही ऐसे जीव स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनके कारण लोकाग्र भागमे स्थित होते जाते हैं, किन्तु जीवकी उस कर्ममल रहित अवस्था का नाम ही मुक्तिकी प्राप्ति है।

(३०८) **प्रश्न**—स्थानका भी तो यह महत्त्व है ? क्योकि वे पवित्र आत्माएँ वहाँ ही पहुँ-चती हैं ?

समाधान—ऐसा नही है। वहाँ तो अन्तिम वातवलय है, वायुकायिक जीव भी वहाँ हैं। निगोदके जीव भी हैं। तब उस स्थानको मात्र मोक्षस्थान संज्ञा कैसे दी जा सकती है ? घोर संसारी निगोदिया भी वहाँ हैं और मुक्त जीव भी हैं। यदि स्थानका महत्त्व होता तो दोनोकी समानावस्था होती, पर ऐसा नही है। निगोदिया अभी अनन्तकाल तक भी ससारकी दुखमय अवस्था भोगेंगे, जबकि मुक्तात्मा संसार परिभ्रमणसे छूट गए। जीवकी शुद्धावस्थाका नाम ही मुक्ति है। जहाँ जीव परिपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त अनन्त कालतक उसी परमशुद्धावस्थामे ही लीन है वही मोक्ष है ॥१९२॥

मोक्षाधिकार समाप्त।

▫ सर्व-विशुद्ध-ज्ञानाधिकार ▫

ग्रन्थमे जीवाजीवाधिकार, पुण्य-पापाधिकार, कर्त्ताकर्म अधिकार, आस्रवाधिकार, सवराधिकार, निर्जराधिकार, बधाधिकार और मोक्षाधिकार इन आठ अधिकारो द्वारा जीव तत्त्वका स्वरूप वर्णन किया। अब इस अध्यायमे उक्त सब प्रकारके, अर्थात् कर्त्ता-कर्मरूप, पुण्य-पापरूप, बधमोक्षरूप आदि भावोसे भिन्न, अपने निज स्वरूपसे सदा एकाकार, परसे—परके सम्पर्कसे, तथा परनिमित्त जन्य भावोंसे सर्वथा भिन्न, ज्ञानानन्दके पुञ्ज परम पवित्र आत्माका उदय होता है ऐसा कहेगे—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमय बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः
टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९३॥

अन्वयार्थ—(**अखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्**) समस्त कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भावोको (**सम्यक् प्रलयं नीत्वा**) पूर्ण रीतिसे मिटाकर (**प्रतिपदं बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते दूरीभूत**) प्रतिपदमे गुणस्थानादिकक्रममे आनेवाली बंधमोक्षकी रचनासे अत्यन्त भिन्न (**स्वयं शुद्ध शुद्ध**) स्वभावसे ही अत्यन्त विशुद्ध तथा (**स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि**) अपने चैतन्य रसके विस्तारसे परिपूर्ण पवित्र देदीप्यमान, अविचलित किरणोसे युक्त (**टङ्कोत्कीर्ण प्रकटमहिमा**) टाकीसे उकेरी प्रतिमा समान स्थिररूपसे जिसका माहात्म्य प्रकट है, ऐसा (**ज्ञानपुञ्ज स्फूर्जति**) ज्ञानका पुञ्ज, ज्ञान समुदायी आत्मा प्रकाशमान हो रहा है ॥१९३॥

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपका यहाँ कथन किया जा रहा है। इस अध्यायमे सर्वविशुद्ध आत्म तत्त्वका विवेचन करेंगे।

संसारी अवस्थामे जीवका अजीवके साथ सम्बन्ध है, जीवान्तरोसे भी सम्बन्ध है। अपने अज्ञानसे यह उनका अपनेको कर्त्ता भोक्ता मानता है। पुण्य-पाप परिणाम करता है। उससे कर्मोका आस्रव व बध होता है, ज्ञानी उस बधको दूर करके सवर, निर्जरा व मोक्षको भी प्राप्त करता है। तथापि आचार्य कहते हैं कि ऐसी विविध अवस्थाएँ जिस जीवकी हो रही है, वह स्वय कैसा है? इस एक प्रश्नका समाधान करते हैं—

संसारी अवस्था या मुक्त अवस्था दोनो अवस्थाएँ तो कर्मके क्रमश. सयोग तथा वियोग जनित अवस्थाएँ हैं, पर जिस जीवकी ऐसी दशाएँ होती हैं उसे, यदि दृष्टिसे सयोग वियोगको भिन्न करके देखें, तो वह जीव कैसा दृष्टिपथमे आवेगा इसकी चर्चा यहाँ की गई है।

इस दृष्टिसे देखें तो ज्ञात होगा कि जीव शुद्ध है, परसयोग और सयोगजनित भावोसे दूर है, कर्तृत्व-भोक्तृत्वका कोई विकल्प नही है? पुण्य-पाप, आस्रवादि सम्पूर्ण दशाएँ कर्मसयोगको हैं अतः इनसे भी वह दूर है।

जीव केवल मात्र अपने असाधारण गुण चैतन्यका धनी है। वह अनादिसे अनन्तकाल तक सदा एक रूप रहता है। पर्यायदृष्टि दूरकर उस द्रव्यका स्वरूप देखें तो आत्मा अपने उस चैतन्य रससे परिपूर्ण है, उसकी महिमा हो सर्वोपरि है। वह अपने अचल ज्ञान सूर्यकी किरणोंसे स्वयं प्रकाशमान है। टकोत्कीर्ण है। यह शब्द दो अर्थोंमे आता है—टाकीसे पाषाणपर कोई लेख लिखा जाय तो अमिट लेख माना जाता है अतः आत्मा या उसका ज्ञान उसीके समान अचल है कभी नाशवान् नही है। दूसरे टाकीसे उत्कीर्ण पाषाण प्रतिमा जैसे अपनेमे सागोपाग परिपूर्ण है, इसी प्रकार जो स्वय प्रकट है, पाषाण खण्डमे भी वह थी। उस पाषाण खण्डमे मूर्त्तिके अलावा जो अन्य निरर्थक पाषाणके टुकड़े, याने अमूर्त्ति-रूप अश थे, उनसे आवृत होनेके कारण मूर्त्ति सामान्य जनको दृष्टिगोचर नही होती थी, तथापि चातुर्य्य रखनेवाले मूर्त्तिकारको उस पाषाण खण्डमे भी शुद्ध सुन्दर मूर्त्ति दिखाई देती थी। अपने इस अमिट अखण्ड विश्वासके आधार पर वह टाकी लगाकर हथौडेकी चोटसे मूर्त्तिपर आवरण स्वरूप, अमूर्त्तिरूप, पाषाण खण्डोको चतुराईसे तोड-तोडकर अलग कर देता है, तब मूर्त्ति सागोपाग प्रकट हो जाती है।

टाँकीसे उत्कीर्ण होनेपर जो मूर्त्ति प्रकट होती है वैसा मूर्त्तिका स्वरूप पाषाण खण्डमे शक्ति रूपसे पहले भी था। द्रष्टाने उसे देखा, बाद भी देखा। जो पहिले देखा था, अनुभव किया था, वह अब प्रत्यक्ष देखा, यह उसकी मूर्त्तिरूप पर्याय है, जो प्रकट हुई।

इसी प्रकार विशुद्धात्मा अपने स्वरूपसे ससारी दशामे भी थी। द्रष्टाने द्रव्य दृष्टिसे उसे देखा और अज्ञानादि दूर कर उसे ही प्रकट किया है। यह भी टकोत्कीर्ण का दूसरा अर्थ है।

साराश यह कि आत्मा भी अपने पवित्र ज्ञानपुञ्ज स्वरूप अनादिसे है, अनन्त काल तक रहेगी। अपने शुद्ध स्वभावको छोडकर न कभी रही, न रहेगी। इस ज्ञानी आत्माने अपने स्वरूपका सम्यक्त्व दशामे दर्शन किया और इसके साथ जो व्यर्थ पाषाण खण्डकी तरह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म अनात्मस्वरूप थे उन्हें अपनी पैनी ज्ञान छैनीसे छाँटकर अलग कर दिया तब ज्ञानानन्द ज्योतिमय आत्मा प्रकट हो गई।

(३०९) **प्रश्न**—कारीगर अपनी कलाकी कुशलतासे ही मूर्त्ति बनाता है। जैसा निष्णात कारीगर होगा वैसा ही सुन्दर मूर्त्ति बनायेगा। अन्यथा असुन्दर बेडौल भी बन सकती है?

समाधान—मूर्त्ति ता उसमे सुन्दर ही है। जो कारीगर कुशल नही है वह मूर्ति पर आवरणरूप, अमूर्त्तिरूप पाषाण खण्डोको कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण रूपसे दूर नही कर पाता, तब मूर्त्ति बेडौल दीखती है। उसी बेडौल मूर्त्तिको दूसरा चतुर कारीगर पुनः टाँकीसे व्यर्थके पाषाण खण्डोको, जिनके कारण मूर्त्ति बेडौल लगती थी, दूर कर, सुन्दर मूर्त्ति प्रकट कर सकता है।

(३१०) **प्रश्न**—कारीगर मूर्त्ति प्रकट करता है, या बनाता है। यदि मूर्त्ति पर कोई वस्त्र पड़ा है और वह आवरण दूर कर दिया जाय तो उसे प्रकट करना कहेंगे। क्योंकि मूर्त्ति तो वहाँ बनी बनाई थी, मात्र परदा ऊपर पड़ा था। पर यहाँ ऐसा आवरण तो था नही, न यहाँ मूर्त्ति थी, उसे तो मूर्त्तिकार बनाता ही है। लोकमे उसे इसीसे 'मूर्त्तिकार' अर्थात् मूर्त्तिको करनेवाला कहते हैं। अतः आपका कथन लोकविरुद्ध होनेसे असत्य है।

समाधान—जो लोक विरुद्ध हो वह असत्य ही हो ऐसा कोई नियम नही है। मोक्ष और मोक्षमार्ग लोक और लोकमार्गके विरुद्ध हैं पर वह असत्य नही है, वही एकमात्र सत्य है।

मूर्त्तिकार पाषाणमे ही मूर्त्ति प्रकट करता है, पानीमें नही। क्योंकि पानीमे मूर्त्तिरूप प्रकट होनेकी स्वयकी योग्यता नहीं है, पाषाणमे है। मूर्त्तिके लिए आवरण स्वरूप जो पाषाण खण्ड थे, उन्हे मूर्त्तिकारने मूर्त्तिके आस-पाससे छैनी द्वारा पृथक् कर दिया है। उनके पृथक् कर देनेपर मूर्त्ति तो उस पाषाण खण्डमें ही प्रकट होती है, कहींसे लाई नही जाती।

लोक भाषामे उसे मूर्तिकार कहना व्यवहार मात्र है परमार्थ नही है।

इसी प्रकार अनादि कालसे कर्म सयुक्त आत्मामे कर्म-मल, नो कर्म (शरीर) मल, तथा कर्मके सयोगके निमित्तके हुए रागादि क्रोधादि भाव मल, इन तीनो मलोके आवरणके कारण आत्मा, जो कि स्वय शुद्ध चैतन्य स्वरूप आनन्दका कन्द है, अप्रकट रूप था। जब ज्ञानी उन मलो को दूर करता है तो वह स्वयं अपने स्वरूपमे प्रकठ हो जाती है ॥१९३॥

परका कर्त्तापना वस्तु स्वभाव ही नही है यह दिखाते है—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्त्ताऽयं तदभावादकारकः ॥१९४॥

अन्वयार्थ—(**अस्य चितः**) चैतन्य स्वरूप इस आत्माको (**कर्तृत्वं न स्वभाव**) परपदार्थके कर्तादिपनेका स्वभावसे ही अभाव है (**वेदयितृत्वत्**) जैसे परके भोक्तापनेका अभाव है। (**अज्ञानादेव कर्त्ताऽयं**) अज्ञानसे ही मैं कर्त्ता हूँ ऐसी मान्यता है (**तदभावात्**) अज्ञान मिटकर ज्ञान भाव होनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह (**अकारकः**) परका कर्त्ता नही है ॥१९४॥

भावार्थ—जब तक इस जीवके मिथ्यात्व कर्मके उदयमें विपरीत ज्ञान या अज्ञान है, तब तक ही यह अपनेको पर द्रव्यका तथा उसकी पर्यायोका कर्त्ता मानता है। उसकी यह मान्यता वस्तु तत्त्वके विपरीत है अतः काल्पनिक है—असत्य है।

जब उसका मिथ्यात्व परिणाम मिटता है, और सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है, तब उसका ज्ञान भी सत्यज्ञान बनता है। उस सत्यज्ञानके आलोकमे उसे अपनी भूल मालूम होती है और फिर वह अपनेको परका कर्त्ता नही मानता।

(३११) **प्रश्न**—आपने कलशका जो अर्थ किया है वह ठीक नही मालूम होता। कलशमे स्वामी अमृतचन्द्र कहते हैं कि 'अज्ञानात् एव अय कर्त्ता' अर्थात् जब तक ज्ञान नही था जब तक यह परका कर्त्ता था 'तदभावात् अकारक' अज्ञानके मिटने पर वह परका कर्तृत्व छोड देता है। ऐसा अर्थ करना ही मूलानुगामी है?

समाधान—ऐसा नही है। इन शब्दोका शब्दार्थ इस प्रकारका भी लगाया जा सकता है, तथापि ग्रन्थका यह अभिप्राय नहीं है। अभिमतार्थ और शब्दार्थमे भेद भी होता है।

(३१२) **प्रश्न**—यह कैसे जाना कि अभिमतार्थ, शब्दार्थसे भिन्न है। खुलासा करिये।

समाधान—यह कलशके पूर्वार्धसे सम्बन्ध जोडने पर जाना जाता है। पूर्वार्धमें स्पष्ट निर्देश

है कि परकर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो ही आत्माके स्वभाव नही हैं ? जब स्वभाव नही हैं तब वह कर्त्ता भोक्ता यथार्थमे नही है।

(३१३) **प्रश्न**—निश्चय स्वभाव दृष्टिसे परका कर्त्ता भोक्ता भले ही न हो, पर व्यवहारकी अपेक्षा अथवा संसारी अवस्थामे विभावमय होनेसे उस अवस्थामे तो परका कर्त्ता है ही ?

जैसे निश्चयसे रागादि भाव रहित है उनका कर्तृत्व स्वभावमे नही है। पर सकर्मावस्थामें तो रागादिका कर्त्ता है ही। इसी प्रकार परकर्तृत्व अज्ञान दशामे होता है, यह मान्यता ग्रन्थके अनुरूप है, इसे स्वीकार करना चाहिये।

समाधान—रागादि कर्तृत्वमे और परपदार्थके कर्तृत्वमे बहुत अन्तर है। रागादि आत्माके ही विकारी भाव हैं। उसीसे उसकी सत्तामे ही उत्पन्न होते हैं, अतः अशुद्ध निश्चयनयसे आत्मा उस अवस्थामे रागादि कर रहा है, अतः कर्ता भोक्ता दोनो है। तथापि पर द्रव्य तो भिन्न सत्तावाला है, दोनोकी एक कोटि मानना ठीक नही है। अज्ञानी भी पर द्रव्यकी पर्यायोका कर्त्ता नही है।[1]

(३१४) **प्रश्न**—रागादि भावोको भी अचेतन परभाव आगममे कहा है। जैसे घटपटादि शुद्ध चैतन्यसे भिन्न होनेके कारण पर हैं। वैसे ही रागादि भाव भी शुद्ध चैतन्यसे भिन्न होनेके कारण पर हैं। दोनो पर हैं तब दोनोका कर्तृत्व या तो स्वीकार करो या दोनोके कर्तृत्वको अस्वीकार करो। आगममे दोनोको पर माना है तब रागादिका कर्त्ता स्वीकार करना और घटादिका अस्वीकार करना, आगमसम्मत तथा न्याय सगत नही है ?

समाधान—भिन्न सत्ता वाले पदार्थोको भिन्न सत्ता वाला मानना, और उनमे अन्तर बताना न्यायसम्मत भी है और आगमसम्मत भी है। रागादि परिणामोको शुद्ध निश्चयकी दृष्टिमे 'परभाव' कहा है। शुद्ध चैतन्यसे भिन्न होनेके कारण 'अचेतन' भी कहा है। अतः शुद्ध निश्चयसे आत्मा (स्वभाव दृष्टिसे) दोनोका कर्त्ता नही है यह हमे स्वीकृत है, क्योकि ऐसा ही आगम है। तथापि घटादि अचेतन द्रव्य हैं, उनकी सत्ता सर्वथा पुद्गल द्रव्यसे अभिन्न, व जीव द्रव्यसे सर्वथा भिन्न है। किन्तु रागादि भाव पुद्गल द्रव्यकी सत्तासे सर्वथा भिन्न होते हुए भी आत्म सत्तासे कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसी कारण इन दोनोका अन्तर स्पष्ट है।

(३१५) **प्रश्न**—रागादिको आत्मामे कथंचित् भिन्न बताया, इसका अर्थ कथंचित् अभिन्न भी है। इसका क्या रहस्य है ?

समाधान—पुद्गलोमे रागादि नही होते हैं, आत्मामें होते हैं, अतः आत्मासे अभिन्न भी हैं। आत्माके निज स्वभावकी दृष्टिसे वे आत्मस्वभाव नही हैं, किन्तु कर्मके उदयके निमित्तसे होने वाले, अनित्य, विनाशीक, नैमित्तिक भाव हैं, अत आत्मासे भिन्न भी हैं। यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अज्ञान दशामे जीव अपने रागादिक अज्ञान भावका कर्त्ता तो है, पर वह घट पर्यायका कर्त्ता अज्ञान दशामे भी नही है। वह अपनेको घटका कर्त्ता मानता है, यही उसकी अज्ञान दशा है।

(३१६) **प्रश्न**—अज्ञान दशा क्या है और ज्ञान दशा क्या है ?

समाधान—मिथ्यात्वोदयके समय जो ज्ञान विकारी होता है, जीव विपरीत ज्ञान करता है,

---

१. समयसार गाथा १०२-१०३ देखिये।

यही आत्माका अज्ञान है। सम्यक्त्वके होनेपर तत्त्वका सही बोध होता है, तब विपरीत ज्ञान मिटनेसे जीव ज्ञानी बनता है।

(३१७) **प्रश्न**—दोनो अवस्थाओमे जीवमे क्या अन्तर पडता है।

समाधान—अज्ञान दशामे स्वभावका बोध उसे नही होता, अत. परपदार्थके सचयमे, उनके निर्माणमें, वह होता तो निमित्त मात्र है, पर अपनेको परका कर्ता मान लेता है। यह मान्यता ही उसका भ्रम है और भ्रमके कारण हो वह दुखी है। वह दुखी इसलिए होता है कि—अपनी गलत मान्यतामे परको अपने अनुकूल बनाना चाहता है, परन्तु पर द्रव्य तो स्वय अपनी परिणतिके अनुरूप परिणमता है, इसकी इच्छानुसार परिणमन नही करता, तब यह अपनी इच्छानुकूल पर परिणमनके अभावमे स्वय दुखी होता है।

इसी प्रकार परमे अपना कर्तृत्व मानकर, जब परकी निमित्ततामे भी अपनी स्थिति, अपनी इच्छानुसार नही पाता, तब उसका दोष परको देता है और स्वयं दुखी होता है।

ज्ञानीकी स्थिति इसके विपरीत है। वह जानता है कि पर द्रव्य अपने द्रव्यकी योग्यतानुसार, तथा अपनी पर्याय धाराके अनुसार आनेवाले परिणमनके अनुसार ही परिणमेगा, मेरी इच्छानुसार नही परिणमेगा, अत दुखी नही होता। इसी प्रकार मेरा परिणमन परके आधीन नही है। संसारी दशामे, पूर्व कर्मोदयके निमित्तको पाकर, अपनी पर्याय धाराके अनुसार—आनेवाले परिणमनके अनुकूल ही मेरा परिणमन होगा मेरी मात्र इच्छानुसार नही होगा। ऐसा जानकर दुखी नही होता, यही उसके तत्त्व ज्ञानका फल है ॥१९४॥

अकर्त्तापना जीवमे स्वभावरूप है, तथापि अपने स्वभावके अज्ञानसे जीव कर्म बध करता है। यह अज्ञानकी महिमा है इसका स्पष्टीकरण—

अकर्त्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥१९५॥

अन्वयार्थ—(**अयं जीव. अकर्त्ता**) यह आत्मा परका अकर्त्ता है तथा (**स्वरसतः विशुद्ध**) अपने स्वभावसे ही विशुद्ध है (**इति स्थितः**) यह बात निश्चित हुई। यह भी निश्चित है कि यह आत्मा (**स्फुरत्-चित्-ज्योतिभि. छुरितभुवनाभोगभवन**) प्रकटपनेको प्राप्त अपनी निज चैतन्य ज्योतिके फैलावसे, इस लोक रूप गृहको व्याप्त किए हुए है, प्रकाशित किए हुए है (**तथापि**) तो भी (**अस्य**) इस जीवको (**प्रकृतिभि किल यत् असौ बन्ध स्यात्**) कर्म प्रकृतियोका यह बन्ध होता है (**स खलु अज्ञानस्य**) वह इस जोवके अज्ञान भावकी (**क. अपि गहन. महिमा**) कोई अनिर्वचनीय महिमाका ही (**स्फुरति**) स्फुरण है ॥१९५॥

भावार्थ—निश्चयसे तो जीव अपने स्वभावमे स्थित परम विशुद्ध है, अत परद्रव्योका तथा परनिमित्तजन्य विकारोका भी कर्त्ता नही है। यह अपनी प्रकट ज्ञानज्योति रूपी सूर्य किरणोसे, समस्त ससार रूपी भवनको प्रकाशित करता है। अर्थात् विशुद्धात्मा अपने ज्ञानमे

सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की सामर्थ्य वाला है। ऐसे अपने स्वभावके अवस्थित रहते हुए भी संसारमे नानाप्रकारके कर्मबन्धोंसे बन्धता है, यह उसके स्वरूप बोधके अभावकी, अर्थात् स्वरूपके अज्ञानकी ही गहन महिमा है। साराश यह कि यथार्थमे इसके पास अपूर्व आत्म सम्पत्ति है, तथापि उसका उसे ज्ञान नही है, अतः दरिद्र की तरह परमुखापेक्षी होने से दीन बन रहा है ॥१९४॥

(३१८) **प्रश्न**—जो स्वभावसे विशुद्ध है उसमे अज्ञान अपना प्रभाव रखे और उसे बन्धनमें डाले यह कैसे संभव है ?

समाधान—पूर्वमे दृष्टान्त द्वारा बता दिया गया है कि जैसे कोई धन सम्पन्न व्यक्ति अपने धन का ज्ञान न होनेसे, दरिद्री हुआ परमुखापेक्षी दैन्य भावको प्राप्त हो, भिक्षा वृत्तिसे उदर पूर्ति करता है। इस दरिद्रावस्थाको भोगते हुए भी क्या वह सम्पत्तिशाली धनवान् नही है ? है तो भी अपने धनके अज्ञानसे दरिद्री है, यह उसके अज्ञानकी महिमा है।

इसी प्रकार जीव स्वभाव दृष्टिसे अपने सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न है। तीनों प्रकारके कर्ममलसे रहित, परम विशुद्ध है, अनन्त चतुष्टय का धनी है, तथापि उसने कभी अपनी सम्पत्ति देखी नही। शक्तिरूपमे मेरे मे अनन्त चतुष्टय विद्यमान है, इस पर कभी विश्वास उसे हुआ ही नही अत संसारमे भटक रहा है। पद-पद पर दुखी है। यह महिमा भी उसी अज्ञान भाव की है।

यदि एक बार उस भिक्षुकको अपनी सम्पत्ति का बोध मात्र हो जाय—मात्र देखनेको मिल जाय—तो उसकी दीनता मिट जाती है। उसे अपनी सम्पत्तिशालिताका गौरव हो जाता है और वह सम्पत्ति को प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील हो जाता है।

इसी प्रकार इस अज्ञानीको एकबार भी अपनी आत्मनिधिका दर्शन हो जाय तो इसकी भी दीनता मिट जाय। जो दर-दर वृक्ष-पहाड़ नदी-यक्ष आदि को पूजता था, वह सर्व दीनता मिट जाय तथा आत्म गौरव उत्पन्न हो जाय। वह अपनी अनन्तचतुष्टय निधिके प्राप्त करनेका प्रयत्न भी प्रारभ कर दे। जब तक ऐसा नही होता तब तक यह अज्ञानी अपने अज्ञान भावका कर्त्ता है, तथा उसीके फलका भोक्ता भी है। यह अज्ञान की महिमा है जो जीवको भुलावामे डाले है ॥१९५॥

ज्ञानी जब कर्त्ता नही है तब उस बन्धके फलका भोक्ता भी नहीं होता इसे स्पष्ट करते हैं—

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः ।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थ—(**कर्तृत्ववत्**) जैसे कर्तापना जीवका स्वभाव नही है उसी तरह (**भोक्तृत्व अस्य चितः स्वभाव न स्मृतः**) भोक्तापना भी इस चैतन्य स्वरूप आत्माका स्वभाव नही माना गया। (**अज्ञानादेव अयं भोक्ता**) अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण ही कर्त्ताके समान भोक्ता भी है। (**तत् अभावात्**) अज्ञानके अभावमे (**अवेदकः**) अभोक्ता ही है ॥१९५॥

भावार्थ—जैसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि वीतरागी जीव, पर द्रव्य का तथा रागादि अज्ञान भावो का कर्त्ता व भोक्ता निश्चयसे नही है, वैसे ही अज्ञान दशामे भी आत्माका स्वभाव ऐसा ही अकर्त्ता अभोक्ता है, तथापि संसारी विकारी दशा मे अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण वह अज्ञान

भाव जो रागादि, उनका कर्त्ता व भोक्ता भी होता है। जैसे ही ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है वैसे ही वह अकर्त्ता व अभोक्ता हो जाता है। अर्थात् जैसा उसका स्वभाव था वैसा प्रकाशमान प्रकट हो जाता है।

(३१९) **प्रश्न**—ज्ञानी ज्ञान दशामे भी कर्मोदयजन्य पीड़ा अनुभव करता है। और अज्ञानी भी करता है। दोनोमे कोई अन्तर नहीं है क्योकि पूर्वकर्मका उदय तो सबको भोगना पडेगा ?

समाधान—भोगते दोनो हैं पर अज्ञानी कर्मोदयजन्य स्थितिसे भिन्न जो अकर्म स्वरूप आत्मा है उसका ज्ञायक नही है, अत उसे तन्मय होकर भोगता है, उसमे उसे आत्म बुद्धि है अतः दुखी होता है, इसे कर्म दण्डका भोगना कहते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष है, जो अपने ज्ञान स्वरूपका ज्ञायक है और कर्मके स्वरूपका ज्ञायक है, तथा कर्मके उदय तथा उसके फलका भी ज्ञायक है। तथापि कर्त्ता भोक्ता नही है। वह उसे अपनेसे भिन्न नैमित्तिक भाव जानकर उससे तन्मय नही होता। तन्मयताको ही भोगना कहा है।

(३२०) **प्रश्न**—कोई तन्मय होकर भोगे या अतन्मय होकर भोगे, भोगना तो पडता ही है। केवल-कह देनेपर या समझ लेनेसे कि "कर्म मुझसे भिन्न हैं, उनका उदय उनकी अवस्था है, मैं उसके फलका भोक्ता नही हूँ, चिदानन्द चैतन्यस्वरूप हूँ" क्या उसका असाताके उदय जन्य ज्वर उतर जाता है। चोट मिट जाती है।

समाधान—यह सत्य है कि कर्मोदयकी बलवत्तामे पीडा होती है, तथापि उस पीडामे देहका रागी अधिक दुखी होता है। वीतरागी ज्ञानी देहको अचेतन जानता है, अपनेसे भिन्न जानना है उसकी दुरवस्थाको अपनी दुरवस्था नही मानता, अतः वैसा दुखी नही होता।

(३२१) **प्रश्न**—सामायिक पाठमे अमितगति आचार्यने लिखा है—"स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीय लभते शुभाशुभ।" अर्थात् इस आत्माने जो कर्म पूर्व समयमे किए है उनका फल शुभाशुभ उसे अवश्य प्राप्त होता है। यह नियम केवल अज्ञानीके लिए ही नही लिखा, ज्ञानीके लिए भी लिखा है। आपने कहा—ज्ञानी कर्मादयमे भी उसे जडकी अवस्था जान दुखी नही होता। यदि ऐसा हो तो कर्मोदय निष्फल हो जायगा ?

समाधान—आचार्य अमितगतिने जो लिखा है वह यथार्थ है। उसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव, सुख दुख दाता पर पुरुषको मानकर, उससे रागद्वेष करता है, सो यह उसकी मान्यता मिथ्या है। सुख-दुख भी अपने द्वारा किए कर्मका ही फल है। अत. कर्मका कर्त्ता जीव, अपने सुख दुखका स्वय जिम्मेदार है अन्यको दोष देना गलत है। इस तत्त्वको समझ ले तो अपने परिणाम ही सुधारे, परसे वैर प्रीति न करे। इस अभिप्रायको वहाँ व्यक्त किया है।

यहाँ प्रकरण विशुद्ध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्माका है। वह उदयागत कर्म व उसके फलको रोकरके नही भोगता किन्तु साम्यभावसे भोगता है। अत अपने सम्यग्ज्ञानके आधार पर दुखी संक्लिष्ट होनेसे बच जाता है।

(३२२) **प्रश्न**—क्या यह सभव है कि कर्मका तीव्र उदय हो परन्तु जीव तत्त्वज्ञानकी चर्चा करे और दुखी न हो ?

समाधान—जब कोई रोगी आपरेशनमे चीर फाडका कष्ट उठा रहा है, अथवा अन्य पीड़ा से पोडित है, तब अल्पकालको यदि उसे निद्रा आ जाय, या नशेकी दवा दी जाय, तो निद्रित या अचेतन अवस्थामे, उपयोग रोगकी तरफ न रहनेसे दुखी नही होता। यद्यपि शारीरिक दुरवस्था ज्योकी त्यो है। उसमे अन्तर नही पडा, तब विचारने पर यह सिद्ध होता है कि उतने कालतक उसका उपयोग उस ओर नही होता। इससे यह सिद्धान्त निष्पन्न हुआ कि—जीव सुख-दुखका वेदन भी उपयोगके आधार पर करता है। अत· यदि ज्ञानी ज्ञानभावका अवलम्बनकर अपना उपयोग उस दुरवस्थासे हटा ले तो उतने काल उस ध्यानावस्थामे, वह भी कर्मोदयकी दशामे भी दुखी न होगा। यह सिद्ध है कि जब अज्ञान दशामे कष्टकी सामग्री रहते हुए भी, कृत्रिम उपायोसे कष्टका शमन देखा जाता है, तो प्रकारान्तरसे भी कष्टदशामे कष्टका शमन हो सकता है।

(३२३) **प्रश्न**—कोई अन्य उदाहरणसे समझाइए जो जागृत दशाका हो।

समाधान—कोई व्यक्ति व्यापारी है उसे व्यापारमे बीस हजारका घाटा हो गया। बड़ा दुखी है, दिन रात चैन नही है। पडोसका व्यापारी आकर कहता है कि भाई साहब! आप तो मजेमे रहे जो उस समय माल बेच दिया, मात्र बीस हजारका घाटा हुआ। मैंने तो लाभकी अभिलाषामे माल अधिक दिन तक रोक लिया, सो भाव उतरनेसे मुझे चालीस हजारका घाटा उतने ही मालमें उठाना पडा।

व्यापारी दूसरे व्यापारीकी बात सुनकर मनमे विचारता है कि घाटा तो हुआ, पर बीस हजार के घाटे से बच गए। यदि पड़ोसी व्यापारीकी तरह मैं भी करता तो मुझे भी चालीस हजारका घाटा होता। सोचकर दुख भूल जाता है, सन्तोष करता है। उपयोगदशा बदलनेसे ही यहाँ उसका दुख घटा। एक दूसरा उदाहरण देखे—

किसीके पुत्रका मरण हो गया। बहुत दुखी है। परिवारके तथा बन्धुवर्ग-मित्रजन उसके घर महानुभूतिके लिए जाते हैं। उसे समझाते हैं, तत्त्वज्ञानकी ही बातें। कोई कहता है कि भाई दुख तो हुआ बहुत बडा, पर अब तो जो हुआ, उसे ही बार-बार सोचनेसे पुत्र आता नहीं है। तब क्या लाभ है बार-बार स्मरणसे? याद भुलानेका प्रयत्न करो। कोई कहता है आपका तो आठ सालका पुत्र गुजरा है, मेरा तो जवान बेटा मर गया, घरमें बहू विधवा बैठी है, छोटे-छोटे बच्चे हैं। इसे सुनकर दूसरेके दुखके सामने अपना दुख कमती जानकर, दुख भुला देता है। तीसरा समझाता है कि जीवनके साथ ही मरण सुनिश्चित है। एक दिन सभी प्राणी मृत्युको नियमसे प्राप्त होते हैं। अपनी-अपनी आयुके वश सब ससारी हैं।

ऐसी तत्त्वज्ञानको बातें सुनकर उसका दुख भूल गया। सिद्ध है कि तत्त्वज्ञानके सिवाय कोई अन्य मार्ग स्थायी तौर पर दुख दूर करनेका नही है। अतः तत्त्वज्ञानी कर्मोदय जन्य पीड़ाके होनेपर भी, वस्तु स्वभावका विचार करता है साहस, करता है और उस दुखको पार कर लेता है। संक्लेश परिणाम नही करता अतः नवीन कर्म बन्ध नही करता। पुरातन तो उदयमे आकर झर ही जाते हैं। इसलिये ज्ञानी रागादिका भी कर्ता उस काल नही बनता, ज्ञान-भावका ही कर्ता होता है। ज्ञान भावके अभावमे ही रागादि विकारी भावोका कर्ता व भोक्ता है। तत्त्वज्ञानके अवलम्बन करने पर ज्ञानभावका कर्ता और ज्ञानभावका ही भोक्ता होता है ॥१९६॥

अज्ञानपना त्याज्य है, शुद्ध ज्ञानात्मक आत्मा ही सेवनीय है—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद् वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतः**) मिथ्या दृष्टि जीव अज्ञानी है वह प्रकृति जो द्रव्यकर्म उनके उदय जन्य भावोमे अपनी एकाग्रता या एकत्व बुद्धि कर तल्लीन हुआ (**नित्यंवेदक भवेत्**) नित्य ही कर्मफल भोगता है। (**ज्ञानी तु**) किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष (**प्रकृतिस्वभाव-विरतः**) कर्मके उदयजन्य भावोको निज स्वभावसे भिन्न जान उनसे विरक्त होता है, अत (**नो जातुचित् वेदक**) कर्मफलको कदापि नही भोगता। (**निपुणैः**) अतः चतुर पुरुषोको (**इत्येवं नियमं निरूप्य**) वस्तुके यथार्थ स्वरूपके इस नियमको जानकर (**अज्ञानिता त्यज्यतां**) अज्ञानपना—पर द्रव्यके साथ एकत्व बुद्धि त्यागना चाहिए। तथा (**शुद्धैकात्ममये महसि**) शुद्ध एकमात्र आत्मस्वरूप निज प्रतापमे ही (**अचलितैः**) अचल पुरुषोके द्वारा (**ज्ञानिताआसेव्यताम्**) ज्ञानपना सेवन करना चाहिए ॥१९७॥

भावार्थ—अज्ञानी अपने अज्ञान भावके कारण अर्थात् मिथ्यात्वके भावोसे ओत-प्रोत होनेके कारण, दृष्टिके विपर्याससे कर्मके उदय जन्य विकारोमे अपने स्वभावकी परसे एकत्व दृष्टि तथा बुद्धि करता है, तथा एकत्व रूप परिणति करता है। अत. सक्लेश परिणामी होकर अत्यन्त दुःखी होता है। यही कर्मका वेदन करना यानी भोगना है। किन्तु ज्ञानी पुरुष स्वपरभेद-विज्ञान हो जाने-पर अपना स्वभाव जानता है, और कर्म प्रकृति निमित्त जन्य-रागादि विकारी भावोको, अपने स्वभावसे भिन्न पौद्गलिक भाव जानता है। इसलिए उसको उन विकारोमे निजत्व बुद्धि न होनेके कारण, परिणामोमें सक्लेश भाव उत्पन्न नही होता। तद्रूप परिणमन नही करता। अपने चैतन्य तेजके पुञ्जमे अविचलित होकर शुद्धात्माका अनुभव करना ही ज्ञानीपना है। उसमे ही लीनताको प्राप्त करना ज्ञानीका कर्तव्य है ॥१९७॥

ज्ञानी कर्मके उदयको जानता है, भोगता नही है, इसे युक्तिपूर्वक घटाते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी पुरुष (**कर्म न करोति**) रागादि भाव कर्मको करता नही है, तथा (**न च कर्म वेदयते**) कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःखका वेदन करनेवाला, भोगने-वाला भी नही है, किन्तु (**अयं किल**) यह ज्ञानी (**केवलं तत्स्वभावं**) कर्म तथा कर्मके फलको मात्र (**जानाति**) जानता है। (**करणवेदनयो अभावात्**) कर्ता भोक्तापनेके अभावसे (**परं जानन्**) केवल

उसे जानता हुआ (**शुद्धस्वभावनियतः**) अपने शुद्ध स्वभावमे ही मगन है, उसी मर्यादाके भीतर रहता है। अतएव (**स तु मुक्त एव**) वह निर्बन्ध-मुक्त ही है ॥१९८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी जीव रागादि रूप नही परिणमता, अतः द्रव्य कर्मका भी बन्ध नही करता, इससे कर्मका अकर्ता है। "जो कर्ता सो भोक्ता" इस लोकोक्तिके अनुसार जब वह कर्मका कर्ता नही है तब उसका भोक्ता भी नही है।

'कर्मके कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभाव है', इसका यह अर्थ नही कि ज्ञानी कर्मके स्वभाव और कर्म फलको जानता नही है। ज्ञायक तो वह है, पर जैसे अज्ञानी परका स्वामित्व अपनेमे मानकर रागादि रूप परिणमता है तथा वह उसके फलस्वरूप सुख-दु.खको भोगता भी है, वैसे ज्ञानी कर्ता भोक्ता न होकर करण वेदन क्रियाओके अभावमे तथा जानन क्रियाके सद्भावमे मात्र उनका ज्ञायक है। यह रागादि विकार रहित शुद्ध ज्ञायक स्वभावको मर्यादामे अवस्थित होकर रहता है, अतः निर्बन्ध होनेसे मुक्त ही है ॥१९८॥

(३२४) **प्रश्न**—लोकमे यह प्रचलित है कि अज्ञानी बालक या अन्य अपढ व्यक्ति या पागल व्यक्ति कोई अपराध करता है तो लोग उस पर क्रोध नहीं करते, पर कोई जानकार अपराध करता है तो उसपर रोष करते, उसे अधिक अपराधी मानते हैं। आपने इस प्रकरणमें अज्ञानीको अपराधी बताया और ज्ञानीको निरपराध बताया सो क्या कारण है ?

समाधान—यहाँ अपराधी ही अज्ञानी माना गया है। जो अपना हित न करे, अहित करे वह शास्त्रज्ञ भी हो तो भी अज्ञानी है। जो अपने अन्तरगसे रागादि को विकार, हानि कारक तथा हेय मानकर रागादि नही करता, वह यदि शास्त्रका पण्डित नही है तो भी ज्ञानी है। अतः वह निर्बन्ध है, अहित रूप परिणत अज्ञानी बन्धन बद्ध है।

(३२५) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि तो गृहस्थ भी होता है। यदि गृहस्थ ज्ञानी होनेसे निर्बन्ध और मुक्त है तब मुनि पदके कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ?

समाधान—कलश १९० मे भी इस प्रश्नका उत्तर दिया जा चुका है कि—गृहस्थ रागी है, घरका, धनका राग है, तथापि वह अनन्तानुबन्धी राग नही है जो अनन्त ससारमे उसे भटकावे। वह रागके होते हुए भी रागको अहितकारक, हानि-प्रद और त्याज्य मानता है, अत. रागसे अनन्य नहीं है, वह अल्पबन्धक होनेसे अबन्धक कहा गया है। कर्म फलस्वरूप सुख-दु.खको, वे सुख और दुःख हैं, ऐसा जानता है, पर सक्लेश परिणाम नही करता, क्योकि यह 'वे कर्मके फल मेरे आत्मस्वभावसे भिन्न हैं' ऐसा जानता है, अत उनका भी स्वामित्व उसे नही है। अतः वह ज्ञाता ही है उनका भोक्ता नही है। उदयागत कर्म फलदानसे शून्य होकर निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं इससे वह मुक्त ही है ऐसा कहा गया है ॥१९८॥

जो आत्माको परका कर्ता मानते हैं तथा रागादि रूप परिणमते हैं वे चाहते हुए भी मोक्ष नहीं पाते—

ये तु कर्तारमात्मान पश्यन्ति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत् तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव (**तमसा[1] तताः**) अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए (**आत्मन कर्त्तारं पश्यन्ति**) अपनी आत्माको रागादिका कर्त्ता देखते हैं, अर्थात् राग-द्वेष, भाव रूप अपनेको परिणमाते हैं (**मुमुक्षतामपि**) वे मोक्षकी इच्छा रखते हो तो भी (**सामान्यजनवत्**) सामान्य मिथ्यादृष्टियोकी तरह (**तेषाम् अपि न मोक्ष**) उन्हें भी मोक्ष नही होता ॥१९९॥

भावार्थ—परद्रव्यके कर्त्तापनेका सद्भाव किसी भी द्रव्यमे नही है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायोके स्वय ही कर्त्ता हैं। ऐसा सिद्धान्त होते हुए भी सिद्धान्तसे अनभिज्ञ अज्ञानी, मिथ्यात्व परिणामके प्रभावसे, अपनेको परका कर्त्ता मानते है और बन्धनमे पडते हैं। ऐसे अज्ञानी जैन कुलोत्पन्नोमे भी पाये जाते हैं तथा बाह्यलिंग धारण कर द्रव्य लिंगी मुनि भी बन जाते हैं। वे सच्चे जैन नही हैं, जैनाभास हैं। सच्चा जैन वह है जो जिनोक्त तत्त्वोका श्रद्धानी है। ऐसे जैनाभास मोक्षके अत्यन्त अभिलाषी भी हो, तो भी मिथ्या धारणाओके सद्भावमे, उन्हे विकारीभाव होते हैं और ये भाव ही उन्हे ससारके बन्धनमे बाँधे रहते हैं।

(३२६) **प्रश्न**—जीवको विकारी भाव बाँधे हैं या ज्ञानावरणादि कर्म बाँधे हैं ?

समाधान—रागादि विकारी भावोका बन्धन ही बन्धन है और उसका छूटना ही मोक्ष है। रागादि भावोके निमित्तसे आनेवाली कार्माण वर्गणाएँ स्वयमेव ज्ञानावरणादि नाना रूप परिणमन कर जाती हैं तथा आत्माके साथ उनका श्लेषात्मक बन्ध हो जाता है। वस्तुतः विचार किया जाय तो ये कर्मबन्ध तो आते जाते छूटते रहते हैं। कार्माण वर्गणाएँ पुरानी छूट जाती हैं नवीन बध जाती हैं ऐसी परम्परा अनादिसे है। इनका सयोग वियोग दोनो होते रहते हैं, पर रागादि भाव कर्म, आत्माके विकारी भाव हैं, कोई आत्मासे भिन्न पदार्थ नही हैं, आत्माके ही परिणमन हैं। अत. इनकी परम्पराका सद्भाव ही आत्माका बन्धन है, और उनकी परम्पराका अभाव हो मोक्ष है।

(३२७) **प्रश्न**—ज्ञानीके क्या विकारी भाव मिट गये हैं जो वह बधक नहीं हैं ?

समाधान—जिस ज्ञानीके जितने अशोमे रागादि भाव मिट गये उतने अशोमे वह अबधक हैं, शेष जितने अंश रागादि हैं उतने अशोमे उसे बन्ध ही है। तथापि अल्प बन्ध होनेसे उसकी विवक्षा न कर उसे अबन्धक ही कहा है। पूर्ण वीतरागी ज्ञानी ही पूर्ण अबन्धक होता है।

(३२८) **प्रश्न**—रागादि जनक सामग्री देखकर जानकर भी ज्ञानीको राग क्यो नही आता ?

समाधान—आत्मज्ञानके सद्भावमे रागादि आते नही, क्योकि वे अज्ञान भाव हैं। जैसे सूर्य के प्रकाशमे अन्धकार नही रहता, दोनोका विरोध है। इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भावका विरोध है, दोनो एक साथ नही रहते, अत. उसे रागादि नही आते।

(३२९) **प्रश्न**—कोई अनुभूत दृष्टान्त बताइए जब ज्ञानी जानकर भी राग न करता हो ?

समाधान—दृष्टान्त तो सभीके अनुभवमे है। जैसे—१. माताको स्त्री जाति जानकर भी पुत्रको उसके साथ कामभोगका राग नही आता। माताको युवा पुत्रको सामने देखकर भी भोगका राग नहो आता। क्योकि उनकी दृष्टिमे वह हेय है।

---

१ तमसावृता इत्यपि पाठ । परमाध्यात्म तरंगिणी पृ० १२८ देखें।

२. त्यागीको अभक्ष्य पदार्थ देखकर भी उसे ग्रहणका राग नही आता। क्योंकि वह उसे हेय मानता है।

३ प्यासेको भी गदला पानी देखकर जानकर भी उसे पीनेका राग नही आता। वह जल उसे अपेय होनेसे हेय है।

ये सब लौकिक दृष्टान्त हैं जिनसे सिद्ध है कि जिस पदार्थ पर उसकी हेय दृष्टि है उस पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उस पर राग नही आता। इसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञान मात्र आत्मा ही उपादेय है अन्य सब हेय है, अत उनको देखकर भी उसे उनपर राग नही आता। जबकि अज्ञानी को आता है।

(३३०) **प्रश्न**—कर्तृत्वके अभावमे भी भोक्तृत्व देखा जाता है। जैसे—नेत्र सामने वाले पदार्थोंको देखता है, जानता है, उनका कर्त्ता नही है तथापि उनका भोक्ता तो है। नवीन चलचित्रको देखकर आनन्द आता है। नाटक-तमाशे, सुन्दर बाग बगीचे—प्राकृतिक विविध प्रकारके दृश्योकी सुन्दरता, इन सबको देखकर उनका आनन्द नेत्र लेते हैं? यही तो उन पदार्थों का भोगना है। अतः पर कर्तृत्व न होने पर भी नेत्रमे पर भोक्तृत्व तो है ही?

समाधान—नेत्र तो उनके ज्ञानका ही कर्त्ता और ज्ञानका ही भोक्ता है। उन पदार्थोंका कर्तृत्व नही है यह आपने स्वीकार किया है। अब यह भी स्वीकार करने योग्य है कि वह उन पदार्थोंका भोक्ता भी नही है, मात्र ज्ञाता है।

(३३१) **प्रश्न**—यह स्वीकार करने योग्य नही है। हम सभी पचेन्द्रियोके द्वारा जिन-जिन विषयोकी उपलब्धि करते हैं उन सभीके कर्त्ता न होकर भी भोक्ता हैं ही। यदि भोक्ता न होते तो आचार्य चरणानुयोग ग्रन्थोमे पचेन्द्रियोके विषयोका त्याग क्यो कराते हैं? जब जीव ज्ञाता मात्र है और ज्ञानसे बन्ध नही होता तब तो सभी जीव पचेन्द्रियोके विषयोके अभोक्ता ही ठहरे। वे उनको इन्द्रियोंसे जानते ही तो हैं। साधुके अट्ठाईस मूलगुणोमे पचेन्द्रिय रोध है तो क्या इसका अर्थ इन्द्रिय भोगोका त्याग नही है?

समाधान—नेत्रादि सभी इन्द्रिया तो मात्र ज्ञानके निमित्तमात्र हैं। उनका ज्ञान होनेके बाद यदि आत्मा उनका ज्ञायक मात्र रहे तो निर्बंध ही रहेगा। पर ऐसा न होकर यदि वह उन्हे रागका या द्वेषका विषय बनाता है, रागद्वेषके कारण उन्हे इष्ट अनिष्ट मानकर विषम स्थितिमे आता है, तब वह बधन प्राप्त करता है।

इन्द्रियोका कार्य ज्ञानात्मक ही है। वे ज्ञानोपयोगकी साधन हैं, तथापि उनके अवलम्बनसे पदार्थ ज्ञान करके रागादि करना बन्धका कारण है। ज्ञान बधका कारण नही है। ज्ञानी उनका ज्ञानमात्र करता है, अत. अबधक है। पर रागी उनसे राग भी करता है अत. बन्धक है।

आचार्योंने राग ही छुडाया है, ज्ञान करनेका निषेध नही किया। पंचेन्द्रियोंके जाने हुए विषयो, पदार्थोंमे रागका त्याग करना पचेन्द्रिय रोध है। सभी साधारण ससारी मिथ्यादृष्टि जीव, मात्र ज्ञाता ही नही रहते, वे रागद्वेष भी करते हैं; अतः रागादिके कारण बधक होते हैं ज्ञानके कारण बधक नही होते। चरणानुयोग अध्यात्म दृष्टिका ही पोषक है।

साधु भी संसारके सम्पूर्ण दृश्य देखते हैं। गीत और गालियाँ दोनो सुनते हैं। स्वादिष्ट और कड़वे दोनो आहार करते हैं। सुगन्धित पुष्प तथा मलमूत्रादि की दुर्गन्ध दोनो सामने आने पर उनका ज्ञान करते हैं। कठोर और नरम भूमिका स्पर्श भेद भी जानते हैं। उनकी इन्द्रियाँ इन सबका ज्ञान करती हैं पर इनमे साधु समत्वका बोध रखता है, भेद नही करता। अतः रागादिका अभाव होनेसे साधु इनके भोक्ता नही, मात्र ज्ञाता हैं।

(३३२) **प्रश्न**—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा न जानना, अज्ञान भाव है। सुन्दर-असुन्दर दोनोको समान जानना—सुगन्ध दुर्गन्धका भेदज्ञान न कर दोनोको एक जानना—गीत और गालीमे एकत्व बुद्धि करना, यह सभी क्या ज्ञायक आत्माके लक्षण हैं? हमारी समझमे जैसे अज्ञानी बालक कचन काचका भेद न जानकर कचनको भी काचकी तरह फेंक देता है, साधु भी यदि उस कंचन काचके भेदको न जानकर, दोनोको समान मानता है, तो वह बालककी तरह अज्ञानी ही है। उसे ज्ञानी कैसे कहना चाहिए?

समाधान—साधु जानता सब है—सुगन्ध क्या है, दुर्गन्ध क्या है, कचन कौन है, काच कौन है, गीत क्या है और गाली क्या है, यह भेद वह सब जानता है। इनका उसे अज्ञान नही है तथापि वह समदृष्टि है। इनको राग द्वेषका विषय नही बनाता अतः समदृष्टि है।

जीवको 'मात्र जीव है' ऐसा जानता है। पुद्गलको 'मात्र पुद्गल है' ऐसा जानता है। जीवकी विविध पर्यायों—बाल-वृद्ध-युवा-स्त्री-पुरुष आदि भेदोको जानता हुआ भी, इन अवस्थाओ में मोहित नही होता। जबकि अज्ञानी, जीवको जीव सामान्यकी दृष्टिसे न देखकर, पर्याय मात्र देख उनमे मोहित होता है। 'ये सब जीवकी पर्यायें हैं' ऐसा न जानकर, उनमे ये मेरे भोग योग्य हैं, ऐसा मानकर अज्ञानी राग करता हे। वह ज्ञान करता है पर रागकी भूमिकामे ज्ञान करता है, अतः उसका ज्ञान दूषित हैं, वह अज्ञान है। ज्ञानी उनका ज्ञान तो करता है, स्त्री को स्त्री जानता है, सगीतको 'यह सगीत है' यह भी जानता है, 'गालीको यह दुवचन है' यह भी जानता है, तथापि उस ज्ञानके साथ राग द्वेष नही हैं, अत. उसका ज्ञान निर्दोष है। निर्दोष ज्ञानी-ज्ञानी है, और सदोष ज्ञानी ही अज्ञानी है। उनकी निर्दोषता ही अबन्धक हैं तथा दूसरोकी सदोषता ही बन्धन कारक है।

(३३३) **प्रश्न**—भक्ष्य अभक्ष्य दोनोमे भेद न कर, उनका खाने वाला, तथा माता और पत्नी दोनों मे भेद न कर उनसे विषय सम्बन्ध करने वाला भी दोनोमे समदृष्टि है। क्या वह भी अबधक है?

समाधान—वह तो घोर बधक है। उसने रागकी तीव्रतामे विज्ञान खोया है। वीतराग भावकी समत्व दृष्टि ही उपादेय है। रागकी समत्व दृष्टि घोर बधका कारण है। ज्ञानीकी समत्व दृष्टिमे और अज्ञानीकी समत्व दृष्टिमे यही महान् अन्तर है। ज्ञानीका समत्व त्यागके लिए है, अज्ञानीका समत्व भोगके लिए है।

ज्ञानी काच-कचन समान जानता है इसका यह अर्थ नही है कि वह दोनोको पहिचानता नही है। पहिचानता है तथापि दोनों पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं, अत. राग द्वेष करने योग्य नही हैं, ऐसी उसकी श्रद्धा है। इसी प्रकार वह भक्ष्य-अभक्ष्यमे विवेक रखते हुए भी उसे भी उसे हेय मानता है।

अज्ञानी राग द्वेषकी भूमिकाके कारण उनमें भेद भाव करता है। उसका भेद भाव ज्ञान मूलक नही है, रागमूलक है। इसी प्रकार उसका समत्व रागमूलक है, ज्ञान मूलक नही है। किन्तु वीतरागीका भेद, ज्ञान मूलक है, रागमूलक नहीं तथा समत्व भी ज्ञान मूलक है, राग मूलक नहीं। यही दोनोके सबध तथा निर्बन्धपनेका कारण है।

निश्चयसे प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायका कर्त्ता और भोक्ता है। परपदार्थकी पर्यायका कर्त्ता भोक्ता नही है। रागी अज्ञानी भी अपने राग और अज्ञान भाव रूप पर्यायका कर्त्ता भोक्ता है, वह भी परका कर्त्ता भोक्ता नही है। तथापि वह अपनेको परका कर्त्ता भोक्ता मानता है, यही उसका अज्ञान है। उस अज्ञानके कारण ही वह कर्म बन्धक है, और ज्ञानी-बंधसे रहित है ॥१९९॥

पर द्रव्यका कर्तृत्व क्यो निषेध किया गया है? इसका क्या हेतु है—

नास्ति सर्वोऽपि सबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

अन्वयार्थ—(**परद्रव्यात्मतत्त्वयो**) आत्मा नामक तत्त्वका अपनेसे भिन्न किसी भी चेतन अचेतन पदार्थोसे (**सर्वोऽपि सम्बन्धः नास्ति**) किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। अतः (**कर्तृकर्मत्व-सम्बन्धाभावे**) जब परके साथ कर्त्ता कर्म सम्बन्ध भी नही है तब (**कुतः तत्कर्तृता**) आत्माके पुद्गल कर्मकी कर्तृता कैसे होगी ॥२००॥

भावार्थ—यदि द्रव्योमे परस्पर कर्त्ता कर्म सम्बन्ध हो तो एकको कर्त्ता अन्यको कर्म कहा जावे। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ कर्त्ता कर्मपना नही है, यह एक सामान्य नियम है। आत्मा नामक द्रव्य भी इस सामान्य नियमसे नियमित है, वह उसका अपलाप नही कर सकता। ऐसी वस्तु स्थिति है, अतः आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोका कर्त्ता नही होता।

(३३४) **प्रश्न**—रागादि भावोको वे पौद्गलिक हैं, ऐसा शास्त्रोमे कहा गया है। और उनका कर्त्ता तो जीव ही है, क्योकि जीवमे ही रागादि क्रोधादि भाव पाये जाते हैं, पुद्गलमें नहीं। तब यह नियम जो ऊपर कहा है खण्डित होता है। जीव पौद्गलिक रागादिका कर्त्ता सिद्ध हुआ?

समाधान—रागादि जीवकी ही अशुद्ध पर्याय हैं। पुद्गलको पर्याय नही। रागादि तो स्वतंत्र द्रव्य भी नही हैं। तब जीवकी पर्यायका कर्ता तो जीव ही होगा। तथापि अशुद्धावस्थामे ही जीव विकारी भावोका कर्त्ता होता है।

रागादि पुद्गल द्रव्य नही हैं, तथापि उन्हे जो पुद्गल लिखा, वह अपेक्षासे कहा गया है। रागादिभाव आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे सर्वथा भिन्न अज्ञान भाव है, अतः अज्ञान या अचेतन होनेसे उन्हे पौद्गलिक कहा गया है। अथवा रागादि भाव, पुद्गल कर्मोदय जन्य नैमित्तिक भाव है, इससे निमित्तकी प्रधानतासे भी पौदगलिक कहा गया है। उपादानकी दृष्टिसे वे जीवोपादान हैं पर शुद्ध जीवोपादान नही, अशुद्ध जीवोपादान हैं। अतः अशुद्ध जीव ही उनका कर्त्ता है और अशुद्ध जीवकी पर्याय होनेसे वे जीवके कर्म हैं। सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलसे सर्वथा भिन्न द्रव्य होनेसे उसका कर्त्ता कदापि नही है।

(३३५) **प्रश्न**—लोकमे तो पर कर्तृत्व माना जाता है?

समाधान—लोक कथन परमार्थ नही होता। यदि परमार्थत. परकर्तृत्व स्वीकार किया जाय तो ईश्वरको सृष्टिकर्तृत्व कथन करनेवालोको भी यथार्थवादी मानना होगा।

(२३६) **प्रश्न**—कर्तृत्व माननेसे तथा ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता मान लेनेसे, मोक्षमार्गमे क्या बाधा पड़ती है ? पञ्चमहाव्रतादिरूप चारित्रके पालनेमे कोई बाधा इससे नही पड़ती ?

समाधान—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रात्मक है। सम्यग्दर्शन पदार्थ व्यवस्थाका यथार्थ दर्शन है। उसके बिना ज्ञान भी मिथ्याज्ञान और चारित्र भी, भले ही वह महाव्रतादि पञ्चक ही हो, मिथ्या चारित्र ही है। ऐसी वस्तु स्थिति होनेसे, तत्त्वकी विपरीत मान्यता वाला अपना ज्ञान भी मिथ्या बनाता है, और तदनुसार ही आचरण करता है। ऐसे मिथ्या दर्शन-ज्ञान और चारित्र तो मोक्षके मार्ग नही होंगे, ससारके ही मार्ग होगे। परकर्तृत्वके मिथ्याभिमानको छुड़ानेका फल, जीवको उसके स्वकर्तृत्वका बोध ही है। यही स्वावलम्बन उसकी मुक्तिका एकमात्र मार्ग है। इसलिए पर कर्तृत्व या ईश्वर कर्तृत्व आदि मिथ्या मान्यताएँ मोक्षमार्गके लिए बाधक ही हैं यह सिद्ध हुआ। कलश १३७ और १४२ मे भी इस तथ्यका वर्णन है ॥२००॥

उक्त कथनका पुनः पोषण करते हैं—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ॥
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च[1] तत्त्वम् ॥२०१॥

अन्वयार्थ—(**यत इह**) क्योकि इहलोकमे (**एकस्य वस्तुन**) एक वस्तुका (**अन्यतरेण सार्धं**) किसी अन्य पदार्थके साथ (**सकल. अपि सम्बन्ध**) सभी प्रकारके सम्बन्ध (**निषिद्ध एव**) निषेधरूप ही हैं। (**तद्**) इसलिए (**वस्तुभेदे**) दोनो वस्तुओमे सर्वथा भेद होनेपर (**कर्तृ कर्म घटना नास्ति**) कर्त्ता कर्मपनेकी सिद्धि नही होती। इसलिए (**मुनयश्च जनाश्च**) मुनिजन तथा सामान्यजन भी (**तत्त्वम्**) जीवको वस्तुको (**अकर्तृ पश्यन्तु**) अकर्त्ता ही देखें। अथवा स्वतत्त्वको अकर्त्ता ही देखें ॥२०१॥

भावार्थ—जीव द्रव्यको शुद्ध नयसे देखनेपर उसका पुद्गल द्रव्यसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध नही है, क्योकि वे दोनो परस्पर विरोधी स्वभावके हैं। जीव सचेतन है, पुद्गल अचेतन है। पुद्गल मूर्त्तीक है—जीव अमूर्त्तीक है। शुद्ध जीव असख्य प्रदेशी है, शुद्ध पुद्गल एक प्रदेशी है। पुद्गल रूप-रस गन्ध स्पर्श आदि गुणवाला है—जीव अरूप, अरस, अगध, अस्पर्श स्वरूप है। पुद्गल इन्द्रियग्राह्य है, जीव इन्द्रिय ग्राह्य नही है। इस प्रकार दोनोमे वस्तुभेद है।

वस्तुभेदकी स्थितिमें उनमे परस्पर किसी भी प्रकारसे तादात्म्य सम्बन्ध, गुण-गुणी सम्बन्ध, लक्ष्य-लक्षणभाव, वाच्य-वाचक, विशेष्य-विशेषण, आदि सम्बन्ध ही सिद्ध नही होते, तब कर्त्ता-कर्मपनेका सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? अतः मुनिजनोंसे तो अनुरोध किया ही है, सामान्य जनोसे भी आचार्य कहते हैं कि—आत्माको परका अकर्त्ता ही जानो यही हितकर है ॥२०१॥

१. अम. स्वतत्त्वम् इति पाठान्तरम्।

जो ऐसे वस्तुस्वभावको अंगीकार नही करते वे ही अपनी विपरीत मान्यताके कारण कर्मबन्ध करते हैं—

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्त्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानमग्नमहस. ये**) अज्ञान भावसे लुप्त है स्वय चैतन्य प्रकाश जिनका ऐसे पुरुष (**इमं स्वभावनियमं**) इस कथित वस्तुके अकर्तृपनेके स्वाभाविक नियमको (**न कलयन्ति**) स्वीकार नही करते (**बत ते वराकाः**) खेद है कि वे बेचारे (**कर्म कुर्वन्ति**) अज्ञान रूप शुभाशुभ कर्मको करते हैं (**ततएव भावकर्मकर्त्ता स्वयं चेतन एव भवति**) अतः रागादि भाव कर्मका कर्त्ता स्वय जीव ही होता है (**न अन्य**) अन्य पुद्गलादि उनके कर्त्ता नही हैं ॥२०२॥

भावार्थ—इसका भाव पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञानी जन ही परका कर्तृत्व स्वीकार कर अपनेको परका कर्त्ता मानते हैं। परन्तु आत्मामे और पुद्गलरूप परमें तो भिन्न-भिन्न वस्तुत्व है। एक वस्तु दूसरी वस्तुको नही बना सकती—उसके गुणोसे भी भिन्न रहती है—और परिणमन भी अपनेमे ही होता है।

तथापि इस सत्य सनातन, व्यापक नियमको जो स्वीकार नहीं करते, वे परमे इष्टानिष्ट कल्पना कर परकर्तृत्वके अहकारसे, उनपर अपना स्वत्व प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु यह स्वामित्व तो परके ऊपर कदापि सभाव्य नही है, अतः वे दुखी होते हैं। रागी, द्वेषी, क्रोधी बनते हैं। सिद्ध हुआ कि यह अज्ञानी भी अपने अज्ञान जनित रागादिक भावकर्मका ही कर्त्ता है, द्रव्य कर्मका कर्तृत्व तो उस दशामे भी नही है ॥२०२॥

भिन्न-भिन्न द्रव्य, भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, अतः उनमे कर्त्ताकर्मपना नही होता ऐसा सिद्ध कर देने पर कोई शिष्य कहता है कि—रागादि भाव किसके कर्म हैं इसका स्पष्टीकरण होना चाहिए। आचार्य इस प्रश्न का तर्क सगत उत्तर देते हैं—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगाकृतिः[1] ।
नैकस्याप्रकृतेरचित्त्वलसनात् जीवोऽस्य कर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत् पुद्गलः ॥२०३॥

अन्वयार्थ—(**कर्म अकृतं न**) रागादि भाव कर्म बिना किए नही होते क्योकि (**कार्यत्वात्**) वे कार्य हैं। (**तत्**) वह कार्य (**जीवप्रकृत्योः द्वयोः न**) जीव और प्रकृति अर्थात् पुद्गल कर्म, दोनोने मिलकर किया है ऐसा मानना यथार्थ नही है, क्योकि ऐसा मानने पर (**अज्ञाया. प्रकृतेः**) ज्ञान

---

१ भावानुषंगात् कृति इत्यपि पाठ. ।

रहित जड प्रकृति अर्थात् द्रव्य कर्मको भी (**स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृति**) कमके फलस्वरूप सुख-दुख रूप फल भोगनेका सम्बन्ध प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि (**एकस्याः प्रकृतेः**) केवल प्रकृतिका कार्य रागादि भाव कर्म है, तो यह भी ठीक नही है क्योकि (**अचित्त्वलसनात्**) प्रकृति अचेतन है जबकि रागादि भाव सचेतन है। (**ततः जीवः अस्य कर्त्ता**) इसलिए जीव ही रागादि भावकर्म का कर्त्ता है। (**चिदनुग**) अशुद्ध चैतन्य सहित ये रागादि (**जीवस्यैव कर्म**) जीवके ही कर्म हैं (**यत् पुद्गलः ज्ञाता न**) पुद्गल तो ज्ञाता नही जडरूप है अत वह विकृतचैतन्य रूप, भाव कर्मका कर्त्ता नही हो सकता ॥२०३॥

भावार्थ—कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार जो द्रव्य कर्म है, वे पौद्गलिक कर्मवर्गणाओंसे बनते है। वे तो अचेतनोपादान होनेसे अचेतन, जडरूप ही हैं। उनका यह त्रिकाली स्वभाव है। उनमे कभी चैतन्यरूप परिणमन नही हो सकता।

भाव कर्म—जीवके विकारी भाव हैं, वे चैतन्य के साथ पर्याय दशामे एक रूप होते है, चैतन्यको छोडकर नही होते। चैतन्यकी सगतिके बिना नही होते। अत वे चेतनके भाव होनेसे जड या अचेतन नही हैं चेतनोपादान होनेसे वे त्रिकालमे भी जड रूप नही बनते। **"भाव कर्माणि चैतन्यविवर्त्तानि इति भान्ति नु। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चित्तदभेदत."** ऐसा विद्यानदि आचार्यने आप्तपरीक्षामे स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

ये रागादि रूप भाव बिना किए नही होते क्योकि ये कार्य हैं। यह एक कार्यानुमान है। कर्तृत्व और कार्यमे परस्पर अविनाभाव है। इनमे अन्वय-व्यतिरेक दोनो पाए जाते है। जो-जो कार्य हैं वे बिना किए नही होते जैसे गृहादिक, यह अन्वयव्याप्ति है, जो दोनोमे पाई जाती है। चूँकि रागादि भी अनाद्यनन्त नही हैं, वे उत्पन्न-ध्वसी हैं, कार्यरूप हैं अत. ये कृत हैं। इसीप्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी पाई जाती है जैसे जो कृत नही हैं, अर्थात् किये या बनाये नही जाते, वे कार्यरूप भी नही होते, जैसे आकाशादि पदार्थ। दोनो व्याप्तियोंसे सिद्ध है कि रागादि भाव कार्य हैं—किए गए हैं।

(३३७) **प्रश्न**—रागादि किसके कार्य हैं ? शुद्ध जीवका स्वभाव तो रागादि हैं नही। अशुद्ध जीवमे वे पाए जाते हैं, अत. ये जीव और प्रकृति (द्रव्य कर्म) दोनोके मेलसे उत्पन्न सयोगज भाव जानना चाहिए ?

समाधान—वे रागादिक दोनोके कार्य नही हैं। दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नही बनाते। यदि दो का कार्य होता तो उनके फल सुख-दुखादिके भोक्ता भी, आत्मा व कर्म दानो होते। जैसे हलदी चूना मिलाने पर रक्तवर्णता हल्दीके अशो पर भी आती है और चूनेके अशो पर भी आती है। वैसे ही यहाँ भी दोनो कर्मका फल भोगते। पर फल केवल आत्मा भोगता है। जड नही भोगता। अतः दो का मिलकर यह कार्य नही है ऐसा सिद्ध है।

(३३८) **प्रश्न**—तो केवल कर्मका कार्य रागादि हैं क्या ?

समाधान—नही प्रकृति या पुद्गल, ज्ञानरहित है, अचेतन है, और रागादि चेतनमे होते हैं। अतः वे कर्म के कार्य नही हैं।

(३३९) **प्रश्न**—प्रकृतिके कार्य होने पर भी यदि विकार चेतनमे होता है तो होने दें, इसमे क्या आपत्ति है ?

समाधान—जिसका कार्य होता है फल भी उसीको प्राप्त होता है यह नियत है अतः यह कर्मका कार्य नही है। वह तो जिसमे होता है उसीका कार्य है। अशुद्ध जीवमे ही रागादि भावकर्म होते हैं, अतः वह जीव ही उनका उपादान हेतु है, और वही उनके फल सुख-दुखको भोगता है, अन्य नहीं।

(३४०) **प्रश्न**—क्या शुद्ध जीव कुछ भिन्न ही पाए जाते हैं और अशुद्ध जीव उनसे भिन्न हैं। ऐसे क्या दो प्रकारके जीव द्रव्य पाये जाते हैं ?

समाधान—मुक्तात्मा शुद्ध दशाको प्राप्त हैं, वे भाव कर्म रहित हैं, संसारी प्राणी अशुद्ध दशामे हैं, वे भावकर्म सहित हैं। जीवोकी दो भिन्न-भिन्न जाति नही हैं।

(३४१) **प्रश्न**—५९ त। द्रव्यकर्मके संयोगमे ही संसारी भावकर्म सहित पाया जाता है। अतः द्रव्य कर्म कारण ओर भावकर्म कार्य ऐसा मानना चाहिए।

समाधान—यह ठीक है कि द्रव्य कर्मके सयोगमे ही जीव, रागादि भावकर्म युक्त पाया जाता है। तथापि द्रव्यकर्म पौद्गलिक होनेसे जीवकी अशुद्ध पर्याय रूप भावकर्मका कर्त्ता नही हैं, वह केवल निमित्त कारण मात्र है। निश्चयसे कारण तो उपादान कारणको ही कहते हैं, क्योकि कार्य उसीमे होता है।

(३४२) **प्रश्न**—दो द्रव्य मिलकर एक परिणमन नही करते ऐसा आपने कहा है। पर मनुष्य पर्याय, देह और आत्मा दोनो की मिलकर बनी है। इनमे भेद कैसे समझा जाय ?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि दो की मिलकर एक पर्याय कथन करना उपचार मात्र है। वस्तुत देहकी मनुष्याकृति देहमे रहती है, वह वर्णात्मक द्रव्य है। आत्माकी मनुष्योचित भाव सहित पर्याय आत्म द्रव्यमे होती है। मृत्यु हो जानेपर आत्मा मनुष्य पर्यायसे छूट जाता है, और जिस पर्यायमे जाता है तत्सम्बन्धी आयु और नामकर्म तत्काल उदयमे आ जाते है। मान लो उसे देव पर्यायमे जाना है, तो विग्रह गतिमे ही वह देव सज्ञाको प्राप्त हो जाता है। अन्तर्मुहूर्तमे वह सागोपाग देव बनकर यहाँ यदि आवे, तो अपने पूर्व देहकी मनुष्य पर्यायको अलगसे साक्षात देख सकता है, अतः दोनो की समान विभिन्न पर्यायोमे एक मनुष्य पर्याय ऐसा मात्र उपचार है ॥२०३॥

किसीने आत्माके कर्तृत्वका लोपकर एकान्तसे प्रकृतिको ही रागादिका कर्त्ता माना है। ऐसी मान्यता सदोष है यह बताते है—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनो कर्तृता
कर्त्तात्मैव कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

अन्वयार्थ—(**कैश्चित् हतकैः**) किन्ही आत्मघाती वादियोंने (**आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा**) आत्मा रागादि भावकर्मका कर्त्ता है ऐसे आत्म कर्तृत्वका लोप करके तथा (**कर्म एक कर्तृ इति प्रवितर्क्य**) जड प्रकृति रूप कर्म ही इसका कर्त्ता है ऐसी तर्कणा करके (**एष आत्मा कथंचित् कर्ता**) यह आत्मा ही रागादिभावोका कथंचित् (**अवस्था विशेषमे**) कर्त्ता होता है" (**इति अचलिता श्रुति**) ऐसी दृढ़तम जैन श्रुतिको (**कोपिता**) विराधित किया, अर्थात् उस श्रुतिका विरोध किया है। (**उद्धतमोहमुद्रित धियाम् तेषाम्**) उत्कट तीव्र जो मोह अर्थात् मिथ्यात्व कर्म, उसके उदयसे मुंद गई है बुद्धि जिनकी, ऐसे उन व्यक्तियोंके (**बोधस्य संशुद्धये**) ज्ञानको शुद्ध करनेके लिए (**स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया**) स्याद्वादके सम्बन्धसे, अनेकान्तधर्मके कारण प्राप्त है विजय जिसको, ऐसी जो (**वस्तुस्थिति**) वस्तुकी व्यवस्था वह (**स्तूयते**) प्रशस्तकी जाती है, कही जा रही है ॥२०४॥

भावार्थ—साख्य (कपिल) मतानुयायी, आत्मा सर्वथा नित्य, अखण्ड, चैतन्य स्वरूप ही सदा काल रहता है, तथा रागादि प्रकृतिके ही कार्य हैं, ऐसा वे मानते हैं। उनका यह कथन जैनमतके विरुद्ध है। जैनमत स्याद्वाद रूप वस्तु स्थितिका ज्ञापक है। जैनमतका कथन है कि आत्मा निश्चय दृष्टिसे रागादिका अकर्त्ता है, पर ससार दशामें रागादिका कर्त्ता आत्मा ही है। एकान्तवादियोके मोहको दूर करनेके लिये वस्तु स्थिति आगे कही जाती है.॥२०४॥

साख्यके उक्त कथनकी समीक्षा करते हैं—

> **माऽकर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः**
> **कर्त्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।**
> **ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधाम नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं**
> **पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥**

अन्वयार्थ—(**सांख्या इव**) साख्य मतकी तरह (**पुरुषं अकर्त्तारम्**) आत्माको रागादिका अकर्ता (**अमी आर्हता अपि**) ये जैनमतानुयायी शिष्य भी (**मा स्पृशन्तु**) न स्वीकार करें। किन्तु (**भेदावबोधात् अधः**) जबतक जीवको भेद विज्ञानरूप अवबोध नही हुआ, तबतक निचली अवस्थामे (**तं किल सदा कर्त्तारम् कलयन्तु**) उसे सदा निश्चयसे 'रागादिका कर्त्ता आत्मा ही है' ऐसा जाने (**ऊर्ध्वं**) भेद ज्ञानरूप सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके अनन्तर (**एनं**) इस आत्माको (**उद्धतबोधधाम नियतं**) जब वह अपने बढे हुए आत्मज्ञानके तेजमे ही लीन हो जावे तब उसे (**स्वयं**) स्वय (**च्युत कर्तृभावम्**) रागादिके अकर्त्ता रूप (**एकं परम् ज्ञातारं**) तथा केवल श्रेष्ठ ज्ञातारूप, (**अचलं**) जो कभी चलायमान नही होगा ऐसा (**पश्यन्तु**) देखें ॥२०५॥

भावार्थ—साख्यकी तरह जैन भी रागादिको प्रकृति (कर्म) का कार्य स्वीकार न करें। किन्तु ऐसा मानें कि जब तक यह संसारी जीव, मिथ्यात्वकी भूमिकामे है, तब तक वह अपने ज्ञान स्वभावको न जानता हुआ, परमे इष्टानिष्ट मान, उनसे रागद्वेष मोह करता है, तबतक वह उन विभाव परिणामोका स्वयं कर्त्ता है। किन्तु सम्यक्त्वके होनेपर भ्रम बुद्धि दूर हुई, परमे इष्टानिष्ट कल्पना दूर हुई तब, राग-द्वेषको आत्मस्वरूप स्वीकार नही करता, इसलिये अकर्त्ता हुआ। ऐसा अकर्तृत्व उसका सदा काल रहता है, तब उस ज्ञान दशामे आत्माको अकर्त्ता मानो। इस तरह

स्याद्वाद मतमे आत्मा कथचित् कर्त्ता है, अर्थात् मोहके उदयमें रागादि रूप परिणत होता है। अतः अपनी उस आत्मोपादान रूप अशुद्ध परिणतिका स्वयं कर्त्ता है। वही जीव जब ज्ञानी होता है तब ज्ञानभावका कर्त्ता है। रागादि भाव कर्मका अकर्त्ता ही रहता है तब कथंचित् अकर्ता कहा जाता है।

एकान्तसे कर्त्ता या एकान्तसे अकर्त्ता मानें, तो या तो सदा जीव संसारी ही रहेगा, या अकर्त्ता मुक्त ही रहेगा। पर ऐसी वस्तु स्थिति नही है। आत्म वस्तु तो अवस्था भेदसे कथंचित् कर्त्ता और कथंचित् अकर्त्ता है। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही आत्मा कदाचित् पूर्वावस्था मे रागादिका कर्त्ता भी रहता है और कदाचित् उत्तर अवस्थामे ज्ञानी बननेपर फिर स्वय उनका अकर्त्ता हो जाता है।

(३४३) **प्रश्न**—ज्ञानावरण उसे कहते हैं—जो जीवके ज्ञान स्वभावका आवरण करे, उसे ढँके, अर्थात् जीवको अज्ञान दशामे लावे। मोहनीय उसे कहते हैं जो आत्माको अपने स्वभावसे भुला देवे, मोहित करे। साता-असाता सुख-दुःख रूप करता है। गति-आयुकर्म-नाना गतियोमे घुमाता है। निद्रा कर्म सुलाता है। इत्यादि सभी कर्मोंकी व्याख्याएँ इसी प्रकारकी हैं, सभी आचार्योंने कर्म को ही जीवकी दुरवस्थाका कर्त्ता कहा है, अतः आपका कथन जैनागमके अनुकूल कैसे है इसका स्पष्टीकरण करें ?

समाधान—जरूर ऐसा ही लिखा है, पर यह कथन निमित्तापेक्षया किया है। उसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि ज्ञानावरण कर्मकी जब उदयावस्था होती है तब जीव अज्ञान परिणति रूप स्वय परिणमता है। मोहनीयके उदयके कालमे जीव अपने स्वरूपको स्वय भूलता है। कर्म न ज्ञान मिटाता है, न भुलाता है। कर्म निमित्त मात्र है, परिणमन तो जीवका जीवमे स्वयं ही होता है।

(३४४) **प्रश्न**—परिणमन तो जीवमे होता है यह सत्य है। पर जब जीवके ज्ञानावरणादिका उदय नही होता, या मोहका उदय नही होता—तब तो विकारी परिणमन नही होता। उनके सद्भावमे ही परिणमता है। अतः कर्मके साथ ही उसका अन्वय व्यतिरेक होनेसे कर्म ही जीवके विकारका कर्त्ता मानना चाहिए ऐसा न्यायशास्त्रमे लिखा है कि—

'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः'

अर्थात् जिनमे अन्वय-व्यतिरेक मिले उनमे परस्पर कार्य कारण भाव मानना चाहिए। अतः रागादिमे कर्मका कर्तृत्व है ऐसा निश्चित होता है।

समाधान—कार्योंकी उत्पत्तिके दो कारण होते हैं—एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त कारण। सो न्यायशास्त्रका कथन सामान्यतया दोनों कारणोकी कारणताको प्रदर्शित करता है। इनमेसे अन्वयव्यतिरेककी बहिर्व्याप्ति निमित्त कारणके साथ मिलती है, वह निमित्त कारण, पर पदार्थ ही होता है जो कि बहिरंग कारण है। यथार्थ अन्तरंग कारण तो स्वयं पदार्थकी उपादान योग्यता है जिसमे उक्त कार्य या परिणमन स्वय होता है। उसके साथ कार्यकी अन्तर्व्याप्ति पूर्वक व्याप्यव्यापक भाव है, अतः वही उसका यथार्थ कारण है।

बाह्य निमित्तमे यथार्थ कर्तृत्व हो तो—जिसमे उस कार्यकी उपादान शक्ति नही है—उसमे भी निमित्त अपने कर्तृत्वपनेके कारण कार्योत्पादनमे समर्थ हो जायगा, पर ऐसा होता नही है। जैसे मिट्टीको घटका यथार्थ कारण मानना चाहिए क्योकि वह उपादान रूप है, स्वय घट रूप परिणमती है। उसके साथ घटका अन्तर्व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। कुलाल (कुम्भार) उस घटका मात्र निमित्त कारण है, कर्त्ता नहीं है। यदि परमार्थ कर्तृत्व कुम्हारमे माना जायगा तो रेत, जिसमें घट बननेकी योग्यता नही है, उससे भी घट बना सकेगा। परन्तु ऐसा होता नही। इसी प्रकार आत्मा ही रागादिका यथार्थ कर्त्ता है। कर्मका उदय उसमें निमित्त मात्र है।

साराश यह कि—आत्मा स्वय रागादिका कर्त्ता, कर्मोदय निमित्तमे होता है। यही उसका ससार दशा है। वह यदि शुद्ध नित्य मुक्त अविकारी है, तो केवल शुद्ध द्रव्य निरूपणकी दृष्टिसे ऐसा कहा जा सकता है, जिसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह कर्मोदयके दूर होने पर ऐसा अपने स्वभावके रूपमें स्वय दिखाई देता है। अत- स्वभाव दृष्टिसे रागादिका अकर्त्ता तथा पर संयोगमें अपने विभावोका कर्त्ता है। पर द्रव्यका कर्त्ता नही है। स्याद्वादकी भाषामें इसे ही कथचित् कर्त्ता और कथचित् अकर्त्ता कहा गया है ॥२०५॥

जैसे एकान्तसे नित्यपना खण्डित है, इसी प्रकार एकान्तसे आत्माको क्षणिक मानकर अन्य को कर्त्ता और अन्यको भोक्ता मानना भी विरुद्ध है। ऐसा प्रतिपादन करते है—

क्षणिक मिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्व
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतोघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

अन्वयार्थ—(**इह एक**) यहाँ कोई एक एकान्ती पुरुष, (**तत्त्वम् इदम् क्षणिक**) आत्मा तत्त्व क्षण-क्षण परिवर्तन रूप ही है, नित्य कोई नही है (**निजमनसि**) अपनी मान्यतामें (**इति कल्पयित्वा**) ऐसी कल्पना करके (**कर्तृभोक्त्रो विभेद विधत्ते**) कर्त्ता अन्य और भोक्ता अन्य है ऐसा भेद करता है। (**तस्य**) उस एकान्तवादीकी (**विमोह**) भूलको (**चिच्चमत्कार एव**) इस चैतन्यका जो कालान्तर स्थायी चमत्कार है वह (**नित्यामृतोघै**) सदा अविनाशीपनेके अमृत प्रवाहसे (**अभिषिचन्**) सीचता हुआ (**अपहरति**) दूर करता है ॥२०६॥

भावार्थ—जैसे किसी मूर्च्छित व्यक्तिको कोई दयावान् शीतल जलसे सीचकर होशमें लावे, तब वह अपनी मूर्च्छा दूर होनेपर अपनी भूलको समझ लेता है। इसी प्रकार जो एकान्तवादी, सम्पूर्ण जगत्के तत्त्व क्षण-क्षणमें बदल जाते हैं, नित्य कोई है ही नही, ऐसी भूलमें हैं, उनकी भूलको नित्यताके प्रतिपादन रूपी अमृत जलसे सीचकर, यह चैतन्यकी चमत्कृति स्वय दूर कर देती है।

(३४५) **प्रश्न**—चैतन्यकी वह कौन सी चमत्कृत क्रिया है जो क्षणिकवादकी भूल मिटाती है?

समाधान—चैतन्यात्मा-भूतकालकी घटनाओका स्वय स्मरण करता हुआ देखा जाता है। यदि क्षण भरमें दूसरा ही आत्मा जन्म लेता तो पूर्वकी घटनाका स्मरण कैसे कर सकता। जैसे आपके द्वारा देखी घटनाका कोई अन्य व्यक्ति, जिसने वह घटना नही देखी, स्मरण नही करता

है। इसी प्रकार जब क्षण-क्षणमे उत्पन्न आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमे अन्वय रूपताका धारण करनेवाला कोई नित्यद्रव्य नही है, तब स्मरण करना असभव है। क्योकि आपकी मान्यताके अनुसार उनमे भी आत्मान्तरकी तरह सर्वथा भिन्नता है। किन्तु स्मरण करते हुए जीव पाये जाते हैं, अत. क्षणिकपने (अनित्यपने) का एकान्त भी खण्डित ही है। तत्त्वकी क्षण प्रतिक्षण होने वाली परिवर्तन शीलताको लक्ष्यमे रखकर, उसे कथंचित् अनित्य कहा जा सकता है, सर्वथा एकान्त अनित्य नही ॥२०६॥

वृत्ति (पर्याय) और वृत्तिमान् (द्रव्यका) परस्पर सम्बन्ध स्वीकार न कर, केवल निरन्वय वृत्तियोको स्वीकारना एकान्त क्षणिकवाद है, सो ऐसा एकान्तपना ठीक नही है—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्यः इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०७॥

अन्वयार्थ—(अत्यन्तम् वृत्त्यंशभेदत.) वृत्तियोमे अर्थात् पर्यायोमे परस्पर अत्यन्त एकान्त भिन्नता मान लेनेसे, (वृत्तिमन्नाशकल्पनात्) वृत्तिमान् जो द्रव्य उसके नाशकी स्थिति प्राप्त होती है। ऐसा मानने पर (अन्य. करोति) कोई वृत्ति अर्थात् पर्याय शुभाशुभ कर्म करती है (अन्यः भुङ्क्ते) तथा कोई अन्य वृत्ति फल भोगती है (इति) ऐसा (एकान्त) एकान्त क्षणिकपना (मा चकास्तु) किसीको प्रतिभासित न हो ॥२०७॥

भावार्थ—पर्यायें द्रव्यकी होती हैं। द्रव्य तो त्रिकाल रहता है पर उसकी अवस्थाएँ समय-समय पर पलटती रहती हैं। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे अर्थात् द्रव्यकी मुख्यतासे देखो तो द्रव्य नित्य है, सदा काल रहता है। इसीको उसकी परिवर्तनशीलताकी दृष्टिसे देखो तो प्रतिक्षण परिवर्तन ही दृष्टिगोचर होता है। अतः वस्तु कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है। ऐसा स्याद्वाद रूप जैनमतका प्रतिपादन है।

एकान्तवादी साख्य, द्रव्य-दृष्टिको स्वीकार करके उसीके एकान्त रूपसे वस्तु-व्यवस्था स्वीकार करता है, अत उसे आत्मा सर्वथा नित्य शुद्ध ही ज्ञात होती है। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तु ऐसी हो है, तथापि सर्वथा ऐसी ही नहीं है। उसमे पर्याय भेद भी प्रतिक्षण प्रकट देखा जाता है, अतः साख्यका नित्यताका एकान्त वस्तु-व्यवस्थाके विपरीत होनेसे खण्डित है।

इसी प्रकार क्षणिकता याने अनित्यता अर्थात् परिवर्तनशीलताके सिद्धान्तको, एकातसे स्वीकार करनेवाला बौद्ध, पदार्थको पदार्थ रूपमे न देखकर केवल परिवर्तनोको स्वतन्त्र रूपमे ही देखता है। पर्यायार्थिक नयसे वस्तुको परिवर्तनशील जैनमत भी स्वीकार करता है, पर वस्तु सर्वथा क्षणिक नही है। उन पर्यायोके भीतर अन्वय रूपसे द्रव्य भी पाया जाता है, अत "वस्तु कथचित् नित्यानित्य है" ऐसी वस्तुकी व्यवस्थाके विपरीत, क्षणिकवादियोंकी मान्यता है, अत. वह भी खण्डित है वस्तु तो नित्यरूप भी है और परिवर्तनशील भी है। बिना परिवर्तनके कोई वस्तु नही है, और बिना आधारभूत वस्तुके परिवर्तन भी नही होते।

ऐसा न मानने पर यह दाष स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि पाप करेगा प्रथम समयवर्ती पर्याय व्यक्ति, और फल भोगेगा किसी अन्य समयकी पर्याय रूप व्यक्ति। कर्ज लेगा प्रथम समय-

वर्ती पर्याय व्यक्ति और चुकाना पडेगा अन्य किसी समयवर्ती पर्याय व्यक्तिको। इस तरह कर्त्ता अन्य और फलभोक्ता अन्य होगा। ऐसा न्यायविरुद्ध कार्यका प्रसग आयगा।

(३४६) **प्रश्न**—यह बात तो जैनमतसे भी सम्मत है। वह इस प्रकार है कि पर्याय प्रतिसमय बदलती है, ऐसी मान्यता जैनधर्मकी है। कोई पर्याय दूसरे समय नही टिकती। तब पाप पूर्व समयकी पर्यायमे जीव करता है और फल उत्तर या उत्तरोत्तर पर्यायोमे भोगता है। उदाहरण देखें—

नरकायुका बन्ध मनुष्यने किया, पर वह मनुष्य नरकायु कर्मका फल नही भोगता। मनुष्यायु-के बाद जब पर्याय बदल कर नारक पर्यायमे होता है, तब ही मनुष्य पर्यायकृत पापोका फल भोगता है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य पर्यायने पाप किए, नारकी पर्यायने भोगे।

इसी प्रकार मनुष्य तप आदि द्वारा सातिशय पुण्य बाँधता है और देवपर्यायमे उस पुण्यका फल भोगता है। बन्धकाल भिन्न है, उस कालको पर्याय भिन्न है, और उदय काल उस प्रकृतिका भिन्न है। बन्धकालकी पर्यायमे ही उदयकालिक पर्याय नही आती। अत क्षणिकवादीका मन्तव्य ही सिद्ध होता है। आपका आरोप लगाना व्यर्थ है। अन्य पर्याय कर्त्ता, अन्य पर्याय भोक्ता ऐसा आरोप तो जैनमत पर भी आता है ?

समाधान—यह सत्य है कि बन्ध पर्याय और उदय पर्याय भिन्न-भिन्न कालमे होती हैं। तथापि जीव द्रव्यकी दृष्टिसे देखें तो जिस जीवने पूर्व पर्यायमे बन्ध किया था, वही जीव उत्तर पर्यायमे फल भोगता है। अत जो कर्त्ता, सो भोक्ता, यही प्रसिद्ध हुआ। क्षणिकवादी तो दोनो क्षणोंके (पर्यायोके) बीच, कोई जीव द्रव्य है जिसकी ये दोनो अवस्थाएँ हैं, ऐसा मानता नही है। इसलिए वह आरोप योग्य है। स्याद्वादी पर दोनो एकान्तोके आरोप लागू नही होते ॥२०७॥

क्षणिकवादीने हारके मणियोको तो देखा, जो साथ ही हैं, पर हारके मणियोके सूतको नही देखा जिसके बिना हार बनता ही नही। इस दृष्टात द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितैः
आत्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥

अन्वयार्थ—(**आत्मानं परिशुद्धं ईप्सुभि अपरै. पृथुकैः अन्धकै**) अन्य क्षणिकवादी अज्ञानी बौद्धोंने आत्माकी शुद्धताकी इच्छासे, (**कालोपाधिबलात्**) कालकी उपाधिके कारण, (**तत्रापि**) वहाँ आत्मामे (**अधिकां अशुद्धि मत्वा**) अधिक अशुद्धि स्वीकार करके (**अतिव्याप्त प्रपद्य**) उसे अति-व्याप्ति दोषको प्राप्त होना मानकर, (**शुद्ध ऋजुसूत्रेरितै**) शुद्ध ऋजुसूत्रनयके द्वारा माने गए विषयकी प्रेरणासे (**क्षणिकं प्रकल्प्य**) आत्माको सर्वथा क्षणिक कल्पना कर (**एष आत्मा व्युज्झित**) यथार्थमे इस आत्माका ही अभाव कर दिया। इसे दृष्टान्तसे समझाते हैं कि—(**नि सूत्र मुक्तेक्षिभि हारवत्**) सूत्र रहित केवल मोतीकी ही इच्छा करने वाले जैसे हारको नही पाते, वैसे ही अन्वयी

द्रव्य, आत्मासे रहित, केवल क्षणिक पर्यायको ही मानने वाले बौद्धोंने, आत्माका ही अभाव किया ।।२०८।।

भावार्थ—बौद्धमतानुयायी आत्मा नामक स्थायी तत्त्व स्वीकार नही करते। वे प्रतिक्षण होनेवाली ज्ञान पर्यायोको स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ मान लेते हैं। प्रत्येक ज्ञान पर्याय एक स्वतंत्र पदार्थ है, उसका आगे-पीछेकी ज्ञान-पर्यायोंसे कोई सम्बन्ध नही है। उनका ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा तो पवित्र है, यदि उसे नित्य माना गया तो कालकी उपाधि लगेगी वह भी उसकी अशुद्धता होगी। उपाधिरहित वस्तु ही शुद्ध है। अशुद्ध अर्थात् कालोपाधि विशिष्ट आत्मा तो लक्ष्यके बहिर्भूत अलक्ष्य है। उसमें यदि आत्माका लक्षण जावे तो आत्माका लक्षण अतिव्याप्ति दूषण विशिष्ट हो जायगा। अत उस दूषणको दूरकर आत्माकी अत्यन्त पवित्रताकी अभिलाषासे वे आत्माको प्रतिक्षण विनश्वर मानते हैं। क्षण-क्षणमे अन्य-अन्य ही वस्तु है। केवल सन्तान प्रवाह है, वह परस्परमे अनुस्यूत नही है।

आचार्य कहते है कि भाई! तूने अपने अज्ञानसे आत्माका ही लोपकर दिया। वह शुद्धि किसकी? केवल क्षणिक परिवर्तन क्या स्वतन्त्र वस्तु बन सकते हैं। तूने शुद्ध ऋजुसूत्र नयके विषयको जानकर, उसीका एकान्त पकड लिया है, सो वस्तु तो एकान्त रूप नही है। अनेकान्त स्वरूप है। उसे एकान्त मानने पर वस्तु ही हाथसे चली जायगी।

कालकी उपाधिको तुमने अशुद्धताका कारण माना और उस उपाधिसे रहित आत्माकी अत्यन्त शुद्धि चाही, पर ऐसा करने पर तो जिसकी शुद्धि चाही वह आत्मतत्त्व ही हाथसे निकल गया। उसका अभाव हो सिद्ध हुआ। अत ऐसा मानना सर्वथा उचित नहीं है, दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—कोई व्यक्ति हार पहिनकर अपने गलेकी शोभा बढाना चाहता है। उसे मुक्ता-फल तो देखना ही है, पर साथमे मुक्ताफलोंके बीच पडे हुए सूत्रकी भी अपेक्षा करनी पडेगी। यदि वह सूत्रकी अपेक्षा न करे, उसे हारका कलक माने, तो उसे छोडकर मुक्ता तो मुक्ता मात्र रहेगी, वे हार न बन सकेगी। सूत ही तो उनको हारका अंग बनाए था, उसके अभावमे हार ही नष्ट हो गया। हाथसे हार जाता रहा। इसी प्रकार कालकी उपाधिको ही कलक मानकर आत्मामे अशुद्धता मानी, सो कालान्तर स्थायित्व हो तो वस्तुका स्वरूप स्थिर किए था। उसे अशुद्धता मानकर छोडा सो वस्तु ही छूट गई। इस दृष्टान्तमे पडे हुए 'निःसूत्रमुक्तेक्षुभिः' इस विशेषणमे श्लेष है। यह विशेषण जैसे हार पक्षमे घटित किया है वैसे ही बौद्धका भी विशेषण वह बनता है। बौद्ध कैसा है निःसूत्र अर्थात् जिनागमके जो सूत्र, अनेकान्तात्मक जो उपदेश, उससे मुक्त होना अर्थात् उनको स्वीकार न करना हो उनका निःसूत्रपना है। ऐसे निःसूत्र व्यक्ति 'मुक्तेक्षु' मोक्षकी इच्छा करें भी तो कैसे उनकी मुक्ति हो? ।।२०८।।

(३४७) **प्रश्न**—क्या जैनागमके सूत्रोको माननेसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, अन्यथा नही होता?

समाधान—प्रश्न केवल मानने न माननेका नही है। प्रश्न उसपर चलने का भी है। जो मानेगा सो उस मार्गसे चलेगा। जो उसे मानेगा ही नही, वह क्यो चलेगा? जो मार्गपर चलेगा वही मुक्त होगा। अतः मानना आवश्यक है।

(३४८) **प्रश्न**—क्या है जैन सूत्रोकी मान्यता जिसे स्वीकार कर लेनेसे मोक्ष होता है?

समाधान—जैन सूत्रोकी ऐसा मान्यता है कि जीवकी दो अवस्थाएँ हैं। अनादिसे यह जीव सकर्मा है अतः उसकी अशुद्धावस्था है। वही जीव अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यको देखने जानने, तथा तद्रूप आचरणकर जब कर्म बन्धनसे रहित होता है तब परिशुद्ध होता है, यही जीवको मुक्ति है। शुद्धावस्था है। यह जीव, द्रव्यकी अपेक्षा स्वभाव शुद्ध है उसमे यह भी शक्ति है कि वह शुद्ध हो सकता है। अशुद्धावस्था उसकी वर्तमान अवस्था (पर्याय) है। पर्याय विनश्वर है अत अशुद्धावस्था नष्ट होनेपर उसी जीवके शुद्धावस्था प्रकट हो जाती है। यह शुद्धावस्था अपने त्रैकालिक स्वभावके आश्रयसे प्रकट होती है। वह ज्ञान स्वरूप त्रैकालिक भाव, जीवमे सदा विद्यमान है। उसे ही जीव-का कर्म-निरपेक्ष पारिणामिक भाव कहते हैं। उस त्रिकाली शक्तिकी श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरण ही रत्नत्रय है। वही मोक्ष मार्ग है।

सिद्ध है कि जीव कथंचित् नित्य है। सर्वथा नित्य मानने पर जो दूषण प्राप्त होते हैं वे कथंचिन्नित्यमे नही आते। इसी तरह वह कथंचित् (पर्यायापेक्षया) अनित्य है अत उसमे सर्वथा क्षणिक मान्यताके दोष भी नही प्राप्त होते।

वस्तुकी यथार्थता स्वीकार कर तदनुरूप आचरणसे ही मुक्ति होती है अन्यथा नही, यही जैन मान्यता है। जैन सूत्र जो कहते है वह सत्य है, क्योकि जैन मतने सत्यको ही मान्यता दी है ॥२०८॥

यदि जीव कथंचिन्नित्य है तो वही कर्त्ता और वही भोक्ता है इस तरह कर्त्ता भोक्ताका अभेद है, पर्यायापेक्षया उनमे भेद भी है तथापि विकल्प छोड़ आत्मानुभवन ही श्रेष्ठ है—

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम् ।
प्रोतासूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तु[1] न शक्या क्वचित्
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥२०९॥

अन्वयार्थ—(**कर्तुः वेदयितुश्च**) कर्त्ता और भोक्तामे (**युक्तिवशात्**) नयविवक्षासे (**भेदः अस्तु अपि वा अभेदः**) भेद भी हो और अभेद भी हो। इसी प्रकार नयविवक्षासे (**कर्ता वेदयिता च भवतु वा मा**) कर्त्ता हो या न हो, भोक्ता हो या न हो, इन विकल्पोसे प्रयोजन नही है। तथापि (**निपुणैः वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम्**) ज्ञानी विकल्पसे भिन्न शुद्ध आत्म वस्तुका चिन्तन करो। (**सूत्रे प्रोता इव**) सूतमे पिराए हुए मणिमालाकी तरह (**आत्मनि इह प्रोता**) आत्म द्रव्यमे पिरोयी हुई चैतन्य चिन्तामणियोका (**क्वचित् भेत्तु न शक्या**) कदाचित् कालमे भी भेद करनेमे कोई समर्थ नही है (**अतः इयम् चित्चिन्तामणिमालिका**) इसलिए यह शुद्ध चैतन्यकी परिणति रूपी चिन्ता-मणि रत्नकी माला (**अभितः**) सर्व प्रकारसे (**एका**) अभेद रूप (**नः चकास्तु एव**) हमे प्रकाशमान ही होओ ॥२०९॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि यथार्थ शुद्ध आत्माका ही संवेदन करो। आत्मा कर्त्ता है या नही, भोक्ता है या नही, अथवा कर्त्ता भोक्ता दोनो है तो किस अपेक्षा, अथवा न कर्त्ता है न

१. भत्तुं इत्यपि पाठः।

भोक्ता है, यह किस अपेक्षा, ऐसे विविध नयोंसे वस्तुमें विकल्प होते हैं सो होओ। पर्याय दृष्टिसे कर्त्ता और भोक्ता भिन्न हैं। जो कर्त्ता है वह पर्याय भिन्न है और अन्य पर्यायमे वही भोक्ता है, किन्तु द्रव्य दृष्टिसे दोनो अभिन्न हैं। जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। इन विकल्पोसे केवल वस्तुके स्वरूपको जानकारी होती है, पर इनसे तुम्हारा लाभ नहीं है। लाभ तो अनेक शुद्ध चैतन्य परिणतियोकी एक माला स्वरूप शुद्धात्माके अनुभवनसे है। सो सम्यग्दृष्टि पुरुष, अपने स्वरूपसे शुद्धात्मा का जैसा स्वरूप है उसका वैसा अनुभव करो।

जैसे मणिहार शोभा बढाने वाला, हारको हाररूपमे अभिन्न एकाकार ही देखता है। मणि कितने हैं, किस प्रकार पिरोए गए हैं, कैसे धागेमे पिरोए गए हैं, इन विकल्पोमे नही जाता यद्यपि सभी विकल्प उसमे हैं, सत्य हैं, पर वह मालाके बनानेके विकल्प हैं। उन विकल्पोंसे मनुष्यकी शोभा नही बनती। मात्र हारको हाररूपमे ही धारण करनेसे शोभा है।

इसी प्रकार आत्मामे विविधनयोके आश्रयसे नाना विकल्प होते हैं। उनसे वस्तुके स्वरूप का वर्णन होता है। युक्ति पूर्वक सिद्धि होती है। तथापि इस सिद्धिमे आत्माके हितका प्रयोजन सिद्ध नही होता। वह प्रयोजन तो शुद्ध चैतन्यकी परिणतियोमें प्रोत जो शुद्ध आत्म तत्त्व, उसके स्व सवेदनसे ही सिद्ध होता है। सो आचार्य कहते हैं कि वह चैतन्यके चमत्कारसे परिपूर्ण, चैतन्य परिणतिरूप मणियोकी एकाकार माला ही प्रतिभासित होवे ॥२०९॥

कर्त्ता कर्मका भेद व्यवहार दृष्टिसे है निश्चयमे वे एक वस्तु रूप हैं—

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥२१०॥

अन्वयार्थ—(**कर्तृ-कर्म च विभिन्नम्**) कर्त्ता और कर्म भिन्न-भिन्न दो वस्तुओंमे होते हैं (**इति केवल व्यावहारिकदृशा एव इष्यते**) ऐसा कथन केवल व्यवहारकी दृष्टिसे होता है। (**यदि निश्चयेन वस्तु चिन्त्यते**) यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाय तो (**कर्तृ कर्म च सदा एकमिष्यते**) कर्त्ता कर्म दोनो सदा एक वस्तुमे हो इष्ट है। दो भिन्न-भिन्न वस्तुओंमे नही ॥२१०॥

भावार्थ—यह कर्म है, और यह इसका कर्त्ता है। ऐसा कर्त्ता कर्मका व्यवहार भिन्न-भिन्न दो पदार्थोंमे होता है। जैसे वस्त्र एक कार्य है, और उसका बनाने वाला जुलाहा उस वस्त्रका कर्त्ता है, इस तरह कर्त्ता कर्म दोनो भिन्न-भिन्न हुए, ऐसा व्यवहारी जन, निमित्त सापेक्ष कथन करते हैं। यह कथन व्यवहारनयका है, यही ग्रन्थकार लिखते हैं। निश्चयसे यदि विचार किया जाय तो कर्तृ-कर्म भाव दो पदार्थोंमे नही होता, किन्तु एक पदार्थमे ही घटित होता है। जैसे वस्त्र पर्याय एक कर्म है, कपास या सूत्र ही उनका कर्त्ता है। वह पर्याय कपास या सूत्रमे ही होती है, अतः कर्म और कर्त्ता एक ही है, भिन्न-भिन्न नही हैं, ऐसी उपादान सापेक्ष दृष्टि निश्चयनय की है।

(३४९) **प्रश्न**—जब दो दृष्टियाँ हैं—दोनो वस्तुको भिन्न-भिन्न रूपमे देखती हैं, तब दोनोमे परस्पर विरोध हुआ। ऐसी अवस्थामे दोनो गलत हैं, ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नही है, दोनो दृष्टियाँ सही हैं। निश्चय उसका यथार्थ स्वरूप देखता है और व्यवहार संयोग को देखता है।

(३५०) **प्रश्न**—दो दृष्टियाँ किसी वस्तुका निर्णय भिन्न-भिन्न दें, तो वे दोनो ही सही कैसे हो सकती हैं ?

समाधान—अपेक्षा भेदसे दिया गया निर्णय, वस्तुकी अनेकान्तपनेकी स्थितिको प्रमाणित करता है, न कि विरोधके कारण अवस्तुको सिद्ध करता है, किन्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो नय वस्तुको एक—अनेक रूप, या भेद-अभेद रूप सिद्ध करते हैं।

(३५१) **प्रश्न**—वस्तु तो जैसी है वैसी ही रहेगी। किसीके भिन्न-भिन्न वर्णन करनेसे दो प्रकार की न हो जायगी। यदि दोनो नय परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं तो उनमे कोई एक सही होगा, दोनो सही नही हो सकते ?

समाधान—यदि वस्तु ही दो प्रकारता रखती हो, तब एक-एक प्रकारका कथन करनेवाले अपनी-अपनी दृष्टिमे ठीक माने जायँगे।

(३५२) **प्रश्न**—आपका उत्तर स्वय उलझन पूर्ण है, स्पष्ट प्रतिपादन नही करता। वस्तु दो प्रकार कैसे हो सकती है ? वह भी परस्पर विरुद्धरूपताको लेकर ?

समाधान—पदार्थ स्वय अनेकरूपताको लिए, विरोधी धर्मोको अपनाए हुए है। नय विवक्षाएँ तो उस उलझनको सुलझाती ही हैं।

(३५३) **प्रश्न**—व्यवहारनय झूठा है, ऐसा अध्यात्मवादी कहते हैं, अत निश्चयकी बात ही यथार्थ है ऐसा मानना चाहिए। दोनो सत्यार्थ कैसे है ? यदि दोनो सच्चे है तो आध्यात्मवादियोका कथन गलत है क्या ?

समाधान—विविध दृष्टियोसे देखनेपर पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप दीखता है। दृष्टियोको हटा-कर देखें तो वस्तुमे कोई विकल्प नही है, वह निर्विकल्प है। निश्चयनय स्वाश्रित वस्तुका वर्णन करता है, अतएव कर्ता-कर्म स्वाश्रित ही देखता है। वह कार्यके उपादानको ही यथार्थ कर्त्ता मानता है, अत द्रव्य स्वय कर्त्ता, पर्याय उसका कर्म, वस्तुका ऐसा स्वाश्रित रूप देखना ही निश्चयनयका कार्य है। यही कारण है कि वस्त्र रूप कर्मका कर्तृत्व उसके सूत्रो पर, कुण्डलादि कार्योंका कर्तृत्व सुवर्ण पर, घटकार्यका कर्तृत्व मिट्टीपर ही वह स्वीकार करता है।

व्यवहारनय परसापेक्ष (निमित्तसापेक्ष) वस्तुको देखता है। वह कहता है कि बिना जुलाहेके सूत कपडा नही बन पाता, अत. वस्त्रका कर्त्ता जुलाहा है। बिना सुनारके सुवर्ण कुण्डल नही बन पाता, अथः कुण्डलादि कर्मका कर्त्ता सुनार है। बिना कुम्भकारके मिट्टी घट नही बन सकती, अतः घटका कर्त्ता कुम्भकार है। निश्चय वस्तुका स्वरूप कहता है, अत सत्यार्थ है। व्यवहारनय उसके सयोग और निमित्तकी अपेक्षा वस्तुका कथन करता है, इसलिये सत्यार्थ है। इसीको दृष्टि भेद कहते हैं। दोनो दृष्टियोमे भेद होते हुए भी दोनो स्थितियाँ यथार्थ हैं, अत उनमे स्याद्वादकी दृष्टिसे विरोध भी नही है। कथन मात्रका विरोध है।

(३५४) **प्रश्न**—इसमे तो कथन मात्रका भी विरोध नही है, ऐसा प्रतीत होता है ?

समाधान—आप अपने पिछले प्रश्नोका पढे और इस प्रश्नको पढ़ें, दोनोमे स्वय विरोध दिखाई देगा। आपने पहिले प्रश्न किया था कि दोनो नय विरुद्ध कथन करते हैं, अब आप कहाँ पहुँचे जो कहते हैं कि कथनमात्रका भी विरोध नही है ?

(३५५) **प्रश्न**—विरोध सा दीखता था, पर विचार करने पर विरोध नही ठहरता। अतः हम इस नतीजे पर पहुँचे कि अध्यात्मवादियोका यह कथन ही गलत है कि 'व्यवहारनय झूठा है' ?

समाधान—वह कथन भी सही है गलत नही है।

(३५६) **प्रश्न**—आप सभीको सही कह देते हैं। क्या गलत कुछ होता ही नही ?

समाधान—हाँ, गलत कुछ होता ही नही है। दृष्टि भेदसे ही गलत और सही कहा जाता है।

(३५७) **प्रश्न**—क्या रस्सीको साँप, काँचको मणि कहनेवाले मिथ्यावादी नही हैं ? वे भी सत्यवादो हैं ?

समाधान—वे अपनी-अपनी दृष्टिमे सत्यवादो ही हैं। उनकी दृष्टिमे साँप और मणि ही दीखता है। जो दीखता है वही कहते हैं, उन्हे असत्यवादी कैसे कहे ?

(३५८) **प्रश्न**—वे तो भ्रममे हैं—जैसा पदार्थ है वैसा नही देखते।

समाधान—भ्रममे हैं—यह सत्य है, पर भ्रम भी स्वयं सत्य है। यदि वह असत्य है तो 'वे भ्रममे नही हैं' ऐसा कहना होगा।

(३५९) **प्रश्न**—'भ्रम' कैसे सत्य है ? यदि 'भ्रम' सत्य है और वह भ्रमित ही सत्यवादी है, तो जिसे 'भ्रम' नही है, वह असत्यवादी ठहरेगा। तब तो विपरीत ही व्याख्या हो जायगो। भ्रम-रहित यथार्थ बोलनेवाला, असत्यके पापका भागी हो जायगा, और भ्रमयुक्त असत्य बोलनेवाला सत्यका पुण्य प्राप्त करेगा ?

समाधान—ऐसा नही होगा। भ्रमवादी अपनी दृष्टिमे सत्य है, पर पदार्थके स्वरूपको यथार्थ नही देख रहा इसलिए असत्य है, भ्रममे है, भ्रमका फल भोगता है। इसीलिए रस्सी होनेपर भी वह भयभीत होता है। साँप समझकर मूर्च्छित हो जाता है। मणिके भ्रमवाला व्यर्थका अभिमान करता है। अन्तमे भ्रम दूर होनेपर अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता है।

(३६०) **प्रश्न**—भ्रम दूर होनेपर पश्चात्ताप करते हैं। अतः भ्रममे रहना ही ठीक था। ऐसा माना जाय क्या ?

समाधान—ठीक नही था। पश्चात्तापका कारण यथार्थ ज्ञान हो आना नही है। पश्चात्तापका कारण तो अपनी भूल है। न भूलकी होती, न पश्चात्ताप होता। भ्रमकालमे मणि जानकर अपनेको धनवान् मानता था सा सुखी था। पर वह मान्यता मात्र भ्रम थी, उसके पास धन नही था। वह उस धनसे अपनी इच्छित सुख-सामग्री नही पा सकता था। सिद्ध हुआ कि अपने-अपने स्वरूपकी दृष्टिसे दोनोका अस्तित्व है। जिनका जिस रूपमे अस्तित्व है वे उस रूपसे सत्य ही माने जावेंगे।

(३६१) **प्रश्न**—सत्य असत्यको झूठा कहेगा और असत्य सत्यको झूठा कहेगा, क्योंकि दोनोंकी दृष्टियाँ एक दूसरे पर ऐसी ही हैं, तब सत्यासत्यका निर्णय केवल काल्पनिक है, या यथार्थ ?

समाधान—सत्यासत्यमे कौन सत्य है और कौन असत्य है, यह विषयके अनुसार निर्णीत होता है। जैसा पदार्थ है, वैसा कथन सत्य है, तथा जैसा पदार्थ नही है वैसा कथन या ज्ञान असत्य है। इसीसे सत्य यथार्थ अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा (यथा + अर्थ) को जानता व कथन करता है। असत्य (अयथा + अर्थ) जैसा पदार्थ नही है, वैसा कथन करता है या जानता है। अतः वह भ्रमपूर्ण कहा जाता है।

(३६२) **प्रश्न**—तब अध्यात्मवादी, जो व्यवहारको असत्य कहते हैं, और आपने उसका समर्थन भी किया है, वह कैसे गलत हैं ?

समाधान—व्यवहारनय, या तत्सम्बन्धी दृष्टि, निमित्त सापेक्ष कथन करती है। कुम्भकारने घट बनाया है, ऐसा कहती है। वस्तुतः घट तो अपनी उपादानभूत मिट्टीसे बना है, अतः वह उसका कार्य है—मिट्टी और घटमे कर्त्ता कर्मपना घटित करना चाहिए। वह पदार्थ व्यवस्थाके अनुकूल है। कुम्भकार केवल निमित्तमात्र है। वह यथार्थमे मात्र अपनी क्रियाओंका कर्त्ता है। उसकी क्रियाएँ मिट्टीके घट बननेमे निमित्त अवश्य हैं, अतः निमित्तकी अपेक्षा व्यवहार नय, उसे 'कर्त्ता' और घटको 'कर्म' ऐसा कर्त्ता—कर्मभाव दो पदार्थोंमे मिलाकर कहता है। इस प्रकार व्यवहारनयका कथन परसापेक्ष कथन है। अध्यात्म मूलपदार्थको लेकर चलता है जबकि व्यवहार उसके पर द्रव्य रूप निमित्तको भी साथ ले लेता है। उसे मूलके साथ मिलाना तथा मिलाकर कहना ही असत्य है, अतः अध्यात्मकी दृष्टिमे वह गलत है।

(३६३) **प्रश्न**—क्या निमित्त है नही ? कार्योत्पत्तिमे निमित्त होता नही है ? केवल उपादान कारण ही कारण है, निमित्त नामक कोई कारण नही है ? एक ही उपादान कारणसे वस्तु बनती है ?

समाधान—बहुतसे प्रश्न आपने एक साथ प्रस्तुत किये हैं तथापि प्रश्न एक ही रूप हैं जिनका निर्णय इस प्रकार है—

प्रत्येक कार्यमे दो कारण होते हैं। उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान कारण कार्यका यथार्थ कारण है, जब कि निमित्त कारण केवल सहायक कारण हैं। सहायक कारण उपादानके लिए अपने कार्य प्रकट करनेमे अनुकूल पडता है, अतः उसे सहायक कारण कहते हैं। वह अपना कार्य तो अपनी परिणति रूपसे करता है, उपादानका कोई कार्य नही करता, तथापि उसकी परिणति उस कालमे उपादानको अपने कार्य सम्पन्न करनेमे अनुकूल हुई तो उसे उसका निमित्त कारण कहा जाता है।

जैसे बिजलीके स्तम्भ मार्गमे प्रकाशमान हैं, वे अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। मार्ग चलने-वाला प्रकाशके अवलम्बनसे मार्ग तय कर रहा है। विचार कीजिए तो-चलने रूप क्रिया तो यात्री की स्वयकी है, स्वयमे है, स्वयके द्वारा है, और स्वयको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाती है। प्रकाश न उसका है, न उसमे है, न उसके कारण है, और न स्वयं यात्रीके गन्तव्य स्थान तक उसके साथ

जाता है। वह केवल स्वय प्रकाश है, स्वयमे प्रकाशित है, स्वशक्तिसे प्रकाशित है, स्वय अपने स्थान पर स्थित है। यात्री और प्रकाश दोनोके अपने-अपने कार्य हैं। अत दोनो अपने-अपने कार्योंके कर्त्ता हैं, और दोनोके कार्य उनके अपने-अपने कर्म हैं। वास्तविक दृष्टिसे दोनोमे अपने कर्मके (कार्योंके) साथ कर्तृ-कर्म भाव हैं। तो भी अनुकूल परिणति होनेके कारण मनुष्यकी यात्रामे प्रकाश निमित्त कारण है, और उन दोनोमे भी कर्तृ-कर्म भावका व्यवहार कर लिया जाता है। यह निमित्तता तो सत्य है, पर कर्तृ-कर्म भाव उनमें सत्य नही है। अतः व्यवहारका कथन निश्चयकी अपेक्षा कथचित् असत्य है, और निमित्तकी अपेक्षा कथचित् सत्य है। तथापि निश्चय-नयका कथन वस्तु स्वरूप ग्राही होनेसे एकात सत्य है।

(३६४) **प्रश्न**—तब तो जो एकात है वह सत्य नही हो सकता, जैन मतकी ऐसी मान्यता है। अत निश्चय, असत्य है। कथञ्चित् सत्य और असत्य ऐसा अनेकान्त स्वरूप व्यवहारनय ही सत्य है। जैनमान्यता तो एकान्तको ही अयथार्थ और अनेकान्तको ही यथार्थ कहती है। ऐसी स्थितिमे आपका कथन जैनमान्यताके विपरीत है ?

समाधान—स्वरूपकी दृष्टिसे यथार्थका जो वर्णन है वह अपनेमे एकान्तसे सत्य है, क्योकि वस्तुमे स्वरूपका एकान्त-सद्भाव है। स्वरूपका असद्भाव उसमे कदापि नही है। असद्भाव उसमे पररूपका ही है। जैनमान्यताके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है, नास्तित्व तो उसमे परचतुष्टयका है, अत. उसकी अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अनेकान्तकी इस व्याख्याके अनुसार जब आप विचार करेंगे, तो निश्चयनय वस्तुके स्वरूपकी दृष्टिसे सत्य ही है। प्रत्येक एकात नयात्मक होने पर सत्य ही होता है, असत्य नही। अथवा ऐसा कहिये कि प्रत्येक नय अपने स्वरूपका वर्णन करते हुये भी परनयका विरोध नही करता, अतः वह नय अपने विषयका एकात प्ररूपक होकर भी अनेकान्त स्वरूप है, सत्य है।

निश्चयनय वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करता है अतः सत्य है, यथार्थ है, वास्तविक है। व्यवहारनयके विषयको वह गौण करता है। मुख्य-गौण व्यवस्था हो नयोके नयपनेको सामने लाती है। जैनमान्यता यदि उपादानकी मुख्यतासे कर्तृ-कर्म भाव एक ही पदार्थमे वर्णित करती है, तो निमित्तका भी सर्वथा निषेध नही करती। निमित्त सापेक्षतामे कर्तृ-कर्म भाव भिन्न पदार्थों मे बनता है, ऐसा भी वह वर्णन करती है। यही तो इस कलशमे बताया गया है। व्यवहारनयको सर्वथा झूठा ही मानते तो दोनो नयोके विषयोको कलशमे क्यो लिखते।

(३६५) **प्रश्न**—आपने निश्चयनयको जब सत्य,—यथार्थ, वास्तविक बताया, तब व्यवहारनय असत्य, अयथार्थ, अवास्तविक है, ऐसा ही तो तात्पर्य हुआ। तब व्यवहारनयको झूठा न मानकर 'कथचित् सत्य' मानना यह कैसी उलझन है ?

समाधान—उलझन नही है—विचारको गहरा कीजिये। असत्य और झूठमे अन्तर है। वह किस प्रकार है उसे समझिये। लोकमे झूठ उसे कहते है जो किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अन्यथा प्रतिपादन करे। व्यवहारनय और निश्चयनयमे जो परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध-असत्य और सत्य-शब्दका प्रयोग है, उसे शब्दके अर्थकी दृष्टि से समझिये। सत्यार्थ—उसे कहते हैं जो वस्तुकी सत्तासे सम्बन्धित अर्थको कहे। निश्चयनय "स्वाश्रितो निश्चय." इस लक्षणके अनुसार उपादान, जो वस्तुकी निजसत्ता स्वरूप है, उसके आश्रय वर्णन करता है, अत. सत्यार्थ है।

व्यवहारनय-वस्तुकी सत्तासे भिन्न, पर पदार्थ जो निमित्त कारण रूप है, उसके साथ कर्तृ-कर्म भावकी चर्चा करता है। निमित्त मिथ्या नही है, वह है तो, पर वह मूल वस्तु, जिसका वर्णन प्रकरणके अन्तर्गत है, उसकी सत्तासे भिन्न है। शाब्दिक व्युत्पत्तिके आधारपर वह "असत्यार्थ" है। इसी प्रकार 'यथार्थ' इस शब्दका अर्थ है कि यथा जैसा अर्थ याने पदार्थ, अर्थात् जैसा मूल पदार्थ है उसके आश्रित वर्णन करना। स्वाश्रित वर्णन है वह यथा + अर्थ है। व्यवहारनय मूल पदार्थको निमित्तभूत, अन्य पदार्थकी सापेक्षतासे उपचरित वर्णन करता है। वह अन्य पदार्थ मूल-पदार्थ तो नही है। अतः वह "अयथा-अर्थ" है, अर्थात् भिन्नार्थ है। अत. व्यवहारनयको "अयथार्थ" कहते हैं। तथा वास्तविक शब्दको देखिये—वस्तुका जो मूलरूप है उससे सम्बन्धित वर्णन "वास्तविक" है। अतः मूलपदार्थवाची निश्चयनय तो 'वास्तविक' है, और वस्तुकी सत्तासे भिन्न, परवस्तु सापेक्ष वर्णन करने वाला, केवल विवक्षित मूल वस्तु भी नही कहता, अतः "अवास्तविक" है।

(३६६) **प्रश्न**—पञ्चाध्यायीमे निश्चयको प्रतिषेधक कहा है और व्यवहारको प्रतिषेध्य कहा है—

'व्यवहार' प्रतिषेध्यः तस्य प्रतिषेधकश्च शुद्धनय.'

आपने कहा कि नय परस्पर सापेक्ष होते हैं, अत अनेकान्त स्वरूप है। निरपेक्षतामे वे ही एकान्त हो जाते हैं। आपके कथनका पचाध्यायीकारके कथनसे मेल नही बैठता ?

समाधान—ऐसा नही है, उनमे अत्यन्त सुमेल है। निश्चयनय स्वाश्रित वर्णन करता है, और व्यवहार पराश्रित होनेसे स्वाश्रित वर्णन नही करता। तब उसका 'प्रतिषेधक' ही कहा जायगा, और व्यवहार 'प्रतिषेध्य' ही होगा। तथापि 'निश्चयनय प्रतिषेधक है' इसका अर्थ इतना ही है कि निश्चयनय, व्यवहार कथित, निमित्त रूप परवस्तुको, मूलभूत वस्तु नही मानता। उसके विषयको अपने विषय स्वरूप स्वीकार न करनेसे प्रतिषेधक है, ऐसा नही है कि उसके विषयको उसका विषय भी नही मानता।

व्यवहारनय स्वयं मूलवस्तुका वर्णन, पर-सापेक्ष करता है। उसकी दृष्टि तो मूल वस्तुको ही इङ्गित करती है, तथापि वह निश्चयनयकी तरह शुद्ध मूलवस्तुको ही नही ग्रहण करती, अतः दोनो नयोमे प्रतिषेधक-प्रतिषेध्य भाव है। ऐसा होते हुए भी उनमे परस्पर सापेक्षता है, अत. सुमेल ही है। जैसे आगे जाने वाला पीछेसे आया है, पर अब पीछे की ओर न देखकर आगे देखता है। बढ़ता है। पर पीछे वाला आगे वालेको देखता है, उसीके पास जाता है, वह उसका विरोधी नही है। इसी प्रकार निश्चयनय, अन्य भिन्न पदार्थोंको छोडकर, मूलवस्तुको पकडता है। अतः वह पर सापेक्ष दृष्टिका प्रतिषेधक है। व्यवहारनय परसापेक्षताके आधारसे मूलवस्तुकी ओर ले जाता है।[1] वह मूल वस्तुका वर्णन परसापेक्ष भले ही करे, पर वर्णन मूल वस्तुका ही करता है, अतः वह निश्चयके विषयका प्रतिषेधक नही है। इस तरह दोनो नय प्रकारान्तरसे मूल वस्तुको ही समझाते है, अत. सुमेल दोनोका सुप्रसिद्ध है।

---

१. एव व्यवहारनयोऽपि परमार्थ प्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽय।

—समयसार गाथा ८, आत्मख्याति टीका।

वस्तु-स्वरूपके जाननेमे तो दोनों ही नय प्रयोजनीय हैं। इस अपेक्षासे उनमे प्रतिषेध्य-प्रतिषेधक भाव नहीं है। परन्तु स्वानुभूतिमें, आत्मानुभवनमे, निश्चयनय एकमात्र उपादेय, तथा व्यवहारनय हेय होनेसे, इस अपेक्षा उन दोनोमे प्रतिषेध्य-प्रतिषेधक भाव है।

(३६७) **प्रश्न**—"निश्चयनयाश्रित मुनि निर्वाणको प्राप्त करते हैं।" 'परमार्थके आश्रय करने वाले यति ही कर्मक्षय करते है' समयसारके इस कथनके अनुसार तो एकमात्र निश्चयनय ही परमार्थ है, वही मोक्षका हेतु है, वही ग्राह्य है, सत्य है, व्यवहारनय नही। तब सुमेल दोनोका कहाँ रहा ?[1]

समाधान—निश्चयनय आश्रय करने योग्य है। वह शुद्ध आत्माका स्वरूप दरशाता है। शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्ष है, अत उसकी उपादेयता सुनिश्चित है। व्यवहारनय अशुद्धात्माका प्रतिपादक है, 'अशुद्धात्मा' उपादेय नही है अतः हेय है। ये दोनो बातें सही हैं। यह निष्कर्ष भी सही है कि निश्चय-परमार्थनयके विषयभूत शुद्धात्माका ग्रहण ही कल्याणकारी है। तथापि व्यवहारनय आत्माकी वर्तमान अशुद्धावस्थाका प्रतिपादन करता हुआ हमे अपनी हेयरूप वर्तमान दशाका बोध कराता है। अपनी दुरावस्थाकी ओर यदि ध्यान न जाय, और उसे हेय न माने तो वह छूटे कैसे ?

हेयरूप ससारी, अशुद्ध दशाका अस्तित्व, पर्याय रूपमे सत्य ही है, असत्य नहीं है। इस दृष्टिसे व्यवहारनयका विषय भी सत्य है। परन्तु द्रव्य स्वरूप शुद्ध होनेसे, पर्यायगत अशुद्धताको त्रिकाली द्रव्य स्वरूप न होनेसे, उसे असत्य भी कहते हैं। यहाँ असत्यताका अर्थ अनुपादेयता ही है। उसका सर्वथा अभाव ऐसा अर्थ नही है। यदि मोक्ष प्राप्ति करनी है तो अपनी ससारी दशा, जो सत्य है पर अनुपादेय है, उसकी अनुपादेयता स्वीकार करनी होगी। तभी उसे छोड़कर उपादेयभूत मुक्त दशा अर्थात् शुद्धदशा प्राप्त होगी। निश्चयके आश्रय या परमार्थके आश्रयका यही रहस्य है। यहाँ मूल कलशमे भी निश्चयकी उपादेयताके लक्ष्यसे ही, यह कहा है कि निश्चयसे यदि वस्तु विचार किया जाय तो, कर्त्ता कर्म एक ही वस्तुमे हैं।

(३६८) **प्रश्न**—कर्तृ-कर्म भाव एक ही पदार्थमे रहो, या भिन्न-भिन्न पदार्थमे रहो, इससे आत्माके हित-अहितका क्या सम्बन्ध है, जिससे निश्चयके विषयको ही उपादेय मानें ?

समाधान—बहुत बड़ा सम्बन्ध है। वह इस प्रकार है—

आत्मामे ही कर्त्तापना और कर्मपना है। इसका तात्पर्य यह है कि यह आत्मा-स्वय अपने विकार रूप भावकर्मका यथार्थ कर्त्ता है, अत स्वय अपनी दुरवस्थाका जिम्मेदार है। यदि वह स्वावलबन कर, परसे अपने स्वरूपको भिन्न ज्ञातकर, सम्यग्दृष्टि वाला बने, और रागादि विकारोका दूर कर वीतराग भावरूप परिणति करे, तो वह अपनी वीतरागभाव परिणतिका कर्त्ता होगा। वह परिणति उसका कर्म होगी। इसका ही फल आत्मशुद्धि या मुक्ति है। वही सुख है।

---

१ तम्हिट्ठिदासहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥१५१॥
परमट्ठ बाहिरा जे णिव्वाण ते न पावन्ति ॥१५३॥
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

—समयसार कर्त्ता कर्म अधिकार।

पुद्गल कर्मका कर्त्ता आत्मा है, यह मात्र व्यवहार कथन ही है, परमार्थ नही है। मेरी परिणति का पर कर्त्ता है, यह भी यथार्थ नही है। परको दूर करनेकी चेष्टामे कभी सफलता नही मिलती, क्योकि परके ऊपर मेरा अधिकार नही है। उसका कर्तृत्व भी मेरी परिणतिके लिए कथन मात्र था, अवास्तविक था। आत्माको समारकी उलझनसे सुलझा लेनेका एकमात्र उपाय यही है जो वास्तविक कर्तृ-कर्म भाव है, उसे स्वीकार किया जाय। तथा जो कर्तृ-कर्म भाव दो पदार्थों मे कहा जाता है, उसे 'यह उपचार कथन किसी अपेक्षा है, यथार्थ नही है' ऐसा जानकर त्याग किया जाय।

(३६९) **प्रश्न**—जो सत्य है उमे स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारनयका विषय उसकी दृष्टिसे तो सत्य है। झूठा नही है। तब उसे भी निश्चयकी तरह स्वीकार करना चाहिए। दोनो सत्य उपादेय ही है। ऐसा कथन आप क्यो नही करते ?

समाधान—जो-जो सत्य हैं वे अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। दूसरेके स्थानके लिए सत्य नही हैं। जो-जो सत्य हैं, वे सब उपादेय हैं, ऐसा भी नही है। यदि ऐसा हो तो गुड और गोबर दोनो समान उपादेय हो जायेंगे, क्योकि ये अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। अत· विवेकोको सत्य होने पर भी हेय—उपादेयका भेदकर, उपादेयको ग्रहण करना चाहिए, और हयका परित्याग करना चाहिए।

(३७०) **प्रश्न**—मनुष्योकी दृष्टिसे भोजनके लिए गुड उपादेय है, गोबर अनुपादेय है। पर गोबरमे होनेवाली अपनी विशेषता है, अत· जब भूमि गुडसे खराब हो जाती है तब गोबरसे लीप दी जाती है। वहाँ गुड अनुपादेय है गोबर उपादेय हो जाता है। एकान्त तो नही है ?

समाधान—आपकी बात सत्य है। इसी प्रकार मुक्तिके लिए निश्चयनयाश्रित शुद्धात्मा ही उपादेय है। व्यवहारनयका विषय अशुद्धात्मा हेय है। इसे यो कहें कि मुक्तिके लिए वीतरागता उपादेय है, रागादि हेय है। इसके विपरीत ससारी दशा कायम रखनेके लिए वोतरागता अनुपादेय है और रागादि ही उपादेय है। क्योकि वे ही ससारी दशा मे जीवको बनाये रखनेमे समर्थ हैं।

इसी बातको लक्ष्यमे रखकर यह स्वीकार करने योग्य है कि आत्मा—परकर्तृत्वको, उपचरित मानकर, स्वकर्तृत्वको यथार्थ मानकर, रागादिका कर्तृत्व छोड़कर, अपनी वीतराग परिणतिका कर्त्ता बने, उसे ही अपना कर्म बनावे तो उसका हित हो सकता है। यह कलशका तात्पर्य है ॥२१०॥

एक वस्तुगत कर्तृ-कर्म भाव ही यथार्थ कर्त्ता कर्म है। यह नियम घटित करते हैं—

ननु परिणाम एव किल 'कर्म' विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

अन्वयार्थ—(**विनिश्चयत**) यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो (**परिणाम एव**) वस्तुकी पर्याय ही

(कर्म भवति) कर्म है। **(सः किल परिणामिन एव भवेत्)** वह परिणाम तो परिणामी द्रव्यका ही निश्चयसे होता है। **(न अपरस्य)** अन्य किसी दूसरेका नही होता। **(कर्तृशून्यम् कर्म इह न भवति)** कर्त्तासे रहित कर्म नही होता, **(न च एकतया इह वस्तुन स्थितिः)** तथा वस्तुकी स्थिति लोकमे सदा एक सी नही पाई जाती **(तत तदेव कर्तृ)** इसलिए परिणामी ही उस परिणामका कर्त्ता है ॥२११॥

भावार्थ—किसी कार्यके करनेवालेको कर्त्ता कहते हैं, और उसकी कार्य करनेकी क्रियासे निष्पन्न दशाको उसका 'कर्म' कहते है। यह कर्त्ता कर्मको व्याख्या व्याकरण शास्त्रमे प्रसिद्ध है। इस व्याख्याके अनुसार—मिट्टीमे घटरूप कार्य हुआ, उसे कर्म संज्ञा प्राप्त है, यह निर्विवाद है। अब यहाँ उसका कर्त्ता कौन है ? इस प्रश्नका समाधान लौकिक दृष्टिसे तदनुकूल क्रिया करनेवाला कुम्भकार उसका निमित्त कर्त्ता है, ऐसा माननेमे कोई विरोध नही है। वह स्वीकृत है।

यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो कार्य निष्पन्न होनेमे क्रिया मिट्टीमे हुई है, कार्यका फल भी उसीमे निष्पन्न हुआ है, अत. उस घट कार्यका कर्त्ता स्वय मिट्टी है, कुम्भकार नही।

परिणाम या पर्याय एकार्थ वाचक है। उसे परिणमन या परिवर्तन भी कह सकते हैं। परिणमन रूप क्रिया, परिणमनशील द्रव्यमे हुई है, अत वह द्रव्य ही उसका यथार्थ कर्त्ता है। परिवर्तन क्रियासे निष्पन्न फल भी द्रव्यको ही प्राप्त होता है। अन्य किसीको प्राप्त नही होता। कुम्भकारकी घट पर्याय कभी नही होती।

कर्त्ता न हो और कर्म हो ऐसा भी नही होता। जब कर्म है तो उसका कर्त्ता अवश्य है। यदि वस्तुमे कर्ता कर्मपना ही स्वीकार न किया जाय तो, 'वस्तु कूटस्थ नित्य है' ऐसा कहना होगा। परन्तु वस्तुकी स्थिति सदा एक सी न रहती है, और न दिखाई देती है। अतः सिद्ध है कि परिणाम रूप कर्मका कर्त्ता परिणामी द्रव्य ही है, अन्य कोई नही।

वस्तुकी नित्यता केवल द्रव्य दृष्टिसे है। अर्थात् वह द्रव्य अनादिसे है अनन्तकाल रहेगा। उस द्रव्यकी न कभी नए सिरेसे उत्पत्ति हुई है और न कभी उसका सर्वथा नाश होगा। वह सदासे है और सदा रहेगा। ऐसा सुनिश्चित नियम होनेपर भी, वह कुछ न कुछ परिवर्तन अपनेमे करता रहता है। यह उसका स्वभाव है। बिना परिवर्तनके उसका एक क्षण भी व्यतीत नही होता। ये प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन ही उसके कार्य हैं। कार्य ही 'कर्म' हैं और जिसके ये कार्य है वही द्रव्य उस 'कर्मका' कर्त्ता है। यह यथार्थ स्थिति है, जो अनाद्यनन्त है। न कभी द्रव्य (मूल वस्तु) मिटेगा और न उसका परिवर्तनशील स्वभाव मिटेगा। प्रत्येक द्रव्य अपने कर्मका स्वय कर्त्ता है ॥२११॥

अन्य वस्तु अन्य वस्तुके परिणमनका कर्त्ता नही है, क्योकि दो वस्तुओका पृथक सत्तापना सिद्ध है, इस हेतुसे उसे सिद्ध करते हैं—

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२१२॥

अन्वयार्थ—(यद्यपि स्वय स्फुटदनन्तशक्ति) यद्यपि द्रव्य स्वय अनन्त शक्तिकी प्रकटतारूप **(स्वयं)** स्वय ही है। **(तथापि अपरवस्तुन अन्यवस्त्वन्तरम् न विशति)** तो भी दूसरी किसी भी **वस्तु (द्रव्य)** का अन्य वस्त्वन्तररूप परिणमन नही होता। एक वस्तु दूसरेमे प्रवेश नही करती। **दोनोके** सयोग होनेपर भी **(बहिर्लुठति)** वह एक दूसरेकी सत्तासे भिन्न होनेके कारण उससे बाहिर बाहिर ही रहती है—**(यत सकलम् एव वस्तु)** क्योकि सभी वस्तुएँ **(स्वभावनियत इष्यते)** अपने स्वभावको नही छोडती यह माना गया है, तब **(स्वभावचलनाकुल मोहित इह किम् क्लिश्यते)** दूसरे पदार्थोंको मैं बदलूँ इस प्रकार अपने स्वभावसे च्युत हाने रूप परकर्तृत्वके अभिमानसे व्याकुल हुआ प्राणी क्यों व्यर्थ कष्ट उठाता है ॥२१२॥

भावार्थ—ससारके समस्त प्राणी अपनी-अपनी पुरुषार्थ शक्तिका उपयोग परद्रव्यके बनानेमे उसके परिवर्तन करनेमे, उसे अपनी इच्छानुकूल परिणमानेमे अनादिसे हो कर रहे है। यह उनका मोहित परिणाम है, भूल है। क्योकि प्रत्येक ही वस्तु अपने-अपने स्वभावमे नियत है। चेतन सदा चेतन रहेगा। अचेतन, अचेतन रहेगा। कभी इनके स्वभाव बदलेंगे नही। इतना ही नही, किन्तु पुद्गल (अचेतन) पुद्गल रूपमे परिवर्तित होते हुए भी, तद्रूप ही परिणमेगा, जिस रूपमे परिवर्तन होनेकी उसकी अपनी योग्यता है। उसे अन्य रूपमे कोई परिवर्तन नही करा सकता, ऐसा वस्तु-स्वभाव है। ऐसी स्थितिमे कर्तृ-कर्म भाव निश्चयसे एक वस्तुका उसी वस्तुमे है यह सिद्ध है। "परको करूँ" ऐसा भाव अज्ञानीको आता है, पर ऐसा भाव करना मोह—मिथ्यात्व या अज्ञान का परिणाम है, अर्थात् वस्तु स्वभावकी अजानकारीका ही यह फल है।

सर्वज्ञ भगवान् अर्हन्तदेवने अपने ज्ञान बलसे वस्तुकी यथार्थ स्थिति देखी है, और बताया है कि पदार्थ स्वय अनन्त शक्ति वाला है। उसकी अनन्त शक्तियाँ स्वयमे, स्वयसे है। उत्पादव्यय रूप परिवर्तन होना उस कथचित्—ध्रुव, स्थिर, नित्य द्रव्यका स्वभाव है। वह सदा स्वय परिवर्तन करता रहेगा, जो करता रहेगा वही उन परिवर्तनोका "कर्त्ता" यथार्थमे है तथा वे परिवर्तन ही उसके कर्म है।

निमित्तभूत अन्य द्रव्य, उस परिवर्तनके अनुकूल ही अपनी क्रिया करे तो उस परिवर्तनका निमित्त कहा जायगा। तथापि उस निष्पन्न कार्यमे उसका प्रवेश नही होगा। वह बाहिर ही लोटता रहेगा, जबकि परिणामी द्रव्य परिणामोमे पूर्ण प्रविष्ट होगा। अत अन्त प्रवेश करने वाला उसका यथार्थ कर्त्ता है—बाहिर ही बाहिर रहने वाला उसका यथार्थ कर्त्ता नही है, निमित्त-मात्र होनेसे व्यवहारीजन उसका कर्त्ता कहते हैं, पर यह मात्र उपचार कथन है।

(३७१) **प्रश्न**—उपचार कथन व्यावहारिक है या अव्यावहारिक ?

समाधान—व्यावहारिक है। व्यावहारिकताका हेतु पदार्थके परिणमनमे निमित्तका स्वयका तदनुकूल परिणमन है। वह अपनी उस परिणतिका ही यथार्थ कर्त्ता है क्योकि उससे वह अभिन्न है। जिस दूसरे पदार्थका वह निमित्त है उससे वह सर्वथा भिन्न है ?

(३७२) **प्रश्न**—क्या मूल वस्तुसे भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, वे सब निमित्त कहे जा सकते है ?

समाधान—नही। भिन्नता होनेसे निमित्तता नही है, निमित्तता तो उत्पन्न होनेवाले कार्य-के प्रति उसकी अनुकूल परिणतिके कारण है। अतः जो अनुकूल परिणत है, वे ही निमित्त हैं अन्य नही। तदनुकूल सक्रिय कुम्भकार ही घटोत्पत्तिमे निमित्त है।

(३७३) **प्रश्न**—फिर उस निमित्तको कर्त्ता क्यो नही कहा जाता ?

समाधान—क्योकि वह अनुकूल परिणति करते हुए भी उस कार्यकी सीमामे प्रवेश नही कर पाता। जबकि उपादान उस कार्यकी सीमामे पूर्ण प्रविष्ट है। उसने कार्यके प्रति अपना सर्वस्व समर्पण किया है—उस कालमे उसकी सम्पूर्ण सत्ता उस कार्यमे हो प्रविष्ट देखी जाती है, उससे भिन्न वह अल्पासे कुछ शेष नही है। अत उपादान ही कर्त्ता है। निमित्त ता अपनी तदनुकूल क्रिया करनेके बाद, स्वय स्वतत्र रूपमे अलग खडा है। इस अवस्थामे उसका कार्यमे कोई सम्बन्ध नही देखा जाता। दोनो अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सत्तारूपम, अपनी अपनी परिणतिको प्राप्त दिखाई दे रहे हैं। वे जिन-जिन परिणतियोको लिए है, अपनी उन-उन परिणतियोके ही वे कर्त्ता हैं। और वे ही परिणतियाँ उनके पृथक्-पृथक् कर्म हैं। एक दूसरेके परिणमनके कर्त्ता दोनोमे कोई नही है। तथापि जीव अपने अज्ञानके कारण, दृष्टि विपर्याससे पर द्रव्यको अपनी इच्छानुसार परिणमानेका वृथा प्रयास करता रहता है, और जब वह असंभव कार्य सभव नही होता तो व्यर्थ क्लेश उठाता है। ससारमे प्राणियोके दुखका एकमात्र कारण यही भ्रम है। आचार्य करुणायतन हैं, अत. ससारी भोले प्राणियोकी उस अज्ञानता पर द्रवित होते हुए कहते है कि ये बेचारे भ्रमवश क्यो दु.खी होते हैं ?

(३७४) **प्रश्न**—क्या आचार्य ससारके अज्ञानी प्राणियोको देखकर दुखी है, तब तो उनका दुख ससारी प्राणियोकी अपेक्षा बहुत अधिक है, क्योकि ससारी तो अपने दुःखसे दुःखी हैं, परसे उन्हें कोई प्रयोजन नही है। पर आचार्य अनन्त अज्ञानी प्राणियोके दु ख देख-देखकर दु.खी हैं, अत उनका दु.ख ससारी प्राणियोके दु खसे बहुत अधिक कहलाया ?

समाधान—ऐसा कथन तर्कसगत नही है। स्वय दु खका अनुभव करनेवाला ससारी उस दु खका भोक्ता है। द्रष्टा उसका भोक्ता नही है, तथापि यदि करुणाभाव आवे तो वह शुभराग है, राग होनेसे वह किंचित् आकुलता ही है।

(३७५) **प्रश्न**—भगवान् केवली समस्त ससारके प्रति करुणावान् होनेसे ही हितका उपदेश करते हैं। तब अन्य जैनाचार्योकी तरह इन्हे भी प्राणियोके इस अज्ञानके प्रति, शुभराग रूप आकुलता होती होगी। ऐसी स्थितिमे अनन्त सुखका सद्भाव कैसे माना जायगा ?

समाधान—भगवान् केवली पूर्ण वीतरागी है, अत न उनके अशुभ राग है, न शुभ राग है। रागके बिना भी प्राणियोके सौभाग्यमे ही उनकी वाणी विकासको प्राप्त होती है, इच्छासे नही। अत. उन्हे शुभराग भी नही है।

(३७६) **प्रश्न**—भगवान्‌को करुणानिधान भी कहा जाता है, तो क्या वे करुणावान् नही हैं ?

समाधान—वे करुणावान् नही हैं। करुण या दया शुभराग रूप है, वे रागादिसे सर्वथा रहित है। वे परका उपकार या अपकार नही करते। राग द्वेष रहित सर्वज्ञ वीतरागी हैं।

(३७७) **प्रश्न**—तब हम किसलिए उनकी पूजा करें ? लोकमे पूजा या तो भक्तिसे की जाती है, जो अपने उपकारीके प्रति होती है, या इस भयसे होती है कि ये हमारा बिगाड न कर दें। वीतरागी जब बनाव और बिगाड़ दोनो नही करते, तब उनसे न लाभ है न हानि है, अतः उनकी पूजा करना भी निरर्थक है।

समाधान—वीतरागकी पूजा, वीतराग भावको ही आदर्श मानकर की जाती है। लाभ-हानिकी बात आप सांसारिक लाभ-हानिकी अपेक्षा सोचते है। सासारिक या पारमार्थिक दोनो प्रकारकी हानि या लाभ, भगवान् केवलीसे नही होते, क्योकि मूलसिद्धान्तके अनुसार वे भिन्न द्रव्य हैं, आप भिन्न द्रव्य हैं। तब वे वस्तुस्वभावसे आपके परिणमनके कर्त्ता ही नही हैं।

हम उनको निमित्त बनाकर अपना सुधार स्वय करते हैं। लोकमे निमित्तको श्रेय दिया जाता है। अतः जिन वीतरागको निमित्त बनाकर अपना कल्याण प्राणी करते हैं, उनके प्रति आदरका भाव स्वय प्रकट होता है, यही उनकी पूजाका कारण है। अत पूजन करना निष्फल नही है। वे भले ही हमारा बनाव-बिगाड न करते हो, पर हम तो उनकी श्रद्धासे अपना कल्याण कर लेते हैं। अत पूजा करना सार्थक है।

(३७८) **प्रश्न**—ठीक है, हम अपना सुधार कर लें, पर उनकी पूजा क्यो करें ?

समाधान—जो वीतराग भावकी स्वय प्राप्ति चाहता है उसे वीतरागीके प्रति आदर-भाव आना स्वाभाविक ही है। अस्वाभाविक नही है। अत पूजा तो स्वय हो जाती है, करनी नही पडती। जिन्हें पूजा करनी पडती है, वे पूजा यथार्थमे करते नही हैं, कोई लोक-लज्जा कुलाम्नाय-की मजबूरी उनके सामने है, अत करनी पडती है। करना और करना पडना दोनोमे महान् अन्तर है।

(३७९) **प्रश्न**—सहस्र नाममे भगवान् केवली अरहन्तको 'दयाध्वज' 'दयामूर्त्ति' आदि नामोसे जो लिखा है, क्या मिथ्या हैं ?

समाधान—जैसे भक्तिवश हम उक्त शब्दोका प्रयोग करते हैं, वैसे उन्हे "अत्यन्त निर्दय" ऐसा भी तो लिखा है, यह भी तो उनके अनेक नामोमे एक नाम है।

(३८०) **प्रश्न**—'निर्दय' तो हिंसक परिणाम वालेको कहते हैं, तब ऐसा नाम उन्हें देना अज्ञानताका सूचक है।

समाधान—ऐसा नही है। दया राग है—उससे रहित होनेमे जैसे "वीतराग" कहना उप-युक्त है, उसी तरह 'निर्दय' कहना भी अनुपयुक्त नही है। दयारूप शुभरागसे सर्वथा रहित होनेसे 'अत्यन्त निर्दय' शब्दका प्रयोग किया है। उसका अर्थ "अत्यन्त वीतराग" ऐसा ही है।

वस्तुत· वीतरागी पुरुष—वीत-द्वेष भी हैं, अत लौकिकजनो द्वारा प्रयुक्त—'दयावान् और निर्दय' दोनो शब्दोके प्रयोग, उनके लिये नही किये जा सकते। फिर भी जो किये गए हैं सो उन दोनो प्रकारके परस्पर विरोधी शब्दोंका प्रयोग भी, इस बातका प्रमाण है कि वे वीतरागी वीतद्वेषी हैं। अत दोनो विरोधी शब्द उनकी यथार्थ स्थितिके ही प्रतिपादक है। इनमे कोई विरोधी नही है। परस्पर विरोधी धर्म भी एक वस्तुमे पाये जा सकते है, इसका विवेचन कलश ७०-७९ मे स्पष्ट रूपसे किया गया है।

(३८१) **प्रश्न**—आचार्य भी तो वीतरागी है, तब वे 'दुःखके या खेदके साथ कहते हैं' ऐसा प्रयोग आपने क्यो किया ?

समाधान—आचार्य जिस समय उपदेश रूप प्रवर्तन कर रहे हैं, उस समय भव्य प्राणियो पर दयाभावका उदय उनको आया है, वे उस समय शुभोपयोगी हैं, शुद्धोपयोगी वीतराग नही हैं।

(३८२) **प्रश्न**—फिर उन्हे वीतरागी क्यो कहते है ?

समाधान—अशुभराग उनका छूट गया है और शुभरागको भी छोडने योग्य मानते हैं, अत वीतरागी हैं, ऐसा कहना उपयुक्त है।

(३८३) **प्रश्न**—जिसे छोडनेलायक मानते हैं, उस शुभरागको करते क्यो हैं ?

समाधान—करते नही हैं, हो जाता है। वे अपनेको शुद्धोपयोगमे लगाना ही श्रेष्ठ मानते हैं, और प्रयत्न भी उसीका करते हैं, किन्तु ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होनेसे जब शुद्धोपयोग मे नही टिक सकते, तब शुभोपयोग स्वय ही हो जाता है। इसीलिए वे उस करुणारूप शुभरागके कालमे, वस्तु स्थितिका, परके अकर्तृत्वका, जब विचार करते है, तो पर-कर्तृत्वकी मान्यताके भ्रमसे जो दुखी है, करुणा कर उस मार्गसे उन्हे विमुख होनेका उपदेश देते है ॥२१२॥

एक वस्तु दूसरी वस्तुको मर्यादामे प्रवेश नही कर सकती, अत परवस्तुको अपना कर्म मानना उचित नही है इसी अर्थको पुष्ट करते हैं—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिस कारणसे (**इह**) इस जगत्मे (**एकम् वस्तु**) कोई एक द्रव्य (**अन्य-वस्तुन न**) अन्य द्रव्यरूप नही परिणमती, (**तेन**) यही कारण है कि (**तत् वस्तु वस्तु**) वह वस्तु, वस्तु है। (**अपर**) अन्य वस्तु (**बहिर्लुठन्नपि**) दूसरी वस्तुके बाहिर ही बाहिर रहती हुई (**अपरस्य अयम् किं करोति**) उस वस्तुका यह क्या करती है ? अर्थात् कुछ नही करती (**इति निश्चयः**) ऐसा निश्चय है ॥२१३॥

भावार्थ—चेतन द्रव्य वस्तुतः अमूर्तिक है। वह अन्य समस्त चेतन द्रव्योका सजातीय होते हुए भी, उनकी सत्तासे सर्वथा भिन्न ही है। ऐसा न हो तो जीवोकी अनन्तानन्त सख्या ही न रहेगी। सजातीयताके कारण सब एक दूसरेमे मिलकर अपनी सत्ता खो बैठेंगे। सत्ता किसीकी नाश नही होती, न असत् पदार्थ कभी नवीन सत्ताको प्राप्त करता है। यह अकाट्य नियम सभी मानते हैं। अत सर्व जीव भिन्न हैं, भिन्न सत्ता वाले हैं, और सदा भिन्न-भिन्न सत्तामे ही रहेगे। पुद्गल द्रव्य भी अपने सजातीय पुद्गलोके साथ, एकमेक स्कध दशाको प्राप्त हो सकते हैं, पर अपनी अपनी सत्ता अलग-अलग रखते हैं, वे भी अपनी सत्ता विलीन नही करते।

जब सजातीय द्रव्य परस्पर मिलने पर भी अपनी-अपनी सत्ता रखते है, तब विजातीय दो द्रव्य, जीव और पुद्गल तो मिली हुई दशामे भी अपनी सत्ता भिन्न रखते ही हैं। वे अपने-अपने गुण और प्रदेश तथा अपनी-अपनी पर्याय भी भिन्न-भिन्न रखते है। ऐसी वस्तु व्यवस्था है—तभी वस्तु अपनी वस्तुता कायम रखे हुए है। एक वस्तु दूसरी वस्तुके बाहिर ही बाहिर रहती है—तब दूसरेका कर्तृत्व उसमे कैसे है ? किसी भी प्रकार नही है ॥२१३॥

(३८४) **प्रश्न**—लोकमे ऐसा व्यवहार पाया गया है कि मैंने अमुकका उपकार किया। अमुकने मेरा उपकार किया। क्या यह मिथ्या है ? इस प्रश्नके समाधान रूपमे निम्न कलश है—

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

अन्वयार्थ—(स्वयं परिणामिन) जो वस्तु अपने स्वभावसे स्वय परिणमनशील है (**अन्य-वस्तुन**) ऐसी किसी अन्यवस्तुका (**यत्तु वस्तु किचन कुरुते**) कोई अन्य वस्तु कुछ करती है ऐसा कथन होता है। (**तत्व्यावहारिक दृशाएव**) वह केवल व्यवहारकी दृष्टिसे ही कहा जाता है। (**निश्चयात्**) निश्चयसे तो (**अन्यत् इह किम् अपिनास्ति**) अन्य वस्तु उस कार्यमे कुछ भी करती नही है ॥२१४॥

भावार्थ—सामान्य ससारी जनोमे ऐसा जो प्रवाद चलता है कि मैंने परका उपकार या अपकार किया, अथवा मैने गृह-वस्त्र-घट-पटादि बनाए, यह केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे निमित्त सापेक्ष कथन है, परमाथ नही है। परमार्थमे तो एक वस्तुका दूसरी वस्तुके परिणमनके कर्तृत्वसे कोई सम्बन्ध नही ह।

(३८५) **प्रश्न**—क्या परमार्थमे अन्य वस्तु निमित्त भी नही है ? घट-पटादि कार्योंमे कुम्भकार या जुलाहा उपादान कारण नही है, यह परमार्थ सत्य है, पर वे निमित्त कारण तो हैं ? उन्हे निमित्त कहना भी क्या अपरमार्थ है ?

समाधान—निमित्तको निमित्त कहना तो यथार्थ है, पर निमित्तमे कतृत्वका जो व्यवहार है—वह व्यवहार है। व्यवहार यथार्थ नही है। व्यवहारको व्यवहार मानना, परमार्थको परमार्थ मानना ही सम्यग्दर्शन है। व्यवहारको परमार्थ मानना ही विपरीत दृष्टि है।

(३८६) **प्रश्न**—पर यहाँ तो ग्रन्थकार कहते हैं कि निश्चयसे एक वस्तुका दूसरेके परिणमनके कर्तृत्वमे कोई सम्बन्ध नही है। माना कि वस्तु स्वय परिणमनशील है, सो इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि परिणमनशीलताकी योग्यता उपादानमे है, सो परिणमेगा तो वही, पर बिना निमित्तके कैसे परिणमेगा ? अत परिणमनमे निमित्तकी अपेक्षा तो है, और वह यथार्थ है। तब ग्रन्थकारका उक्त कथन क्या अर्थ रखता है ?

समाधान—तात्पर्य तो स्पष्ट है कि निमित्त, अनुकूल सहायक मात्र हैं, न कि कर्त्ता। सहायक कर्त्ता नही होता, कर्त्ता तो द्रव्य स्वय होता है।

(३८७) **प्रश्न—मैने** अमुककी सहायतामे उक्त कार्य किया, उसके बिना मै नही कर सकता था। क्या यह कथन यथार्थ नही है ?

समाधान—किसी अन्य सहायकके अवलम्बनमे किया, यह सत्य है, तथापि किया तो मैंने ही है, अत कर्त्ता मै हूँ। सहायक मात्र सहायक है। उस क्रियाका कर्ता नही है। जिन हारका अवलम्बन मैने किया, वह मेरे कार्यमे निमित्त है, उसको निमित्त माननेमे कोई दोष नही है। मूलवस्तु अपनी पर्यायमे अपने पुरुषार्थमे ही परिणमती है। अन्य वस्तु उसे परिणमाती नही ह।

तथापि अन्यके साथ बहिर्व्याप्ति है, यदि यह भी न हो तो उसे निमित्त भी कौन कहता ? वह भी अनिमित्तक अन्य पदार्थोंकी तरह ही माना जाता। अतः निमित्तको निमित्त माननेमे कोई आपत्ति नही है, मानना चाहिए। न मानना अयथार्थ है। तथापि निमित्त, उपादानके कर्तृत्वकी मर्यादामे बाहिर ही रहेगा। उसके अधिकार पर अपना स्वत्व वह त्रिकालमे भी स्थापित नही कर सकता।

(३८८) **प्रश्न**—आपने निमित्तको कार्यकी प्रकटतामे कुछ स्थान तो दिया। बहुतसे अध्यात्म शैलीका पठन-पाठन करने वाले तो कहते हैं, निमित्त कोई वस्तु ही नही है ? तो उनका कथन तो सत्य प्रतीत नही होता।

समाधान—उनका कथन निश्चयकी दृष्टिसे ही है। निश्चय की दृष्टिमे निमित्त कार्यकारी नही है, उपादान ही कार्यकारी है। इसे ग्रन्थकार की दृष्टि स्पष्ट कह रही है। निश्चय और व्यवहार दो दृष्टियाँ पदार्थके स्वरूप को देखने की हैं। एक दृष्टिमे दूसरी दृष्टिके कथन को मिलाने से ही भ्रम होता है। प्रत्येक व्यक्ति जब परमार्थ की दृष्टिसे देखे तो परकी दृष्टि दूर होगी। पर-कर्तृत्वका अभाव होगा।

ज्ञानीकी जब परके ऊपर दृष्टि जाती है, तब परकी यथार्थ स्थितिका बोध होता है। परन्तु वह उसे अन्य द्रव्यका कर्त्ता नही मानता। निमित्तमे कर्त्तापनेका व्यवहार मात्र करता है। उसे यथार्थ कर्त्ता व्यवहारी भी नही मानता। परमार्थ समझकर व्यवहार करना ही सच्चा व्यवहार है। अन्यथा व्यवहारको यथार्थ समझना अपरमार्थ है, उसे ही मिथ्या दर्शन कहते हैं ॥२१४॥

निश्चयकी दृष्टि क्या है ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः**) शुद्ध द्रव्यके निरूपण करनेकी मुख्यतासे प्रतिपादन करने या देखनेकी बुद्धिवाला व्यक्ति (**तत्त्व समुत्पश्यत.**) जो शुद्ध तत्त्वका अनुभव करता है वह देखता है कि (**एकद्रव्यगतं**) उस एक द्रव्यमे (**द्रव्यान्तरम्**) कोई अन्य द्रव्य (**किम् अपि**) कुछ भी (**न चकास्ति**) दिखाई नही देते, क्योकि वे उसमे है ही नही। (**यत्तु ज्ञान ज्ञेयमवैति**) ज्ञान तो चेतन द्रव्य है, वह जो अन्य द्रव्योको भी जानता है, (**तदय शुद्धस्वभावोदय**) वह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका ही उदय है, विकास है। जब ऐसा है तो (**जनाः**) ये सब प्राणी (**द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधिय**) अपने शुद्धात्मतत्वसे भिन्न ज्ञेयभूत अन्य चेतन अचेतन द्रव्योको चुम्बन करने, अर्थात् प्राप्त करनेकी बुद्धिमे, आकुलित होकर (**तत्त्वात्किंच्यवन्ते**) क्यो अपने शुद्धात्म स्वभावसे च्युत होते हैं ? ॥२१५॥

भावार्थ—परके सम्बन्धसे रहित शुद्ध द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि ही, निश्चय नय की दृष्टि हैं। वह स्व-परकी परस्पर सम्बन्धित दशामे भी, दोनो द्रव्यो की भिन्न-भिन्न स्थिति को देखती

है। निश्चय दृष्टिमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सत्ताने, उसके गुणोसे, उसकी पर्यायोमे, उसकी प्रदेश सख्यासे, सर्वथा भिन्न सत्तावाला है, भिन्न गुणो वाला है, भिन्न पर्याय तथा भिन्न प्रदेशो वाला है। एक द्रव्यमे दूसरे द्रव्यका कभी प्रवेश नही होता। निश्चय दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टिको शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव होता है। वह उस समय उसे छोडकर अन्य कुछ भी उसमे नही देखता।

(३८९) **प्रश्न**—यहाँ यह प्रश्न तो अवश्य उपस्थित होता है। कि जब ज्ञान, शुद्ध चैतन्यका स्वरूप है, उसमे अन्य पदार्थ नही हैं, तब केवलज्ञान जो परिशुद्ध ज्ञान है, उसमे समस्त चेतन अचेतन पदार्थ किस प्रकार प्रकाशित हो जाते है ? क्या यह चेतनमे अन्यका प्रवेश नही है ?

समाधान—इस प्रश्नका उत्तर कलशमे ही आचार्य श्रीने दिया है, कि ज्ञानमे ज्ञेय की जानकारी होना, ज्ञानके शुद्ध स्वभावका ही विकास है—प्रकटपना है।

ज्ञान ज्ञेयरूप नही हो जाता, और न ज्ञेयको ज्ञानरूप बनाता है। ज्ञेयको जानने मात्रसे उनकी यथार्थ स्थिति ही स्पष्ट हो जाती है। उस ज्ञानमे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ मुझसे सर्वथा भिन्न, अपने अपने स्वरूपमे प्रकाशमान है।

ज्ञान का कार्य ज्ञेयको जानना मात्र है। जैसे दर्पण अपने स्वरूपमे स्वच्छ है, सामनेके लाल पीले पदार्थ उसमे प्रतिबिंबित हो दिखाई दे रहे है, पर जो दिखाई दे रहा है, वह दर्पणके स्वच्छ स्वभावका ही प्रदर्शन है। दर्पणमे अन्य पदार्थ का प्रवेश किंचित् भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानमे ज्ञेयके जाननेसे कोई अशुद्धता नही आती। जानना तो उसका स्वभाव ही है ॥२१५॥

जाननेके सिवाय ज्ञान ज्ञेयमे कोई अन्य सम्बन्ध नही है, ऐसा प्रतिपादन करते है—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद् द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात् स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धद्रव्यस्वरस भवनात्**) शुद्ध आत्म द्रव्य जब अपने ज्ञानके द्वारा अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है, तब वह जानना उसका शुद्ध परिणमन ही है तब (**शेष अन्यद् द्रव्य किं स्वभावस्य भवति**) ज्ञेयभूत अन्यद्रव्य क्या ज्ञान रूप हो जाएँगे ? (**यदि वा**) यदि ऐसा हो जाय (**तस्यकिं स्वभाव स्यात्**) तब आत्म द्रव्य का क्या स्वभाव होगा ? इसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—(**ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति**) चन्द्रकी चाँदनी जब फैलती है तो समस्त पृथ्वी श्वेत ही दीखती है तथापि (**भूमि न तस्यास्ति**) भूमि ज्योत्स्नाकी नही हो जाती। इसी प्रकार (**ज्ञान ज्ञेय सदा जलयति**) ज्ञान ज्ञेयको सदा जानता है, तथापि (**ज्ञेय अस्य नैव अस्ति**) ज्ञेय ज्ञान का नही हो जाता ॥२१६॥

भावार्थ—आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमता है तब वह आत्मा पूर्ण द्रव्य है। उसका कोई अश उस स्वभाव परिणमनके बाहिर, अलगसे शेष नही बचा रहता। न वह अन्य द्रव्य रूप कभी होता है। यदि ऐसा हो जाय तो चेतन अचेतन रूप हो जायगा। तब उसकी

चैतन्य शक्ति युक्त जो सत्ता थी उस सत्ताका क्या होगा ? अत सिद्ध है कि कोई द्रव्य, पर द्रव्य रूप परिणमन नही करता जैसे चन्द्रमाके पूर्णोदयमे समस्त पृथ्वी ऐमी दिखाई देती है, जैसे वह दूधमे नहा गई हो। वस्तुत ऐसा दिखाई देने पर भी चाँदनी, चाँदनी रहती है, वह पृथ्वी नही बनती, न पृथिवी चाँदनी बनती है। इसी प्रकार ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूप परिणमन करता है तो समस्त ज्ञेय उसमे प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा होनेपर भी ज्ञानमे चेतन अचेतन द्रव्योका प्रवेश नही है। ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहते हैं, और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है। वे कभी एक दूसरे रूप नही परिणमते हैं ॥-१६॥

(३९०) **प्रश्न**—क्या यह सत्य है कि ज्ञान ज्ञेयरूप नही होता ? देखा तो यह जाता है कि ज्ञानमे सभी पदार्थ विद्यमान हैं ? अन्यथा उनको ज्ञान कैसे जानता ? इसके बिना सर्वज्ञ का ज्ञान सबको कैसे जानता ?

समाधान—ज्ञानका स्वभाव जानने का है। ज्ञेयका भी स्वभाव ज्ञानके द्वारा जाना जाये ऐसा है, अत अपने ज्ञान-ज्ञेय-स्वभावकी अनुकूलतासे दोनोमे अपनी-अपनी क्रियाएँ पाई जाती हैं। ज्ञेय ज्ञानमे विद्यमान नही है, अपने-अपने स्थानमे विद्यमान है। यदि ज्ञानमे आ जाते तो उन-उन स्थानोमे उनका अभाव हो जाना चाहिए। पर ऐसा नही देखा जाता। उससे सिद्ध है कि ज्ञेय चलकर ज्ञानमे नही आते।

(३९१) **प्रश्न**—यह भी सत्य है कि ज्ञेय अपने-अपने स्थानमे पाए जाते हैं, अत वे ज्ञानमे नही आए। तथापि ज्ञानमे दिखाई देते है, जैसे दर्पणमे वस्तुएँ दिखाई देती हैं। प्रश्न यह है कि जब पदार्थ अपने-अपने स्थानमे ही रहते है, तब ज्ञानमे या दर्पणमे दिखाई देनेकी क्रिया क्या भ्रम पूर्ण है ?

समाधान—पदार्थका ज्ञानमे झलकना भ्रमपूर्ण नही है। वह वास्तविक है, क्योकि वे पदार्थ भी वास्तविक हैं। परन्तु ज्ञेयो का यह ज्ञान, ज्ञानकी स्वच्छता रूप उसीका अपना परिणमन है। ज्ञेयोके निमित्तसे होनेवाला ज्ञानका यह परिणमन, यथार्थ ही है, भ्रम नही है। इसी प्रकार पदार्थोंका दर्पणमे प्रतिबिम्बित होना, दर्पण की स्वच्छता रूप, उसका अपना परिणमन है। पदार्थ उस परिणमनमे निमित्त है। दर्पण तो अचेतन पदार्थ है इसलिये उसके भ्रमित होने का प्रश्न ही नही उठता।

(३९२) **प्रश्न**—यह माना कि दर्पण अचेतन है अत उसे ज्ञान नही हो सकता। सो भ्रम ज्ञान भी उसमे नही होता। तथापि दर्पणम पदार्थ है, यह भ्रम देखने वाले को होता है। हम तो ऐसा समझते है कि—पदार्थ अपने स्थानमे है, ज्ञानमे या दर्पणमे पदार्थ हैं नही, और दिखाई उनमे भी दे रहे हैं, तब या तो वह भ्रम है, या फिर पदार्थ दो-दो हो गए हैं। एक ज्ञानमे है—दूसरा सामने है ?

समाधान—ऐसा नही है—यदि ऐसा माना जायगा तो जितने अनन्त सिद्ध हैं, उन सबके ज्ञानमे सभी पदार्थ झलकते हैं अत सबके ज्ञानमे अलग-अलग पदार्थ होवें तो अनन्त पदार्थोंकी उत्पत्ति माननी अनिवार्य होगी।

(३९३) **प्रश्न**—बात तो सही है, तब 'ज्ञानमे पदार्थकी छाया पडती है, जैसे दर्पणमे छाया पडती है' ऐसा मानना ही सत्य होगा। फलत दर्पण या ज्ञानमे सामने वाले पदार्थका आना दिखाई नही देता, वे तो अपने-अपने स्थान पर स्थित है, पदार्थ उनमे नया उत्पन्न होता नही है, तब उन पदार्थोंसे उनकी छाया ही अश रूपमे—ज्ञान या दर्पणमे आती है, ऐसा मानना उपयुक्त होगा ?

समाधान—पदार्थका कोई अश, ज्ञान या दर्पणमे नही आता। यदि छाया को मूल पदार्थ का अश रूपमे आना माना जाय, तो सौ दर्पण चारो ओर रखे जाने पर सामने वाले पदार्थ मे से सौ अंशोके निकल जानेके कारण, पदार्थ क्षीण हो जायँगे। परन्तु पदार्थोंमे क्षीणता दृष्टिगोचर नही होती। अत पदार्थमे से कोई अश नही आता ऐसा मानना होगा।

(३९४) **प्रश्न**—तब यथार्थ क्या है ? पदार्थ ज्ञानमे आता नही। ज्ञान पदार्थमे जाता नही। उसके कुछ अश भी आते जाते नही। ज्ञानमे या दर्पणमे पदार्थ दिखाई देते ही हैं, भ्रमपूर्ण ज्ञान वह है नही ? फिर क्या है ? इस उलझनको सुलझाइए। इस स्थितिमे तो ज्ञान और पदार्थबोध, तथा पदार्थ, सभी उलझनमे पड गये है।

समाधान—वे उलझनमे नही पडे। वे तो सदा कालसे अपना-अपना काम करते आ रहे है अत सुलझे है। उनकी स्थितिको न समझ पानेसे आप उलझनमे है, सो आप अपनी उलझनको इस प्रकार सुलझाइए—

दर्पण स्वच्छ है, अत उसके स्वच्छाकार स्वभावके कारण, जो पदार्थ उसके सामने होता है—उसके निमित्तसे दर्पण ही तत्काल अर्थाकार जैसा स्व परिणमन करता है। वे आकार जो उसमे दिखाई देते हैं— दर्पणकी ही स्वच्छताके परिणमन है। वे दर्पणके अलावा कोई अन्य पदार्थ नही हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानादि सम्पूर्ण ज्ञानोमे, जगत्के समस्त पदार्थ, जो दिखाई देते है, वे उस शुद्ध ज्ञानके ही परिणमन हैं—न उसमे पदार्थ है—न पदार्थका भ्रम है। जो दिखाई देता है वह ज्ञानका ही तत्समानाकार परिणमन है, अतः यथार्थ ही है, भ्रम नही है।

एक सौ क्या एक कोटि भी दर्पण हो, तो उन सबमे हम अपना मुख देख सकते है। सो वस्तुत हमारा मुख तो हमारे ही पास है। उसका कोई अश दर्पणमे जाता तो हमारे मुखके एक कोटि अश उनमे चले जाते। तब मुख दुर्बल हो जाता। इतना ही नही, कुछ और अधिक दर्पणोके योगमे वह मिट ही जाता। पर ऐसा नही देखा जाता। इसी प्रकार ज्ञानका अर्थ समानाकार परिणमन ही होता है। न पदार्थ आता है—न जाता है—न अश आते जाते है, किन्तु स्वच्छ ज्ञानका अर्थके निमित्तसे स्वभावरूप ही परिणमन है, ऐसा जानना चाहिए।

(३९५) **प्रश्न**—ज्ञान क्या (सिर्फ) ज्ञान मात्र है, या वह स्वय ज्ञेयरूप भी है ? यदि वह स्वय ज्ञान रूप ही है, तो अनन्ते सिद्ध परमात्माओका ज्ञान (सिर्फ ज्ञान) है यह कोई केवली भी न जान सकेगा। ऐसी अवस्थामे सबसे बडा दोष यह होगा कि हम सब सचेतनोको केवली कैसे देखेंगे ? क्योंकि हम सब सचेतन ज्ञान रूप हैं, ज्ञेयरूप नही। तब उनके ज्ञानके विषय आत्मद्रव्यके सिवाय पाँच द्रव्य ही होगे ?

समाधान—ज्ञान ज्ञानरूप भी है, और ज्ञेयरूप भी हे। ज्ञान दीपककी तरह स्व पर प्रकाशक है, दीपकके द्वारा सामनेके पदार्थ दिखाई देते हैं, पर दीपक भी अपने प्रकाशमे स्वय दिखाई देता है। दीपकको देखनेको जैसे दूसरा दीपक आवश्यक नही होता, इसी प्रकार ज्ञानके जाननेको अन्य ज्ञान आवश्यक नही होता—वह भी स्व-पर प्रकाशक है अत वह ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है, यह निश्चित है।

ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूपमे नही होता तब तक ही राग द्वेष दोनो की उत्पत्ति होती है—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवति तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषद्वयम् तावत् उदयते**) रागद्वेष तब तक ही जीवमे उठते है (**यावत् एतत् ज्ञान ज्ञान न भवति**) जब तक ज्ञान शुद्ध ज्ञान नही बनता, और (**बोध्य बोध्यता न याति**) ज्ञेय केवल वे ज्ञेय मात्र है ऐसा उनके सम्बन्धमे ज्ञान नही होता। (**तत् इद ज्ञान न्यक्कृताज्ञानभाव ज्ञान भवतु**) अतएव अज्ञान भावको दूर करके, ज्ञान शुद्ध-मात्र-ज्ञान रूप बनो। (**येन**) जिससे कि (**भावाभावौ तिरयन्**) भाव अर्थात् उत्पत्ति और अभाव अर्थात्, विनाश, एतद्रूप जो ससार परिभ्रमण, उसका अभाव करके जीव (**पूर्णस्वभाव भवति**) अपने परिपूर्ण अनन्त ज्ञानादिरूपमे प्रकट हो ॥२१७॥

भावार्थ—मिथ्यात्व भावके आनेपर ज्ञान, अज्ञान रूप होता हे अर्थात् विपरीत ज्ञानरूप परिणमन करता है। इसी अज्ञान परिणतिमे ही रागद्वेषका उदय होता है। अर्थात् मिथ्यात्व परिणामके होनेपर ही जीव अपनेसे भिन्न देहादिमे, या स्त्री-पुत्रादिमे, या घर मकान, धन, धान्यादिमे— जो इष्ट रूप हो, अपने विषयके साधक हो, उनमे राग अर्थात् प्रीति करता है, तथा जो विषयके साधक न हो, किन्तु बाधक हो, उनमे द्वेष करता हे।

अज्ञानभाव दूर हो, अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम मिटे, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो, तो ज्ञान अपने जानन स्वरूप मात्रमे स्थित हो, और ज्ञेय ज्ञानके विषय मात्र रहे, तो उनमे फिर इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि ही नही होगी, तब रागद्वेष भी नही होगे। अत- प्रत्येक हितेच्छु को चाहिए कि वह मिथ्यात्व रूप परिणति का त्याग करे। सम्यग्दर्शन अपनेमे उत्पन्न करे। तत्त्वज्ञानी को किसी पदार्थमे रागद्वेषकी उत्पत्ति नही होगी—इसे ही सम्यग्चारित्र कहते है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही ससारके दुखोसे मुक्ति दिलाते है।

करुणायतन आचार्य यही भावना करते है कि ससारके सभी दुखी प्राणी, जो अपने अज्ञानसे दुखी है, चतुर्गति ससार रूप परिभ्रमण करते हैं, वे इस तात्त्विक रहस्य को समझें, जिससे परमे निजत्वका सकल्प अथवा निजमे परकी एकता का जा भ्रमज्ञान है, जिससे रागद्वेषकी प्रसूति होती है, वह दूर हो जावे। आत्मा अपने निज अखण्ड चैतन्यक पुजको अपन रूपमे देखें। यही

१. बोध्ये इति पाठान्तरम्।

उसका पूर्ण स्वभाव रूप प्रकट हाना है। यही ज्ञानकी पूर्णता या केवल ज्ञानकी प्रकटता है। इसीस इसके भाव = उत्पत्ति, अभाव = विनाश रूप चतुर्गति परिभ्रमण समाप्त हो जाता है ॥२१७॥

राग-द्वेषका अभाव कैसे हो इसका उपाय बताते है—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्
सम्यग्दृष्टि: क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्टया स्फुटन्तौ ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१८॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञान अज्ञानभावात्**) जब ज्ञान (मिथ्यात्वके उदयमे) अज्ञान भाव रूप परिणत होता हे तब (**इह**) आत्मामे (**रागद्वेषौ हि भवति**) राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। (**वस्तुत्व-प्रणिहितदृशा**) यदि जीव नामक वस्तु को वस्तुत्व की दृष्टिमे (**तौ दृश्यमानौ**) उनको देखा जाय तो (**न किंचित्**) वे कुछ भी नही हैं। वे तो केवल अज्ञान दशामे प्रकट होनेवाले है (**तत**) इसलिए (**सम्यग्दृष्टि तत्त्वदृष्टया स्फुटतौ क्षपयतु**) सम्यग्दृष्टि जीव अपनी तत्त्वदृष्टिमे निश्चयसे उन दोनोका क्षय करे (**येन**) जिससे कि (**पूर्णाचलार्चि**) पूर्ण किरणो वाली स्थिर, अविचलित, सम्पूर्ण (**ज्ञानज्योति सहजं**) केवलज्ञानकी ज्योति सहज ही (**ज्वलति**) प्रकाशमान होती है ॥२१८॥

भावार्थ—जब जीवके मिथ्यादर्शन कर्मका उदय होता है तब ज्ञानावरणके-क्षयोपशमसे प्राप्त ज्ञान भी मिथ्याज्ञान रूप परिणत हो जाता है। उसे ही यहाँ 'अज्ञान' शब्द द्वारा कहा गया है। इस मिथ्याज्ञानपने की दशामे ही जीवको परम इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है। अत. उनसे रागद्वेष भी होता है। ये मिथ्यात्व तथा रागद्वेष सब आत्मस्वभावसे भिन्न है, अर्थात् स्वभाव रूप नही है। इसलिए शुद्ध आत्माका अनुभवन करनेपर उस आत्मतत्त्वमे, इनका अस्तित्व ज्ञात नही होता।

यही कारण है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शनके प्रभावसे, अज्ञान भाव दूर कर अपनेमे सम्यग्ज्ञान प्रकट करता है, तब उन रागद्वेषादि समस्त विकारी भावोका, अपने तत्वज्ञानके बलसे क्षय कर देता है। विकारोके क्षयसे उस आत्मामे अपनी सम्पूर्ण कलाओसे युक्त, केवलज्ञानकी ज्योति प्रकट होती हे, जो सदाकाल अचल रहती है। कभी बुझती नही है।

(२९६) **प्रश्न**—रागद्वेष यदि आत्माके स्वभाव नही है तो किसके स्वभाव हे? उत्पत्ति तो उनकी आत्मामे ही होती है, अत वे आत्म-स्वभाव ही माने जाना चाहिये। यदि आत्म-भिन्न पदार्थके स्वभाव हैं तो वे परभाव आत्मामे कैसे आते हैं।

समाधान—यह सत्य है कि एक द्रव्यके भाव दूसरे द्रव्यमे प्रवेश नही पाते। अत. ये किसी अन्य द्रव्यके भाव नही है, तथापि वे आत्माके भी स्वभाव नही है, क्योकि वे कर्मोदयमे होते हैं। परके उदयके निमित्तसे हो वे नैमित्तिक भाव हे, स्वभाव नही है।

(२९७) **प्रश्न**—माना कि कर्मोदयके निमित्तमे ही वे होते हैं, पर होते तो आत्मामे हैं। यदि तत्स्वरूप परिणत होने की उपादान योग्यता आत्मामे न होती तो क्या निमित्त उसे परिणमा सकता? कभी नही। रागद्वेष आत्मोपादान है, अत. वे आत्मस्वभाव ही हैं?

समाधान—रागद्वेष अशुद्ध आत्मोपादान हैं, अत वे आत्मस्वभाव नहीं हैं। आत्म स्वभाव वे हैं जो निमित्तके बिना स्वयं सहज होते हैं। स्वभाव सदा काल रहता है, पर निरपेक्ष होता है। जबकि नैमित्तिक भाव निमित्त सापेक्ष होता है। निमित्तकी अनुपस्थितिमें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

(३९८) **प्रश्न**—सभीके सदा काल, अनादि से रागद्वेष पाए जाते हैं, अत उन्हे आत्माका स्वभाव मानना चाहिए। केवलज्ञानादि तो सदा काल से नहीं हैं, कभी किसीके उत्पन्न हो जाते हैं, अत. वे क्वचित् तथा कादाचित्क होनेसे स्वभाव रूप नही माने जाना चाहिए ?

समाधान—यह सत्य है कि रागद्वेष की परम्परा अनादिसे है, तथा अनतानत प्राणियो मे है, पर इतने मात्रसे वे स्वभाव तथा उपादेय नही हो सकते। सदासे चली आना, और सर्वत्र पाया जाना यह स्वभाव का नियामक नही है। उनके स्वभाव रूप न होनेका हेतु यह है कि वे आत्मो-पादान होते हुए भी, जीवकी अज्ञान दशा प्रसूत है। ज्ञान दशामे वे मिट जाते है। जो मिट जाता है, वह स्वभाव नही होता, क्योकि स्वभावका कभी भी घात नही होता। यदि स्वभावका घात हो जाय, तो वस्तुका अस्तित्व ही मिट जाय। आत्माका अस्तित्व अनाद्यनन्त है और रागद्वेष उत्पन्न ध्वसी है, अत वे रागद्वेष स्वभाव रूप नही हैं।

प्रश्नका दूसरा अश था केवलज्ञानको स्वभाव न माननेका, सो केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है, आत्मा ज्ञान-गुण स्वभावी है। यह सामान्य ज्ञान-गुण उसमे अनादि कालसे है, अनन्त काल तक रहेगा, अत केवलज्ञान आत्माका स्वभाव नही है, किन्तु वह आत्मा के चैतन्य गुण की शुद्ध पर्याय है। जब जीव अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप परिणति त्यागता है, अर्थात् ज्ञानकी अशुद्ध परिणतिको त्यागता है, तब वही ज्ञान अपनी केवलज्ञान रूप शुद्ध पर्यायको प्रकट करता है, ऐसा ग्रन्थकार स्वय इसी कलशमे प्रतिपादित कर रहे हैं।

(३९९) **प्रश्न**—रागादि आत्मोपादान हैं, आत्मामे ही होते हैं। निमित्त भूत-कर्म रागद्वेष रूप नही परिणमता। जिन पदार्थोंसे हम रागद्वेष करते हैं—उन अचेतन पदार्थों मे रागद्वेष परिणति नही है तब रागद्वेष आत्मस्वभाव क्यो नही है ?

समाधान—इसका समाधान पूर्वमे दे चुके हैं, कि जो-जो आत्मोपादान हो वे वे आत्म स्वभाव हो, ऐसा नियम नही है। रागद्वेष संयोगज-भाव हैं न कि स्व-भाव। स्वभाव स्व से स्व मे होता है, वह पर-सयोग मे नही होता। जैसे जल स्वय स्वच्छ स्वभावी है, उसमे शैवाल पर सयोग मे, मलिन पदार्थों के सयोग मे होता है। वह जलोपादान है, पर वह जल नही है—जल स्वभाव भी नही है। वह तो जल को ही मलिन करने वाला है।

इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है, मिथ्यात्वके योगमे विकारी बनता है, उस विकारसे ही राग-द्वेष दोनो होते हैं। वे आत्मामे होते हैं,—आत्मोपादान हैं, अन्यत्र नही होते, तथापि आत्मस्वभावके घातक होनेसे, स्वयं स्वभाव रूप नही, विभाव हैं। विकार हैं। यही कारण है कि जिसने आत्माको स्वभाव दृष्टिसे देखा,—उसने देखा कि—स्वभाव की स्वच्छतामे विकार अपना अस्तित्व नही रखते। ज्ञानी फिर विकाररूप नही परिणमता और उसी स्वभाव साधनाके फलस्वरूप अनन्त कैवल्यको प्राप्त होता है।

(४००) **प्रश्न**—आपने केवलज्ञानको पर्याय कहा। पर्याय उत्पन्न ध्वसी है, नैमित्तिक ही होती है, क्योंकि कार्योत्पत्तिमे उपादान व निमित्त दोनो अन्तरग बहिरग कारण बताए गये हैं। अतः केवलज्ञान स्वभाव नही है, तो क्या वह विभाव है ? नाशवान् है ?

समाधान—केवलज्ञान एक शुद्ध पर्याय है। यह सत्य है कि पर्याय उत्पाद-व्यय युक्त ही होती है, अतः केवलज्ञान भी उत्पाद-व्यय सहित है। तथापि शुद्ध पर्याय अब शुद्ध पर्यायके रूपमे ही परिवर्तित होती है। केवलज्ञानको सादि अनन्त कहा गया है क्योंकि वह सदा उसी केवलज्ञानरूप शुद्ध पर्यायमें ही परिणत होता रहेगा। एक बार शुद्ध हो जाने पर जीवने शुद्ध पर्याय हो प्रकट होती है, फिर अशुद्ध पर्यायें प्रकट नही होती।

(४०१) **प्रश्न**—कहा तो यह जाता है कि केवलज्ञान आत्माका स्वभाव है। वह कर्म क्षयसे प्रकट होता है। कर्मके कारण ढँका था, जो प्रकट हुआ ?

समाधान—जो कहा जाता है वह सत्य है। ज्ञान आत्माका गुण या स्वभाव है,—लक्षण है, वह अनाद्यनन्त है। उसका पूर्णरूप केवलज्ञान है। वह रूप अप्रकट था, अर्थात् वह पर्याय शक्ति रूप तो आत्मामे विद्यमान थी, अब कर्मोदयके अभावमे प्रकट हो गई है। अतः ज्ञान शक्तिका, जो जीवका स्वभावरूप है, पूर्ण प्रकट हो जाना—स्वभावका प्रकट हो जाना कहा जाता है। अपेक्षा भेदसे यह कथन किया जाता है।

सभी कार्योंमे निमित्त होता है, इतने मात्रसे वे नैमित्तिक या विभाव नही हो जाते। जिन निमित्तोके आधार पर द्रव्य विभाव रूप परिणमन करें, वे नैमित्तिक या विभाव हैं। पर जिन काल आदि सामान्य निमित्तोके होनेपर स्वभाव रूप ही परिणमन हो, वे कार्य स्वभाव रूप है।

(४०२) **प्रश्न**—अज्ञान भाव, ज्ञानावरणके उदयका कार्य है। रागादि मोहोदयके कार्य है। अतः कारणभेद होनेसे कार्यभेद अवश्यभावी है। तब इन दोनोका परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

समाधान—कारणभेद अवश्य हैं पर दोनो कर्मोंके उदयजन्य विकारकी भूमि तो मात्र एक आत्मा ही है, अतः मोहसद्भावमे विकारी ज्ञान ही रागादि रूप है ऐसा कहना असगत नही है ॥२१८॥

राग द्वेष परनिमित्तक होने पर भी, परद्वारा उत्पन्न नही किए जाते, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यत् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्व-स्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

अन्वयार्थ—(**तत्त्वदृष्ट्या**) वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो (**रागद्वेषोत्पादकं**) रागद्वेषको उत्पन्न करने वाले (**किञ्चन अपि**) कोई किञ्चित् भी (**अन्य द्रव्य**) आत्मभिन्न द्रव्य (**न वीक्ष्यते**) नहीं दिखाई देते। (**यस्मात्**) क्योंकि (**सर्वद्रव्योत्पत्ति**) सभी द्रव्योकी उत्पत्ति (**स्वस्वभावेन**) अपने अन्तरगमे अपने स्वभावसे स्वय ही (**अत्यन्तं व्यक्ता अन्त चकास्ति**) निश्चित ही स्पष्ट रीतिसे स्वय प्रकाशित होती है। अन्य गुण पर्याय रूप नही होती ॥२१९॥

भावार्थ—पूर्व कलशमें बताया था कि रागादि भाव जीव अपनी अज्ञानतासे करता है। रागद्वेष उसके स्वभाव रूप नही हैं—परनिमित्तसे होते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इसका यह

अर्थ न समझना कि उनके उत्पन्न करने वाले, कोई आत्मभिन्न चेतन या अचेतन परद्रव्य कारण रूप होगे। सभी द्रव्योका उत्पाद अपने स्वयमे स्वयसे स्वभावत होता है। क्योकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सभी द्रव्योका स्वभाव है। यह बात अत्यन्त निश्चित, अत्यन्त स्पष्ट, हरएकको स्वय ज्ञात होती है ॥२१९॥

(४०३) **प्रश्न**—जब वे रागादि स्वभाव रूप नही हैं, तब 'उनकी उत्पत्ति आत्मामें स्वयं स्वभावसे होती है' ऐसे परस्पर विरोधी वाक्य कैसे सगत हो सकते हैं ? या तो वे परसे होते हैं अतः विभाव हैं—स्वयसे नही होते अत. स्वभाव नही हैं ऐसा कहिए, या ऐसा कहिए कि स्वय आत्माके स्वभावसे होते है अत स्वभाव हैं। स्वभावसे होते है और वे विभाव हैं, ऐसा कथन तो आपके लिए स्व-वचनबाधित है। आचार्य स्व-वचन-बाधित प्रयोग कभी करते नही, तब उक्त कथन का क्या रहस्य है स्पष्ट करें ?

समाधान—रागद्वेष आत्माके स्वभाव नही हैं। यह सत्य है, तथापि परिणमन वस्तुका स्वभाव है। वह परिणमन चाहे स्वभावरूप हो, अथवा विभावरूप हो, पर परिणमन अवश्य होगा। यहाँ कलशमे स्व-स्वभावेन शब्दका अर्थ परिणमन स्वभाव जानना चाहिए। जैसे रस पुद्गल द्रव्यका गुण स्वभावतः है। किसी अन्य द्रव्यके कारण पुद्गल रसवान् नही है, तथापि खट्टा-मीठा आदि रूप परिणमन उसका परनिमित्तसे हो जाता है। जब परिणमन उसकी स्वयंकी योग्यता है तभी तो परनिमित्तसे विभावरूप परिणमन करता है, और परनिरपेक्षतामे स्वयं अपने स्वभाव रूप परिणमन करता है। इस योग्यताके अभावमे—द्रव्य स्थिर हो जायगा—परिणमन शीलता रुक जायगी, पर ऐसा होता नही है। संसारी दशा हो या मुक्तावस्था हो, शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो, परिणमन प्रति समय अनिवार्य रूपसे होता ही है। अतः रागद्वेष आत्माका विभावरूप परिणमन है और ज्ञान-दर्शनादि परिणमन उसके स्वभावरूप परिणमन हैं। यह नियम केवल आत्मद्रव्यके लिए ही नही है, समस्त द्रव्योके लिए है।

(४०४) **प्रश्न**—रागद्वेषकी उत्पादक मोहादि कर्म प्रकृतियाँ हैं, यह करणानुयोगमे पद-पद पर बताया है। जीव तो ससारमे पराधीन है। कर्माधीन होनेसे ही संसारमे नाना दुःख उठाता है। जब कर्मबधन टूट जाते है तब मुक्त होता है। अत. रागद्वेष स्वय आत्मकृत नही हैं परकृत ही हैं।

कलश १७५ मे भी 'तस्मिन्निमित्त पर सग एव' पद, इसी अभिप्रायका तो पोषक है ?

समाधान—ऐसा नही है—मोहादि कर्म प्रकृतियोके उदयकी निमित्तता उनमे अवश्य है, पर वे प्रकृतियाँ रागादिकी उत्पादक नही हैं। यदि ऐसा न हो तो जीव तो निरपराध हो रहेगा। अपराधी तो कर्म प्रकृतियाँ ही होगी। ऐसी स्थितिमे फलका भोग, कर्म प्रकृतियाँ करेंगी—क्योकि जो कर्त्ता होगा वही भोक्ता होगा। जीव जब रागादिका अकर्त्ता है तो उसके फलका भोक्ता भी न होगा, तब साख्यमतका प्रसग आयगा। कलश १७५ के उक्त पदमे आपका ध्यान केवल 'पर' शब्द पर गया है। उसके साथ जुडे हुए 'संग' शब्द पर नही गया। आत्मा जब अपने उपयोगके द्वारा परको इष्ट-अनिष्ट रूप देखता है, तब उस 'परसग' से स्वय अपनेमें रागद्वेष उत्पन्न करता है। अतः परद्रव्य निमित्त होते हुए भी, अपराधी नही हैं, किन्तु परका सग करनेके कारण आत्मा स्वय ही अपराधी है। अतः रागादिकी उत्पत्तिका कर्त्ता आत्मा ही है। कोई अन्य नही है।

आचार्य इसीको विशेष स्पष्ट करते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

अन्वयार्थ—(**यदिह रागद्वेषदोषप्रसूति भवति**) इस ससारी आत्मामे जो रागद्वेष दोनोकी उत्पत्ति होती है (**तत्र**) इसमे (**परेषां**) दूसरोका (**कतरद् अपि**) थोडा सा भी (**दूषण नास्ति**) दोष नही है। (**अयम् स्वयम् अपराधी**) यह प्राणी स्वय ही इस अपराधका अपराधी है (**तत्र**) इस कार्य की उत्पत्तिमे (**स्वय अबोध**) स्वय अज्ञान भाव ही (**सर्पति**) प्रसारको प्राप्त होता है। अत. (**अबोधः**) यह मेरा अज्ञान भाव स्वय (**अस्त यातु**) अस्तपनेको प्राप्त होवे, क्योकि (**अह बोध. अस्मि**) मैं स्वय ज्ञानस्वरूपी हूँ (**विदितं भवतु**) यह विदित हो ॥२२०॥

भावार्थ—ससारो जीव रागादि विकार रूप परिणमता है। वह अपने स्वभावमे नही होनेके कारण परिणमता है। अस्वस्थतामे ही ये विकारी भाव है। जैसे कोई व्यक्ति शरीरकी अपेक्षा स्वस्थ है। उत्तम स्वास्थ्यके कारण निर्बाध, निर्दोष जीवन व्यतीत करता है। किन्तु व्यक्ति यदि रोगाक्रान्त हो, अस्वस्थ हो, तो कभी पेटमे, कभी सिरमे, कभी कमरमे, पीडाका अनुभव करता है। कभी पित्त दोष—कभी कफ दोष—कभी वात विकार आदि नाना विकार उत्पन्न होते है। इसी प्रकार आत्मा भी यदि स्व स्वरूपमे स्थित हो—तो स्वस्थ है, ऐसी स्वास्थ्यकी दशामे रागादि विकार उत्पन्न ही नही होते। पर जब यह आत्मा स्वमे स्थित न हो, पर म निजत्व मानकर चलता है, तब अस्वस्थ होनेसे, रागद्वेष आदि रूप परिणमता है। अपने आत्मस्वरूपका अबोध अर्थात् अज्ञान भाव, तथा परमे स्व-पनेकी कल्पना ही इसका कारण है। अत यह अपनी इस दुर्दशा का अपराधी स्वय है। ज्ञानावरणादि कर्म, इसे 'अज्ञानी' और मोहादिकर्म 'रागी' बनाते हैं, अत. पर इसका अपराधी है, ऐसा मानना उचित नही है। उनका उदय यद्यपि है—और उनके उदयमे ही अज्ञान रागादि विकार हुए हैं, तथापि वस्तु स्वरूपसे विचार करें तो यह अपराध जीवका ही है। कर्म का नही।

इसका प्रमाण यह है, कि ये विकार तभी मिटते है—जब जीव स्व-पर भेद पहिचानकर, परमे तथा पराश्रयी भावोमे, निज बुद्धि त्यागकर, सम्यक्त्वी होकर, अपने स्वरूप ो ही उपादेय मानता है। निज मे ही रमण करना सम्यक्चारित्र है, जिसके होने पर रागादि भी नही होते और ज्ञानावरणादि भी छूट जाते हैं। जो अपने पुरुषार्थसे छूट जाते हैं, दूर हो जाते है, वे अपने ही विपरीत पुरुषार्थसे हुए थे या बँधे थे, यह भी सुनिश्चित होता है। करणानुयोग आदि ग्रन्थोमे जो ज्ञानावरणके उदयमे अज्ञानी, रागके उदयमे रागी, लिखा गया है, वह कथन इस कथनसे विरुद्ध नही है। यह कथन स्वाश्रित है, अत निश्चयनयका कथन है, तथा करणानुयोगका कथन उस रागादिके निमित्त क्या हैं—इस प्रश्नके समाधान रूपमे निमित्तका प्रतिपादन करता है अत. वह कथन व्यवहारनयसे है।

आगममें सर्वत्र नय सापेक्ष कथन है। अतः जहाँ स्वाश्रित वर्णन हो, वहाँ समझना चाहिए कि वस्तुकी उपादानगत शक्ति और योग्यता ऐसी ही है। जब परनिमित्तकी अपेक्षा कथन आवे तब समझना चाहिए कि जिस कार्यके उपादान का कथन निश्चयने किया था, उसके निमित्तका कथन यहाँ किया गया है। उभय कथन अपनी-अपनी कथनीमे अपने-अपने नयसे ठीक हैं। अतः मेरा ज्ञानभाव प्रकट हो, और अज्ञान भाव नाशको प्राप्त हो, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वरूपको प्रकट करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥२२०॥

जो रागकी उत्पत्तिमे सारा दोष निमित्त कारणो पर देते हैं, अपने अपराधको नही देखते, वे मोहभाव (अज्ञान) से नही छूटते ऐसा कथन करते हैं—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥

अन्वयार्थ—**(ये तु)** जो अज्ञानी पुरुष **(रागजन्मनि)** रागकी उत्पत्तिमे **(परद्रव्यम् एव निमित्तता कलयन्ति)** परद्रव्य ही कारण है ऐसा एकान्तसे मानते हैं, **(ते)** वे **(शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय)** शुद्ध आत्माके स्वभावके अज्ञात होनेसे अज्ञानरूप परिणमी है बुद्धि जिनकी, ऐसे एकान्ती मिथ्या दृष्टि जीव **(मोहवाहिनीम्)** मोहकी सेना जो मोह राग द्वेष विकार, उनको **(न हि उत्तरन्ति)** नही जीत पाते हैं अथवा मोह रूपी नदीको पार नही कर सकते हैं ॥२२१॥

भावार्थ—यद्यपि रागादि विकारोकी उत्पत्तिमे परद्रव्य, अर्थात् मोहनीय आदि द्रव्य कर्मोदय निमित्त हैं—तथा बाह्य भोगोपभोग साधक—या बाधक सामग्री भी रागद्वेषका निमित्त है, तथापि जो निमित्तको ही रागादिका कर्त्ता मानकर, अपनेको अकर्त्ता मान लेते हैं, साख्यमतकी तरह वे वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ है। यदि वस्तु स्वरूप पर विचार करते तो ज्ञात होता, कि आत्मा रागादिरूप स्वय परिणमा है। यह अपने स्वरूपको पहिचाने, पुरुषार्थ करे,—तो निमित्त स्वय दूर हो जाते है, वे निमित्तपनेको भी नही भजते। यदि रागादि परकी करतूत हो, तो पर मेटे तब मिटें, अपना पुरुषार्थ कुछ ठहरता ही नही। अपने पुरुषार्थके अभावमे मुक्ति भी पराधीन ही ठहरेगी। ऐसे एकान्तसे पर कर्तृत्व माननें वाले कभी भी मोह सेनाको नही जीत पाते, या मोह रूपी नदीको पार नही कर पाते।

(४०५) **प्रश्न**—क्या स्व-कर्तृत्व स्वीकार कर लेनेसे रागादि दूर हो जाते हैं?

समाधान—"स्व-कर्तृत्व है" ऐसा स्वीकार करने वाला, यथार्थताको स्वीकार करता है। यथार्थताको स्वीकार करने वाला ही सही पुरुषार्थ कर सकता है। रागादि तो उस पुरुषार्थसे ही दूर होगे। रागादि की उत्पत्तिमे अपनी ही भूल मानने वाला परके प्रति द्वेष नही करता। वह तो स्वभावके आश्रयसे रागद्वेषकी निवृत्तिका सम्यक् पुरुषार्थ करेगा और वही मोह नदी पार करेगा।

(४०६) **प्रश्न**—परकी निमित्तता है, अतः परकर्तृत्व है, क्या यह मिथ्या है? यह भी तो व्यवहार नयका विषय हे। क्या इस नयका कथन झूठा है? मिथ्या है तो यह नय नही रहेगा अथवा ऐसे मिथ्या नयका आश्रयकर शास्त्रकारने करणानुयोग शास्त्र क्यो रचे है?

समाधान—परकी निमित्तता होती है, इसी निमित्तताका प्रतिपादन करणानुयोग शास्त्रमे किया है। परन्तु पर-कतृत्व उन्होने भी स्वीकार नही किया। व्यवहारको व्यवहार मानना ही सत्य है। उसे परमार्थ मानना असत्य है।

परकर्तृत्वका व्यवहार, भाषा प्रयोगमे होता है, उसे इसी रूपमे स्वीकार करना कि यह व्यवहारनयका विषय है। व्यवहारनयके अवलम्बनसे विस्तृत विवेचन करनेवाले सभी शास्त्र, सम्यक् निरूपण ही करते हैं, मिथ्या नही। वे भी व्यवहारको परमार्थ नही कहते।

(४०७) **प्रश्न**—परन्तु यहाँ इस कलशकी व्याख्याम तो जो परकी निमित्तताको स्वीकार करते है उन्हे बोध रहित अन्ध कह दिया। ऐसा कहना क्या निश्चयैकान्त नही है जो निमित्तका ही निषेधक है ?

समाधान—ऐसा नही है, यह कलश एकान्तसे निमित्तका निषेध नही करता, इस कलशमे आचार्यने 'निमित्तको ही एक मात्र रागादिका कारण माननेका जो एकान्त करते हैं' उनका निषेध किया है। 'निमित्तता' शब्दका अर्थ यहाँ कारणता या 'हेतुता' है। रागेत्पत्तिमे यथार्थ हेतुता निमित्त पर नही है, तथापि उसे ही जो यथार्थ हेतु मानते हैं, स्वयके अपराधको स्वीकार न करके अपनेको अकर्ता मानते हैं, वे पुरुषार्थ करके मोहको पार नही कर पाते।

(४०८) **प्रश्न**—रागद्वेषकी उत्पत्तिका अन्वय व्यतिरेक, स्त्री पुत्रादि अथवा शत्रु कण्टकादि पर द्रव्यसे है, अतः उनके साथ भी कारणता है। 'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः।' ऐसा सूत्र है ?

समाधान—स्त्री आदिके सद्भावमे राग होते हैं, न होने पर नही होते, ऐसा—एकान्त अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता। स्त्रीके मरणके पश्चात् भी उमका राग देखा जाता है। रागके अभावमे भी स्त्रीकी सत्ता देखी जातो है। अत- इनमे यथार्थ अन्वय व्यतिरेकपना नही है ऐसा तात्पर्य आचार्यका है ॥२२१॥

अज्ञानीजन आत्माको सहज उदासीनताको छोड़कर अपनेको रागद्वेष मय बनाते हैं ? इस पर आश्चर्य है, ऐसा आचार्य कहते है।

> **पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो[१] न बोध्यादयं**
> **यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।**
> **तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो**
> **रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२२॥**

अन्वयार्थ—(**पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा**) अपने परिपूर्ण अखण्ड शुद्ध अचल ज्ञानसे ही है महत्व जिसका, ऐसा (**अयं बोधः**) यह चैतन्यका पुञ्ज आत्मा, (**बोध्यात्**) ज्ञानके विषयभूत ज्ञेय पदार्थोंके जाननेके कारण (**काम् अपि विक्रियाम्**) किसी प्रकारके रागादि विकारको (**न यायात्**) प्राप्त नही होता। (**दीप प्रकाश्यादिव**) जैसे दीप जिनको प्रकाशित करता है, उनके कारण विकारको प्राप्त नही होता। (**तत्**) तथापि (**वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा**) वस्तुकी यथार्थ स्थितिके जाननेमे जिनकी बुद्धि बन्ध्या है ऐसे (**एते अज्ञानिन**) ये मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी प्राणी, (**तत इतः**)

---

१ बोध्या-बोधा-बोध ऐसे तीन प्रकारके पाठ पाये जाते हैं। तात्पर्यमे भेद नही है। बोद्धा अर्थात् ज्ञाता। बोधा बोध स्वरूप चैतन्य स्वरूप सब जीव। बोध ज्ञान अथवा ज्ञानस्वरूप एक जीव।

तब फिर यहां (**सहजां उदासीनतां**) अपनी स्वाभाविक उदासीनताको (**किं मुञ्चन्ति**) क्यों छोडते हैं तथा (**रागद्वेषमया भवन्ति**) क्यो रागद्वेषरूप परिणमते हैं ? आचार्य इस पर आश्चर्य करते हैं ।।२२२।।

भावार्थ—परिपूर्ण अखण्ड अचलितपनेसे ही जिसकी महिमा प्रकट है, ऐसा शुद्ध आत्मज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जानते हुए भी, किंचित् भी विकारको प्राप्त नही होता। जैसे—दीपक सम्मुख आए समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है, तथापि घट पटादि नाना पदार्थोंको प्रकाशित करनेसे दीपकमे कोई विकार नही आता। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तब ये ससारी अज्ञानी जीव, जिनकी बुद्धि वस्तुकी सही स्थितिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें बन्ध्याके समान है—अर्थात् यथार्थ वस्तुका ज्ञान नही कराती, वे रागद्वेषरूप बनते हैं, तथा आत्माकी जो सहज वीतरागता है उसे छोडते हैं, सो ऐसा क्यो है ? आचार्य आश्चर्य करते हैं।

(४०९) **प्रश्न**—सत्तामे स्थित मोहादि कर्म रागद्वेषोत्पादक हैं, जब उनका उदयकाल आता है तब जीव वस्तुस्थितको जानता हुआ भी, रागीद्वेषी बन जाता है। इसमे जीवका क्या दोष है ?

समाधान—दोष तो उसे ही देना समुचित है। क्योकि वह वस्तुस्थितिको यथार्थ जानकर भी रागादिमय बनता है अत आचार्य उसे दोष भी देते हैं और आश्चर्य भी करते हैं। ज्ञानीको चाहिए कि वस्तुस्वभाव को समझकर ज्ञानभावमे रहे—रागादि न करे। यदि रागादि करता है तो वह अज्ञानी ही है। अज्ञानीके इस अज्ञान पर आचार्य आश्चर्य या खेद प्रकट करते हैं।

(४१०) **प्रश्न**—जब पूर्व कर्मोदयसे रागादिकी उत्पत्ति है तब जीवको दोष क्यो दिया जाता है ? ज्ञानी हो या अज्ञानी—कर्मोदयसे दोनो पीडित होते हैं ?

समाधान—पूर्व कर्म भी तो जीवने अपनी भूलसे बाँधे हैं। उसी भूलका वह फल है, अतः दोष अपराधीका ही होता है। इसी प्रकार मार्गको न देखकर चलने वाला यदि मार्गमे पड़े किसी पाषाण खण्डके निमित्तसे गिर पडे, और चोट खा जाय, तो वह स्वयं अपराधी माना जाता है। पाषाणका दोष नही माना जाता। प्रमाद ही अपराधोको जन्म देता है। लोकमे भी चोरी करने-वाला न्यायाधीशसे जेलकी सजा पाता है। हत्या करनेवाला फाँसीको सजा पाता है, क्योकि अपराधी तो वह स्वय है।

(४११) **प्रश्न**—उसे कष्ट देनेवाला, फाँसी देनेवाला न्यायाधीश क्या अपराधो नही, और हत्याका दोषी नही होता ?

समाधान—कदापि नही होता। अपराधो न्यायाधीशके कारण नहीं, मात्र अपने अपराधके कारण दण्ड पाता है। न्यायाधीश अपराधीको उसके अपराधके बिना कभी दण्ड नहीं देता।

(४१२) **प्रश्न**—यदि न्यायाधीश उसे सजा न देते तो वह विचारा क्यो पीड़ित होता ? क्यों फाँसी पर चढ़ता ? अतः न्यायाधीश ही इस कष्ट देनेका और उसकी मृत्युका जिम्मेदार है ?

समाधान—यदि ऐसा हो तो न्याय ही समाप्त हो जाय। कोई कितना भी अन्याय अत्याचार करे उसे सजा नही देना चाहिए, क्योकि वे बेचारे अपराधी कष्ट पायेंगे। यदि तत्काल न्यायाधीश अपराधीको दण्ड न दे तो प्रजाजनोमे आततायी लोग नित्य ऐसे अपराध ही करेंगे। इससे पापोकी सख्या बढ़ेगी और तब उनका दोष न्यायाधीश पर आयगा।

(४१३) **प्रश्न**—जेल आदिकी सजा देना इस दृष्टिसे अच्छा है, पर फाँसी देनेसे तो हत्या होती है ? यदि फाँसी न देकर उसे भी लम्बी कैदकी सजा दे दी जाय तो कदाचित् वह अपने जीवनमें सुधार कर सकता है। फाँसी देनेसे तो उसके सुधरनेका कोई मार्ग ही नही रहता ?

समाधान—आपकी इस तर्कपूर्ण बातसे हम सहमत हैं। यही अधिक उचित है कि अपराधीको सुधरनेका अवसर दिया जाय। परन्तु मूल वस्तुका समाधान ऐसा नही है। दण्ड कुछ भी दिया जाय वह दण्ड ही है। और दण्ड पानेवाला अपने दण्डको अपने अपराधके कारण पाता है, दूसरा तो उसमे निमित्तमात्र है। निमित्त अपराधी नही होता। अत रागद्वेषकी उत्पत्तिके निमित्त कोई भी हो, वे अपराधी नही हैं।

अपराधी स्वय जीव है, जो निमित्तोको आलबन बनाकर अपराध करता है। यदि जीव नाना पदार्थोंको देखे जाने, तो इसमे कोई अपराध नही है। अपराध तो उनसे रागद्वेष करना है। अत अपने स्वभावमे स्थित ही निरपराध है, तथा स्वभावसे च्युत ही अपराधी है।

(४१४) **प्रश्न**—उत्तम भोगोपभोगकी सामग्री सामने आती है तो उसमे इच्छा हो ही जाती है। यह प्राकृतिक है। इसे रोका भी तो नही जा सकता ?

समाधान—सर्वप्रथम तो वे भोगोपभोगकी सामग्री, आपको अपनेसे राग करनेकी, या अनिष्ट सामग्री द्वेष करनेकी प्रेरणा नही करती। क्या कभी भोजन कहता है, या प्रेरणा करता है कि तुम मुझे खा लो। तब उनका क्या अपराध है ? वे आपके विकारी भावमे निमित्त बने, इतने मात्रसे क्या अपराधी हैं ? यदि ऐसा माना जाय तो न्याय उलटा हो जायगा। जैसे कोई पुरुष हलवाईकी दुकान पर जाय और उसे मिठाइयो पर राग आ जाय, वह उन्हे उठाकर खाने लग जाय, तो वह तो निरपराध माना जाना चाहिए, क्योकि न सामग्री सामने होती, न उसकी इच्छा खानेकी होती। अत वह सामग्री तथा उसे बनाने वाला अपराधी होगा, और खानेवाला निर-पराध होगा। इसी प्रकार किसी सुन्दर महिलाको देखकर उसका अपहरण करनेवाला निरपराध होगा, और महिला तथा उसकी सुन्दरता ही अपराधी होगी। इस तरह सारी व्यवस्था विपरीत हो जायगी।

अत सिद्ध है कि निमित्त अपराधी नही होता। इसी सिद्धान्तसे कर्मोदय निमित्त मात्र है, वह अपराधी नही है। जीव स्वय अपने स्वात्मबोधसे विमुख होता है, अत. वही अपराधी है, अन्य नही। रागादि भाव अप्राकृतिक हैं, क्योकि जीव स्वभावसे रागादि रूप नही है। ससारी भूलसे ही उन्हे प्राकृतिक कहता है। प्रकृति और स्वभाव एकार्थक है। परकी अपेक्षारहित जो गुण पदार्थमे पाये जाते हैं वे प्राकृतिक है, जो पर सापेक्ष विकृतियाँ होती है, वे अप्राकृतिक हैं। इस अप्राकृतिक स्थितिको रोका भी जा सकता है। प्रकृतिका आश्रय करनेसे अप्राकृतिक स्थिति रुक जाती है।

अत. जीव अपनी शुद्ध ज्ञानमय प्रकृतिका अवलम्बन करे और अप्राकृतिक रूप, पर निमित्त जन्य विकारोको, दूर करे तो वह रागादिसे भिन्न हो सकता है, और अपने सहज वीतराग भावको प्राप्त हो सकता है ॥२२२॥

पूर्व बद्ध कर्मका भी अभाव अपने स्वभावके आलम्बनसे ही होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं[1] स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषविभावमुक्तमहस**) राग और द्वेष आदि रूप जो जीवकी विभावपर्यायें, उनसे रहित है चैतन्य तेज जिनका, तथा (**नित्यं स्वभावस्पृशः**) नित्य ही अपने स्वभावका ही जो स्पर्श करते हैं वे जीव (**पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला**) अपनी प्रतिक्रमणादिको कलासे पूर्व कर्मका भी अभाव करते हैं तथा प्रत्याख्यानसे अगामी कर्मसे भी निवृत्त होते हैं (**तदात्वोदयात् भिन्नाः**) तथा तत्काल वर्तमानकालमे आलोचनासे रागादिसे भिन्न रहते हैं, ऐसे जीव (**दूरारूढचारित्र-वैभवबलात्**) दृढताके साथ ग्रहण किये गए अपने चारित्रके माहात्म्यके बलसे (**चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं**) प्रकाशमान चैतन्यकी किरणोसे युक्त तथा (**स्वरसाभिषिक्तभुवनां**) अपने स्वरसस समस्त भुवनको सीचती हुई (**ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्**) ज्ञान चेतनाका (**विन्दन्ति**) अनुभव करते हैं ॥२२३॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष, रागद्वेषके दूर हो जानेसे जिनका तेज प्रकाशमान है, तथा जो अपने परमपारणामिक भावस्वरूप नित्य स्वभावका ही स्पर्श करते हैं, अर्थात् उसे ही ध्यानमे रखते हैं, अन्य विकल्प ज्ञानमे नही लाते, वे अपनी इस विशुद्ध प्रवृत्तिके द्वारा, पूर्व कर्मका भी नाश करते हैं, निर्जरा करते हैं। अथवा पूर्व किये शुभाशुभ भावोका प्रतिक्रमणके द्वारा निराकरण करते हैं। साथ ही वर्तमान कालमे नवीन कर्मका बन्ध नही करते, तथा 'अगामी कालमे मेरेसे दोष न हो' ऐसा प्रत्याख्यान करते हैं। वर्तमान कालमे उदयमे आने वाले समस्त कर्मको, अपनी स्वभावस्पर्शी परिणतिसे नीरस कर देते हैं, निष्फल कर देते है। यह आलोचना कर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान व आलोचनाके द्वारा त्रिकालके दोषोको दूर क के, अपने उन्नत चारित्रकी दृढतासे, अपनी चैतन्यकिरणोसे देदीप्यमान "ज्ञान चेतना"को प्राप्त होते है।

चेतनाके तीन प्रकार कहे गये हैं—१-कर्म चेतना, २-कर्म फल चेतना और ३-ज्ञान चेतना।[2] निजस्वरूपसे भिन्न, मिथ्यात्वादि कर्म बन्धके योग्य परिणाम, 'कर्म चेतना' है। कर्मके फलस्वरूप दुख-सुख परिणाम "कर्म फल चेतना" है। कर्म और कर्मफल चेतनासे भिन्न अपनी आत्माकी जो स्व-रमणरूप प्रवृत्ति है, वह "ज्ञान चेतना" है। अथवा परका कर्तृत्व भोक्तृत्व अज्ञान चेतना, तथा

---

१ नित्यस्वभावस्पृश ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ ऐसा है कि 'अपने आत्माके नित्यस्वभावका जो स्पर्श करता है।'

२. कर्मचेतना—ज्ञानात् अन्यत्र इद अहम् करोमीति चेतन कर्मचेतना।
कर्मफलचेतना—ज्ञानात् अन्यत्र इद वेदये अहम् इति चेतन कर्मफलचेतना॥
—समयसार, गाथा—३८९ आत्मख्याति टीका।

ज्ञान चेतना—स्वयम् ज्ञानमात्रस्य चेतनाति ज्ञान चेतना।
—समयसार, गाथा ३८६ आत्मख्याति।

स्वकर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञान चेतना है। ज्ञानी जीव कर्म और कर्म फल चेतनाको दूर करता है। वह न तो तात्कालिक अशुद्ध-परिणाम कर कर्म बध करता है, और न पूर्व कर्मके उदयसे प्राप्त विषम या सम परिस्थितियोमे दुख-सुखका अनुभव करता है, किन्तु तीसरी ज्ञान स्वभावके सचेतन स्वरूप जो ज्ञान चेतना, केवल उसका ही अवलम्बन करता है। इसके फलस्वरूप उसे मम्पूर्ण ज्ञान प्रकाश-पुञ्ज स्वरूप, केवल ज्ञान प्रकट होता है ॥२२३॥

ज्ञान चेतना तथा कर्म-कर्मफल चेतनाका फल क्या है, इसे प्रतिपादित करते है—

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं,
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्–
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥२२४॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य नित्यं सञ्चेतनया**) अपने स्वभावानुभवरूप जो ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि जीवको निरन्तर होती है उसके फलस्वरूप (**अतीव शुद्धम् ज्ञान प्रकाशते**) अत्यन्त विशुद्ध ज्ञानकी प्रकटता होती है, जा सदा काल रहती है। (**तु**) और (**अज्ञानसञ्चेतनया**) अज्ञानचेतना अर्थात् कर्म और कर्मफल चेतना मिथ्यादृष्टि जीवको होती है इससे (**बध. धावन्**) बध दोडता हुआ (**बोधस्य शुद्धिम्**) ज्ञानकी पवित्रताको (**निरुणद्धि**) रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता प्रकट नही होने देता ॥२४४॥

भावार्थ—ज्ञानका सचेतन, अर्थात् अपनी शुद्धात्माका सचेतन, ज्ञान चेतना है। ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है। वह आत्माकी चैतन्य परिणतियोका ही कर्त्ता भोक्ता है, अत अपनी उस ज्ञान चेतनासे बढ़ता हुआ क्रमश- अखण्ड सर्वतोविशुद्ध केवलज्ञानको प्रकट कर लेता है, जो अनत काल तक प्रकाशमान रहता है।

अज्ञानचेतना मिथ्यादृष्टि जीवके होती है। वह परमे अपना कर्तृत्व और परका भोक्तृत्व, जो मिथ्यात्वकर्मके बध योग्य परिणाम है, उन्हे करता हुआ, तीव्र कमका बध करता है। इससे ससार बढता है और ज्ञानकी विशुद्धताको प्राप्त नही होता। यह तो स्वाश्रित क्रिया है और स्वाश्रित फल है। जैसी क्रिया करोगे वैसी ही परिणति होगी शुद्धात्मानुभवकी क्रियासे यह आत्माकी प्राप्ति होगी, तथा अशुद्धात्मानुभवसे आत्मा अशुद्ध ही रहेगी।

(४१५) **प्रश्न**—बिना पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा किये—केवल 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा अनुभवन-वेदन करनेसे केवल ज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो जायगी ? क्या मन चिन्तामणि रत्न है कि जो सोचे सो ही बन जाय ?

समाधान—बात तो ऐसी ही है। पर कठिनाई यह है कि मन सोचता ही तो विपरीत है, अत विपरीत फलको प्राप्त होता है। मन जब यह चाहेगा कि मुझे केवलज्ञान चाहिए, तब यह अपनी मानसिक परिणतिकी अशुद्धताको दूर कर देगा, और शुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्ति करेगा। यह नही हो सकता कि मन अशुद्धतारूप परिणमन करता रहे और उसके फलस्वरूप शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति चाहने मात्रसे मिल जाय। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना ये तीनो ही कर्म, जो

भूतकालके अपराधोसे, भविष्यके अपराधोसे तथा वर्तमानके अपराधोसे, आत्माको मुक्त कर देते हैं, आत्मशुद्धिके कारण ही हैं, उन्हीका फल केवल ज्ञान है।

(४१६) **प्रश्न**—इन तीनोका क्या स्वरूप है ? क्या ये तीनो कर्म एक साथ हो सकते हैं ? एक समयमे तो एक ही क्रिया होगी ?

समाधान—एक ही क्रियाके ये तीन फल हैं। आत्माकी ऐसी ही विचित्र यह क्रिया है। इन तीनोके स्वरूप समझनेसे, इसका सहज ही स्पष्टीकरण हो जायगा। इन तीनोका स्वरूप गन्थकार आगे स्वय कहेगे। इनका सक्षेप इस प्रकार है—

(१) **प्रतिक्रमण**—भूतकालमे जो अपराध अर्थात् आत्म स्वभावसे भिन्न शुभाशुभ भाव किये हैं, उनके फलस्वरूप ज्ञानावरणादि बध किये है, वह मैने अपराध किया है। इन अपराधोका मै विशोधन करना चाहता हूँ। साधक पुरुष इस प्रकार पूर्वकृत कर्मोपर पश्चात्ताप करता है। इसे प्रतिक्रमण किया कहते है।

(२) **आलोचना**—वर्तमानमे उस प्रकारके परिणाम न करना जिनसे पुन. कर्मबध हो। अपने वर्तमान परिणामोका आलोचन या अवलोकन कर सावधानी वर्तना आलोचना है।

(३) **प्रत्याख्यान**—भविष्य कालमे भी ऐसे बधयोग्य अशुद्ध परिणाम न हो—उनका परित्याग करना प्रत्याख्यान कर्म है।

ये तीनो प्रयत्न अपना भिन्न-भिन्न नाम पाते हैं। अत. व्यवहारतः प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना है। परमार्थसे तो एकमात्र वर्तमानकी सुविशुद्ध रागादि विकारोसे रहित, शुद्धात्माके अनुभवन स्वरूप, एकाग्र परिणति है। उससे ही वर्तमानमे शुद्ध होनेसे वह अबन्धक है, तथा पूर्व कृत कमकी भी निजरा इस सुविशुद्ध परिणाममे होती है, जिसे प्रतिक्रमण कहना चाहिए। तथा इसीका फल है कि आगामी कर्मबध नही होता, वही प्रत्याख्यान कर्म है। वर्तमानका आत्मावलोकन ही आत्मालोचना है। ऐसे तीनो कार्य एक साथ अपनी वर्तमान परिणतिसे होते है। अत सर्वप्रयत्नोसे अपने वर्तमान परिणामोकी सम्हाल मन कर ले, तो वही चैतन्यभाव स्वय चिन्तामणि रत्न है, इसमे किंचित् भी सन्देह नही है।

इस सुविशुद्ध परिणामका फल केवलज्ञान है, मोक्ष है, और अविशुद्ध परिणामका फल ससार है, क्योकि वह ससारका ही बीज है। इसी सुविशुद्ध परिणामको ज्ञान चेतना तथा अविशुद्ध परिणाम को कर्म-कमफल चेतना कहते है।।२२४।।

मोक्ष तो कर्मरहित अवस्था है। उसकी प्राप्तिके लिए कर्म सन्यासकी भावना करते है—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकाल विषयं मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ।।२२५।।

अन्वयार्थ—**(कृत-कारिता नुमननैः)** कृतसे, कारितसे तथा अनुमोदनासे तथा **(मनोवचः-कायैः)** मन-वचन, कायसे **(सर्वं त्रिकालविषय कर्म परिहृत्य)** भूत-भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी सकल शुभाशुभ क्रियाओका परिहार करके **(परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे)** मै परम अर्थात् सर्वोत्कृष्टपनेसे 'निष्कर्म' अवस्थाका अवलम्बन करता हूँ। अर्थात् सर्व शुभाशुभ कर्मकी क्रियाओका त्यागकर एकमात्र चैतन्य क्रियाका अवलम्बन करता हूँ।।२२५।।

भावार्थ—कर्मरहित जो नैष्कर्म्य अवस्था, उसीसे मुक्ति होती है। कर्मका अर्थ है—मन-वचन कायसे होनेवाली क्रियाएं। ये क्रियाएँ राग-द्वेष-मोह परिणामके कारण, शुभाशुभ रूपमें अज्ञान दशामे सतत होती रहती हैं। भूतकाल मे हुई, वर्तमानमे भी हैं और आगामी भी हो सकेंगी। इन क्रियाओको व्यक्ति जब स्वय करता है, तब उसे 'कृत' कहते हैं। जब दूसरेसे कराता है उसे 'कारित' कहते हैं। जब करनेवालेके कार्यकी सराहना करता है, वह 'अनुमोदना' कहलाती है। तीनों क्रियाएँ कर्मबन्धकी कारण हैं।

मन-वचन-काय इन तीनके एक-एकका पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेसे तीन भेद होते हैं। दो-दो को एक साथ लेनेसे भी तीन भेद बनते हैं। तीनोको एक साथ लेनेसे एक भेद बनता है। ऐसे सात भेद बने। कृत-कारित-अनुमोदनाके भी इसी प्रकार एक-एक रूपमे तीन भेद, द्विसयोगी तीन भेद, तथा तीनो मिलाकर एक भेद, ऐसे सात भेद बनते हैं। मन-वचन काय सम्बन्धी सातोको कृत-कारित-अनुमोदना सम्बन्धी सातो भेदोसे मिलावें तो उनचास (७ × ७ = ४९) भेद हो जाते हैं। इन उनचास प्रकारसे जीव शुभाशुभ कार्य करता है।

भूतकालकी अशुद्ध परिणति रूप क्रियाएँ उनचास भेदोसे हुई हैं। वर्तमानकालमे भी इन ही उनचास भेद रूप अशुद्ध परिणति चलती है। भविष्यकालमे भी इन्ही उनचास प्रकारसे अशुद्ध परिणति सभाव्य है।

अत. भूतकालकी क्रियाओका प्रतिक्रमण—वर्तमानकी क्रियाओकी आलोचना—तथा भविष्यत् कर्मका प्रत्याख्यान करता हुआ मै, निष्कर्मावस्था स्वरूप स्वात्माका अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार कर्म, कर्मफल, चेतनाका त्याग करने वाला जीव निष्कर्मा होकर ज्ञान चेतनाके आश्रयसे सिद्धपद प्राप्त करता है ॥२२५॥

भूतकालके कर्मके सम्बन्धमे इस प्रकार विचार करना चाहिए—

"यदहं अकार्षं—यदचीकरं—यत्कुर्वन्तम् अपि अन्य समन्वज्ञासिष, मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।" —(इसी कलशकी आत्मख्याति टीका)

अर्थ—जो पाप मैने किये—जो मैने अन्य को प्रेरणा करके कराये—जो अन्य ने स्वेच्छा से किये उनका समर्थन किया, ये तीनो कार्य मनसे, वचनसे, कायसे किये हैं। वे मेरे पाप या अशुद्ध परिणति रूप भाव मिथ्या हो जावें, अर्थात् मिट जावें।

इसी भावको कहते हैं—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ—(**मोहात्**) अपने अज्ञानसे (**यत् अहं अकार्षम्**) जा पापादिके कार्य मैंने किये हैं (**तत्समस्तमपि कर्म प्रतिक्रम्य**) उन सब क्रियाओका प्रतिक्रमण करके मैं (**चैतन्यात्मनि आत्मनि**) चैतन्य स्वरूप आत्मामे (**निष्कर्मणि**) जो स्वयं कर्मरूप नही है, उसमे (**नित्यम्**) सदाकाल (**आत्मना**) अपने स्वरूपसे (**वर्ते**) बरतता हूँ ॥२२६॥

भावार्थ—ऊपर जो उनचास भेद कहे थे उन उनचास अगोंसे जो भूतकालमे पाप क्रियाएँ हुई हैं, मै उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ, और अब अपने निष्कर्म स्वरूप चैतन्याकार रूप शुद्धात्मा

में ही रहता हूँ, वे मेरे सब कर्म मिथ्या हो जावें। यह भूतकाल सम्बन्धी पापोके परित्याग रूप प्रतिक्रमण कार्य है ॥२२६॥

आलोचन किस प्रकार करना चाहिए उसका निदर्शन करते हैं—

"न करोमि—न— कारयामि—न कुर्वन्तमपि अन्य समनुज्ञानामि मनसा च—वाचा च कायेन चेति।" (—इसी कलशकी आत्मख्याति टीका)

अर्थ—वर्तमानमे मैं पापादि क्रियाएँ मन-वचन-कायसे न करता हूँ—न कराता हूँ और न अन्य करनेवालेका समर्थन करता हूँ—

इसी भावको प्रकट करते है—

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ—(**मोहविलासविजृंभितम्**) मोहके प्रसारसे वृद्धिगत (**इदम् उदयत् सकलं कर्म**) उदयको प्राप्त समस्त कर्मकी (**आलोच्य**) आलोचना करके अर्थात्, यह अनात्म स्वरूप है ऐसा विचार करके, मैं (**निष्कर्मणि**) समस्त कर्मोसे भिन्न (**चैतन्यात्मनि आत्मनि आत्मनावर्ते**) चेतन्यके अखण्ड-पिण्ड स्वरूप निजात्मामे अपने स्वयके पुरुषार्थसे प्रवर्तता हूँ ॥२२७॥

भावार्थ—वर्तमानके समस्त दोषोको, जिनकी भगसख्या उनचास है, मैं आलोचना करता हूँ। अर्थात् आप ही अपने पापोकी समालोचना करता हूँ, उन्हे अनुपादेय मानता हूँ, और उनसे निवृत्त होकर चैतन्यस्वरूप कर्मोपाधिसे सर्वथा पृथक्, ऐसी आत्मामे अपने ही प्रयत्नसे वर्तता हूँ। यह आलोचना क्रिया है ॥२२७॥

प्रत्याख्यानकी क्रियाका विवेचन—

"न करिष्यामि—न कारयिष्यामि—न कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ॥" (—इसी कलश की आत्मख्याति टीका.)

अर्थ—मैं आगामी, भावी कालमे भी पापादि अशुद्ध क्रियाओको, मन-वचन कायसे न करूँगा—न कराऊँगा और न अन्य करनेवालेकी अनुमोदना करूँगा। यही भाव स्पष्ट करते हैं—

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

अन्वयार्थ—(**भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय**) आगामी कालकी सम्पूर्ण पापादि क्रियाओको त्यागकर (**निरस्तसमोह**) समस्त मोह, अर्थात् मिथ्यात्वमय अज्ञानभावसे रहित हुआ मैं (**निष्कर्मणि**) समस्त द्रव्य-भाव कर्मस्वरूपसे भिन्न है स्वरूप जिसका, ऐसी (**चैतन्यात्मनि आत्मनि**) चैतन्य रसात्मक अपनी निजात्मामे (**आत्मना वर्ते**) अपने स्वरूपसे ही प्रवर्तता हूँ ॥२२८॥

भावार्थ—मैं मन, वचन काय, कृत-कारित-अनुमोदनाके उनचास भगोंसे भविष्यत्कालमे कोई भी अशुद्ध क्रिया न करूँगा। अभी तक ये क्रियाएँ मिथ्यात्वादि अज्ञान भावोसे हुई हैं,—अब मैं मोह रहित हुआ, अतः इन क्रियाओंसे अपनेको मुक्त कर कर्म—नोकर्मकी समस्त उपाधियोंके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न, चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मामे ही वरतूं यह प्रत्याख्यान कर्म है ॥२२८॥

उक्त प्रकार समस्त कर्म परित्यागकर शुद्धात्माका अवलबन करनेका उपदेश देते है—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म, त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ।।२२९।।

अन्वयार्थ—(विलीन मोह) मोह रहित **(शुद्ध नयावलम्बी)** शुद्ध नयका अवलम्बन करने वाला मैं, **(इत्येवं समस्तमपि त्रैकालिक कर्म अपास्य)** उक्त प्रकारसे अपने तीनो काल सम्बन्धी समस्त कर्मो को दूर कर, **(अथ)** इसके बाद **(विकारैः रहितम्)** निर्विकार **(चिन्मात्रं आत्मानम्)** चैतन्यमात्र आत्मा का **(अवलम्बे)** अवलम्बन करता हूँ ।।२२९।।

भावार्थ—कर्म, नोकर्म-भावकर्म जन्य समस्त विकार शुद्धात्मामे नही है। अशुद्धात्मामे हैं। वे स्वरूप रूप नही है, आत्मस्वरूपसे सर्वथा भिन्न स्वरूप है। अत. शुद्धनयके अवलबनसे शुद्धात्मका दर्शी, निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अवलोकन करता है। भूत भविष्यत् वर्तमानके समस्त कर्मोको, अनात्मस्वभाव जानकर उनका त्याग करता है। यही उसका कर्म संन्यास है ।।२२९।।

(४१७) **प्रश्न**—ज्ञानी पुरुषकी भावना तो अच्छी है जो त्रिकालके लिए पापोसे मुक्त होना चाहता है, और शुद्धात्मामे रमण करना चाहता है। पर प्रश्न यह है कि "मेरे पुरातन कर्म मिथ्या हो जायँ, वर्तमानमे मैने जो पापादि किए उनकी समालोचना करता हूँ, भविष्यमे वे मुझसे न हो" ऐसा कहनेसे तो कर्म छूट नही सकते। तब उस प्रतिक्रमणादि द्वारा उनका परिहार कैसे होता है ?

बधन तो अनेक कालोमे सचित दुर्भावनाओसे हुआ है। उन बँधे कर्मोम स्थिति अनुभाग सागरोंके लिए हैं। तब एक बार ऐसी सद्भावना करनेमे कि वे मिथ्या हो जायें, क्या क्षण भरमे मिथ्या हो जायेगे ? तथा मैं चैतन्यात्मामे प्रवर्तता हूँ ऐसा कथन करनेसे समस्त मोह तथा तज्जन्य विकार दूर होकर, आत्मा अपने स्वरूपमे सदा को निमग्न हो जाय ? ऐसा देखा नही जाता, तब इसकी प्रतीति कैसे होवे ?

श्रावक तथा साधु देवसिक-रात्रिक-पाक्षिक-मासिक-चातुर्मासिक-वार्षिक प्रतिक्रमण करते हुए देखे जाते है। तथापि वे रागादि विकारोसे रहित, निज शुद्धात्मा मे सदाकालको रत हो गए ऐसा नही देखा जाता। तब इससे क्या लाभ है ?

समाधान—बध दुर्भावनासे हुआ था, अत सद्भावनासे बधसे छूटना भी होगा। अत. प्रतिक्रमणादि निरर्थक नही है, सार्थक है। साधुजन तथा श्रावक—दैवसिक प्रतिक्रमण द्वारा दिनमे हुए दोषोको दूर करते है। रात्रिकसे रात्रिसम्बन्धी दोषोको दूर करते हैं। इसी प्रकार मासिक, चातुर्मासिक आदिमे, उस मासमे या चातुर्मासमे जो दोष हो जाते है उनका प्रतिक्रमण कर उन दोषोसे मुक्त हो जाते हैं। भेद ज्ञानके बलपर अपनी आत्माको दोषोसे पृथक् करना ही प्रतिक्रमण है।

(४१८) **प्रश्न**—यदि एक बार प्रतिक्रमणसे भूतकालके दोष दूर हो जाते है और प्रत्याख्यानसे भविष्यमे दोष न करनेकी भावना हो जाती है तो फिर बार-बार दोष क्यो होते है ? यदि बार-बार दोष न होते, तो बार-बार प्रतिक्रमण भी न करना पडता। साथ ही प्रत्याख्यान करके भी यदि दोष करना है तो उस प्रत्याख्यानका क्या अर्थ है ? यह तो एक नाटकीय कार्य दिखावा

प्रतीत होता है। दोष न होनेकी प्रतिज्ञाकर, पुन दोष करना अक्षम्य है, उसका प्रतिक्रमण कैसा ? इसका समाधान करें।

समाधान—सम्यग्दृष्टि जन, इस पद्धतिसे अपने अशुद्ध भावोको "ये त्याज्य हैं 'आत्म-स्वरूप नही है" ऐसा मानते हैं। इस भावनाका अर्थ यह है कि उन्हे अपनी भूल ज्ञात हो गयी कि मैंने अज्ञान दशामे ये सब कर्म किए है—ये मेरे अपराध है। मै इन अपराधोसे छूटूं। भविष्यमे ऐसे अपराध मुझसे न हो ऐसी भावना उसकी है। उस पूर्वकृत कर्मका पश्चात्ताप, तथा उनसे छूटनेकी भावना ही उनसे छूटनेका उपाय है, अन्य नही। जिसके भावना ही नही है, उन्हे हेय ही नही मानता, वह कैसे छूटेगा। यह सत्य है कि बहुत कालके बँधे सागरोपमस्थितिवाले कर्म कथनमात्रसे न छूटेगे, पर जब छूटेंगे तो ऐसी भावनाकी दृढतासे ही छूटेंगे। बलवती भावना एक बारमे भी पापाधकार को विनाशक हो सकती है, जैसे सैकडो वर्षोंकी अन्धकार ग्रस्त गुफाके समस्त अन्धकारको प्रकाश, एक बारमे ही मिटा देता है। इसीसे कहा है कि—'चिरस्थाय्यन्ध कारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति।'

प्रतिक्रमण 'कथन मात्र' शाब्दिक वस्तु नही है, वह तो क्रियात्मक वस्तु है। दोषोको हेय मानकर छोडना ही वस्तुत प्रतिक्रमण है। यह सही है कि बार-बार दोष होते है, इसीलिए बार-बार उनसे छूटनेकी भावना करता है। बार-बारकी भावनासे आत्मामे दृढता आती है, और वह दोषोसे क्रमश मुक्त होकर शुद्धात्म तत्त्वमे प्रवेश करनेकी भावनाके कारण, शुद्ध तत्त्वको प्राप्त भी करता है। शुद्ध तत्त्वमे प्रवेश करनेपर अशुद्धता स्वय मिट जाती है, अतः सिद्ध है कि प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, ये तीनो ही आत्माको विशुद्ध करनेके सफल साधन हैं।

(४१९) **प्रश्न**—क्या बिना भोगे असमयमे कर्म निर्जराको प्राप्त हो सकते है ? यदि ऐसा हो तो कर्म करना निष्फल हो हुआ ?

समाधान—उदय कालके पूर्व, बिना फल दिये भी, कर्म असमयमे निर्जराको प्राप्त हो जाते है। उसी को तो अविपाक निर्जरा कहते है। फल देकर यथासमय होनेवाली कर्मोकी निर्जराको सविपाक निर्जरा कहते हैं, वह तो समस्त ससारी जीवोके प्रति समय पाई जाती है, वह मोक्षमार्गमे उपयोगी नही है। अविपाक निर्जरा, समय आए बिना भी जीवके विशुद्ध परिणामोके अनुसार हो जाती है। तप आदिके द्वारा भी निर्जरा होती है, ऐसा "तपसा निर्जरा च" सूत्रमे उमास्वामी द्वारा कहा गया है।

(४२०) **प्रश्न**—तपस्या करनेसे कर्म निर्जरा हो जाती है यह स्वीकृत है। पर यहाँ तो तपकी बात नही है। 'केवल मै आत्मामे प्रवर्तता हूँ' ऐसा मात्र कहा है। सो दोनो कथन अविरुद्ध प्रतीत नही होते ?

समाधान—वे दोनो वचन अविरुद्ध है। वस्तुत आत्माका अपने स्वरूपमे प्रतपन करना ही निश्चय तप है। अपने स्वरूपमे सलग्न होनेसे आत्माकी प्रशस्त शक्ति प्रकट होती है। वही तप है, और उसीसे निर्जरा होती है। बाह्य तप तो अन्तरग तपका साधनमात्र है। निर्जरा तो अभ्यन्तर तपसे ही होती है। तपोका जो भी अन्तरग बहिरग वर्णन है उन सबका एकमात्र उद्देश्य है कि आत्माका निज प्रताप बढे। अत. 'तपसा निर्जरा' कहनेमे तथा चैतन्यात्मामे प्रवर्तमान होनेमें, परस्परानुकूलता ही है ॥२२९॥

अचल चैतन्यके अवलम्बन करनेवाले साधकके कर्म बिना फल दिये स्वय गलते हैं। आगे कलशमें यही प्रतिपादन कहते हैं—

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यामात्मानत्मानम् ॥२३०॥

अन्वयार्थ—(**भुक्तिमन्तरेणैव**) फल भोगनेके बिना ही (**मम कर्मविषतरुफलानि**) मेरे कर्म रूपी विष वृक्षके फल (**विगलन्तु**) गल जावें। क्योकि (**अहम्**) मैं (**अचलं चैतन्यात्मानं आत्मानं**) स्थिर रूपसे चैतन्यस्वरूप आत्माको (**सञ्चेतये**) सचेतन करता हूँ। अर्थात् मैं अपने आत्मस्वभावमे स्थित होता हूँ।

भावार्थ—जो जीव अचल चैतन्यका अवलम्बन करते है, तथा उसीमे रमण करते हैं, वे तत्काल रागादि विभाव रहित अवस्थाको प्राप्त होते हैं। इस निर्विकल्प आत्मध्यानके कालमे, उदयको आने वाले कर्मरूपी वृक्षके फल, बिना फलदानके ही विनाशको प्राप्त हो जाते है।

अचल चैतन्यको अवलम्बन करने वालेको प्रतिसमय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचन स्वयं प्राप्त है, क्योकि वह उनके फलको प्राप्त हो चुका है। यही कर्म बन्धके छूटनेका उपाय है, अन्य नही ॥२३०॥

उस अचल चैतन्यका अवलम्बन मेरे सदाकाल रहा ऐसी भावना करते है—

निःशेषकर्मफलसन्यसनान्ममैव
सर्वक्रियान्तर-विहार-निवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३१॥

अन्वयार्थ—(**एव**) इस प्रकार (**निःशेषकर्मफलसन्यसनात्**) उदयागत कर्मोंके समस्त सुख दुखादि फलोका परित्याग कर देनेवाले, (**सर्वक्रियान्तरविहार-निवृत्तवृत्ते**) अपनी चैतन्य क्रियाके सिवाय जिसने अन्य समस्त क्रियाओमे विहार करनेसे अपनी निवृत्ति की है तथा (**चैतन्यलक्ष्म आत्मतत्त्वम् भृशम् भजत**) चैतन्य ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्माका ही सदा अनुभव करनेवाले तथा उसमे (**अचलस्य**) निश्चल रहनेवाले (**मम**) मेरी (**इयम् अनन्ता कालावली**) ये आगामी आनेवाली अनन्त काल पक्तियाँ (**वहतु**) इसी अवस्थामे व्यतीत होवें।

भावार्थ—वर्तमान कालमे मैं अपने चैतन्य भावका, जो मेरा सुविशुद्ध स्वरूप है, उसीका अनुभव कर रहा हूँ। इस ज्ञान चेतनाको धारण करनेके साथ-साथ, मैं उदयागत कर्मके फलस्वरूप अज्ञान रूप, या सुख-दुखादिरूप परिणमनको जो क्रिया, उससे भिन्न हो चुका हूँ, अत. कर्मफलसे रहित हूँ। इस ज्ञान चेतनासे भिन्न रागादिक्रिया, जो आगामी कर्म बन्धका कारण होनेसे कर्म चेतनारूप क्रिया है, उसमे भी मैं प्रवृत्ति नही करता। केवल विशुद्ध आत्मानुभव करता हूँ। मेरा भावी अनन्त काल भी इसी प्रकार अविचलित रूपसे व्यतीत हो ऐसी भावना है।

जो जीव उदयागत कर्मके फलस्वरूप, सुख दुखादिरूप परिणाम नही करता, शुभ या अशुभ कर्मके उदयमे रागद्वेष रूप परिणाम नही करता—सकल्प विकल्प नही करता, अपने

ज्ञानानन्द स्वरूपमे ही अपने उपयोगको रमाता है, तथा आगामी कर्मके बंध योग्य परिणाम न करके, अपने परिणामोका विहार अपनी ही मर्यादामे सीमित रखता है, उसकी ये परिणतियाँ ही प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना स्वरूप है।

ज्ञानीकी भावना है कि मैं इस आत्मानुभवमे सदा काल बना रहूँ। अब कालका क्षणमात्र भी ऐसा न आवे, जिसमे मेरी आत्मानुभवन रूप उपयोग की यह धारा विचलित हो।

जिसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवका आनन्द आ गया, वह उस आनन्दमे ही तृप्त है। ससारके विषय सुखका आनद अतृप्तिकारक है। उसमे सदा परिवर्तनकी आकाक्षा बनी रहती है। कुछ नया-नया विषय चाहता है, अत वर्तमानसे अतृप्त हो, भावी कालमे नए विषयोकी आकांक्षा करता है। ज्ञानी जिस आत्मानुभवके आनन्दको प्राप्त हुआ है, वह उसी दशामे सदा रहना चाहता है, उससे हटना नही चाहता। वह पूर्णतृप्त है। विषयालम्बन और आत्मालंबनके सुखमे यही महान् अन्तर है ॥२३१॥

उक्त अर्थका पुनः समर्थन करते हैं—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो ज्ञानी जीव (**पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणाम्**) पूर्व कालमे किए अपने विभावोके फलस्वरूप उत्पन्न जो कर्म रूपी विषके वृक्ष, उनके (**फलानि**) विष फलोको (**न भुंक्ते**) नही भोगता (**सः खलु स्वत एव तृप्तः**) वह अपने स्वरूपमे स्वय तृप्त है—सतुष्ट है। यह ज्ञानी (**आपातकालरमणीयम्**) वर्तमान अनुभवके कालमे भी अत्यन्त आनंद दायक, तथा (**उदर्करम्यम्**) भावी अनन्त काल तक भी रमणीय, ऐसे (**निष्कर्मशर्ममयम्**) कर्मकी कालिमासे रहित सुख स्वरूप (**दशान्तरम् एति**) संसार दशासे भिन्न, दशाको प्राप्त होता है, अथवा निष्कर्म, मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे रहित, आत्मोत्थ सुख स्वरूप मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३२॥

भावार्थ—ससारी जीवोको, पूर्वकृत विभाव भावोंके कारण, नाना प्रकारके पुण्य-पापादि रूप, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बंध प्राप्त हुआ है। इनका जब उदय आता है तब यह जीव अज्ञान-मोह-राग-द्वेष रूप, तथा सुख-दु खादि स्वरूप परिणमन करता है। ये सब विभाव जीवके कर्म बधनको पुनः दृढ करते हैं। इसी प्रकार इन विष वृक्षोके विष फलोको यह जीव सदासे भोगता आ रहा है। कभी सयोगसे पुण्यका उदय हुआ, और उसमे कुछ साता पाई, तो पंचेन्द्रियोंके विषय भोगोमे उन्मत्त होकर, उन्हीमे सुखानुभव करता है। नित नए-नए साधन मिलाता है, फिर भी तृप्त नही होता। प्रत्युत् उसकी यह अतृप्ति ही वस्तुतः दुःख रूप है। सुख तो तृप्ति या सन्तोषका नाम है। जहाँ प्यास बनी रहे, सन्तोष न हो, वहाँ तो व्याकुलता ही रहती है। अतः वह सुख नही दुःखका ही एक प्रकार है।

विषयभोग तत्काल तो रमणीय दिखते हैं, पर उनका भविष्य दुखोत्पादक है। जैसे दादका रोगी जब दाद खुजाता है तब उसे बहुत आनंद आता है, पर उसका वह आनन्द ही उसके रोगके

बढनेका कारण है। इसलिए वस्तुतः वह आनद वर्तमान कालमें रमणीय होनेपर भी, उत्तर कालमें दुखदायक होनेसे रमणीय नही है।

अथवा जैसे विष मिश्रित मिष्टान्न तत्काल खानेमे अच्छे लगते हैं, पर उत्तर कालमे मरणके हेतु हैं, अतः हानिकारक हैं। इसी प्रकार पचेन्द्रियोंके विषय भोगो या क्रोधादि कषाय-भावोका आलबन करनेवाला जीव, तत्काल तो अपनेको आनन्दित मानता है, पर उस आनदके फलस्वरूप जो पापका सञ्चय हो जाता है, उसका फल आगामी कालमे अति भयंकर और कष्टदायक होता है। आत्मोत्थ सुख ततृकाल भी आनद दायक है—तृप्तिकारक है—और उसका उत्तर फल भी केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

शुभ-अशुभ परिणाम जहाँ ससारमे बध स्वरूप होनेके कारण, दु.ख रूप ही हैं, और दुखोत्पादक हैं, वहाँ शुभाशुभसे भिन्न शुद्धोपयोगके परिणाम, आगामी बध न करानेसे सुखदायक हैं। शुद्धोपयोग ही केवलज्ञानके उत्पन्न होनेका मूल कारण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तीनोकी एकता मोक्षमार्ग है। तीनोमे उपयोगकी विशुद्धता ही मूल है। अत ज्ञानी सदा काल उसकी हो वाछा करता है ॥२३२॥

ज्ञानचेतनामे नृत्य करनेवाला जीव प्रशमरसमे निमग्न हो जाता है, ऐसा कथन करते है—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाऽज्ञानसञ्चेतनायाः ॥
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥

अन्वयार्थ—(**कर्मणः तत्फलात् च**) ज्ञानावरणादि कर्मबध योग्य परिणामोसे तथा उनके फल स्वरूप अज्ञान-सुख-दुखादिसे (**विरतिम्**) आत्माके पृथक् पनेको (**अविरतम् भावयित्वा**) निरन्तर भावना करके, तथा (**अखिलाज्ञानसञ्चेतनाया.**) इन्ही विकारभावों स्वरूप, व सुख दुखादि रूप उपयोगकी जो वृत्ति, वही हुई अज्ञान चेतना,—अर्थात् कर्म-कर्मफल चेतना, उसके (**प्रलयनम्**) विनाशको (**प्रस्पष्ट नाटयित्वा**) स्पष्ट रूपसे प्रकट करके, साथ ही (**स्वरसपरिगत स्वभावं**) अपने आत्मरससे परिपूर्ण अपने ज्ञान स्वभावको, (**पूर्णं कृत्वा**) पूर्ण स्वरूपको प्रकट करके (**स्वां ज्ञान संचेतनां**) अपनी सुविशुद्ध ज्ञान सचेतनाको (**सानन्दम् नाटयन्त.**) आनन्दसे नृत्य कराते हुए (**इत प्रशमरसम्**) ज्ञानीजन अब शान्त रसको अथवा साम्यभाव रूपी परमामृतको (**सर्वकालम्**) अनन्तकाल तक (**पिबन्तु**) पिएँ ॥२३२॥

भावार्थ—जिन जीवोंने अपने विभाव भावरूप कर्म चेतनाका, तथा पूर्वकृत इन विभावोंके फल स्वरूप सुखदुखादि रूप कर्म फल चेतनाका, नाश करनेकी सतत भावना की है, और इस भावनाके बलसे ही कर्म चेतना, व कर्म फल चेतनाको, जिसे-एक अज्ञान चेतना ही कहना चाहिए, उसको प्रलय कर दिया है, उन्होने ही अपने आत्मानुभव रूप स्वसवेदन ज्ञानके बलसे, अपने केवलज्ञान स्वभाव-पर्याय की प्राप्ति की है। वे ही अपनी ज्ञान चेतनाको पूर्ण प्राप्त कर, आनन्दसे मुक्तावस्थामे साम्यामृतका सदा काल रसपान करते हैं।

(४२१) **प्रश्न**—'कर्म व उसके फलसे मेरी आत्मा भिन्न है' ऐसी भावना करनेमात्रसे क्या अज्ञान चेतना मिट जाती है ?

समाधान—ऐसा नही है। भावना मात्रसे कार्य नही होता, कुछ और भी करना होता है, वह उत्तरार्धमे बताया गया है, कि अपने आत्मरसमे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके, जो सानन्द नृत्य करता है, वह सदा साम्यामृतको प्राप्त करता है।

(४२२) **प्रश्न**—इसका तात्पर्य यह हुआ कि भावना करनेवाला अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करे। कैसे प्रकट करे ऐसा कुछ तो बताया नही।

समाधान—ज्ञान चेतना रूप परिणमन करना—कर्म व कर्मफलरूप न परिणमन करना यही उपाय केवल ज्ञान, स्थिर ज्ञान, शाश्वत ज्ञान, अचल ज्ञान, प्राप्त करनेका है।

(४२३) **प्रश्न**—क्या हर एक व्यक्ति स्वय स्वेच्छासे ऐसा कर सकता है ? यदि कर सकता होता तो क्यो अज्ञानी रहता, सब केवली ही बन जाते ?

समाधान—मिथ्यात्व परिणामके कालमे उक्त तत्त्वपर श्रद्धान ही नही होता—जिनागमके उपदेश बिना इस पद्धतिका ज्ञान ही नही होता—बिना श्रद्धान ज्ञानके सयम नही होता। जिस जीवके मिथ्याभाव दूर हुआ, उसे आत्मदर्शन हुआ, अर्थात् अपने विशुद्ध स्वरूपका भान हुआ। जिसे ऐसा भान हुआ वही इस स्वसवेदन ज्ञानके बलसे—अज्ञान चेतनाको दूर करनेमे समर्थ होता है।

(४२४) **प्रश्न**—क्या कर्मका उदय सम्यग्दृष्टि आत्मानुभव करनेवाले जीवको नही आता ? उसका फल उसे नही भोगना पडता ? ऐसा तो नही है। भगवान् पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर महापुरुषोको भी पूर्व कर्मका फल भोगना पडा। तब सम्यग्दृष्टि जीव कर्मफल चेतनासे भिन्न है, अर्थात् "फल न भुक्ते' फल नही भोगता, यह बात विरुद्ध प्रतीत होती है ?

समाधान—कर्मोदयसे ही जीव ससारी है, ऐसा व्यवहारनयसे कथन है। परमार्थमें कर्मोदयके निमित्तसे जीवके परिणाम, जो अज्ञान, मोह, रागादिरूप परिणमते हैं, इस कारण जीव ससारी है सभी ससारी प्राणियोके कर्मोदय आता है, और उन्हे इसका फल भी भोगना पड़ता है। तथापि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके फल भोगनेकी क्रियामे अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आत्मस्वभावको नही जानता, अत शरीरादिमे अपना रूप देख, उसके नाशमे अपने नाशकी मिथ्या कल्पना करता है, अतः अत्यन्त दुखी, सक्लेश परिणामी होता है। यही अज्ञान भाव या अज्ञान चेतना है।

सम्यग्दृष्टि जीवको उदयागत कर्मके उदयके निमित्तके रहते हुए भी, आत्मदर्शी होनेसे, मेरा स्वरूप क्या है, इसका उसे भान है। अत. शरीरादिके नाशमे वह अपना नाश नही देखता। अपने अचल अविनाशी स्वभावका ज्ञाता द्रष्टा होनेसे सक्लेश परिणाम नही करता।

भगवान् पार्श्वनाथको उपसर्ग हुआ, यह उनके पूर्व कृत कर्मोदयसे ही था, इसमे सन्देह नही है। उन्हे भी उस कर्मके उदयमे ऐसी विपत्ति आई, तथापि वे उस कर्मके फल रूप, सुख-दुख रूप, नही परिणमे, अर्थात् उन्होने उसे दुख नही माना। उन्होने अपना ज्ञानोपयोग शरीर व उसकी अवस्थाओसे हटाया, उपसर्गसे हटाया, उपसर्ग करनेवालेसे हटाया। उपयोग अपने आत्म

स्वरूपके अनुभवनमे लगाया, उसीमे दृढ किया। इससे अन्यत्र उपयोग नही गया। फल स्वरूप यह कहना चाहिए कि कर्मके फलको स्वीकार नही किया। इसे ही कर्मके फलका न भोगना कहते हैं। इससे आत्मानुभूतिकी स्थिरता रही तो समस्त घातिया कर्म नष्ट होकर भगवान्‌को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। यही मार्ग अमृतचद्राचार्यने उक्त कलशोमे बताया है।

(४२५) **प्रश्न**—भगवान् पार्श्वनाथ तो तीर्थंकर थे, उनकी आत्मा समुन्नत थी। वे ऐसा कर सके। पर सामान्य सम्यग्दृष्टि जन भी क्या कर्मसे तथा कर्मके फलसे भिन्न ज्ञान चेतना स्वरूप हो सकते हैं?

समाधान—सम्यग्दृष्टि वस्तु स्वभावका वेत्ता है। अत. कर्मोदयकी अवस्थामे वह आत्म स्वभाव, व कर्मस्वभावमे, भेद जानता है। अत कर्मोदय जन्य अवस्था हो, तो भी अपनेको उससे पृथक् अनुभव करनेके कारण उसका स्वामित्व नही करता। स्वामी ही फल भोगता है। जो जिस वस्तुका स्वामी नही है, वह उस वस्तुका फल नही भोगता। जैसे किराएके मकानमे रहनेवाला व्यक्ति, उस मकानका स्वामित्व नही करता, अतः उस मकानकी हीनाधिक अवस्थामे हृष-विषाद नही करता। पर रहता उसी मकानमे है। यदि मकानकी छत खराब हो तो बरसातमे तकलीफ भी वह भोगता है, तथापि वह मकानका स्वामी न होनेसे अत्यन्त आकुलित नही होता। वह सोचता है, मकान खराब हो रहा है, इसकी चिन्ता मकानका स्वामी करे मुझे क्या है? छोड़ दूँगा इस मकानको। किन्तु मकान मालिक ऐसी उपेक्षा नही कर सकता। यद्यपि उसे किराए-दारकी तरह तकलीफ नही है। तथापि मकान मेरा है, वह नष्ट हो रहा है, इसकी आकुलतासे वह अत्यन्त दुखी है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जानता है कि शरीर भिन्न है—कर्म भिन्न है—उसका उदय उसकी अवस्था है। मेरा स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न है। उदय कालमे, सयोग-वियोगमे, हर्ष-विषादके कारण आते है, पर वे मुझसे भिन्न हैं। मेरी सत्तासे भिन्न हैं। मेरे गुणोसे तथा मेरी पर्यायसे भिन्न हे। मैं मेरे द्रव्य-गुण-पर्यायका ही स्वामी हूँ। शरीरादि पर द्रव्य, कर्म तथा उसकी उदयादि अवस्थाएँ, मेरेमे नही हैं अतः कष्ट पाकर भी वह विचलित नही होता। वह उन सबका स्वामित्व नही करता। स्वामी बने तो भोक्ता हो। "स्वामी मैं नही हूँ" ऐसी दृढ़ श्रद्धाके कारण शरीरादिके नाशमे अपना नाश नही देखता, अत. भोगते हुए भी "नही भोगता" ऐसा कहा जाना चाहिए ॥२३३॥

इसीका प्रकारान्तरसे समर्थन करते हैं—

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद् बिना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुर्व्यातरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

अन्वयार्थ—(**इत. पदार्थप्रथनावगुण्ठनात् कृतेः बिना**) नाना प्रकारके पदार्थोंके प्रसारका जो आश्रय, याने ज्ञान, उसके रहते हुए भी उसके कर्तृत्वसे रहित अथवा आकृतिसे रहित, (**समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितम्**) समस्त पदार्थोंकी पारमार्थिक भिन्नताके निर्णयसे-भिन्न स्वरूप निर्णीत हुआ (**एक ज्वलत् अनाकुलम्**) स्वभावसे एक रूप, आकुलता रहित, उदीयमान् (**ज्ञानं इह अवतिष्ठते**) ज्ञान इस आत्मामे अवस्थित है ॥२३४॥

भावार्थ—रागादिकी भूमिकाके बिना भी, ज्ञान-ज्ञेयका सहज सम्बन्ध होनेसे, ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञानमे विकल्प होते हैं। ज्ञानी जब समस्त वस्तुओंसे भिन्न, अपने स्वभावका अनुभवन करता है तो उसका उपयोग विकल्पोंसे दूर हो जाता है। पदार्थोंकी आकृतियो रूप ज्ञानका परिणमन नही होता। उस समय—गुरुसे, शास्त्रसे, वचनोंसे, अरहन्त परमेष्ठीसे, सिद्ध परमात्मा से भी मैं भिन्न हूँ, ऐसा निर्णय करनेसे, उसका प्रकाशमान ज्ञान अब अपने मे ही एक रूपमें है। पर पदार्थोंसे ज्ञेय रूपसे भी उस कालमे सम्बन्ध टूट गया। ज्ञान ज्ञेयके भी विकल्प दूर हुए। अतः निराकुल—निर्विकल्प—एक ज्ञान, जिसे ध्यान भी कहा जा सकता है, आत्मामे अवस्थित होता है। यही केवल ज्ञानोत्पादक बीज है ॥२३४॥

आत्मतत्त्व तथा उससे अभिन्न बोध, अन्य सर्व पदार्थोंसे—उनके गुणोंसे—उनकी पर्यायोसे-पृथक् भूत स्थित हुआ ऐसा दिखाते हैं—

अन्येभ्योव्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथक्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

अन्वयार्थ—(**एतत् ज्ञानम्**) यह विशुद्ध ज्ञान (**अन्येभ्य व्यतिरिक्तम्**) अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंसे पृथक् है। (**पृथक् वस्तुता बिभ्रत्**) उसकी स्वतन्त्र वस्तुता है, उसे धारता हुआ (**आत्मनियतम्**) केवल आत्म तत्त्वमे ही सुनिश्चित है, (**आदानोज्झनशून्यम्**) परके ग्रहण-त्यागसे भिन्न, (**अमलं**) दोष रहित, (**तथावस्थितम्**) ऐसा स्वरूप उसका प्रगट हुआ। (**मध्याद्यन्तविभागमुक्त**) आदि, मध्य, अन्तसे रहित अनाद्यनन्त, (**सहजस्फारप्रभाभासुर**) अपनी स्वाभाविक विस्तृत ज्योतिसे प्रकाशमान (**शुद्धज्ञानघनः**) शुद्ध ज्ञानमय है। (**तथा अस्य महिमा**) ऐसी महिमा (**नित्योदित. तिष्ठति**) नित्य ही उदय रूपसे रहती है ॥२३५॥

भावार्थ—आत्माका लक्षण "उपयोगो लक्षणम्" इस सूत्रके अनुसार 'उपयोग' ही है। लक्षण वह है जो लक्ष्यमे ही रहे—लक्ष्यके बाहिर न रहे। आत्माका यह उपयोग लक्षण—आत्मामे ही नियत है, सम्पूर्ण आत्माओमे पाया जाता है। अत. अव्याप्ति दोषसे युक्त नही है। जो लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्यमे न जावे वह अव्याप्ति दोषसे सयुक्त माना जाता है। आत्माके इस लक्षणमे यह दोष नहीं है।

ज्ञान अन्योसे भिन्न है। अपनी पृथक् वस्तुता रखता है, अत आत्म भिन्न पदार्थोंमे न पाये जानेसे, वह अतिव्याप्ति दोषोसे भी रहित है। अतिव्याप्ति दोष वहाँ होता है—जहाँ लक्षण अलक्ष्य-भूत पदार्थोंमे भी पाया जाय। ज्ञान अपनी वस्तुताको रखता है। परको ग्रहण नही करता। अपने स्वरूपका त्याग नही करता, अत असम्भव दोषसे भी रहित है। जो लक्षण परमे चला जाय और अपने लक्ष्यमे न रहे वह असम्भव लक्षण है। यदि ज्ञान आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थको ग्रहण करता, अर्थात् लक्ष्यको छोड़ अलक्ष्यको पकड़ लेता, अथवा अपने स्वयके स्वरूपको त्याग देता तो वह आत्माका असम्भव दोष युक्त लक्षण कहलाता। पर ऐसा नही है, अतः उसमे असम्भव दोष भी नही है। इस तरह अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव तीनो प्रकारके दोषोसे रहित, यह ज्ञान ही आत्माका सम्पूर्ण लक्षण है।

आत्माका यह ज्ञान लक्षण अनादिसे अनन्तकाल रहता है। ऐसा नहीं है कि आत्मा पहिले ज्ञानस्वरूप नही था—किसी काल विशेषमे उसमे ज्ञानकी उत्पत्ति हुई हो। अतः ज्ञान अनुत्पन्न होनेसे सदाकालसे ही आत्मामे है। उसका कभी नाश हो जाय—आत्मा ज्ञान रहित हो जाय ऐसा भी नही है, अत ज्ञान अनन्त है। जिसका आदि और अन्त नही है, उसका मध्यका स्थान भी नही है, क्योकि आदि और अन्त नापने पर ही, मध्य कहाँ है, इसका निर्णय किया जाता है। जैसे छ फुटकी लकडी हो तो तीन फुट पर उसका मध्य निश्चित होता है, क्योकि उसका आदि और अन्त है। अतः अनादि अनन्त होनेसे आत्माके ज्ञानका कोई मध्य नही है। वह तो सदा है—सभी कालावलियाँ उसके भीतर अन्तर्गर्भित हैं। अतः अपनी सहज, विस्तृत, ज्ञायकपनेकी ज्योतिसे प्रकाशमान, एकमात्र ज्ञानभाव ही इस प्रकारसे अवस्थित हुआ जो अब सदा काल नित्य उदयरूप विद्यमान है। ऐसी उसकी महिमा है ॥२३५॥

सम्पूर्ण आत्मशक्तिका अपनेमे ही समेट लेना कृतकृत्यपना है ऐसा कहते हैं—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अन्वयार्थ—(**संहृतसर्वशक्ते पूर्णस्य आत्मनः**) जिसने अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनेमे ही समेट ली हैं, ऐसी सम्पूर्ण आत्माका (**इह आत्मनि**) इस अपने आत्मामे ही (**यत् संधारणम्**) पूर्ण रूपमे एकाग्रताके रूपमे धारण हुआ अत (**तत् उन्मोच्यम् उन्मुक्तं**) वह जो छोडने योग्य था वह छूट गया (**तथा यत् आदेयं**) जो पाने लायक था। (**तत् अशेषतः आत्तम्**) वह सम्पूर्ण रूपमे पा लिया। कुछ करना शेष नही रहा ॥२३६॥

भावार्थ—लौकिक जन ससारमे जो जो काम करते हैं, उसका दो रूपमे ही विभाजन किया जा सकता है। वह है ग्रहण और विसर्ग, अर्थात् लेना व छोडना। जो प्रयोजनभूत है उसे प्रयत्न करके प्राप्त करते हैं, और जो अप्रयोजनभूत या अनिष्टकारक है उसे छोड़ देते हैं।

इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा भी जब विभाव भावरूप परिणमन करने वाली, अपनी अनन्त शक्तियोको—जो दोषरूप कही जाती थी—परपदार्थोसे हटाकर—उन्हें केवल आत्मनिष्ठ बनाता है, अर्थात् सर्वशक्तियाँ जो पराश्रयसे प्रवृत्त हो रही थी, उन्हें उन आश्रयोसे हटा लेता है, उन्हें केवल अपनेमे सीमित कर लेता है, तब उसके दोनो कार्य एक साथ दिखाई देते हैं। उसके समस्त विभाव दूर हो जाते है—सो त्यागने योग्यका स्वय त्याग हो गया, और अपने गुण जो उपादेय थे—वे स्वय गृहीत हो चुके। ऐसा केवलज्ञान प्रकट होने पर अब उसे कुछ करना शेष नही रहा, सभी कार्य सिद्ध हुए। यही उसका कृतकृत्यपना है ॥२३६॥

ज्ञानीके देह नही है यह सिद्ध करते हैं—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद् येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३७॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**परद्रव्यात्**) समस्त परद्रव्योसे (**व्यतिरिक्तम्**) सर्वथा भिन्न (**ज्ञानं अवस्थितम्**) ज्ञानकी स्थिति सिद्ध हुई। तब (**आहारकं तत् कथ स्यात्**) वह ज्ञान, कर्म,

नोकर्मरूप, परद्रव्यका आहारक कैसे है ? (**येन अस्य देह शङ्क्यते**) जिससे ऐसी शकाकी जाय कि ज्ञानीके देह है ॥२३७॥

भावार्थ—ज्ञानका स्वरूप पदार्थको जानना मात्र है। वह केवल आत्मनिष्ठ है, क्योकि वही आत्माका गुण है और वही उसका असाधारण लक्षण है। ज्ञान आत्मासे भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखता। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानसे भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखता। दोनोमे गुण-गुणीपनेका सबध है। गुण-गुणो कभी पृथक् नही हो सकते, उनकी एक ही सत्ता है। यदि पृथक्-पृथक् सत्ता वाले होते तो कभी न कभी उनका सयोग भग होकर, वे पृथक्-पृथक् हो जाते। भिन्न-भिन्न सत्तावालोमे ही संयोगकी भिन्नता होने पर पृथक् वस्तुता प्राप्त होती है।

जैसे आत्मा पर द्रव्योसे भिन्न स्वरूप, और भिन्न सत्तावाली वस्तु है, उसी तरह ज्ञान-गुण भी आत्मासे सर्वथा अभिन्न सत्तावाला होनेके कारण अन्य सर्वद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। वह परद्रव्यका ग्रहण ही नही करता—क्योकि परद्रव्यका किसी दूसरे द्रव्यमे प्रवेश स्वभावसे ही निषिद्ध है—असभव है। ऐसी स्थितिमे पौद्गलिक देहका ग्रहण और त्याग भी, ज्ञानके या ज्ञानीके नही होता। देह जड होनेसे, ज्ञान या ज्ञान स्वभावी आत्मा उसे ग्रहण नही करता। क्योकि यह देह पुद्गल द्रव्यकी है अत ज्ञानकी वह हो ही नही सकती ॥२३७॥

इस कथनसे जो फलित होता है इसे आगामी कलशमें बताते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

अन्वयार्थ—(**एव**) उक्त प्रकारके कथनसे यह बात स्वय सिद्ध है कि (**शुद्धस्य ज्ञानस्य**) शुद्ध ज्ञानके या शुद्ध ज्ञानमय आत्माके निश्चयसे (**देह एव न विद्यते**) देह ही नही है। (**तत**) इसलिए यह भी स्वय सिद्ध है कि (**देहमयं लिंगम्**) देहके बाह्य वेष देहके ही होते है अत. वे वेष देहात्मक होनेसे (**ज्ञातु मोक्षकारणम् न**) ज्ञाताके लिये मोक्षके कारण नही हैं ॥२३८॥

भावार्थ—यहाँ आचार्य यह बात सिद्ध कर रहे हैं कि मुनित्वका बाह्य नग्न वेष देहाश्रित है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो ज्ञानशरीरी ही है, अर्थात् ज्ञान ही उसकी देह है। वह उसका आन्तरिक गुण होनेसे—बाह्य वेषसे उसका सबध नही है। यदि ज्ञानके देह होती तो वह बाह्य वेष भी मोक्षका कारण होता। परन्तु ज्ञान तो परद्रव्यका आहारक ही नही है, उसे ग्रहण ही नही करता, तब सिद्ध है कि—ज्ञानके देह नहीं हैं—बाह्य वेष देहाश्रित है। अत देहाश्रित वेष मोक्षका कारण नही है, एकमात्र ज्ञानभाव ही मोक्षका कारण है।

(४२६) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन मोक्षके मार्ग कहे गये हैं, न कि ज्ञानमात्र। तब यहाँ ज्ञानको ही मोक्षका कारण कैसे कहा ?

समाधान—आगम ज्ञान या आगमोक्त तत्त्वज्ञानकी दृढ प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। अत सम्यग्दर्शन ज्ञानरूप ही है। सम्यग्ज्ञान—स्वय ज्ञानरूप है। अपने ज्ञान स्वरूपमे तल्लीन रहना, परका, रागादिका सपर्क छोड देना, चारित्र है। इस प्रकार तीनों ज्ञान स्वरूपसे भिन्न नहीं है, वे एक ज्ञान स्वरूपसे अभिन्न होनेसे ज्ञानात्मक ही हैं। स्वरूपाश्रित ज्ञान ही मोक्षका कारण है,

यह स्वयं सिद्ध है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन तीनोंसे अभेद रूप परिणत आत्माको ही यहाँ ज्ञान शब्दसे कहा गया है ॥२३८॥

भेद दृष्टिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र तीनो मोक्षमार्ग कहे जाते हैं, तथापि वे एक ज्ञानस्वरूप ही हैं, अतएव मोक्षमार्ग एक ही है ऐसा कहते हैं—

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

अन्वयार्थ—(**दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मा**) दर्शन ज्ञान और चारित्र ही है स्वरूप जिसका, ऐसा एक विशुद्ध ज्ञान ही (**आत्मनः तत्त्वम्**) आत्म तत्त्व है। (**स तु एक एव मोक्षमार्गः**) वह जिनोक्त एक ही मोक्षका मार्ग (**मुमुक्षुणा सदा सेव्य.**) मोक्षाभिलाषी जनोको सदा सेवनीय है, अन्य नही ॥२३९॥

भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे आगमोक्त-जीव-अजीव-आस्रव-बध-सवर-निर्जरा-मोक्ष इन सात तत्त्वोका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा इन सात तत्त्वोके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाले तीर्थंकर **अर्हद्देव**, तथा उनके उपदेशात्मक **आगम** और आगमोपदेशका आचरण करने वाले **गुरुजन**, इन तीनोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तथापि समस्त पर द्रव्योसे भिन्न केवल शुद्धात्मा की रुचि और प्रतीति तथा तद्रूप **स्वानुभूति** ही परमार्थसे सम्यग्दर्शन है,—परमार्थसे **स्वज्ञान** ही सम्यग्ज्ञान है, क्योकि वही शास्त्रज्ञानका फल है। इसी प्रकार—आत्मस्वरूपमे लीनता अर्थात् अपने **स्वरूपमें ही आचरण** वही सम्यक् चारित्र है।

आत्मा इन तीनोसे अभिन्न है, वही आत्मतत्त्व है, वही एक मात्र मोक्षमार्ग है। अतः जो ससारके समस्त दुखोंसे—भव-भव परिभ्रमणसे छूटना चाहते हैं,—उन समस्त मोक्षाभिलाषियोको, समस्त बाह्य पदार्थोसे ममत्व हटाकर, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा, जो यथार्थ मोक्षमार्ग है, उसका ही सेवन करना चाहिए। अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप स्वय बनना चाहिए। इसीको मोक्षमार्गका सेवन कहा जाता है ॥२३९॥

मोक्षका मार्ग एक ही है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

अन्वयार्थ—(**दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः**) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप (**यः एषः एकः नियतः मोक्षपथ**) यह एक ही निश्चित मोक्षका मार्ग है (**य तत्रैव स्थितिमेति**) जो उसमे ही अपनी स्थिति रखते हैं, (**अनिशं तं ध्यायेत्**) निरन्तर उस शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्माका ही ध्यान करते हैं (**तं चेतति**) उसका ही बार-बार सचेतन करते हैं तथा (**द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव विहरति**) अन्य द्रव्योको, तथा अन्य द्रव्योंके निमित्तसे उत्पन्न विभाव भावरूप परिणतियोको, स्पर्श नही करते, अर्थात् अनुभव नही करते तथा उस एक शुद्ध चैतन्यमे ही विहार करते हैं।

अर्थात् तद्रूप ही परिणमित होते हैं। (स) वे पवित्रात्मा (**नित्योदयं समयस्य सारम्**) नित्य ही उन्नत स्वरूप या प्रकटरूप शुद्ध चैतन्यको (**अचिरात् अवश्यं विंदति**) शीघ्र ही नियमसे प्राप्त होते हैं—या अनुभव करते हैं, अर्थात् शुद्ध स्वरूप बन जाते हैं ॥२४०॥

भावार्थ—आत्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है। रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। यह एक ही मोक्षका मार्ग सुनिश्चित है, अन्य कोई मार्ग मोक्षका नहीं है। उस शुद्धचैतन्य स्वरूपमे जो सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको स्थापित करते हैं,—उसका ही अनुभव करते हैं,—उसीका बार-बार चिन्तवन—सस्मरण करते रहते हैं, तथा उसे छोड़ कर अन्य पदार्थोंका किंचित् भी स्पर्श नही करते, उनकी ओर अपना उपयोग नहीं ले जाते, एकाग्रतासे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामे ही अपना उपयोग रखते हैं,—उसीमें रमते हैं, अन्य पदार्थोंके आधारपर होने वाले मोह, रागादि विभावोमे परिणमन नही करते,—ऐसे ध्यानी एकाग्रतामे आरूढ सयमी सम्यग्दृष्टि जीव ही, शीघ्रतासे उसी भवमे, या तीसरे भवमे, आत्मविशुद्ध स्वरूप कैवल्यको, या मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं ॥२४०॥

जो ऐसा नही करते वे कभी शुद्धचैतन्यको प्राप्त नही करते, ऐसा व्यतिरेक मुखसे कथन करते हैं—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४१॥

अन्वयार्थ—(**ये तु एनं परिहृत्य**) जो निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गसे या तत्स्वरूप अखण्ड चैतन्यकी ओरसे दृष्टि हटाकर (**संवृतिपथप्रस्थापितेन आत्मना**) मात्र व्यवहार मोक्षमार्गमे अपनेको स्थापित करके (**तत्त्वावबोधच्युता**) आत्म स्वरूप तत्त्वके अनुभवन रूप बोधसे भ्रष्ट होकर (**द्रव्यमये लिंगे**) केवल शरीराश्रित नाना बाह्यवेषोमे ही (**ममतां वहन्ति**) ममत्वभाव करते है, (**ते**) वे जीव (**नित्योद्योत**) जिसका प्रकाश सदा काल उदयरूप है (**अखण्डम्**) जो किसीके द्वारा खण्डित नही होता (**एकम्**) जो अनुपम है (**अतुलालोकं**) जिसके आलोककी किसी प्रकाशमे तुलना नही की जा सकती (**स्वभावप्रभाप्राग्भारं**) जो अपनी स्वाभाविक प्रभाके भारसे भरा हुआ (**अमल**) अत्यन्त निर्मल है, ऐसे (**समयस्य सारम्**) विशुद्ध आत्मस्वरूप प्रकाशको (**अद्यापि**) इतना सब कुछ सुनने व समझनेके बाद भी (**न पश्यन्ति**) नही देख पाते हैं ॥२४१॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गको, तथा रत्नत्रयके अखण्ड पिंड स्वरूप विशुद्ध आत्माके अनुभवनको छोडकर, तत्त्वबोधसे विमुख होकर, केवल देहाश्रित—दिगम्बरताके या श्रावकपदके बाह्यवेषको, या अन्य वेषरूपको या बाहिरी क्रियाओके करने मात्रको ही मोक्षका मार्ग मानकर, केवल उसमें ही मगन हैं, शास्त्र सुनते है, पढते है, दूसरो को समझाते हैं, बार-बार अध्यात्म ग्रन्थोंका पारायण करते हैं, उग्रसे उग्र मासोपवासादि तप करते है,—ग्रीष्मादि-ऋतुओमे तप्तपर्वतोपर, शीतऋतुमे चौडे मैदानोमे, वर्षाऋतुमें वृक्षादितलपर स्थित होकर, सहनशीलतासे नाना कष्ट सहते हैं, संक्लेश परिणाम नही करते, वे मन्दकषाय जन्य समस्त परिणामो

से पुण्यबंध तो कर सकते हैं, पर अखण्ड चैतन्य आलोकके दर्शनके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ।।२४१।।

व्यवहार करते हुए परमार्थपर दृष्टि रखना चाहिए। व्यवहारमे ही विमूढ़ हो जानेपर परमार्थ दिखाई नहीं देता—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ।।२४२।।

अन्वयार्थ—(**व्यवहारविमूढदृष्टयः जना**) जिनकी दृष्टि व्यवहारमे ही मोहित है, वे पुरुष (**परमार्थं नो कलयन्ति**) परमार्थ तत्त्वको स्वीकार नहीं करते अर्थात् विशुद्ध आत्म तत्त्वको नहीं अनुभव करते हैं। वे यथार्थतासे दूर हैं जैसे कि (**तुषबोधविमुग्धबुद्धय**) धानके ऊपरका छिलका प्राप्त करने मात्रसे मुग्ध, अर्थात् उसे प्राप्त करके ही जिनकी बुद्धि सन्तुष्ट है वे लोग (**इह तुषं कलयन्ति**) यहाँ तुष (छिलका) ही प्राप्त करते हैं (**तन्दुलम् न कलयन्ति**) चावलको वे प्राप्त नहीं कर पाते ।।२४२।।

भावार्थ—जैसे तन्दुल जो चावल, उसकी उपयोगिताको सुनकर कोई मनुष्य धान कूटता देखकर, धानके छिलको पर ही मोहित हो जाय, छिलका और चावलके भेदपर दृष्टि न डालें तो, उसे तुषकी ही प्राप्ति होगी। वह चावल न पा सकेगा—न उनका उपयोग कर सकेगा। लोग ऐसे व्यक्तिको मूढ ही कहेंगे। जैसे छिलका चावलोको पहिचानने व प्राप्त करनेका साधन मात्र था, स्वय वह चावल नहीं था। इसी प्रकार व्यवहार तो परमार्थके समझनेका साधन था, वह स्वय परमार्थ नहीं था। व्यवहारके आधार पर परमार्थको पहिचाननेसे, परमार्थ वस्तुकी प्राप्ति होती है, परन्तु जो बाह्य भेष मात्र बनाकर, अपनेको कृतकृत्य मान चुके हैं, वे कोरे भेषी तो रहेंगे—पर उस भेषको धारण करनेका जो मूल उद्देश्य था उस परमार्थ तत्त्वको प्राप्त नहीं होगे।

बाह्य परिग्रहका त्याग अन्तरग रागादिके त्यागके लिए था। जो व्यक्ति अन्तरग रागादि त्यागकर आत्म सिद्धि करना चाहते हैं,—उनको बाह्य परिग्रह, जो रागादिका नोकर्म है, उसका त्याग करना चाहिए। जिस प्रकार कषाय कर्मका उदय जीवके विकारका हेतु है, उसी प्रकार नोकर्म जो शरीरादि तथा तत्साधनभूत अन्य बाह्य भोगोपभोगके साधन, सभी कर्मके उदयमे सहायक होनेसे रागादि विकारोके निमित्त हैं। यद्यपि ये रागादिके कर्त्ता नहीं हैं, पर रागादि उत्पन्न होनेमे निमित्त है। अत. इन बाह्य साधनोका भी त्याग, जो बाह्य व्यवहार क्रिया है,—वह भी नितान्त आवश्यक है। तथापि जो लोग केवल इनके परित्यागमे ही सन्तुष्ट हैं, और पारमार्थिक तत्त्वकी प्राप्ति या अनुगमनकी ओर जिनका ध्यान नहीं है, वे अन्तरग विकारोके त्याग को प्राप्त नहीं होते। उन्हे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती ।।२४२।।

द्रव्यलिंगके ममत्वमे तत्त्वका दर्शन ही नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ।।२४३।।

अन्वयार्थ—(द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै) बाह्यलिंग जो केवल शरीराश्रित है उसमे ही जिन्हे ममत्व है, उस ममत्व परिणामके कारण जिनके अन्तःचक्षु निमीलित हैं, उनको **(समयसार एव न दृश्यते)** अपना विशुद्ध आत्म तत्त्व ही नही दिखाई देता है। **(यत् किल इह द्रव्यलिंगम्)** क्योकि यह द्रव्यलिंग **(किल अन्यत)** निश्चयसे पुद्गल द्रव्य, शरीर आदिके कारण है, या तत्स्वरूप है **(एकम् इदम् ज्ञान एव तु स्वतः)** यह एकमात्र ज्ञान ही है जो स्वत होता है, परसे नही होता ॥२४३॥

भावार्थ—मोक्षमार्गीके दो लिंग हैं—गृही लिंग तथा अनगारलिंग। सागार धर्मको पालन करने वाले मनुष्य प्रथम प्रतिमासे ग्यारहवी प्रतिमा तकके होते हैं। इनमे दशम प्रतिमा तक तो कोई बाह्य लिंग (वेष) नियत नही है, पर ग्यारहवी प्रतिमामे क्षुल्लक व ऐलक ये दो भेद पाये जाते है।

एक कोपीन व खण्ड वस्त्र धारण करना क्षुल्लकका वेष (बाह्यचिह्न) है, तथा कोपीनमात्र ऐलक का चिह्न है। क्षुल्लिकायें, आर्यिकायें ऐसे दो भेद भी स्त्री पर्याय गत व्रतियोमे पाये जाते हैं। एक वस्त्र तथा सोलह हाथको एक साड़ी रखना क्षुल्लिकाका वेष है, तथा वस्त्र न रखकर मात्र एक सफेद साडी रखना आर्यिकाका बाह्य चिन्ह है। इस तरह सागार व्रतीके उक्त बाह्य चिन्ह कहे गये हैं। अनगार अर्थात् महाव्रती साधुका वेष दिगम्बर है। शरीरपर तो वस्त्राभूषणोका अभाव (त्याग) है ही, किन्तु धन धान्यादि दस प्रकारके अन्य परिग्रह भी वे नही रखते, अतः साधुका बाह्य चिह्न दिगम्बरत्व है। तथा जीवरक्षार्थ गृहीत पिच्छिका तथा शोचोपकरण भी उनके बाह्य चिह्न हैं।

बाह्य वेष तो जैनोके अन्य भेद श्वेताम्बरोसे भी दो-तीन प्रकारके पाये जाते हैं। जैनेतरोमे भी अनेक प्रकारके वेष पाये जाते हैं। अन्य मिथ्यादृष्टि जिस प्रकार वेषोमे ममत्व रखते हैं— उसीमे तल्लीन हैं, यदि जैनगृही या साधु या आर्यिकायें भी निश्चय दृष्टिको छोडकर, उस बाह्य दृष्टिसे, जिन्हें जैन वेष कहा जाता है, उसमे मोहित बुद्धि है, बाह्य वेषमे अपनी धर्म स्थिति मानकर चलते हैं, तो इस ममत्व परिणामके कारण उनके अन्त.चक्षु कभी आत्मदर्शन नही कर पाते।

मोहका परिणाम ही ममत्व है, मोह मूर्च्छाका पर्यायवाची है। जैसे मूर्च्छित मनुष्यको अपनी सही स्थितिका भान नही होता, इसी प्रकार बाह्य दिगम्बरादि वेषमे ही मगन रहने वाले, अर्थात् वेष रूपसे ही अपना धर्म—अपना कल्याण मानने वाले—साधुको, अपने सुविशुद्ध, रागादि विकार रहित, आत्माका दर्शन होता ही नही है।

शारीरिक क्रिया, शारीरिक वेष,—शारीरिक सम्हाल व उसके साधुवेषके रागसे, तथा अन्य वेषोके द्वेषसे, जीव मुक्ति नही पाता। मुक्ति तो जीवको परसे छूटनेमे है। तब पराश्रित वेष मोक्षका मार्ग कैसे बन सकता है ? मोक्षका मार्ग तो आत्मा स्वतः है, जो कि ज्ञानमात्र है,— तत्स्वरूप है, तदभिन्न है। अपने उस अनुपम, अखण्ड, सुविशुद्ध, आनन्द-कन्द, ज्ञानमय आत्माका, अपने स्वरूप रूप दशाको प्राप्त करना ही मुक्ति है।

(४२७) **प्रश्न**—आत्मा तो अनादिसे अनन्त काल तक सदा ज्ञानानन्द स्वरूप है ही। उसे प्राप्त क्या करना है ? जो वस्तुका स्वरूप वस्तुमे स्वभावतः है, परके कारण नही है, उसको प्राप्त करनेकी बात ही ठीक नही है। वह तो उसे प्राप्त है, और प्राप्त रहेगा ?

समाधान—स्वभाव तो आत्माका ऐसा ही है, पर कर्म निमित्त जन्य रागादि-विकारोंके कारण वर्तमान अवस्था उसकी विभाव रूप है, अत वह स्वभावको नही देखता, न उसे प्राप्त करता है। परके सगका त्याग हो जानेपर वह अपनी स्वभाव रूप दशामे आता है, वही उसका प्राप्त करना कहा जाता है। ज्ञानानन्द स्वभाव होने पर भी, अनादिसे ही इसने कभी ज्ञानकी उपासना नही की। इसीलिए इसे ज्ञान प्राप्तिका उपदेश दिया गया है।

(४२८) **प्रश्न**—जैसे आत्मा सदा अपने निज स्वरूपको नही छोडता इसी प्रकार परपदार्थ भी अपने स्वभावका परित्याग नही करते—तब परके सग रहनेसे क्या ? और उसके दूर होनेसे क्या ? एकका दूसरेमे प्रवेश स्वभावतः नही है। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे प्रवेश नही करता, सब अपने स्वभावमे है, परका ग्रहण ही नही होता, तो उसका त्याग करना क्या अर्थ रखता है ?

समाधान—वस्तुत सब द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमे ही रहते हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमे प्रवेश नही करता। तत्त्वत कोई किसीका ग्रहण और त्याग भी नही करता। यही तो कारण है कि बाह्य पर द्रव्याश्रित वेष, आत्माका कोई उद्धार नही करता। तथापि जो साधु अपनी मिथ्या कल्पना द्वारा उसीमे मोहित हैं—उन्हें अपने उस मोह परिणामका ही त्याग करना है। परके साथ एकत्व बुद्धि करना ही उसका ग्रहण करना है, तथा उनमे एकत्व बुद्धिका त्याग ही उसका त्याग है। उसीसे मुक्ति होगी। बाह्यका त्याग किया है उससे मुक्ति होगी—ऐसी मिथ्या भ्रान्तिसे मुक्ति नही होती।

(४२९) **प्रश्न**—तब तो बाह्य वेष अकिंचित्कर है। मोक्षमार्गमे उसकी उपयोगिता ही नही है। तब साधु दिगम्बर वेषको क्यो धारण करते हैं। उसको बिना धारण किए भी मुक्ति हो सकती है क्योकि—"ज्ञानमेव विहित शिवहेतु:" इस कलश कथित उपदेशके अनुसार आत्मज्ञान ही मोक्ष-का कारण है दिगम्बर वेष नही ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पर दिगम्बरपना कोई वेष नही हैं, वेष वे हैं, जो धारण किए जाते है। जब समस्त वेष उतारे जाते हैं तब साधु, जैसा जन्मजात शरीर है, तन्मात्र रह जाता है। वेषी लोग उसे भी एक वेष कह देते हैं, पर वह सचमुचमे कोई वेष नही है। अत जो साधु अपनी साधुताको प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने जन्म कालसे लेकर अबतक जितने वेष बनाए थे, सब उतारकर फेंक देना है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि बाह्य वेषोमे ममकार बुद्धिसे, आत्मदर्शन नही होता। यद्यपि जहाँ साधुता है वहाँ दिगम्बर मुद्रा नियमसे होती ही है, तथापि जहाँ जहाँ दिगम्बर वेष है वहाँ साधुता हो भी, न भी हो, यह अनिवार्य नही है।

(४३०) **प्रश्न**—यदि दिगम्बर वेष कोई वेष ही नही है तो उससे ममत्वका निषेध क्यो किया ? जो वस्तु है ही नही उसके ममत्व त्यागका उपदेश देना क्या वृथा नही है ?

समाधान—उपदेश इसलिए दिया कि वेषी जन उसे भी एक वेष मानकर, उसमे भी ममत्व कर लेता है, अहकार करने लगता है, उसके निषेधके लिए आचार्य उपदेश करते हैं।

(४३१) **प्रश्न**—जब दिगम्बर वेष कोई वेष ही नही हैं, तब उसे मानकर अहकार तो मिथ्या कल्पना हुई। जो मिथ्या है, उसका क्या निषेध, वह तो स्वय निषिद्ध है ?

समाधान—यही बात है। निषेध वेषका नही हैं, न उसे वेष मानने न माननेका है। निषेध तो उस मिथ्या कल्पनाका ही है, जो मिथ्या कल्पना उस निर्वेष दशा दिगम्बरत्वको भी वेष मान

लेती है, फिर उसीसे अहंकार ममकार करती है। इस भ्रांति या विभाव भावसे बचनेका ही आचार्य उपदेश देते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस स्वरूपकी विस्मृतिसे ही जीव दुखी है, भव-भ्रमण करता है, भ्रान्ति दूर हो जाय तो सुखी हो सकता है। इसलिये भ्रान्ति छोडनेका तथा अपने स्वरूपके ही ग्रहण करनेका उपदेश है।

(४३२) **प्रश्न**—जब दिगम्बरता अपनेमे कुछ है ही नहीं, तब उसका अहकार ममकार कैसे हो सकता है। यदि होता है और उसे न करनेका उपदेश है, तो इससे सिद्ध है कि वह कुछ वस्तुभूत है, तभी तो उसके अहंकारका निषेध है ?

समाधान—दिगम्बरता या नग्नता एकार्थवाची है। शरीरपर अन्य वस्तु न हो तो वह शरीराश्रित नग्नता है, तथा आत्मापर यदि रागादिका कोई आवरण न हो, वह भी अपने यथार्थ स्वरूपमे हो, तो वह आत्माकी नग्नता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमे-पर भिन्न होनेसे, नग्न ही है, अतः दिगम्बरता या नग्नता वस्तु स्वरूपको ही कहते हैं। यहाँ शरीरकी नग्नताको आत्माकी नग्नता मानकर, जो उसका मिथ्या—अहकार करते हैं, उसका निषेध किया गया है। 'अहं' मे अहंबुद्धि करनेका निषेध नही है, पर मे 'अहंबुद्धि' करनेका निषेध है। इससे सिद्ध है कि शरीरकी नग्नताको अपना वेष माने, व उसमे अहकार ममकार करे, तो वह आत्माकी भ्रान्ति रूप विभाव परिणति है। अतः उसका निषेध किया गया है ॥२४३॥

नाना विकल्पोको छोड़कर आत्मचिन्तन ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै—
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा—
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४४॥

अन्वयार्थ—(**अतिजल्पैः**) अधिक बात करनेसे (**अलम्**) बस करो, अर्थात् अधिक चर्चा बन्द करो तथा (**अनेकैः दुर्विकल्पैः अलम्**) नाना प्रकारके विकल्पोको भी बन्द करो, (**इह नित्यम् अयम् एक परमार्थ. चेत्यताम्**) यह एकमात्र परमार्थ अर्थात् परमतत्त्व है, उसका ही अनुभव सदा करो। (**स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात् समयसारात्**) अपने चैतन्यरसके विस्तारसे परिपूर्ण, ऐसा जो ज्ञान, उसकी विस्फूर्ति अर्थात् उसका जिसमे उदय हो चुका है, ऐसे समयसारसे, अपने सुविशुद्ध परमात्म तत्त्वसे (**उत्तरं**) उत्कृष्ट सारभूत (**किञ्चित्**) कोई पदार्थ (**न खलु अस्ति**) नहो ही है यह सुनिश्चित है। अतः सर्वोत्कृष्ट उस आत्मतत्त्वका ही चिन्तन करो—अनुभव करो ॥२४४॥

भावार्थ—आत्माके लिए क्या करणीय है ? क्या अकरणीय है ? वह कैसे प्राप्त होता है ? वह नित्य है, या अनित्य है ? इत्यादि अनेक विकल्पो अर्थात् भेदो या प्रश्नोसे युक्त जो जल्प हैं वह सब केवल "जल्प" है। ऐसे नाना प्रकारके जल्पोके कथनोसे कोई लाभ नही है। शास्त्र विशारद पुरुष इन चर्चाओमे ही उलझे रहते हैं। आचार्य यहाँ कहते हैं कि चर्चाएँ तो ग्रन्थमे हमने भी बहुत की हैं, तथापि उन सब चर्चाओका सार मात्र यही है कि चर्चाओंका तथा अपने दुष्ट संकल्प विकल्पोका परित्याग करो।

ग्रन्थोक्त वस्तु-स्वरूपको समझनेके लिए, जितने वाद—कथन या विकल्प यहाँ कहे हैं, उनको भी बन्द कर दो। उनमे भी आत्म-तत्त्व नहीं है, वे मात्र उसके प्ररूपक हैं। उन सबको छोड़कर अपने निज चैतन्यके रससे भरे हुए स्वसंवेदन ज्ञानकी प्रवाह परम्परामे ही गोते लगाओ। इस आत्मतत्त्वसे अधिक समझने योग्य, जानने योग्य, ध्यान करने योग्य, तथा प्राप्त करने योग्य, अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वही सारभूत है, इसीसे उसे समयसार कहा है। उसीका अनुभवकर आनन्द प्राप्त करो। वही सर्वश्रेष्ठ कार्य है, सर्वश्रेष्ठ ध्येय है, सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है। उसे अनुभव करनेमे आत्माको स्वाधीन सुखका अनुभव आयेगा। वह मोक्ष सुखका, अतीन्द्रिय सुखका नमूना है। संसारके कोई भी सुख उसकी किञ्चित् भी बराबरी नही कर सकते, क्योंकि वे सब पराधीन हैं, काल्पनिक हैं, सुखाभास हैं। केवल दुखस्वरूप होकर भी सुखकी भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, अतः स्वय क्लेशरूप हैं। जो स्वसवेदन ज्ञानका आश्रय करते हैं—इसीमे लीन होते हैं, वे मुक्तिके अविनाशी, स्वाधीन, शाश्वतिक सुखका बीज बो रहे हैं। शीघ्र ही उनका वह कल्पवृक्ष फलेगा। उन्हे केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होगी, तथा वे आठो कर्मोकी उपाधिसे रहित होकर सिद्धावस्थाको प्राप्त करे।

मोक्ष पुरुषार्थ ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंमे श्रेष्ठ है। उसे प्राप्त करनेपर जीव अनादिकालीन अपनी भूलोका परिमार्जनकर, उस निर्दोष अवस्थाको प्राप्त होता है, जिसके बाद कुछ करना शेष नही रह जाता। उस ज्ञानको प्राप्त हो जाता है, जिससे बाहिर कुछ जानना शेष नही रह जाता। उस आनन्दको प्राप्त होता है, जिससे अधिक कोई आनन्द प्राप्त करना शेष नही रह जाता। ऐसा तृप्त होता है कि अतृप्ति शेष नही रह जाती। करणीय सभी कार्योंकी समाप्ति हो जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। कोई गन्तव्य स्थान न रहनेसे लोकके शिखरमे स्थित हो जाता है। यही स्व की परिपूर्ण प्राप्ति है, जो समस्त पर द्रव्योसे—उनके गुणो और उनकी पर्यायोसे तथा विभावोसे भिन्न, अपने अनन्त गुण-पर्यायोमे विस्तार रूप है। यह ऐसी अवस्था है जिसमे अब कभी परिवर्तन नही होगा। यही अनन्त अविनाशी सुखकी प्राप्ति है। जीवकी जो अनादिकी अभिलाषा थी कि मुझे सुख प्राप्त हो, वह अभिलाषा पूर्ण हो जानेसे जीव निरभिलाषी हो जाता है।

आचार्य कहते हैं कि सभी जीव इस अवस्थाकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्वसवेदन ज्ञानका बीज वपन करो। सम्पूर्ण सकल्प-विकल्प तथा जल्पवाद-वितण्डा छोड़कर, एकमात्र स्वय शुद्धात्माका अनुभव करो, वही तुम्हारा परमतत्त्व या परमात्मा है। उसमे लीनता होनेसे उसकी जो परिपूर्ण प्राप्ति हो, उसे ही परमात्मामे लीन होना कहते हैं। उससे भिन्न अन्य किसी ईश्वर या परमात्मामे लीन हो जानेकी बात मिथ्या है। परकी आत्मामे विलीन होनेसे आत्मसत्ताका नाश होगा। ऐसी मुक्ति जिसमे अपनी सत्ता मिट जाय, कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। अतः ग्रन्थमे जो प्रथम नाना चर्चाएँ की हैं, नाना विकल्प उठाए हैं, वे तुम्हारे भ्रमको दूर कर, यथार्थ तत्त्व समझानेके लिए ही उठाए हैं। अब उन सबको दूरकर अपने आत्मतत्त्वका ही अनुभव करो ॥२८४॥

स्वसवेदन ज्ञान जगत्को देखनेका एकमात्र चक्षु है—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥२८५॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) यह ज्ञानमात्र तत्त्व (**एकं जगच्चक्षुः**) जगतका एकमात्र नेत्र है, यह (**विज्ञानघनम् आनंदमयम् अक्षयं**) ज्ञानके घन स्वरूप, तथा आनन्दसे भरे हुए अक्षय आत्माको (**प्रत्यक्षतां नयत्**) प्रत्यक्ष ही दिखाता हुआ (**पूर्णतां याति**) स्वयं पूर्णताको प्राप्त होता है ॥२४५॥

भावार्थ—यह वस्तु-तत्त्वका प्ररूपक अध्यात्म-ग्रन्थ, या ज्ञानमात्र तत्त्व, स्वसवेदन ज्ञानगम्य, विज्ञानघन, आनन्दमय आत्माका हमे दर्शन करा देता है। उस दर्शनसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः वह प्राणियोंके लिये आत्म-दर्शन करनेका एकमात्र नेत्र है, उसे सर्व प्रयत्नोंसे प्राप्त करो ॥२४५॥

ग्रन्थकी समाप्तिपर उपसहार रूपमे आचार्यश्री अन्तिम वक्तव्य देते हैं—

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसवेद्यमबाधितम् ॥२४६॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकारसे, इस ग्रन्थमे (**इदम् आत्मनस्तत्त्वम्**) यह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन हुआ। (**ज्ञानमात्रम् अवस्थितम्**) आत्मा ज्ञान मात्र है यह सिद्ध किया गया। वह आत्मा (**अखण्डम् एकम्**) कभी किसीके द्वारा भी खण्डनीय नही है वह अपनेमे स्वय एकरूप है (**अबाधितम्**) किसीके द्वारा बाधाको प्राप्त नही है और (**स्वसवेद्यम्**) स्वयके द्वारा अनुभवनीय है ऐसा आत्म स्वरूपका प्रतिपादन किया ॥२४६॥

भावार्थ—इस ग्रन्थमे अखण्ड, अचल, शाश्वतिक, स्वसवेद्य, निर्बाध, ज्ञान-मात्र, ऐसे आत्मतत्त्वका प्रतिपादन किया है। इस उपसहार वाक्यके साथ ग्रन्थकी पूर्णता आचार्यश्रीने की है। उसे ग्रहण करनेका व अनुभव करनेका भी उपदेश दिया है, अत ग्रन्थके प्रारम्भमे आचार्यश्रीने एकत्व-विभक्त आत्माका दर्शन करानेकी जो प्रतिज्ञाकी थी वह पूर्ण हुई।

❀ इति सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार ❀

□ स्याद्वाद-अधिकार □

वस्तु स्वयं अनेक धर्मवाली है अत अनेकान्त स्वरूप है। उसका विवेचन करनेकी पद्धतिको स्याद्वाद कहते हैं। इस प्रकरणमे इसीका विवेचन करते हैं—

अत्र स्याद्वाद सिद्धयर्थं[1] वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४७॥

अन्वयार्थ—(**अत्र**) अब समयसार ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंग पर (**स्याद्वादशुद्धयर्थं सिद्धयर्थं**) स्याद्वाद जो अनेकान्तवाद उसकी पवित्रताकी प्रसिद्धिके लिए अथवा उसके स्वरूप प्रतिपादनके लिए (**वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति**) वस्तुकी यथार्थ व्यवस्थाका, तथा (**उपायोपेयभावश्च**) उपाय जो मोक्षमार्ग तथा उपेयभूत जो मोक्ष, इनका (**भूय. अपि**) फिरसे भी (**मनाक्**) थोडा (**चिन्त्यते**) विचार करते हैं ॥२४७॥

भावार्थ—यद्यपि शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप-प्रतिपादन इस ग्रन्थमे आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कर चुके। उनके द्वारा कथित ४१४ गाथाएँ अपने मूल उद्देश्यके अनुसार "परसे विभक्त, अपने ज्ञानस्वरूपसे अभिन्न, अखण्ड, एक, ज्ञानानन्द स्वरूप, नित्य, शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रतिपादन करके पूर्ण हो चुकी। तथापि टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपनी टीकामे सारभूत अमृतमय तत्त्वको अनेक गाथाओंकी टीकाके अन्तमे, सुन्दर छन्दोमे निहितकर इन अमृतमय कलशोंकी रचनाकी है। वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था अनेकान्त रूप है, एकान्त रूप नहीं है, वे इस प्रकरणमे, स्याद्वाद पद्धतिसे ऐसी व्यवस्था सिद्ध करते है। यह आत्मा स्वय द्रव्य दृष्टिसे, परम पारिणामिक भाव-मय—सदा काल नित्य शुद्ध है। कर्म तथा तन्निमित्तजन्य विकार इसके स्वभावमे नहीं हैं। तथापि पर्याय दृष्टिसे वही आत्मा, वर्तमान दशामे अशुद्ध है। कर्मसयुक्तात्मा तन्निमित्त जन्य कालिमासे तन्मय हो रहा है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप अपनी परिणतिको जब प्राप्त होता है, तब वह आत्मा स्वयमेव अपनी पवित्र दशाको प्राप्त करनेके लिए 'उपाय' भूत है। तदनन्तर आत्मा जैसा द्रव्य-दृष्टिसे पवित्र-शुद्ध था, वैसा रत्नत्रयके बलसे पर्याय रूपमे भी, अपनी कालिमाका, नैमित्तिक भावोका अभावकर, सुविशुद्ध हो जाती है। वही मोक्ष है, वही 'उपेय' है। प्रकारान्तरसे आत्मा

---

१. 'शुद्धयर्थं' इति पाठ भेदः।

ही उपायभूत है तथा वही उपेयभूत है। भेद विवक्षासे ऐसा कह सकते हैं कि आत्मा कथंचित् उपाय स्वरूप है तथा कथंचित् उपेयभूत है। इस प्रकार स्याद्वादसे वस्तुतत्त्वकी व्याख्या सिद्ध होती है।

इसीको दूसरे शब्दोमे ऐसा भी कह सकते हैं कि वह 'तत्' भी है, तथा कथंचित् 'अतत्' भी है। 'एकरूप' भी है तथा कथचित् 'अनेकरूप' भी है। 'नित्यरूप' भी है, और कथंचित् 'अनित्य रूप' भी है। 'सत्' रूप भी है, और कथचित् 'असत्' रूप भी है। इसी कथनका नाम 'स्याद्वाद कथन पद्धति' है। इसका विशद वर्णन आगे करेंगे।

पदार्थ स्वय अनेक धर्मात्मक है, अतः उसका कथन एक साथ सम्भव नही है, क्योकि ऐसी वचनकी असामर्थ्य है। अतः उसके अनेक धर्मोका क्रमसे ही कथन किया जा सकता है। कथनमें कोई श्रोता, प्रथम किसी एक धर्मके कथनसे, एकत्वका एकान्त न पकड़ लेवे, इससे उसे "कथचित् एक है" अथवा "स्यात् एकः" इन शब्दो द्वारा कहना पडता है। इस स्यात् शब्दका ही अर्थ "कथचित्' है। 'कथचित् एक है' अर्थात्—किसी एक अपेक्षासे—वस्तु एकरूप है। सर्वथा एक रूप नही है। स्यात् या 'कथचित्' शब्द साथ रहनेसे सर्वथा एकान्तपनका स्वय निषेध हो जाता है, तथा वस्तु 'अनेकात' है इसका प्रकाशन हो जाता है। प्रत्येक कथन अपने प्रतिपक्षी भावको साथमें लेकर ही चलता है। देखनेमे एक बार ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनो धर्म परस्पर विरोधी हैं, अत. एक पदार्थमे कैसे रह सकते हैं? पर गहरा विचार करनेपर मालूम हो जाता है कि, तत्-अतत्, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, ये सब विरोधीसे दिखाई देने वाले भी धर्म, अविरुद्ध भावसे एक ही पदार्थमे एक साथ पाये जाते हैं। इसी विरोधको दूर कर अनेक धर्मात्मक पदार्थकी व्यवस्थाका प्रदर्शन, तथा स्याद्वाद पद्धतिसे उसीका विशद व्याख्यान, आगेके कलशोमे किया गया है ।।२४७।।

ज्ञान-ज्ञेयके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए ऐसा लगता है, कि ज्ञान, ज्ञेयोंके प्रतिभास मय है। ज्ञान उनमे स्वय भी कुछ भिन्न है, ऐसा प्रतिभासित नही होता। इसका वर्णन कथचित् 'तत्' भग द्वारा करते हैं—

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तरिक्तीभवत्-
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत् तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत् पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ।।२४८।।

अन्वयार्थ—(बाह्यार्थैः परिपीतम्) जिस ज्ञानको बाह्य ज्ञेय पदार्थोंने पी लिया है, अर्थात् ज्ञान-ज्ञेयसे उत्पन्न ज्ञेयाकार रूप है, अतएव **(उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवत्)** अपनी निजकी प्रक-

टताके अभावसे जो स्वय अपनेमे शून्य है, किन्तु (**पररूप एव परितः विश्रान्तम्**) ज्ञेयार्थोंमे ही पूर्ण विश्रान्त है—समाप्त है, (**पशो. ज्ञानं**) ऐसा मानने वाले अज्ञानीका ज्ञान (**सीदति**) नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसकी मान्यताके अनुसार, ज्ञान स्वय अपने स्वरूपमे कुछ वस्तु नही रह जाता। (**स्याद्वादिनः तत्पुन**) स्याद्वादके सिद्धान्तके प्रतिपादक जैनोने उसे ऐसा कहा है कि (**यत् तत् तत् इह स्वरूपत तत्**) जो पदार्थ है, वह यहाँ अपने स्वरूपसे अपने अस्तित्वमय है। अत ज्ञान अपने ज्ञायक स्वरूपको लिए हुए, स्वयं तत् रूपसे अवस्थित है, इसलिए वह ज्ञान—(**दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः**) सदाकालसे उदयको प्राप्त अपने ठोस स्वभावसे (**पूर्णं**) परिपूर्ण (**समुन्मज्जति**) उदयको प्राप्त होता है। वह बाह्य ज्ञेयोसे भिन्न, उनका प्रकाशक, स्वय अपनी पूर्ण सत्तावाला है, यह स्वरूपसे 'तत्' का वर्णन हुआ ॥२४८॥

भावार्थ—कुछ वादियोका कथन है कि ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञेयसे है, क्योकि ज्ञान ज्ञेयके आकार ही उत्पन्न होता है, इसलिए वह ज्ञेयको प्रकाशित करता है। फलत ज्ञेय ही ज्ञानके अस्तित्वका उत्पादक है, ज्ञान स्वयमे कुछ नही है।

ऐसी मान्यतामे वादी स्वय ज्ञानरहित अज्ञानी ही सिद्ध हुआ। उसे पशु शब्दसे कहा गया, यह पशु शब्द अज्ञानीपनेका प्रतिरूप है। एक उदाहरणरूप है—जैसे पशु स्वय अपने स्वरूपको नही जानता, ऐसे ही ज्ञानके स्वरूपको अज्ञानीने अपना स्वरूप ही नही जाना, तब पशुकी तरह अज्ञानो हुआ, ऐसे अज्ञानिताके अर्थमे पशु शब्दका यहाँ प्रयोग है। जब ज्ञान स्वय कुछ नही है, वह पदार्थाकार है, पदार्थसे ही उसकी उत्पत्ति है, तब स्वरूपसे रहित अभाव ही सिद्ध हुआ। उसे ज्ञेय पदार्थ ही अपनेमे अन्तर्लीन कर गए, तब ज्ञानका ही अभाव हुआ।

जैनमत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने अनाद्यनन्त स्वरूपको स्वयं रखनेवाला है। अत-जो पदार्थ है—वह अपने स्वरूपसे स्वय अस्तित्वरूप है। वह अपने अनन्तकालीन स्वभाव-सत्ताके कारण पूर्ण ही ज्ञात होता है।

(४३३) **प्रश्न**—ज्ञेयके आधारपर ही ज्ञानका बोध होता है। यदि ज्ञेय न हो तो ज्ञानका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाई नही देता। अत ज्ञानका ज्ञेयसे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व मानना कल्पना मात्र है ?

समाधान—ज्ञान, पदार्थको ज्ञेयको जानता है। पदार्थ (ज्ञेय) ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। इन दोनोका यही पारस्परिक ज्ञेय-ज्ञापक सम्बन्ध है। ऐसा कोई ज्ञेय नही है, जो किसी न किसी ज्ञानका विषय न हो। इसीप्रकार ऐसा कोई ज्ञान नही है, जो किसी न किसी ज्ञेयको विषय न करता हो। इनका ऐसा ही पारस्परिक सबध है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान ज्ञेयाकार है, वस्तुतः वह ज्ञेयाकारका ज्ञायक मात्र है। ज्ञान ही ज्ञेयके अस्तित्वको बतलाता है। ज्ञेयका बोध, अपने ज्ञायक ज्ञानके अस्तित्वको बतलाता है, इस तरह वे एक दूसरेके अनुमापक हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नही है कि ज्ञानकी स्थिति ज्ञेयके आधीन हो, या ज्ञेयकी स्थिति ज्ञानके आधीन हो, कोई किसीके आधीन नही है। ज्ञान अपने रूपमे स्वतन्त्र आत्म तत्त्व है, यह आत्माका गुण है तथा समस्त ससारके ज्ञेय अपनेमे स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु अपने स्वभावसे हैं। कोई पदार्थ अपनेमे परका प्रवेश नही रखता, अत, स्वरूप दृष्टिसे अद्वैत रूप ही हैं।

(४३४) **प्रश्न**—निर्विकल्प समाधिगत साधु जब समस्त ज्ञेयोंसे विमुख हो जाते हैं, तब ज्ञान ज्ञेयाकारोंसे भिन्न रहता है। ऐसी स्थितिमे आपका यह कथन संगत नही है कि 'ऐसा कोई ज्ञान नही है जो किसी न किसी ज्ञेयको विषय न करता हो।' यदि ऐसा मान लिया जायगा तो "निर्विकल्प समाधि" का अभाव हो जायगा ?

समाधान—इस निर्विकल्प समाधिमे पर ज्ञेयोका अभाव रहता है, पर वह स्वात्मज्ञानी है। स्वज्ञेयको ही उस समय अनुभवता है। आत्मा स्वय भी तो ज्ञेय है। अतः स्वज्ञेयका ज्ञायक उस कालमे रहनेसे ज्ञान ज्ञेय रहित नही हुआ।

(४३५) **प्रश्न**—यद्यपि यह कथन सत्य है कि आत्मा भी ज्ञेय है, पर वह अन्य ज्ञाताओका ज्ञेय बन सकता है। स्वयका ज्ञेय स्वय बननेकी बात तो संगत प्रतीत नही होती। जैसे नेत्र स्वयको न देख सकते हुए भी अन्य पदार्थोको देखता है। उस नेत्रको अन्य दृष्टाओके नेत्र ही देख सकते हैं। ज्ञान स्वय अन्य व्यक्तियोके ज्ञानका ही ज्ञेय बन सकता है स्वय तो ज्ञान रूप ही है ?

समाधान—ऐसा नही है। ज्ञान दीपकको तरह स्व-पर प्रकाशक है। जैसे दीपकके प्रकाश-मे सम्मुख स्थित पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, उनको देखने के लिए दीपक आवश्यक है, परन्तु स्वय दीपकको देखने के लिए अन्य दीपकका लाना आवश्यक नही होता। वह अपने अस्तित्वको भी स्वय प्रकाशित करता है। इसी प्रकार ज्ञानके जानने के लिए कोई अन्य ज्ञान आवश्यक नही है। यदि ज्ञान, स्व-पर प्रकाशक न हो तो 'मैने घट जाना है' ऐसी प्रतीति नही हो सकती। ज्ञानने घट जाना होगा, पर ज्ञानने क्या जाना यह आपको कैसे मालूम होगा ? चूँकि हमारा ज्ञान, जिन पदार्थोका भी बोध करता है—उस ज्ञानको भी वह ज्ञानी स्वय जानता है कि मैने अमुक पदार्थका बोध किया। जैसे घट स्वको नही जानता कि मैं घट हूँ, तो वह परको भी नही जानता। अतः सिद्ध है कि जो स्वका प्रकाशक होगा वही परका प्रकाशक होगा, जो स्वका अजानकार होगा वह परका भी अजानकार होगा।

(४३६) **प्रश्न**—दीपक क्या स्व को जानता है कि मैं दीपक हूँ ? तथापि परका प्रकाशक है। अतः उक्त नियम सगत नही है ?

समाधान—नियम तो सगत ही है। स्व पर प्रकाशकत्वके रूपमे ज्ञानस्वरूप बतानेके लिए दीपकका दृष्टान्त तो प्रकाशकका दृष्टान्त था, ज्ञानकी दृष्टि से दीपक न स्वको जानता है न परको जानता है। वह स्व-परको प्रकाशित कर रहा है, पर उसे जानता नही है। जानता तो ज्ञानी ही है। सभी पदार्थ अपनी-अपनी मर्यादामे ही अपने गुण पर्याय समवेत हैं। इसीलिए उन्हें स्वरूप की अपेक्षा 'अद्वैत' कहा गया है।

(४३७) **प्रश्न**—"अद्वैतवाद" क्या आप स्वीकार करते हैं ? तब तो ज्ञानाद्वैत-ब्रह्माद्वैत-शब्दाद्वैत-शून्याद्वैत आदि सभी अद्वैतवादियोका कथन ही सत्य मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसी हमारी मान्यता नही है। अद्वैतवादी सभीको तद्रूप मानते हैं। जैसे ज्ञान-द्वैत सभीको ज्ञानरूप मानता है उसके लिए ज्ञेय कुछ नहीं है सभी ज्ञानरूप हैं। ब्रह्माद्वैतवादी सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्मके अलावा और कुछ है ही नही। जो कुछ है वह सब एक ब्रह्म रूप ही है।

पर जैन मान्यता ऐसी नही है। जैनो का अद्वैतवाद कथचित् अद्वैतवाद है। उनकी दृष्टिमे कोई भी पदार्थ अपनेमे, अपनेसे भिन्न, अन्य सत्ताओंको समाविष्ट नही करता। न अन्य कोई पदार्थ उसे अपने मे समाविष्ट कर सकते हैं। अतः सर्व ही स्वतंत्र होनेसे, कथचित् अद्वैतरूप ही हैं। तथापि वे कथचित् द्वैतरूप भी हैं, क्योकि यह लोक, जीव-पुद्गल आदि षट द्रव्योका आधार है। ये सब हैं, अतः कथचित् द्वैत है। सामान्य सत्ता व विशेष सत्ताकी दृष्टि से एक पदार्थ भी कथचित् अद्वैत, व कथचित् द्वैतरूप है। अतः सिद्ध है कि—वस्तुत ज्ञान, ज्ञेयके आधार पर सत्ता नहीं रखता। वह स्वय सत्ताशील है। इसी प्रकार ज्ञेय, स्वय सत्ताशील पदार्थ हैं, ज्ञानके कारण उनकी सत्ता नही है। इसीको यह कहा गया है कि जो 'तत्' है, अर्थात् जो कोई पदार्थ है, वह स्वरूपसे तत् है। इस नियमके अनुसार ज्ञान अपने स्वरूपसे ही ज्ञान रूप है। ज्ञेयोके आधीन नही है। ऐसा वह ज्ञान अपने स्वरूपके परिपूर्ण उदयको प्राप्त है ॥२४८॥

ज्ञान स्वरूपसे 'तत्' रूप है, तथापि वह पररूपसे 'अतत्' रूप भी है, ऐसे स्याद्वाद द्वारा उसकी परभिन्नता सिद्ध करते हैं—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत् तत् पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुनः
विश्वाद् भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्व स्पृशेत् ॥२४९॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी (**विश्वं ज्ञानम्**) यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञानमय ही है (**इति प्रतर्क्य**) ऐसी तर्कणा करके, (**सकलं स्वतत्त्वाशया**) समस्त जगत् स्वतत्त्व ही है, उससे भिन्न नही है, ऐसे अभिप्रायसे (**दृष्ट्वा**) देखकर या मानकर, (**विश्वमयः भूत्वा**) स्वय विश्वरूप बनकर, (**पशुरिव**) पशुओकी तरह (**स्वच्छन्दम् आचेष्टते**) स्वतत्र विचरण करता है। (**स्याद्वाददर्शी पुन.**) स्याद्वादकी दृष्टिसे पदार्थको देखने वाला, ऐसा नही देखता, वह देखता है कि ((यत् तत् पररूपतः न तत् **इति**) जो ज्ञान स्वरूप है वह अपनेसे भिन्न ज्ञेयरूपसे नही है, ज्ञान रूपम हा ह। वह आत्मतत्त्व या ज्ञानतत्त्व (**विश्वाद्भिन्नम्**) विश्वके अन्य समस्त पदार्थोंसे भिन्न (**अविश्वविश्वघटितम्**) स्वय विश्वरूप न होकर भी अपने ही द्वारा सब विश्वका ज्ञायक, (**तस्य स्वतत्त्वं**) उसके, याने अपने स्वतत्त्वको (**स्पृशेत्**) स्पर्श करता है ॥२४९॥

भावार्थ—पहिले कलशमे यह बताया गया था कि जो वस्तु है, वह स्वरूप से अभिन्न, ज्ञानमात्र वस्तु आत्मतत्त्व है। वह द्रव्यरूपसे स्वतत्र है। पर ज्ञेयोके आधारपर उसका अस्तित्व नही है। स्वयके रूपमे स्वसत्तावाली है। अतः वह 'तत्' रूप है। इस कलशमे यह तत्त्व आया कि जैसे उसका स्वरूपसे अस्तित्व है, वैसा पर रूपसे अस्तित्व नही है। यह उसका 'अतत्' रूप भी है।

एकान्तवादी कोई ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ही ज्ञेयके अस्तित्वको बनाता है, अतः ज्ञान ही ज्ञान है, ज्ञेय उनसे भिन्न कुछ नही है। सारा विश्व मेरे ज्ञानमय है, अर्थात् समस्त विश्व मुझसे ही एकाकार है, मुझसे भिन्न कुछ नही है। ऐसा ज्ञानका अद्वैत, एकान्तरूपसे स्वीकार करके अपने को विश्वमय मानकर, स्वच्छन्द पापाचाररूप प्रवृत्ति करते हैं। उनके लिए पर-धन, परस्त्री, आदि

ज्ञेय स्वतत्त्व ही हैं। अत उनके ग्रहणमे पाप ही नही रहेगा। ये अपने वस्तु तत्त्वके अज्ञानके कारण पशुकी तरह स्वच्छन्द आचारी हैं।

अनेकान्तवादी 'स्व' वस्तुको अपने ज्ञानकी मर्यादा रूप स्वीकार करते हैं, ज्ञेय पदार्थ—ज्ञान पदार्थसे, (जो स्वतत्त्व है) सर्वथा भिन्न, विश्वरूप हैं। मैं तो विश्वसे सर्वथा भिन्न हूँ। स्वतः के नाना गुणपर्याय रूप विश्वता मेरी है, मेरेमे हैं, पर मैं स्वयं अविश्वरूप हूँ, ऐसा मानकर पररूप से भिन्न अपनी सत्तामे निष्ठ, जो ज्ञान तत्त्व, उसे ही उपादेय मानकर, अन्य ज्ञेयोको ज्ञेय मानकर, अपने स्वभावका ही स्पर्श करना है, यही मुक्तिका मार्ग है। परके साथ एकाकारता ससार परिभ्रमणका ही मार्ग है।

(४३८) **प्रश्न**—यदि ज्ञान है तो सब दिखाई देते हैं। यदि ज्ञान न हो तो अन्य पदार्थ हैं-या नही, यह कैसे निर्णय होगा ? अत. ज्ञानरूप ही सबको मानना चाहिए ? जैनो द्वारा कथित षट्-द्रव्य व्यवस्था, बौद्धो द्वारा प्रतिपादित पदार्थ व्यवस्था, नैयायिको द्वारा कथित प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था, वैशेषिक मतानुयाइयो द्वारा प्रतिज्ञात द्रव्य गुण-कर्म व्यवस्था, नास्तिको द्वारा कथित भूत-चतुष्टय व्यवस्था, ये सर्वमत कथित तत्त्व, सब ज्ञानके ही अन्तर्गत हैं, ज्ञान प्रतिभाससे बाहिर कुछ नही है, अतः अद्वैतवादीका कथन सत्य प्रतीत होता है ?

समाधान—यह सत्य नही है। यह सही है कि ज्ञानके कारण सबका अस्तित्व दिखाई देता है, तथापि क्या ज्ञान उन पदार्थोका भी ज्ञाता है, जिनका स्वय का अस्तित्व ही नही है ? यदि उनका अस्तित्व नही है और ज्ञान उन्हे जानता है, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। ज्ञान ज्ञेयका निर्णायक है, पर स्वय तद्रूप नही है। अन्य समस्त वादियो द्वारा कथित, प्रतिज्ञात, या कल्पित तत्त्वोकी व्यवस्था, जैसी वे वादी बताते हैं, वह सही है या सही नही है, यह सब निर्णय करना ज्ञानका कार्य है, पर स्वय ज्ञान तद्रूप नही है। किन्तु 'अतद्रूप' है।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वयके आधारसे अपनी सत्ता रखता है। ज्ञानकी सत्तामे उसकी सत्ता नही है। न उसको सत्तामे ज्ञानकी सत्ता है। अतः ज्ञानाद्वैतवादी का कथन यथार्थ नही है। प्रत्येक पदार्थकी सत्तामे, पर पदार्थकी सत्ताका अभाव है। इसीसे उसकी सत्ता स्वतन्त्र व सुरक्षित है। अत जो 'तत् है वह पर रूपमे 'तत्' नही है यह कथन सम्यक् ही है ऐसा मानना चाहिए ॥२४९॥

ज्ञान एकाकार है या अनेकाकार ? ऐसा प्रश्न होनेपर बौद्ध मतानुयायी उसे अनेकाकार मानते हैं, एकत्वका खडन करते हैं, उनका मत सत्य नही है। यहाँ युक्तिपूर्वक यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान कथंचित् "एक" स्वरूप है—

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसज्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५०॥

अन्वयार्थ—(**बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरत**) बाह्य पदार्थोका ग्रहण करना ऐसा स्वभाव ज्ञान का है, उस स्वभावके कारण वह (**विश्वक् विचित्रोल्लसत् ज्ञेयाकारविशीर्णशक्ति.**) सर्व प्रकारसे

अनेकानेक रूपमे उठने वाले नाना ज्ञेय पदार्थोंके विविध आकारोमे परिणत होनेसे वह ज्ञान, भिन्न रूप मे होकर अपने एकाकारको खो देता है। इस प्रकार (**अभितस्त्रुट्यन्**) सब ओरसे अपने एकाकारसे टूटता हुआ (**पशुर्नश्यति**) अज्ञानी स्वय अपने ज्ञान स्वभावका नाश करता है। (**अनेकान्तवित्**) स्याद्वादके सिद्धान्तको स्वीकार करनेवाला जैन (**भेदभ्रमं ध्वंसयन्**) ज्ञेयाकारोके ग्रहण करने मात्रसे ज्ञानमे भेदका जो भ्रम हुआ है, उसे नष्ट करता हुआ, (**सदाप्युदितया एकद्रव्यतया**) नित्य ही उदयको प्राप्त ज्ञानपर्यायोमे एक द्रव्यरूपतासे (**अबाधितानुभवनं**) निर्बाध है एकताका अनुभवन जिसका, ऐसे (**एकं ज्ञानं**) ज्ञानकी एकरूपताको (**पश्यति**) देखता है ॥२५०॥

भावार्थ—किसी एकान्तवादीका मत है कि ज्ञान पर्यायें नाना पदार्थोंके ग्रहण स्वभावके कारण, नानारूप हैं। ये नाना ज्ञानक्षण अपने नानात्वको सिद्ध करते हैं, अत ज्ञान अनेक हैं, एक नही है।

स्याद्वादी जैन आचार्य कहते हैं कि ज्ञान तत्त्व, स्वय एक आत्मतत्त्व है। वह द्रव्य रूपसे सदा एक है। ज्ञेयाकारके ग्रहण करनेसे जो ज्ञानकी विविध पर्यायें होती है, वे पर्यायें अनेक है तथापि उन सब पर्यायोमे अनुस्यूत ज्ञान, द्रव्यार्थिक नयसे एक हो है। ज्ञानका नानात्व पर्यायापेक्षया कहना असगत नही है, पर द्रव्यापेक्षया उसकी एकता का कथन भी सगत है, अत. एकान्तसे ज्ञानको अनेक कहना, द्रव्यरूपसे उसकी एकताको न स्वीकार करना, एकान्तवाद है। ऐसा एकान्तवादी सौगत स्वय अपनेको ज्ञानाकारकी एकतासे भिन्न करता हुआ, भिन्न-भिन्न समयोमे ज्ञानक्षणोंको उत्पन्नध्वसी मानकर, स्वय अज्ञानी हुआ, अपने कथित तत्त्वकी सत्यताको नष्ट करता हुआ, स्वय नष्ट होता है।

वस्तुतः आत्मा स्वय द्रव्य रूपमे अनाद्यनन्त है। ज्ञान उसका लक्षण या स्वभाव है। यद्यपि पर्याय परिवर्तन उसमे नाना ज्ञेयाकारोंके ग्रहणसे होता है, तथापि मूल द्रव्यकी एकताका अभाव नही होता। अत आत्मा या ज्ञान तत्त्व "कथचित् एक" भी है, तथा कथंचित् अनेक भी है ॥२५०॥

ज्ञान स्वरूप आत्मा सर्वथा एकान्तत. एक ही नही है, उसकी पर्यायें भी उससे अभिन्न ही हैं, अतः "कथचित् अनेक भी" हैं। सर्वथा एकत्व को ही स्वीकार करने वालेका पक्ष खण्डित कर उसकी कथचित् अनेकताकी वास्तविकता बताते हैं—

> **ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्-**
> **एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।**
> **वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं**
> **पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५१॥**

अन्वयार्थ—(**ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति**) ज्ञानमे आये जो ज्ञेयके आकार वे ज्ञानके कलङ्क हैं, दोष हैं (**एकाकारचिकीर्षया**) उन्हे एकाकार करनेकी इच्छासे (**प्रक्षालनं कल्पयन्**) उन ज्ञेयाकार रूप कलङ्कोको प्रक्षालन करने की—दूर करनेकी कल्पना करता हुआ (**स्फुटमपिज्ञानं**) स्पष्ट रूपसे अनेकाकार रूप अनुभवमे आने वाले भी ज्ञान को (**पशुः नेच्छति**) वह एकान्तवादी स्वीकार नही करता। (**अनेकान्तवित्**) अनेकान्त स्वरूप पदार्थका ज्ञाता स्याद्वादी (**वैचित्र्येऽपि**) पर्यायार्थिक नयसे

अनेकाकार होते हुए भी (**अविचित्रताम् उपगतम्**) द्रव्यार्थिक नयसे एकाकारता को प्राप्त है तथा ऐसा होनेपर भी (**पर्याये**) पर्यायो की अपेक्षा (**तदनेकताम् परिमृशन्**) वह अनेकताका परामर्श करते हुए भी (**ज्ञानम्**) ज्ञान मात्र तत्त्व, (**स्वत. क्षालितम्**) स्वत. पवित्र है, निष्कलङ्क है। (**इति-पश्यति**) ऐसा अनुभव करता है ॥२५१॥

भावार्थ—जिस वादीका मत ऐसा है कि अपने ज्ञानमात्र आत्माको सिद्ध किया सो वही यथार्थ है, वह एकाकार ही है। ज्ञेयके जाननेसे ज्ञानमे ज्ञेयाकार जो दिखाई देते हैं, वे ज्ञानके स्वरूप नही हैं, वे विकल्पात्मक होनेसे उस ज्ञानके कलक हैं। उनका प्रक्षालन करके ज्ञानको शुद्ध बनाइए तो वह ज्ञानरूप निर्विकल्प शुद्धवस्तु अनुभवमे आयगी।

आचार्य कहते हैं कि भाई ! ज्ञेयको जानना ही तो ज्ञान का स्वभाव है। सचेतन और अचेतनमे यही अन्तर है कि सचेतन ज्ञायक होनेसे स्वरूपका व परज्ञेयोका प्रकाशक है, यह स्वपर-प्रकाशकत्व उसका कलक नही, गुण है। कोई भी ज्ञान अपने इस स्वरूपसे वञ्चित नही होता। अत यद्यपि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वह अपनी विविध पर्यायोमे एकाकार है, तथापि-ज्ञेयके जाननेके निमित्तसे होनेवाली उसकी पर्यायें भी, उसके स्वरूपसे भिन्न नही हैं, अतः उन पर्यायोकी अपेक्षा वह अनेकाकार भी है। जो अचेतन पदार्थ, ज्ञानके ज्ञेय बनते हैं, उनमे स्वपर प्रकाशकत्व नही है, अत. वे स्वय द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा, एकाकार व अनेकाकार होते हुए भी, अपनेको उभय-रूपमे अनुभव नही करते।

(४३९) **प्रश्न**—ज्ञानमे ज्ञेयाकार स्वय स्वभावसे नही है। वे ज्ञानमे ज्ञेयके निमित्तसे आते हैं। अतः ज्ञेयाकाररूप परिणमन, ज्ञानका विकारी परिणमन है। उसे स्वभावरूप नही कहना चाहिए। अत ज्ञेयाकार कलक ही है। ज्ञान परकी निरपेक्षतामे अपने एकाकाररूप ही है, अतः एकाकारता ही सत्य है, विविधाकारता ज्ञानका दोष है ?

समाधान—यद्यपि ज्ञेयके निमित्तसे ही ज्ञानमे ज्ञेयाकारता झलकती है, तथापि वह ज्ञानकी स्वच्छताका ही प्रतिफल है। जैसे स्वच्छ दर्पणमे ही सम्मुख आगत विविध वर्णके पदार्थ झलकते हैं, उन झलकनेवाले पदार्थ प्रतिबिम्बोंसे दर्पण काला-पीला नही हो जाता, वह तो स्वच्छ ही रहता है। स्वच्छताके अभावमे प्रतिबिम्ब दिखाई नही देते। इसी प्रकार ज्ञानकी जितनी स्वच्छता होगी उतने ही अधिकाधिक पदार्थ अपने सम्पूर्णरूपसे उसमे झलकेंगे। ज्ञानका स्वरूप ही ज्ञेयको-जानना है। यदि ज्ञेयको न जाने तो ज्ञानके स्वरूपका ही अभाव हो जायगा। अतः ज्ञानमे ज्ञेया-कारता कलंक नही है, किन्तु स्वभाव ही है। यदि स्वभावको ही विकार मान लिया जाय तो स्वभावका अभाव हो जायगा।

(४४०) **प्रश्न**—यदि विविध ज्ञेयाकाररूप परिणमन ज्ञानका स्वभाव है, तो सयमी साधुको विविध विकल्पोका त्यागकर, निर्विकल्प समाधिके लिए शास्त्रोमे प्रेरणा क्यो की गई है ?

समाधान—अल्पज्ञ या छद्मस्थ जीवका उपयोग एक समयमे एक पदार्थको ही ग्रहण करता है। जब वह किसी अन्य पदार्थपर उपयोग ले जाता है तो वह ज्ञानका विकल्प आत्माको अपने स्वरूप सचेतनमे बाधक हो जाता है। सयमीको आत्मसवेदन आवश्यक है, अत. अन्यत्रसे उपयोग हटाकर स्वात्मस्वरूपको ही ज्ञेय बनाना उचित है। यह आत्मध्यान कर्मनिर्जराका हेतु है। उससे

ही चारो घातिया कर्मोका नाश होता है और केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञानका स्वरूप अखिल ज्ञेयाकाररूप परिणमन होकर भी, अपने एकाकारपनेमे रहना है।

(४४१) **प्रश्न**—जब ज्ञानकी विशुद्धता केवल स्वज्ञेयमात्रको जाननेमे है, अन्य ज्ञेयपर उपयोग जाना विकल्प है, और विकल्पोसे दूर रहना ही उचित माना गया है, तब केवलीका केवलज्ञान भी इसी प्रकार होना चाहिए कि वह स्वको जाने, परको किंचित् भी न जाने। क्या जो सामान्यजनके लिए दोषास्पद है वह विशिष्ट जनके लिए दोषास्पद नही है? यह तो बड़े पुरुषोका पक्षपात और सामान्य जनका अनादरमात्र ही कहा जायगा। न्याय तो समान ही होना चाहिये?

समाधान—ऐसा नही है। परिस्थिति भेदसे निर्णय भेद होते हैं। सबको समानाधिकारकी व्यवस्था सबकी समानता होनेपर ही होती है। बालक और युवा दोनोकी भोजनकी मात्रा समान नही होती। हीनाधिक होती है। रोगी-निरोगी दोनोको समानतासे औषधि नही दी जाती। समानताका न्याय समान व्यक्तियोपर लागू होता है, असमानपर नही होता। असमानता ही उसका हेतु है। सामान्यजन छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) हैं। उस समय उनके ज्ञानके विकल्पोके साथ रागादिके भी विकल्प सम्भाव्य हैं। अत रागादिसे बचनेके लिए तथा स्वात्म-सचेतनके लिए उन्हे परज्ञेयोसे पराङ् मुख करना आवश्यक है। उनके बिना रागादि भी दूर नही होगे, और स्वरमणरूप-स्वात्मनिष्ठ चारित्र भी न होगा। इसके बिना कर्मनाश न होगा, तथा कर्मके नाशके बिना कैवल्यकी उत्पत्ति भी न होगी। इनमे इस प्रकारका कार्य-कारण भाव है।

छद्मस्थको सम्पूर्ण सकल्प-विकल्पोका त्यागकर स्वात्मनिष्ठ बनना चाहिए। उसका उपयोग यदि वहाँसे च्युत होकर परनिष्ठ होता है, तो स्वात्मनिष्ठताका अभाव तो तत्काल होता है तथा यदि परके ऊपर इष्टानिष्ठ विकल्प कषायोदयसे आ गए, तो रागादिकी उत्पत्ति हो सकती है, जो कि ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमन कर देती है। परन्तु जब कैवल्य हो जाता है तब उसके पूर्व, राग, द्वेष, मोहका सर्वथा अभाव हो जाता है। अत वहाँ परज्ञेयोके विषयभूत होनेपर भी, न रागादिकी उत्पत्ति होती है, न स्वात्मनिष्ठासे जीव च्युत होता है।

(४४२) **प्रश्न**—केवलीका ज्ञान 'केवलज्ञान' कहा जाता है, अत वह 'केवल' अकेला ज्ञान मात्र ही रहना चाहिए। ज्ञेय निमित्तक ज्ञेयाकार रूप होना ज्ञानकी केवलताका विघातक है?

समाधान—ऐसा नही है कि यदि ज्ञान ज्ञेयोको जान ले तो उसकी 'केवलता' को बाधा है। वह समस्त ज्ञेयोसे सर्वथा भिन्न तो था ही, पर रागादिके साथ होनेसे उसका "कैवल्य" अप्रकट रूप था। रागादि विकारोसे रहित होनेपर वह ज्ञान अब केवल ज्ञान मात्र ही रहा। अत उसे "केवल ज्ञान" कहनेमे कोई बाधा नही है।

ज्ञानमे ज्ञेयाकारता, उसकी स्वच्छता, निर्लेपना, स्व-पर प्रकाशकता रूप स्वभावका प्रकटपना ही है, विकार नही है। जैसे दर्पण जितना स्वच्छ होगा, उसमे सन्मुख स्थित पदार्थ उतने ही स्पष्ट रूपमे प्रतिबिम्बित होगे। मलिन दर्पणमे पदार्थ मलिन ही दिखाई देंगे। अस्पष्ट प्रतिभास ही उनका होगा। यदि दर्पण बिलकुल खराब हो तो कुछ प्रतिबिम्ब ही न दिखाई देगा। इसी प्रकार ज्ञान जितना स्वच्छ होगा उसमे उतने ही स्पष्ट ज्ञेयाकार झलकेंगे। अस्वच्छ होगा तो पदार्थ अस्पष्ट प्रतिभासित होगे। जैसे स्वच्छ दर्पणमे प्रतिबिम्बात्मक विविध प्रतिभास होनेपर भी,

दर्पणकी स्वच्छतामे कमी नही आती, बल्कि वह स्वच्छताका ही प्रमाण है। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञेयाकार प्रतिभास कलङ्क नही है, किन्तु ज्ञानकी स्वच्छताका ही वह प्रबल प्रमाण है।

यह कथन तो केवलीके 'केवलज्ञान' को ही निर्दोष सिद्ध करता है। रागादि रहित होना ही ज्ञानकी केवलता है। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्म-द्रव्य कथचित् एक होते हुए भी, पर्यायकी अपेक्षा अनेक भी है।

ज्ञानमात्र आत्मा स्वय स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है, सत् है, परके कारण उसका अस्तित्व नही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णोभवन् जीवति ॥२५२॥

अन्वयार्थ—(**प्रत्यक्षालिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्यास्तिता-वञ्चित**) प्रत्यक्षमे, ज्ञानमें आगत, स्फुट स्थिर जो ज्ञेयाकार, उसकी अस्तितासे ठगाया हुआ, (**स्वद्रव्यानवलोकनेन**) स्वद्रव्यको न देखता हुआ (**परित शून्य.**) सब ओरसे शून्यताको प्राप्त हुआ, (**पशु**) अज्ञानी पुरुष (**नश्यति**) स्वय नाशको प्राप्त होता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादी (**सद्य समुन्मज्जता**) शीघ्र उत्पत्ति है जिसकी ऐसे (**विशुद्धबोधमहसा**) सुस्पष्ट सुविशुद्ध ज्ञानके तेजसे (**स्वद्रव्यास्तितया**) अपने आत्म-द्रव्यके अस्तित्वके द्वारा (**निपुणं निरूप्य**) वस्तुका स्पष्ट निरूपण करके (**पूर्णोभवन्**) स्वय अपनेमे परिपूर्ण होता हुआ (**जीवति**) जीवित रहता है ॥२५२॥

भावार्थ—ज्ञानमे आये ज्ञेयाकारोको स्पष्ट देखकर उनके अस्तित्वसे ही ज्ञानका अस्तित्व माननेवाला अज्ञानी, अपने अस्तित्वको न स्वीकारते हुए स्वय अस्तित्वरहित हुआ अपना नाश करता है। अनेकान्तवादी जैन अपने स्वास्तित्वसे ही प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व मानता है, अतः आत्माका अस्तित्व भी, स्वद्रव्यापेक्षया ज्ञानात्मक स्वीकार करता है। ज्ञेयाकारोके आधीन ज्ञान नही है, किन्तु जैसे ज्ञेय अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको लिए है, उसी प्रकार ज्ञान भी उनका मात्र ज्ञायक है। उसका अस्तित्व ज्ञेयाकारोके आश्रित नही है, किन्तु स्वय स्वतन्त्र द्रव्यरूपमे अस्तित्व है ऐसा वस्तुका स्पष्ट निरूपण करके अपने ज्ञानभावोके तेजसे स्वय प्रकाशित तथा पूर्ण होता हुआ, स्वद्रव्य जीवित ही सिद्ध हो जाता है, नष्ट नही होता।

जिसका अस्तित्व है, वह जीवित है, तथा जिसका अस्तित्व नही है वह मृत है। ऐसी सामान्य व्याख्या सर्वसाधारण जानते हैं। स्याद्वादीकी दृष्टिमे आत्मा स्वय ज्ञानमात्र वस्तु अपने अस्तित्वसे स्वय है। स्व और परको जानना उसका गुण है। जाननेसे ही उसका अस्तित्व स्पष्टरूपसे जाना जाता है, न कि ज्ञेयोके अस्तित्वसे। ज्ञानका अस्तित्व स्वय ही है, वह ज्ञेयाकारोके कारण कल्पित नही है, ऐसा अनेकान्तवादीका मत है ॥२५२॥

स्वास्तित्वसे परकी नास्ति है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

अन्वयार्थ—(**दुर्वासनावासित पशु**) मिथ्याविश्वासकी वासनाओंसे पूर्ण अज्ञानीजन (**पुरुषं**) इस आत्माको (**सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य**) सर्वद्रव्यमय मानकर, (**परद्रव्येषु किल**) समस्त पर ज्ञेयरूप द्रव्योमे (**स्वद्रव्यभ्रमत**) मैं ही यह सब रूपमे हूँ ऐसी भ्रातिसे, उन द्रव्योमे (**विश्राम्यति**) स्थित होता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादी तो (**समस्तवस्तुषु**) सम्पूर्ण वस्तुओमे (**परद्रव्यात्मना नास्तितां**) परद्रव्यकी नास्तिता ही है ऐसा (**जानन्**) जानकर, (**निर्मलशुद्धबोधमहिमा**) निर्मल शुद्ध ज्ञानकी महिमा वाला (**स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्**) अपनी निज सत्तात्मक आत्म द्रव्यका ही आश्रय करता है। परमे अपनी सत्ता विलीन नही करता ॥२५३॥

भावार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि "सर्वं ब्रह्ममय जगत्" सारा जगत् ब्रह्म स्वरूप है। "पुरुष एवेदं सर्वं" तथा "अहं ब्रह्म एवास्मि" मैं स्वय ब्रह्मस्वरूप हूँ। ऐसा कहकर यह सिद्ध करते हैं कि जगत्के समस्त पदार्थोके रूपमे मेरा स्वयका अस्तित्व है। उनमे ही मेरी सत्ता है। ऐसी भ्रातिसे अपना स्वरूप खोकर परमे ही विलीन हो जाता है। अथवा सारे जगत्को अपनेमे विलीन करता है। ऐसी उसकी दुर्वासना, मिथ्यादर्शनके उदयमे चली आ रही है।

मिथ्यादर्शनके उदयमे जो पदार्थ जैसा है, वैसा यथार्थ दर्शन उसे नही होता। अत. ज्ञान-मात्र आत्मवस्तुको परज्ञेयोके साथ मिलाकर, उसका अस्तित्व समाप्तकर, वस्तुतः स्वयके अज्ञानके कारण परमे विलीन होता है। अनेकान्तवादी कहते हैं कि 'स्व' आत्मा ज्ञानमात्र, पदार्थ, ज्ञायक-स्वरूप, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा जाने गए समस्त जगत्के पदार्थ भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए स्थित है। जैसे घटकी सत्ता पटके आधीन नही है, इसी प्रकार ज्ञानकी सत्ता ज्ञेयके तथा ज्ञेयकी सत्ता ज्ञानके आधीन नही। सर्वद्रव्य निज-निज सत्तात्मक हैं, अतः स्वद्रव्यका आश्रय करना चाहिए उसमे "परद्रव्यका नास्तित्व ही है" ॥२५३॥

स्वक्षेत्रापेक्षया ही वस्तुका अस्तित्व है। ऐसा दिखाते हैं—

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५४॥

अन्वयार्थ—(**भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियतव्यापारनिष्ठ.**) अपनेसे भिन्न प्रदेशोमे स्थित जो ज्ञेय, उनको जानने रूप जो नियत अपना सन्निकर्ष आदि व्यापार, उसमे स्थित (**पशु**) अज्ञानी (**पुमांसं**) आत्माको (**अभित. बहि पतंत**) सब प्रकारसे बाह्य पदार्थोमे पड़ता हुआ, (**पश्यन्**) देखता

हुआ, मानता हुआ (**सदा सीदति एव**) नाशको प्राप्त होता सदैव दुखी होता है। (**स्याद्वादवेदी पुन**) जो अनेकान्तवादी है वह (**स्वक्षेत्रास्तितया**) आत्मा स्वक्षेत्रमे ही अपना अस्तित्व रखता है, अतः उससे (**निरुद्धरभस**) रोक लिया है परमे जानेका अपना वेग जिसने, तथा (**आत्मनिखात-बोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्**) अपनी आत्मामे प्रतिबिम्बित जो ज्ञेयपदार्थके आकार, उनको जाननेका जो व्यापार, तत् शक्ति रूप होता हुआ (**तिष्ठति**) स्थित रहता है ॥२५४॥

भावार्थ—नैयायिक मतानुयायी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान सन्निकर्ष जन्य है। अर्थात् जब आत्मा मनसे जुडती है, तब मन इन्द्रियोंसे जुडता है, तथा इन्द्रियाँ पदार्थोंसे जुडती हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, अर्थात् पदार्थोंको प्राप्त होकर पदार्थोंको जानती हैं, तब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। ऐसी मान्यताके कारण, अपने आत्म प्रदेशोंसे भिन्न जो परक्षेत्री ज्ञेय, उनमे प्राप्यकारी होनेसे परक्षेत्र गमन रूप क्रियाके कारण, ज्ञानका अस्तित्व परक्षेत्रके आधीन स्वीकार करना ही, स्वक्षेत्र प्रदेश स्थितिसे बाहर आत्माका पतन स्वीकार हुआ। इससे स्वक्षेत्रापेक्षया वस्तुका अस्तित्व न माननेसे अपना नाश ही किया।

अनेकान्तवादी आचार्य कहते हैं कि पर पदार्थ परक्षेत्रमे ही अपना अस्तित्व रखते हैं, और ज्ञानमात्र आत्मा अपने निज प्रदेशोमे ही अपना अस्तित्व रखती है। पर पदार्थोंको जानना ज्ञानका स्वभाव है अत. परको परक्षेत्र स्थित वह देखता है, तथापि स्वक्षेत्रकी मर्यादामे ही स्वयं रहता है। परमे सम्बन्ध करनेके लिए अपना क्षेत्र छोडकर नही जाता, अत. उनमे प्राप्यकारित्वका निषेध है।

यदि नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने क्षेत्रको छोडकर परपदार्थसे जुडान करनेके लिए जायें, तो मनुष्य उतने काल उन इन्द्रियो रहित वृक्षके कोटरके समान खोखला दिखाई देना चाहिए। सो ऐसा होता नही है। ज्ञान ज्ञेयको जानता है, इसका अर्थ यह है कि जैसे सम्मुख स्थित पदार्थ, अपने-अपने क्षेत्रके अस्तित्वमे रहते हुए भी, दर्पणमे प्रतिबिम्बित होते हैं। वहाँ न पदार्थ दर्पणमे आता है, न दर्पण पदार्थमे जाता है, तथापि उन पदार्थोंसे भिन्न ही आकार दर्पणमे दिखाई देता है, जो दर्पणाकार ही है। इसी प्रकार ज्ञानमे प्रतिबिम्बित अर्थाकार ज्ञानके ही तत्समानाकार हैं। ज्ञान उनको जानता है। इसे ही 'ज्ञेयको जानता है' ऐसा कहा जाता है। अपने-अपने स्थानको छोडकर न ज्ञान ज्ञेयमे जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमे जाते हैं। दोनोमे उभय प्रकारसे भी प्राप्य-कारित्व नही है, तथापि ज्ञान-ज्ञेयका परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है कि स्व-स्व क्षेत्रोमे स्थित रहकर ही ज्ञान उन्हे जानता है, और वे ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं।

इस प्रकार दोनोका अस्तित्व स्वक्षेत्रापेक्षया अपने-अपनेमे है, किसीका अस्तित्व दूसरेके कारण नही है, न वे एक दूसरेमे विलीन होते हैं ॥२५४॥

अब यह बताते हैं कि स्वक्षेत्रमे परक्षेत्रका नास्तित्व ही है—

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

अन्वयार्थ—(**स्वक्षेत्रस्थितये**) अपने क्षेत्रमे ही अपनी स्थितिको सिद्ध करनेके लिए (**पृथक्-विधपरक्षेत्रस्थित-अर्थ-उज्झनात्**) अपनेसे पृथक्—भिन्न है प्रकार जिनका, ऐसे पर क्षेत्रमे स्थित पदार्थोको छोडता हुआ, (**पशु.**) अज्ञानी (**अर्थे सह चिदाकारान् वमन्**) उन पदार्थोके साथ-साथ ज्ञानमे प्रतिबिम्बित ज्ञेयाकारोको, जो चैतन्यके ही आकार है, उनको भी पर समझ कर छोडता हुआ (**तुच्छीभूय प्रणश्यति**) स्वय रिक्त होकर नष्ट होता है। (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी जैन (**स्वधामनि निवसन्**) अपने चेतन्य पुञ्ज प्रदेशोमे स्वय निवास करते हुए (**परक्षेत्रे नास्तिता विदन्**) पर पदार्थोके प्रदेशोमे अपनी नास्तिता स्वीकार करता हुआ (**त्यक्तार्थ अपि**) परको स्व नही बनाता तथापि (**परान् आकारकर्षी**) पर पदार्थोके आकारको चैतन्यमे प्रतिबिम्बित करता हुआ (**न तुच्छताम् अनुभवति**) अपनेको अभाव रूप नही अनुभव करता, किन्तु स्वक्षेत्रमे अपना अस्तित्व देखता है ।।२५५।।

भावार्थ—कुछ परवादी लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञानका स्वय स्वक्षेत्र है। वह अपने क्षेत्रमे अपना अस्तित्व रखता है। ज्ञानमे जो ज्ञेयाकारका प्रतिबिम्ब होता है वह ज्ञानमे परका प्रवेश है। ज्ञानमे दिखाई देने वाले ज्ञेयाकार, ज्ञान स्वरूप नही हैं। इसलिए जैसे ज्ञानके स्वक्षेत्रके निर्णयके लिए, परक्षेत्रीय समस्त ज्ञेयभूत पदार्थोका पृथक् करना इष्ट है, इसी प्रकार ज्ञानमे आये आकारो का भी पृथक् करना इष्ट है। वह ज्ञानका स्वरूप नही है, पर रूप है, ऐसी उनकी मान्यता है। इस प्रकारकी मान्यतासे वह ज्ञानके स्वरूपका नाशकर, स्वय ज्ञानरहित होकर, अज्ञानी होकर अपना ही नाश करता है।

स्याद्वाद विद्याके अधिपति आचार्य कहते हैं कि जो पदार्थ ज्ञानसे भिन्न अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं, वे परक्षेत्रीय पदार्थ हैं—यह तो नि सन्देह है, परन्तु उनके सन्मुख होनेपर जो दर्पणकी तरह ज्ञानमे ज्ञेयनिमित्तक आकार दिखाई देते हैं, वे पर नही हैं, वे ज्ञानके ही आकार हैं। ज्ञानका स्वरूप ही स्वपरका बोध करना है। अत उनका बोध आत्माका स्वरूप ही है। वे विकार नही हैं, किन्तु ज्ञानके ही स्वरूप हैं। परके समानाकार रूप परिणत होना ज्ञानका स्वभाव ही है अतः वे चिदाकार परक्षेत्री नही है, स्वक्षेत्री हैं। ऐसी मान्यताके कारण स्याद्वादी परपदार्थको छोडते हुए भी चैतान्याकारोमे अपना स्वरूप देखकर स्वय रिक्त नही होता। अत उसके स्वक्षेत्रका नाश नही होता, उसमे परक्षेत्रका अभाव ही है ।।२५५।।

(४४३) **प्रश्न**—ज्ञानका स्वरूप तो स्वय स्वच्छ दर्पणके समान स्वतत्र है। उसमे आने वाले ज्ञेयाकार,ज्ञानका स्वरूप नही हैं, वे ज्ञेयके आकार हैं, अत उनके कारण ज्ञान विकारी ही है ?

समाधान—इस प्रश्नका समाधान पूर्वमे कर चुके हैं फिर भी कहते हैं—ज्ञेयाकार ज्ञानमे नही आते, वे ज्ञेयभूतपदार्थोमे ही रहते हैं। ज्ञान तो ज्ञेयाकारके समान परिणत होता है, अतः वे ज्ञानके ही आकार है, ज्ञानसे भिन्न नही है।

(४४४) **प्रश्न**—वे आकार स्वय ज्ञानमे अस्तित्व रूप स्वभावसे नही हैं। पदार्थ सन्मुख होने पर उत्पन्न होते हैं और उसके अभावमे नष्ट हो जाते हैं। अत. जो आते जाते हैं, अर्थात् उत्पन्न नष्ट होते हैं, वे स्वभाव नही हो सकते। स्वभाव तो त्रैकालिक होता है। ऐसा आप कह चुके है ?

समाधान—यह सही है कि स्वभाव त्रैकालिक रहता है। पदार्थ सन्मुख न होनेपर भी, ज्ञानमे ज्ञेयाकार भले ही दिखाई न दें, पर इतने मात्रसे ज्ञेयको जाननेकी उसकी शक्ति रूप स्वभाव

का नाश नही होता। यही कारण है कि सर्वज्ञ (पूर्णज्ञानी) के ज्ञानमे, जो चराचर पदार्थ, तीनो कालोकी पर्यायोको लिए दिखाई देते हैं, वे अनन्तकाल तक दिखाई देते हैं कभी विनष्ट नही होते।

(४४५) **प्रश्न**—पर वे अनादिसे तो दिखाई नही देते थे। केवल ज्ञान होनेके बाद ज्ञानमें वे आकार उत्पन्न हुए हैं। पदार्थ यदि परिवर्तनशील है, तो वे आकार भी परिवर्तनशील होना चाहिए। सदा एकसे अनन्तकाल कैसे दिखाई देते रहेगे ?

समाधान—यह सही है कि अनादिकालसे वे दिखाई नही देते थे, इसका कारण यह है कि अनादिकालसे ज्ञान सम्पूर्ण नही था, जीव सर्वज्ञ नही था, अल्प ज्ञानी था, अतः क्षयोपशमानुसार अल्प पदार्थ दिखाई देते थे। सम्पूर्ण ज्ञान होनेपर उसे पदार्थोंकी अतीत-वर्तमान और अनागत पर्यायेकी सभी स्पष्ट प्रतिभासित होने लगी। वे पर्यायें परिवर्तनशील हैं, यह सत्य है। ज्ञान भी उनकी परिवर्तनशीलताको देखता है, इसीसे सत्य है। यदि परिवर्तनशीलको अपरिवर्तनशील देखे तो वह ज्ञान सत्य न होगा। तथापि जो-जो परिणमन पहिले समय केवल ज्ञानमें दिखाई दिए वे सदाकाल वैसे ही दिखाई देते रहेगे। उनमें हेर-फेर नही होगा। अत. अनन्तकाल तक ज्ञान सदा एक-सा है यह सिद्ध है।

(४४६) **प्रश्न**—भले ही ज्ञान पूर्वावस्थामें सीमित ही हो, तथापि उसका स्वभाव तो जैसा है वैसा सदासे रहना चाहिए ?

समाधान—ज्ञान सदा से ऐसे ही समस्त पदार्थको जाननेके स्वभाव वाला ही है, इसमें सन्देह नही है, तथापि वह स्वभाव शक्तिरूपसे, सदासे विद्यमान होते हुए भी, कर्मोपाधिके निमित्तसे, उस ज्ञानकी विकृत पर्याय थी। विकारके कारण दूर होनेपर, मेघरहित सूर्यकी भाँति वह पूर्ण प्रकट हुआ, और स्वभावत सबको जानने लगा।

(४४७) **प्रश्न**—कर्मोदयकी अवस्थामें जीवमे रागादि उत्पन्न होते हैं, उन्हें विकार कहा गया है, वे जीवके स्वभाव नही माने गये, आगममें ऐसा लिखा है। ऐसी स्थितिमे आत्म भिन्न पर पदार्थके निमित्तसे होनेवाले, नैमित्तिक आकार, ज्ञानके स्वभाव कैसे होगे ? रागादिकी तरह वे भी विकार माने जाने चाहिए ?

समाधान—तर्क ठीक नही है, वह वस्तुस्थितिका बोधक नही है। मिथ्यात्वादिके उदयमें ज्ञान, मिथ्या ज्ञानरूप परिणत होता है, अत. वह निमित्तजन्य भाव, विकारभाव है। पदार्थोंके निमित्तसे ज्ञानमें विकृति उत्पन्न नही होती, अत. वह अविकृत ज्ञान स्वभाव ही है। जो-जो निमित्त-जन्य हो, वे सब विकार हो, ऐसा नियम नही है।

पदार्थके शुद्ध परिणमनमे भी कालादि परद्रव्योका निमित्तपना है। जीवके मुक्ति प्राप्तिकी अवस्थामे ऊर्ध्वगमन स्वभावतः है, उसमे धर्म द्रव्य निमित्त है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेपर भी लोकके आगे धर्मका अभाव है, अत. जीव वहाँ ही स्थित हो जाते है। उसकी गति रुकनेमे धर्म द्रव्यका अभाव तथा अधर्म द्रव्यका सद्भाव निमित्त है, तथापि मुक्तात्माका वहाँ रुकना, स्वभाव ही है विभाव नही है। धर्म-अधर्म द्रव्यमात्र उदासीन निमित्त हैं। उक्त उदाहरणोंसे सिद्ध है कि परपदार्थोंके निमित्तसे उत्पन्न हुए भी, ज्ञानके चैतन्याकार, ज्ञानके ही आकार है, अत स्वक्षेत्री हैं, परक्षेत्री नही।

ज्ञान तो परको जानता हुआ भी स्वक्षेत्री है। वह कभी स्वक्षेत्रका त्याग नही करता, उसमे पर क्षेत्रकी नास्ति है। दोनो अपने-अपने प्रदेशरूप क्षेत्रमे, अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। परक्षेत्र-का उनमें नास्तित्व ही है ॥२५५॥

आत्मा स्वकालकी अपेक्षा अस्तिरूप है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन् अत्यन्ततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये**) ज्ञानने पहिले जिस पदार्थका आलम्बन किया था, उस ज्ञेयके विनाश कालमे (**ज्ञानस्य नाशं विदन्**) ज्ञानका भी नाश मानता हुआ कोई वादी, (**किञ्चन अपि न कलयन्**) चेतन-अचेतन पदार्थको न स्वीकार करता हुआ, (**अत्यन्ततुच्छ:**) अत्यन्त नि:स्वभाव पदार्थको मानता हुआ (**पशु**) अज्ञानी, (**सीदत्येव**) नष्ट ही होता है। दुखी होता है। (**स्याद्वादवेदी पुन**) स्याद्वादका अवलम्बन करने वाला जैन (**बाह्य वस्तुषु मुहु. भूत्वा विनश्यत्स्वपि**) बाह्य ज्ञेय पदार्थोंके पर्याय दृष्टिसे बार-बार उत्पत्ति-व्यय रूप होते हुए भी, (**निजकालतः अस्य अस्तित्वं कलयन्**) स्वकालकी अपेक्षा ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करता हुआ, (**पूर्णः तिष्ठति**) अनाद्यनन्त स्थितिको प्राप्त होता है ॥२५६॥

भावार्थ—परिणमनशील प्रत्येक पदार्थ अनाद्यनन्त है। ज्ञान अथवा ज्ञान स्वभावी आत्मा भी अनाद्यनन्त है, उसमे भी सदा पर्याय परिणमन होता ही है। अपने समस्त परिणमनोमे अन्वय-रूपसे अनुगत, प्रत्येक द्रव्य अनन्त काल तक स्थायी है, कभी नष्ट नही होता। वे पर्यायें भी स्वकाल-मे अपना अस्तित्व रखती हैं, उन सभी पर्यायोका समुदायात्मक द्रव्य है। उनकी स्थिति स्वकालको अपेक्षा अस्तिरूप ही है।

कोई वादी ऐसा मानते हैं कि जिस पदार्थको ज्ञानने अपना ज्ञेय बनाया, उस ज्ञेयके नष्ट होने पर, ज्ञानका भी नाश हो जाता है। ऐसी मान्यता स्वीकार करनेसे पदार्थ और ज्ञान दोनो नष्ट हुए तब नि.स्वभाव पदार्थ स्वीकार करने वाला, स्वय भी उसी नियमके आधार पर नष्ट हुआ। अपने अस्तित्वको भी स्थिर न रख सका, अत. स्वय नाशको प्राप्त हुआ।

स्याद्वाद नयके वेत्ता जैन ऐसी मान्यताका तिरस्कार करते हुए कहते हैं कि परिणमन ज्ञान मे हो, या पदार्थमे हो, उस परिणमनसे वस्तुका नाश नही होता। वह तो उन पर्यायोमे अनुगत सदा रहता है। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ की स्थिति, अपने स्वरूपसे स्वयं स्वतन्त्र सत्ता स्वरूप है। किसी की सत्ता परके कारणसे नही है। इस नियमके अनुसार ज्ञानका अस्तित्व भी ज्ञेय पदार्थोंके आधीन नही है। ज्ञान ज्ञेय दोनो अपने-अपने समयमें, अपनी-अपनी पर्यायोकी अपेक्षा, अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वका यही अर्थ है।

ऐसा कथचित्, द्रव्यापेक्षया, पदार्थकी शाश्वतिकता, (नित्यता), और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यता, उभय धर्म पदार्थमें रहते हैं। इसीसे पर्याय नष्ट होनेपर भी द्रव्य अपनेमे परिपूर्ण सत्ता वाला रहता है। आत्माकी नित्यता भी इसमे स्पष्ट है।

(४४८) **प्रश्न**—ज्ञान और ज्ञेयमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय न हो तो ज्ञान किसका होगा। अत. ज्ञानकी स्थिति ज्ञेयके आधीन हो है ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नही है। ज्ञान और ज्ञेय दोनो अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते हैं। ज्ञेयभूत पर्यायका अभाव हो जाता है, पर ज्ञानमे ज्ञेयाकारका अस्तित्व तदनन्तर स्मरण रूपमे रहता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो 'स्मरण' मिथ्या मानना पड़ेगा। 'स्मृति' प्रमाण है, मिथ्या नही है, उसे मिथ्या माननेसे प्रश्नोत्तर ही सभावना को प्राप्त नही हो सकता। प्रश्नकर्त्ता अपने शब्दोंसे प्रश्न करता है, वे शब्द पर्याय हैं, बोलते-बोलते ही नष्ट हो जाते है। उत्तरदाता उनका स्मरण करके ही, उस प्रश्नका उत्तर देता है। अन्यथा नही दे सकता।

उत्तरदाताके शब्द भी तत्काल विलीन होते हैं, तब उत्तरदाताके समाधान करनेके अनन्तर कालमे ही, तद्विषयक ज्ञानका अभाव होनेसे, प्रश्नकर्त्ताका समाधान भी समाप्त हो जायगा। ससार मोक्षके सभी उपदेश, स्मृतिके आधार पर ही होते व ग्रहण किए जाते हैं। अतः ज्ञेयके अभावमे ज्ञानका भी अभाव हो जायगा, यह बात मिथ्या है। ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध था तब ज्ञेयके निमित्तसे उसमे ज्ञेयाकारता आई। यदि उसका अस्तित्व स्वय असिद्ध होता, तो ज्ञेयाकारता किसमे आती ? निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञान-ज्ञेय दोनो एक दूसरेके उत्पादक नही हैं। स्वकालकी अपेक्षा दोनो सत्रूप हैं।

आत्मा या ज्ञानमे पर-कालकी अपेक्षा नास्तित्व ही है—

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ॥
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जी भवन् ॥२५७॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य सत्त्वं**) ज्ञानकी सत्ता (**अर्थालम्बनकाल एव**) पदार्थके अवलम्बनके कालमे ही है (**इति कलयन्**) ऐसा मानता हुआ कोई वादी (**बहिर्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा**) बाह्य ज्ञेय पदार्थोंको प्राप्त करनेकी लालसासे (**भ्राम्यन्**) बाह्य वस्तुओमे ही भ्रमता हुआ (**पशुर्नश्यति**) अज्ञानी नष्ट होता है। (**स्याद्वादवेदी पुन.**) स्याद्वाद विद्याका वेत्ता तो (**अस्य**) इस प्रकार (**परकालतः नास्तित्वं कलयन्**) पर पदार्थकी जो पर्यायें वे ही हैं 'परकाल', उनका ज्ञानमे नास्तित्व ही स्वीकार करता है। तथा (**आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् तिष्ठति**) अपनी आत्मामे ही आरोपित जो द्रव्य रूपमे नित्यता, उससे सहज ही आत्मा ज्ञानका पुज है, ऐसा मानता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्तामे रहता है ॥२५७॥

भावार्थ—एकान्तवादी पर ज्ञेय पदार्थोंकी पर्यायोंके आधीन ज्ञानकी सत्ता स्वीकार करता है। उसका यह कथन सर्वथा विरुद्ध है। क्योकि ज्ञानकी सत्ता अपने ही कारण स्वय है। पर पदार्थों की पर्यायोका उसमे नास्तित्व ही है। परके आधीन अपनी, या अपने ज्ञानकी, सत्ता मानने वाला, अपने स्वरूपको ही पराधीन मानता हुआ, बाह्य पर पदार्थोंके प्राप्त करनेकी लालसामें भ्रमण करता हुआ, अपनेको स्वय ज्ञान शून्य मानकर नष्ट होता है।

स्याद्वाद विद्याके वेत्ता कहते हैं कि परका अस्तित्व पर कालसे है। स्वका अस्तित्व स्वकालसे है, अर्थात् पर द्रव्य अपनी पर्यायोमे ही प्राप्त है, ज्ञान पर्यायोमे नही, इसी प्रकार ज्ञानकी पर्यायोमे ही ज्ञान द्रव्य, आत्म द्रव्य है, पर पर्यायोमे नही। स्याद्वाद ऐसी वस्तु स्वरूप ज्ञेयोकी, तथा आत्म स्वरूप ज्ञानकी, स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, अत वह आत्मामे ही उकेरे गए, अपने शाश्वतिक स्वाभाविक ज्ञानके समूह रूप, अपनी स्थितिमे सदा रहता है।

(४४९) **प्रश्न**—पदार्थका प्रत्यक्ष होनेपर ही आत्मामे प्रत्यक्ष प्रमाणकी उपलब्धि होती है। अर्थके अभावमे किसका प्रत्यक्ष ज्ञान होगा ? कहा है कि 'अर्थस्यासभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता' अर्थात् पदार्थके अभावमे, पदार्थकी प्रत्यक्षताका अभाव है। तब प्रत्यक्षकी प्रमाणता पराधीन ही मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नही है। किसी पदार्थ विशेषका प्रत्यक्ष, उस पदार्थकी उपस्थितिमे हो, तो उस ज्ञानकी तात्कालिक पर्याय होगी। ज्ञान केवल पर्याय मात्र नही है। ज्ञानकी पर्यायोके सदा बदलते रहने पर भी ज्ञानका अभाव नही होता। वह शाश्वतिक है। ज्ञानमे पदार्थके कारण ज्ञेयाकारताकी उत्पत्ति होना, स्वय ज्ञानकी स्वतन्त्र पर्याय है, वे ज्ञानके अस्तित्वको सूचक है। ज्ञानको पर्याय, ज्ञानका स्वकाल है। पदार्थकी पर्याय परपदार्थका स्वकाल है। किन्तु ज्ञानके लिए, परपदार्थ की पर्याय परपदार्थकी पर्याय 'पर' काल है, उसका ज्ञानकी पर्यायमे नास्तित्व ही है, अत स्याद्वादी 'पर' कालका नास्तित्व स्वीकार कर, 'स्वकाल' के अस्तित्वकी ही घोषणा करता है ॥२५७॥

जिस प्रकार द्रव्य, स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकालसे अस्तित्व वाला है, उसी प्रकार 'स्वभाव' से ही आत्माका भी अस्तित्व है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

विश्रान्तः परभावभावकलनात् नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

अन्वयार्थ—(**पशु**) अज्ञानीजन (**परभावभावकलनात्**) आत्म स्वभावसे भिन्न परभावोमे आत्माको स्वीकार कर, अर्थात् ग्रहणकर (**बहिर्वस्तुषुनित्यं विश्रान्त**) बाह्य वस्तुओमे ही सदा अपने स्वभावको देखता है, तथा (**स्वमहिम्नि एकान्तनिश्चेतन**) अपनी महिमामे कुछ भी नही जानता हुआ (**नश्यति एव**) स्वरूपसे नष्ट ही होता है। अर्थात् स्वरूपका स्वय नाश मानता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादका आदर करनेवाला व्यक्ति (**सहजस्पष्टीकृतप्रत्यय**) सहज ही प्रकट किया है स्वज्ञान, तथा (**नियतस्वभावभवनज्ञानात्**) अपने निश्चित स्वभावरूप परिणत ज्ञानसे (**सर्वस्मात् विभक्तो भवन्**) सभी पदार्थोसे अपनेको विभक्त करता हुआ, या स्वय विभक्त होता हुआ, (**न नाशम् एति**) नष्ट नही होता है ॥२५८॥

भावार्थ—शरीरादि जड द्रव्योमे, अथवा आत्म भिन्न परात्माओमे, स्वत्वपनेको स्वीकार करनेवाला एकान्तवादी, आत्म-स्वभावको यथार्थ स्थितिको न जाननेवाला मूढ, बाह्य वस्तुओमे अपनापन मानकर आत्मघात करता है। आत्माके ज्ञानस्वरूपका भूलना ही आत्मघात है। यही सबसे बड़ा पाप है। ज्ञानी अनेकान्तवादी अपने, सहज ज्ञान स्वभाव रूपमे अपना अस्तित्व देखता

हुआ, तथा शरीरादि जड द्रव्योमे अपने स्वभावकी नास्ति देखता हुआ, कथचित् "अस्तिनास्तिरूप" अनेकान्त स्वरूप आत्माको देखता है, वह नाशको प्राप्त नही होता।

(४५०) **प्रश्न**—आत्माके स्वभावका अजानकार, परमे आत्म स्वभावको मानने पर भी नष्ट कैसे होता है ? स्वभाव तो त्रिकाली है, उसका कभी नाश नही होता। यदि होता है, तो वह स्वभाव कैसे माना जाय ?

उत्तर—स्वभाव तो प्रत्येक प्राणीका ज्ञान-दर्शनरूप अनाद्यनन्त है। यह निःसंदेह है। वह कभी नष्ट भी नही होता, उसकी विस्मृति अज्ञानीको है। वह पर स्वभावको अपना स्वभाव मान लेता है इसीसे उसे नष्ट कहा गया।

(४५१) **प्रश्न**—स्वभावकी भूल और परभावमे आत्मबुद्धिको उसका भ्रम माना जा सकता है, न कि स्वभावका नाश ? घरमे रखे हुए धनको भूल जाने वाला निर्धन नही हो जाता। धन तो उसके पास है, मात्र भ्रमसे अपनेको निर्धन मान लेता है ?

समाधान—वस्तुत तो उसका भ्रम ही है। स्वभाव नष्ट होता नही है वह तो भूलता ही है। तथापि उस भूलके कारण ही तो दुखी है। अपने धनको विस्मरण करनेवाला, निर्धनताके कष्टको तो भोगता ही है। धनी होकर भी निर्धनताके कष्टको भोगने वाले उस धनीमे—और धनरहित निर्धनताके कष्टको भोगने वाले उस निर्धनके कष्टोमे समानता ही है। इसलिए उसे नष्ट कहनेमे कोई बाधा नही है।

इसी प्रकार अपने स्वभावकी जिसे खबर नही है, परमे ही विश्रान्त है, उस परावलम्बीको भी अपने स्वभाव परिणमनके अभावमे कष्ट भोगना पड़ता है। अत वह भी नष्ट है, ऐसा कहनेमे कोई बाधा नही है। भ्रम दूर हो जानेपर जैसे वह तात्कालिक निर्धन अपना धन प्राप्तकर, उसका उपयोग कर, अपने कष्ट मिटा सकता है, इसी प्रकार स्वभावकी उपलब्धि करनेवाला अपने स्वभाव जन्य आनन्दका भोक्ता—परावलम्बन जन्य अपने कष्टको मिटा देता है।

(४५२) **प्रश्न**—स्वरूप तो था, खोया नही था फिर उसकी उपलब्धिका क्या प्रश्न ?

समाधान—स्वरूप जो भूला था वह दृष्टिमे आ गया, इसीको स्वरूपोपलब्धि कहा गया है। भूली वस्तुका मिल जाना ही उपलब्धि है। ससारी जीवके समस्त दुखोका मूल हेतु ही यह है कि अपने स्वरूपसे एकाकार होकर भी, वह परमें स्वरूपके भ्रमके कारण, परमें ही भटक रहा था। दुखके कारण भूत अपने इस अज्ञान भावमे ही उसे सुखकी कल्पना थी। निज स्वरूपका भान होनेपर वह काल्पनिक सुख, जो यथार्थमे दुखका रूप ही था, मिट गया, तथा स्वतन्त्र स्वावलम्बी सुखकी प्राप्ति उसे हो गई। यही स्वरूपोपलब्धि है। तब उसे ज्ञात होता है कि मेरा स्वभाव, ज्ञान-दर्शन चैतन्य है, परके प्रति रागादिभाव मेरे स्वभाव नही हैं, वे परभाव हैं। मुझे परभावोमें स्वभावका भ्रम था, अत. स्वरूपसे अस्तित्व और परसे नास्तित्व रूप, ऐसे अनेकान्त रूप स्वतत्वके बोधके अभावमें अज्ञानी था। वह अज्ञानदशा ही उसका विनाश था स्वभावसे यही आत्माका अस्तित्व है ॥२५८॥

अब पर भावकी अपेक्षा वस्तुका नास्तित्व स्वीकार न करने वाला एकान्तवादी, स्वच्छन्दाचारी बनकर अपना अहित करता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावाच्च्युतः[1]।
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ॥
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभाव भाव विरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥२५९॥

अन्वयार्थ—(**आत्मनि**) निजात्मामें (**सर्वभावभवनं अध्यास्य**) सम्पूर्ण विश्वके समस्त पदार्थोंको आरोपित कर, (**शुद्धस्वभावात्च्युत**) अपने शुद्ध स्वभावसे भ्रष्ट हुआ, (**पशु**) अज्ञानी (**गतभयः**) निर्भय होकर (**सर्वत्रापि अनिवारित**) सभी इन्द्रिय विषयभूत भोगोपभोगके पदार्थोंमें बेरोक टोक (**स्वैरं क्रीडति**) स्वच्छन्द क्रीडा करता है। (**स्याद्वादी तु**) जो अनेकान्तवादी है वह (**परभावभाव-विरहव्यालोकनिष्कंपित**) परभावसे रहित अकप रूपसे अपनेको अवलोकन करता हुआ, (**भरात् स्वस्यस्वभावमारूढ**) पूर्ण बलसे अपने स्वरूपका आरोहण करता हुआ अपनेको (**विशुद्ध एव लसति**) निर्मल ज्ञान स्वभावी ही अवलोकन करता है ॥२५९॥

भावार्थ—कुछ मतानुयायी सारे विश्वको ब्रह्ममय मानते हैं। प्रकारान्तरसे—अपने आत्माको अपने स्वरूपमे अवलोकन न करके, जगत्के रूपमे अपनेको देखते है। इसका फल यह होता है कि ऐसे एकान्तवादी, स्वच्छन्द होकर, निर्भय होकर, पापादिके फलोसे भय न करके, पचेन्द्रियोके विषयोमे लिप्त हो जाते हैं। वे न्याय अन्यायका, पुण्य पापका भी, विचार नही रखते। सब ससार ब्रह्मरूप ही है, अतः उन सबका भोगोपभोग ब्रह्मका ही भोग है। ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ ही नही है। न पुण्य है, न पाप है, न स्वर्ग है, न नरक है, ऐसे मिथ्या विचारोसे अनिवारित रूपसे पाप पकमे लिप्त हो जाते हैं। स्वचतुष्टय स्वरूप आत्माका पता उनको नहीं है। परको ही आत्म रूप मानकर, उनमे मगन हो जाते हैं, अतः अपनेको पापमय बनाते हैं।

स्याद्वादी स्वपरका विवेकी होता है। कृत्य-अकृत्य का विवेकी होता है। अतः वह परसे भिन्न, स्वचतुष्टय स्वरूप अपने आत्माका बोधकर, स्वद्रव्यमे स्वप्रदेशोमे, स्वपर्यायोमे, तथा स्वभावमे ही अपना रूप देखता है। अपने विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमे ही आरूढ होकर, अकृत्योसे दूर होकर, स्वोपलब्धिको प्राप्त होकर, ससार परिभ्रमणसे बचता है, तथा स्वात्मानन्दको प्राप्त होता है।

आर्हत मतमें "छहो द्रव्य अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए हैं" यह स्पष्ट प्रतिपादित है। कोई द्रव्य किसीकी सत्तामें प्रवेश नही कर सकता। सत्ता कभी समाप्त नही होती और न असत्से पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इस पृथक् सत्ता वाले अन्य द्रव्योकी आत्मासे कभी एकता न हुई, न है, न होगी। इतना ही नही, आत्मसत्तामें जिनका पर निमित्तसे, नैमित्तिक भावके रूपमें जन्म है, ऐसे रागादि विकार भी, आत्मस्वभाव न होनेसे पर ही माने गये हैं, जैसे लोहमें जलके शैत्यसे जो जग लग जाता है, वह लोहेके नाशका कारण बनता है। इसी प्रकार कर्म-नोकर्मके निमित्तसे आत्मामें जो रागादि-क्रोधादिभाव होते हैं, वे आत्माकी स्वभाव परिणतिके घातक ही हैं।

आत्मा जैसे अन्य षड् द्रव्यान्तरोंसे पृथक् है, इसी प्रकार रागादिसे भी पृथक् है। अपने ज्ञान स्वभावकी जिनको पहिचान नही है, तथा रागादि क्रोधादि रूपतामें ही जिनने आत्म दर्शन

१. सर्वस्वभावच्युत इति पाठान्तरम्।

किया है, वे रागादिके अवलम्बनभूत पदार्थोसे अपनी एकता देखें, तो इसमे आश्चर्यकी कोई बात नही है। यह मिथ्यात्वकी ही महिमा है। ऐसे मिथ्यामति पुरुष अनात्मज्ञानी है, अतः आत्महितके मार्गसे अपरिचित हैं। ससारके नाना विषय भोगोमे आसक्त हैं, इसे ही आत्मानन्द दशा मानकर स्वय अनैतिक बनकर, अनैतिकताका ही प्रचार करते हैं। ऐसे व्यक्ति जगत्के लिए भी भयानक हैं।

अनेकान्तवादी अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्माके स्वभावसे परिचित हैं, श्रद्धावान् हैं। अतः आत्महितके विरुद्ध रागादि भावोंसे, तथा उसके आलम्बनभूत समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न, अपने स्वरूपकी मर्यादामे ही रहता है, इसलिए कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह अपनेमे परभावोकी नास्तिका वर्णन हुआ।

आत्माको क्षण-भंगुर माननेवाले अज्ञानी पुरुषोके द्वारा भी स्वात्मोपलब्धि नही की जाती, इसका विवेचनकर कथचित् नित्यताका समर्थन करते है—

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित वहज् ज्ञानांशनानात्मता-
निर्ज्ञानात् क्षणभंगसंगपतितः प्रायः प्रशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम-ज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥

अन्वयार्थ—(पशु) क्षणिकवादी अज्ञानी पुरुष (**प्रादुर्भावविरामगुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मता निर्ज्ञानात्**) प्रतिक्षण उत्पत्ति तथा विनाशको प्राप्त, अत प्रवाहशील ज्ञानपर्यायोकी विविधताके बोधसे, (**क्षणभङ्गसङ्गपतित**) पदार्थको क्षणिक स्वीकार करनेवाला है, अतः (**प्रायः नश्यति**) प्राय नष्ट होता है। (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी अनेकान्तवादी, (**चिद्वस्तु**) चैतन्यस्वरूप आत्माको (**चिदात्मना नित्योदित परिमृशन्**) 'अपने चैतन्यस्वरूपसे नित्य ही उदयको प्राप्त है', ऐसा विचार करता हुआ स्वय (**टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञान भवन्**) टाँकीसे उकेरी गई पाषाण रेखाके समान, घनस्वभावरूप नित्य प्रकाशमान है महिमा जिसकी, ऐसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ (**जीवति**) जीवित रहता है। अर्थात् सदा अविनाशी रहता है ॥२६०॥

भावार्थ—क्षणिकवादी ऐसा मानते हैं कि पदार्थ प्रतिक्षण नया-नया ही उत्पन्न होता है। उन नवीन-नवीन पर्यायोमे प्रवहणशील कोई नित्य द्रव्य नही है। अनेक पर्यायोमे पदार्थ ही विभिन्न हैं। उनके मध्य जो सामान्य द्रव्यको मान्यता है, वह काल्पनिक है, वास्तविक नही है। व्यक्तियाँ हैं, वे अनेक हैं उनमे एक-सा-पना है पर एकपना नही है। एकपना दृष्टिके भ्रमसे है। जैसे नाना बिन्दुएँ समीपताके कारण, अपना पृथक्रूप प्रदर्शित नही करती, किन्तु एक लकीरका रूप प्रदर्शित करती हैं, तथापि लकीरका ज्ञान भ्रमात्मक है, बिन्दुएँ सत्य हैं। जैसे उनमे सामान्य-नित्य एक रूप कोई द्रव्य नही है, इसी प्रकार उन ज्ञानोंके क्षण प्रवाहमे, अन्तरगमे कोई द्रव्य रूप एक आत्मा नही है।

इस प्रकारकी पदार्थ व्यवस्था माननेवाले अज्ञानी पुरुष, स्वय अपनी आत्माका अभाव मानकर, स्वय नाशको प्राप्त हैं। नाना ज्ञानाशोमे एक चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वय प्रत्यभिज्ञानसे अनुभव गोचर है। उसके अभावमे यह कौन विचार कर रहा है कि 'पदार्थ क्षणिक है—आत्मा

नहीं है ?, ऐसे व्यक्ति आत्माके अभावको स्वीकारकर अपना ही विनाश कर स्वय मुक्ति पथसे दूर, संसार परिभ्रमण करके, अपनेको दुख सागरमे डुबाते हैं।

अनेकान्तवादी कहते हैं कि इन नाना ज्ञानपर्यायोमे यह आत्मा स्वय चैतन्यरूप नित्य ही प्रकाशमान है। स्मृतिज्ञान-प्रत्यभिज्ञान-अनुमान—तथा स्वानुभवके द्वारा उसका बोध सहज ही किया जा सकता है, वह आत्मा अनाद्यनन्त है। यद्यपि सदाकाल एकरूप नही रहती तथापि नानापर्यायोके प्रवाहमे स्वय गतिशील होकर भी अपना अस्तित्व सदा रखती है।

वह आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण ठोस द्रव्य है। वह शून्य नही है। अपनी ऐसी महिमामे ज्ञानी सदाकाल अपना जीवन देखता है ॥२६०॥

आत्मा सर्वथा नित्य ही है ऐसा भी एकान्त नही है किन्तु 'कथंचित्-अनित्यस्वरूप' भी है यह प्रदर्शित करते हैं—

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥

अन्वयार्थ—(पशुः) कोई अज्ञानी पुरुष एकान्त नित्यवादी **(टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया)** टाँकीसे उत्कीर्णके समान नित्यविशुद्ध, ज्ञानसे विस्तृत, आत्मतत्त्वके अभिप्रायकी इच्छासे **(उच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्न)** उठती हुई स्वच्छ ज्ञानपर्यायोसे पृथक् **(किञ्चन)** कोई एक सर्वथा नित्यवस्तु **(वाञ्छति)** स्वीकार करता है। **(स्याद्वादी तु)** अनेकान्तवादी तो **(चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्)** चैतन्य वस्तुकी समय-समयकी जो परिणतियाँ, उनके क्रमके कारण **(तदनित्यता परिमृशन्)** उसकी अनित्यताका भी परामर्श करता हुआ, **(अनित्यतापरिगमेऽपि)** अनित्यताको स्वीकार करके भी **(नित्य उज्ज्वल)** नित्य स्वच्छ **(ज्ञानम् आसादयति)** ज्ञानको ही स्वीकार करता है ॥२६१॥

भावार्थ—एकान्त नित्यात्मवादी अनात्मज्ञ है। उसने नित्य टकोत्कीर्ण, कभी भी परिवर्तनको प्राप्त न होनेवाले ऐसे आत्माको स्वीकार किया है, जो समय-समय होनेवाली चैतन्यपरिणतियोसे सर्वथा भिन्न है। अर्थात् आत्मा अपरिणमनशील है,—नित्य है,—सदा एकस्वरूप ही रहता है। ऐसा एकान्त नित्य आत्माका स्वरूप माननेवाले एकान्तवादीसे, स्याद्वादी कहते हैं कि भाई! आत्मा इस प्रकार एकान्त नित्य नही है। उसमे जो समय-समयपर चैतन्य परिणतियाँ क्रमशः प्रकट होती हैं, वे उस आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं। वे आत्मासे भिन्न स्वतन्त्र निराधार काल्पनिक नही हैं। इन वृत्तियोसे वह आत्मा अनित्य भी है। वह कथचित् नित्यानित्यरूप ही स्पष्टरूपसे प्रतिभासित है। एकान्त नित्यरूप नही है। इस कलश द्वारा "कथचित्-अनित्य" पक्षका समर्थन किया ॥२६१॥

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी अनेकान्तात्मकता को उपसहार द्वारा संकोच करते है—

इत्यज्ञानविमूढाना ज्ञानमात्र प्रसाधयन्।
स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञान विमूढ़ानां**) अपने निजात्म तत्वके परिज्ञानमे भ्रमशील जीवोंके लिए (**आत्म तत्त्व**) आत्म तत्व (**ज्ञान मात्रं**) ज्ञान मात्र है। (**इति प्रसाधयन्**) ऐसा सिद्ध करता हुआ (**अनेकान्तः**) अनेकान्त (**स्वयमेवानुभूयते**) स्वयं अनुभव द्वारा प्रकाशित होता है ॥२६२॥

भावार्थ—एकान्तवादी जन आत्मतत्वको यथार्थ नही जानते, चाहे वे नित्यैकान्तवादी हो, या अनित्यैकान्तवादी हो। जिन्हे आत्मतत्त्वकी यथार्थताका बोध नहीं है उन्हे स्वय अपना बोध नहीं है। वे स्वय आत्मा होकर भी अपने ही स्वरूपके ज्ञानमें भ्रमशील हैं।

स्याद्वादी आचार्य ऊपरके कलशोमे आत्माकी सभी प्रकारकी एकान्त मान्यताओका खण्डन-कर चुके हैं, अत उपसंहार स्वरूप इस कलशमे कहते हैं कि "आत्मा ज्ञानमात्र" है। ज्ञानसे भिन्न आत्मा नही है। ज्ञान ही उसका स्वरूप है। चैतन्य वृत्तियाँ जो परिवर्तित दीखती है वे सब आत्मा की हैं। आत्मासे उन वृत्तियोको भिन्न माननेपर वे वृत्तियाँ निराधार किसमे रहेगी ? इस तरह दोनोका अभाव होगा। फलत वृत्तियाँ और वृत्तिमान् दोनोका साम ञ्जस्य है, ऐसा स्वीकार करना ही आत्मतत्त्वका सम्यक्बोध है, ऐसा जानना चाहिए ॥२६२॥

अनेकान्त शासन अनुल्लंघ्य है—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥२६३॥

अन्वयार्थ—(**एव**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**तत्त्वव्यवस्थित्या**) तत्वकी व्यवस्थासे (**स्वंस्वयव्यवस्था-पयन्**) स्वय-आत्मतत्वको व्यवस्था करता हुआ, (**अलघ्यशासनम्**) जिस उपदेशका उल्लघन युक्ति-तर्क-आगमके द्वारा नही हो सकता, ऐसा (**जैनं शासनं**) यह जैन शासन (**अनेकान्त**) स्वय अनेकान्त स्वरूप हे यह (**व्यवस्थित**) सिद्ध हुआ ॥२६३॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माका ज्ञानमात्र स्वरूप प्रसिद्ध किया है, इससे आत्माको कथचित् नित्यता भी प्रसिद्ध है, और उसे कथचित् अनित्यता भी प्राप्त है। यह प्रसिद्ध हुआ। ससारमे सभी तत्त्व नित्यानित्य हैं। उनमे आत्मा भी एक तत्त्व है, वह भी नित्यानित्य स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश है। यह अनेकान्त स्वरूप उपदेश, वस्तु स्वभावके अनुरूप होनेसे अलघ्य है, जैसा वस्तुका स्वरूप हो, उसको उसी प्रकार प्रतिपादन करना ही सत्य है। जो सत्य है वह अलघ्य है। उसका खण्डन नही किया जा सकता। यही कारण है कि अनेकान्तात्मक जैन शासन अलंघ्य है।

जो वस्तु-स्वरूपका सही प्रतिपादन नही करते, अनेकान्त स्वरूप वस्तु होने पर भी उसका एकान्तरूपमे प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रतिपादन वस्तु मर्यादाके विपरीत होनेसे अवास्तविक है, अतः उल्लघ्य है, खण्डनीय है। इस प्रकार तत्-अतत्, नित्यानित्य, भावाभाव आदि चौदह भगो द्वारा वस्तु स्वरूप प्रतिपादक जैन शासन, अनेकान्त स्वरूप, स्वय सुप्रतिष्ठित है ॥२६३॥

(४१३) **प्रश्न**—प्रत्येक द्रव्यमे अनन्तगुण और उनकी अनन्त पर्यायें है। आत्मद्रव्यमे भी अनन्तगुण हैं, तब आत्माको केवल ज्ञानमात्र या ज्ञानस्वरूप ही क्यो कहा जाता है ?

समाधान—ज्ञान असाधारण गुण है जो आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योमे नही पाया जाता, अतः आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। आत्माकी पहिचानके लिए ही इस असाधारण धर्मके द्वारा

उसका विवेचन किया है। ज्ञानमात्र शब्दका अर्थ, ज्ञानके सिवाय अन्य धर्मों या गुणोका निषेध नही समझना चाहिए। वस्तुकी पहिचान उसके असाधारण गुण द्वारा ही होती है। अमूर्तत्व, सप्रदेशत्व अस्तित्व-वस्तुत्व, आदि सामान्य धर्म भी आत्मामे हैं, पर ये अन्य द्रव्योमे भी पाये जाते हैं, अतः इनसे आत्म-द्रव्य, अन्य पाँच द्रव्योसे भिन्न पहिचाननेमे नही आता। उसे उसके विशेष गुण द्वारा पहिचाननेके लिए ज्ञान स्वरूप कहा गया है।

(४५४) **प्रश्न**—लक्षणका ज्ञान कर लक्ष्यको जाननेका व्यायाम क्यो करना चाहिए ? मुख्य वस्तु तो लक्ष्य है उसीका बोध करना उचित है ?

समाधान—बात तो ऐसी ही है। साध्य आत्मा ही है, तथापि उसे अन्य पाँच द्रव्योके मध्यमे पहिचाननेका क्या उपाय है ? लक्षणके बिना अनात्मज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकेंगे। जैसे कोई हीरा व काचखण्डका भेद ज्ञान करना चाहे तो दोनोका भेद उसे उनके लक्षणोसे ही पहिचानना होगा। इसी प्रकार जीव तथा अजीव दोनोके विशेष लक्षण जाने बिना अजीवका त्याग—जीवकी उपादेयता कैसे जानी जा सकेगी ? इसलिए जीवका विशेष लक्षण 'ज्ञान' है ऐसा निरूपण किया।

(४५५) **प्रश्न**—आत्माको लक्ष्य और ज्ञानको लक्षण बताया, परन्तु ये दोनो तो पृथक्-पृथक् हैं नही। ऐसी स्थितिमें दोनो या तो अनजाने रहेगे, या दोनो जाने हुए होगे। जो आत्माको जानेगा वह ज्ञानको जानेगा, इसी प्रकार जो ज्ञानको जानेगा वह आत्माको जानेगा। इन दोनोमे अभेद एक सत्तात्मकता होनेके कारण, लक्ष्य-लक्षण भाव नही बन सकता ?

समाधान—लक्षण दो प्रकारके होते हैं, आत्मभूत और अनात्मभूत। इनमे आत्मा और ज्ञानमे आत्मभूत लक्षणपना है। ज्ञानरूप लक्षण प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्ध लक्षणसे अप्रसिद्ध लक्ष्य आत्माकी सिद्धि की जा सकती है। दोनो एक सत्ताक होने पर भी, गुण गुणीकी अपेक्षा उनमे भेद है। अतः ज्ञान गुणके द्वारा उससे अभिन्न अप्रसिद्ध आत्माकी पहचान हो जाती है। जितनी भी अन्य शक्तियाँ हैं वे भी यद्यपि ज्ञानसे अभिन्न सत्ताक हैं, तथापि स्वरूपभेद उनमे भी पाया जाता है, अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वय स्वसवेदन ज्ञानका गोचर होता है ॥२६३॥

आत्मामे अनेक शक्तियाँ पाई जाती हैं, तथापि आत्मा ज्ञानमात्रताका त्याग नही करता—

इत्याद्यनेक-निजशक्ति सुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्तचित्रं
तद् द्रव्यपर्ययमय चिदिहास्तु वस्तु ॥२६४॥

अन्वयार्थ—(**इत्याद्यनेकनिजशक्तिसु निर्भर अपि**) इसी प्रकार अपने गुणपर्यायोसे कथचित् भिन्न व अभिन्न रूप, नाना शक्तियोका केन्द्र होने पर भी, (**यो भावः**) जो आत्मा (**ज्ञानमात्र-मयतां**) अपने ज्ञानमात्र स्वरूपसे तादात्म्यपनेको (**न जहाति**) छोडता नही है। (**एवं क्रमाक्रमवि-वर्त्ति विवर्तचित्र**) इस प्रकार क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती जो पर्याय, गुण, धर्म, उनके द्वारा वर्तनशील, नानाप्रकारकी विचित्रताको लिए हुए, (**द्रव्यपर्ययमय**) द्रव्य-पर्यायरूप (**तद् चिद् वस्तु इह अस्ति**) वह चैतन्यवस्तु यहाँ प्ररूपित की गई है ॥२६४॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण, पर्याय समुदाय रूप है। गुण सहभावी है, अत वे एक साथ, अनन्त संख्यामे, उसमे अक्रमसे पाये जाते हैं। पर्यायें क्रमवर्ती हैं, अर्थात् एक गुणकी एक पर्याय एक बारमे होगी, दूसरी पर्याय दूसरे समयमे होगी, तथापि अनन्त गुणोकी अनन्त पर्यायें एक साथ ही होती हैं।

इस प्रकार क्रमवर्तित्व-अक्रमवर्तित्व रूपसे नानाप्रकारके रूपोको धारण करनेवाला, यह चेतन्य स्वरूपवाला आत्मा है। वह ज्ञानरूपताका त्याग नही करता, अतः आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहना सुसंगत है ॥२६४॥

जैनी नीतिके स्वीकार करने वाले ही ज्ञानी बनते हैं—

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयन्तः ॥२६५॥

अन्वयार्थ—(सन्त.) सज्जन पुरुष (**नैकान्तसगतदृशा**) अनेकान्त युक्त अपनी दृष्टिसे (**वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिम् स्वयमेव**) वस्तुकी यथाथ व्यवस्थाको स्वय ही (**प्रविलोकयन्तः**) देखते हुए तथा (**स्यावादशुद्धिम् अधिकांमधिगम्य**) स्याद्वाद रूप अनेकान्तकी विशुद्धिको अधिकाधिक प्राप्त करके (जिननीतिम् अलघयन्त·) जैनमार्गको स्वीकार कर (**ज्ञानीभवन्ति**) ज्ञानी बनते है ॥२६५॥

भावार्थ—अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थ व्यवस्थाको देखना जैनी नीति है। अत. जो व्यक्ति अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थको देखते हैं वे जिननीतिमे निपुण बनते हैं, उनका ज्ञान परिशुद्ध बनता है। अतः वे वास्तविक ज्ञानी हैं ॥२६५॥

(४५६) **प्रश्न**—अनेकान्त दृष्टि जैनी नीति हो सकती है, तथापि वही सत्य है ऐसा कैसे जाना जाय?

समाधान—जैसा वस्तुका स्वभाव है, उसे ही जैनीदृष्टि देखती है, अतः वही सत्य है। ऐसा स्वीकार करना योग्य है।

(४५७) **प्रश्न**—जैनी नीति तो अनिर्णयात्मक है। वस्तुके किसी एक निश्चित रूपका प्रदर्शन नही करती है। दोनो ओर झुकती है। अत. सशयके झूलेमे झूलता हुआ जैननीतिवेदी, कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है?

समाधान—पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। वे सभी धर्म, अपेक्षा दृष्टि से परस्पर विरोधी जैसे भी दिखाई देते हैं, तब जैन दृष्टि उनमे समन्वय करती है, अतः वह वस्तुकी नियामक है, इसलिए उसे प्रामाणिक मानना चाहिए।

(४५८) **प्रश्न**—परस्पर विरोधी एक साथ नही रह सकते, अत. वस्तु जिस धर्मवाली हो उसी रूप उसे कहना चाहिए। नित्यको नित्यरूप, अनित्यको अनित्यरूप, एकको एक रूप अनेकको अनेक रूप ही कहना चाहिए। एक ही वस्तुमे नित्यानित्य, एकानेक, ऐसे परस्पर विरोधी धर्मोका समन्वय कैसे चलेगा? यह समन्वय काल्पनिक है, असत्य है। उनकी परस्पर विरोध रूप स्थिति ही सत्य है?

समाधान—पदार्थ मे रहनेवाले अनन्त धर्म, वास्तवमे विरोधी नही हैं, उनमे शाब्दिक विरोध सा प्रतिभासित होता है। जो पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे नित्य प्रतीत है, वही समय समय पर होने-वाले अपने परिणमनोंसे अनित्य प्रतीत होता है। अपेक्षा भेदसे दोनो धर्म उसमे अविरोध रूप हैं। जो विरोधी हैं वे एक साथ नही रह सकते, पर जो एक साथ अपेक्षा भेदसे रहते हैं उन्हें विरोधी कैसे कहा जाय ? जो सामान्य से एक हैं, वही अपनी विशेषताओंके भेदमे अनेक रूप हैं। सामान्य-विशेष अपेक्षा भेदसे है, उन दोनोमे भी अविरुद्धपना है। यह समन्वयदृष्टि ही वास्त-विक सत्य है। अविरोधी रूपसे पाये जाने वालोमे विरोध मानना ही काल्पनिक है। असत्य है।

(४५९) **प्रश्न**—वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन जैनी अनेकान्त पद्धतिमे उलझ जाता है। उसकी उलझन दूर कर उसे किसी एकरूपमे हो वर्णन करना चाहिए, वही सत्य होगा ?

समाधान—ऐसा नही है। वस्तु स्वय अपने अनेक गुण पर्यायोमे है। उसे ऐसा ही बताना सत्य है। वस्तु वस्तुत. उलझी नही है, वह तो अनेक धर्मात्मक ही है। अपनेमे सुलझी है, स्पष्ट है। उसे विवक्षा भेदसे समझा जा सकता है। उसके समझनेका प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। न समझना अज्ञान भाव है। अज्ञानी ही उलझा है। जैनी नीति वस्तुके आधार पर चलती है, उसे स्वीकार करना, सुलझना है उलझना नही।

वस्तु एकान्तरूप है नही, तथापि उसे वस्तु स्वरूप मानकर अपनेको सुलझा हुआ मानना अज्ञान भाव है। अतः जैसी वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसे उसी रूपमे स्वीकार करना ही सत्य है, यही जैनी नीति है। उस पर चलने वाले सज्जन ही यथार्थ ज्ञानी है ॥२६५॥

❀ इति स्याद्वाद अधिकार. समाप्त. ❀

◻ साध्य-साधक अधिकार ◻

जो अपनी ज्ञानमात्र भूमिकाको आश्रय करते हैं वे ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां-
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो मुनिजन (**कथमपि अपनीतमोहाः**) किसी भी उपायसे अपने मोहभाव को दूर करके (**ज्ञानमात्र-निज-भावमयीं**) ज्ञानमात्र अपने आत्मभाव स्वरूप (**भूमिम्**) शुद्धोपयोगरूप भूमिकाको (**अकपां आश्रयन्ति**) निश्चल रूपमे आश्रय कर लेते हैं स्वीकार कर लेते है, अर्थात् उसमे एकाकार हो जाते हैं, (ते) वे ही (**साधकत्वम् अधिगम्य**) यथार्थ रत्नत्रय स्वरूप साधकपनेको प्राप्त करके, (**सिद्धाः भवन्ति**) सिद्धपद प्राप्त करते हैं। (**मूढास्तु**) जो मोही जीव हैं वे (**अमूमनुपलभ्य**) इस भूमिकाको प्राप्त न करके (**परिभ्रमन्ति**) ससारमे परिभ्रमण ही करते हैं। सिद्धिको प्राप्त नही होते ॥२६६॥

भावार्थ—जिन जीवोके मिथ्यात्व है, ये विपरीत दृष्टि हैं, अनात्मज्ञ हैं। आत्माके दर्शन-ज्ञान स्वभावको वे नही जानते। वे चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके ज्ञानके बिना अपने उपयोगकी अशुद्ध-भूमिकामे विचरण करते हैं, अतः अशुद्धात्माको प्राप्त कर ससारमे दीर्घकाल तक परिभ्रमण ही करते हैं।

किन्तु जो ज्ञानी जीव मोहभावका त्याग कर, पराश्रयके निमित्तसे उत्पन्न रागादि, क्रोधादि, विकार भावोसे अपनेको भिन्न करते हैं, तथा उन समस्त परावलम्बनोको छोड़कर अपनी शुद्ध ज्ञानमय आत्म भूमिकाका आश्रय करते हैं, उसमे अपनी अविचलित स्थिति बनाते हैं, अर्थात् उस शुद्धोपयोगकी भूमिकासे चलायमान नही होते, वे ही महापुरुष मुक्त होते हैं, सिद्धिपनेको प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। शुद्धोपयोग दशा ही वह साधक दशा है, जो आत्माको पवित्र बनाती तथा पूर्ण सिद्धिको प्रदान करती है।

(४६०) **प्रश्न**—ज्ञान आत्माका स्वभाव है—लक्षण है, गुण है। आत्मा त्रिकालमे भी ज्ञान-रहित होती नही है। यदि हो जाय तो लक्षणके अभावसे, लक्ष्यभूत आत्माका भी अभाव हो जायगा। आपने उन्हे एकसत्तात्मक बताया है, अतः सदा ज्ञानमय अवस्था उसकी निश्चय रूपमें ही है। तब उसके मुक्त होनेमे क्या बाधा है? उसे ज्ञानरूप भूमिकाका आश्रय करनेका उपदेश देनेका फिर क्या प्रयोजन है?

समाधान—यह सत्य है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है, तथापि वह अपने स्वभावकी अजान-कारीसे अज्ञानी है, ज्ञानाभावसे अज्ञानी नही है। वह अपनी निजनिधिको भूला है, उसकी अजान-

कारी है, इससे वह अज्ञानी है। उसे उपदेश देकर उसके ज्ञानस्वभावकी खबर कराते हैं, अतः उपदेश सार्थक है, व्यर्थ नहीं है।

(४६१) **प्रश्न**—जब उसकी निज ज्ञाननिधि उसके पास सदा है, तब वह भूल कैसे सकता है?

समाधान—जैसे कोई अपने घर मे रखी हुई, गडी हुई, सम्पत्तिको भूल जाय, तब तक वह अज्ञानी ही है। दरिद्रताका दुःख भोगता है। निधिका पता लग जाने पर उसे प्राप्त कर दरिद्रता का नाश करता है। इसी प्रकार ज्ञानी अपनी निधिको मोहके नशेमे भूला है। मोहका नशा उतरने पर उसे निज निधिका पता लगता है, तब वह उसका आश्रय कर, सम्यग्ज्ञानी बनकर, ससारके कष्टसे पार हो, मोक्ष जाता है। इसीसे उसे अपने स्वरूपमे स्थिर होनेका उपदेश दिया गया है ॥२६६॥

शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त करनेका उपाय बताते हैं—

स्याद्वादकौशल-सुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्र-मैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो भव्यप्राणी (**स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्याम्**) अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके अभ्याससे उत्पन्न सम्यग्ज्ञान द्वारा तथा निश्चल आत्मसयमके द्वारा (**इह उपयुक्तः**) इस स्वात्मामे उपयोग स्थिर करके (**अहः अह स्वम् भावयति**) बार-बार उस स्वात्माकी भावना करता है। (**ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृत.**) ज्ञाननय तथा क्रियानय दोनोकी परस्पर तीव्र मित्रताका पात्र बना हुआ (**स एक**) वही एक भव्य (**इमां भूमिम्**) इस शुद्धोपयोगकी भूमिकाको (**श्रयति**) प्राप्त करता है।

भावार्थ—पूर्वमें यह प्रतिपादित कर आए हैं कि उपयोग तीन प्रकारका होता है— १ **अशुभोपयोग**—जो विषय कषायोमे जानेवाला ज्ञानका उपयोग है वह अशुभोपयोग है, जो कि पाप-प्रकृतियोके बन्धका कारण बनता है। २ **शुभोपयोग**—विषय कषायसे रहित वीतरागी देवगुरु व तत्प्ररूपित वाणीके प्रति अनुराग, पुण्यबन्धका कारण, शुभोपयोग है। तथा ३ **शुद्धोपयोग**—इन दोनो प्रकारके उपयोगोसे रहित वीतरागी जो उपयोगकी प्रवृत्ति वह शुद्धोपयोग है। यह उपयोग ही संसारके समस्त बन्धनोको काटकर सिद्धि पदका प्रदाता है। यह भूमिका कैसे प्राप्त होती है उसका यहाँ वर्णन किया गया है।

जो भव्यवाणी स्याद्वाद विद्याके अभ्याससे, तत्त्वका यथार्थ निर्णय कर चुका है, तथा तदनुरूप सयमका अभ्यासी है। ज्ञाननय और क्रियानय, दोनो नयोके विषयभूत ज्ञान-चारित्रका जिसने स्वयको पात्र बना लिया है, वही भव्य, क्रमश शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरूढ़ होता है। वह अपने स्वरूपकी उपलब्धिको प्राप्त हुआ है। उसके कर्मबन्धन स्वय ही कट जाते हैं ॥२६७॥

(४६२) **प्रश्न**—यह जाना कि अनेकान्तवाणीका अभ्यासी विद्वान् ही आत्मस्वरूपका दर्शन करता है। अत स्याद्वादकी कुशलतासे आत्मोपलब्धि हो जाती है, वही शुद्धोपयोगी है। उपयोगकी शुद्धता उपयोगके शुद्ध लक्ष्यसे है, पर इसके साथ चारित्रकी बात जोड़ी गई है, उसकी क्या उपयोगिता है? उस संयमसे तो केवल देहदाह ही होता है!

समाधान—ज्ञानी वस्तुस्वरूपका वेत्ता है, तथापि उस लक्ष्य पर उपयोगकी स्थिरताके लिए चारित्र अवश्य चाहिए। असंयमीका उपयोग, शुभाशुभ रूप ही प्रवर्तित होता है, शुद्धरूप नही। अत इसके लिए चारित्र धारण करना अनिवार्य है।

(४६३) **प्रश्न**—चारित्र-पञ्च महाव्रतादिरूप है। इसकी गणना स्वय पुण्यबंधके कारणोंमें भगवान् उमास्वामीने, मोक्षशास्त्रके सप्तम अध्यायमे की है। तब इस पुण्यबन्धके कारणभूत शुभोपयोगकी सगतिसे अनेकान्त विद्याके अभ्यासीको शुद्धोपयोग की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—चारित्र दो प्रकारका है। व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। व्यवहार चारित्र तो पचमहाव्रतादि तेरह प्रकारका है, तथा निश्चय चारित्र आत्मस्वरूपमे तल्लीनताको कहते हैं। यहाँ ज्ञानीके निश्चय चारित्रको दशामे ही शुद्धोपयोगकी प्राप्ति है, ऐसा तात्पर्य है। अत· दोनो, अर्थात् सयमी ज्ञान और चारित्रकी मैत्रीके पात्र व्यक्तिको, शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त करनेवाला कहा गया है।

(४६४) **प्रश्न**—यदि सयमसे तात्पर्य स्वात्मरमण रूप निश्चय चारित्रका है, तब हम इसे स्वीकार करेंगे। व्यवहार चारित्रका धारण करना उसका साधनभूत नही ठहरा। अनेकान्त वाणीका उपासक व्यक्ति उसमे वर्णित आत्मस्वरूपका ज्ञाता है, तथा वही उस आत्मामे उपयोग लगाकर निश्चय चारित्रको प्राप्त होकर शुद्धोपयोगी बन सकता है ?

समाधान--ऐसा नही है। जिसने पञ्चमहाव्रतादिरूप चारित्रको अंगीकार नही किया, उसने अपनी प्रवृत्तिमे पाँच पापोका त्याग नही किया। जिसकी प्रवृत्ति पाप रूप है, पंचेन्द्रियके विषयोमे तथा कषायोमे है, उसकी वह प्रवृत्ति उपयोगके बिना नही हुई। बुद्धिपूर्वक ही उसकी उनमे प्रवृत्ति है,। वह दोनो भूमिकाओका अतिक्रमण कर तीसरी शुद्धोपयोग की भूमिकाको प्राप्त नही कर सकता।

(४६५) **प्रश्न**—सो तो बाह्यचारित्र-महाव्रतादि पालन करनेवाला भी शुभोपयोगकी भूमिकाका अतिक्रमण नही करता ?

समाधान—यह भी सही है। पर जब तक नही करता, तब तक शुभोपयोगी है, इसके बाद वही शुद्धोपयोगी बनता है।

(४६६) **प्रश्न**—इसी प्रकार बाह्य चारित्रकी भूमिकाका आश्रय न करनेवाला ज्ञानी गृहस्थ भी, विषय कषायसे उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगी क्यो नही बन सकता ?

समाधान—सर्वप्रथम जब अशुभोपयोग हटता है, तब प्रवृत्ति शुभोपयोगमे होती है। तत्पश्चात् शुद्धोपयोगकी योग्यता आती है। गृहस्थ-पचेन्द्रियोके विषय-कषायोसे अपनेको ऊपर नही उठा पाता तब शुद्धोपयोगी कैसे बनेगा ?

(४६७) **प्रश्न**—यदि कोई गृहस्थ ऐसा करे तो उसमे क्या बाधा है ? क्या बाह्य वेष कोई रुकावट पैदा करेगा ? या बाह्यनग्न दिगम्बर वेष उसमे साधक बनता है ? यदि बनता है तो कैसे ?

समाधान—यदि कोई गृहस्थ पचेन्द्रियके विषयोंसे, कषायोसे, पंचपापोसे अपनेको ऊपर उठाता है, तो वह नियमसे उन पापोका परित्यागी हो जायगा। ऐसी स्थितिमे वह स्वय गृहस्थ न होकर, महाव्रती साधु ही होगा। साधु स्वय परिग्रहका त्यागी होनेसे नग्न होता है।

(४६८) **प्रश्न**—क्या साधुको नग्न होना आवश्यक है ? गृहस्थ भी सर्वपरिग्रहका त्यागी क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—सर्व परिग्रहका त्यागी, स्त्री-पुत्र कुटुम्बादिसे भी रागद्वेष न रखेगा। धन-गृह-खेत आदि परिग्रहसे भी सम्बन्ध त्याग देगा। रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, बर्तन, वस्त्र आदिका भी त्याग करेगा। इस अवस्थामे वह स्वय दिगम्बर होगा, गृहस्थ दशा उसकी स्वयं समाप्त हो जायगी। गृहत्यागी ही अपरिग्रही है। गृहस्थ हो और अपरिग्रही हो ऐसा नही हो सकता।

(४६९) **प्रश्न**—गृहरहित ही साधु है, ऐसा मान लिया जाय तो जिनके गृह ही नही है, ऐसे पशुपक्षी तथा वनवासी सभी व्यक्ति साधु सज्ञाको प्राप्त हो जायेंगे। तब क्या उनको भी शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होगी ? यह तो असम्भव लगता है ?

समाधान—जरूर असम्भव है। उसका कारण यह है कि परिग्रहकी अप्राप्ति एक बात है और परिग्रहका त्याग दूसरी बात है। दोनोमे महान अन्तर है। उसे इस प्रकारसे समझना चाहिए—एक भिक्षुक है, जिसके पास एक कानी कौडी भी नही है। रहनेको भवन नही है। खानेको अन्न नहीं है। भिक्षा वृत्तिसे घर-घर माँगकर पेट भरता है। दिनभर याचना करता रहता है। एक दूसरा व्यक्ति धनवान् है, सभी प्रकारके सुखभोगकी सामग्री है, पर उसने संसारके तत्त्वका बोध कर, उस सबका त्याग कर दिया है और साधुता स्वीकार कर ली है। न उसे घरकी चाह है, न भोजनके लिए है, न धनकी इच्छा है। गृहस्थ द्वारा अत्यन्त आदरसे जो प्रासुक शुद्ध आहार, उसे बुलाकर दिया जाता है, उसे ग्रहण कर, सम्पूर्ण समय ज्ञान-ध्यानमे व्यतीत करता है। अप्राप्तिके तथा प्राप्त त्यागके उदाहरण स्वरूप ये दो व्यक्ति हैं। इनका महान् अन्तर स्वय स्पष्ट है।

(४७०) **प्रश्न**—क्या दिगम्बरताके साथ साधुताकी व्याप्ति नही है ?

समाधान—है, पर उभय व्याप्ति नही है। इसका स्पष्टीकरण भी इस प्रकारसे जानना चाहिए—जो-जो साधु हैं वे नियमसे सर्व परिग्रहके त्यागी होनेसे दिगम्बर ही होंगे, ऐसी व्याप्ति है। तथापि जो नग्न होंगे वे सब साधु ही होंगे ऐसी व्याप्ति नही है। व्याप्ति समव्याप्ति भी होती है और विषमव्याप्ति भी होती है। जैसे अग्निका गुण उष्णता है उसमे गुण-गुणीका सम्बन्ध है अतः इन दोनोमे समव्याप्ति है। आत्माका गुण ज्ञान है, अतः दोनोमें गुण-गुणी होनेसे समव्याप्ति है अर्थात् दोनो ओरसे व्याप्ति है जो इस प्रकार है—

१. जहाँ जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ उष्णता है। जहाँ-जहाँ उष्णता है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।
२. जहाँ-जहाँ जीव है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ जीव है।

जो गुण-गुणीरूप नही हैं, उन दो वस्तुओमे, या भिन्न कार्य-कारणोमे, विषम व्याप्ति पाई जाती है। जैसे—अग्निसे धूम्र उत्पन्न होता है, इन दोनोमे कार्य-कारणभाव है। जहाँ आग होगी वहाँ धूम्र भी होगा, ऐसी व्याप्ति नही है। पर जहाँ धूम्र होगा, वह अग्निसे ही उत्पन्न होगा, ऐसी व्याप्ति पाई जाती है। दिगम्बरता और साधुतामे इसी प्रकारकी विषम व्याप्ति है। साधुताके साथ दिगम्बरता अनिवार्य होती है, पर दिगम्बरताके साथ साधुता हो भी—और न भी हो, यह

सम्भव है। साधुता हृदयकी वस्तु है, और दिगम्बरता शारीरिक है। साधुता आत्माके भावको कहते हैं, जब कि नग्नताका सम्बन्ध देहसे है। इस प्रकार दोनोमे स्पष्ट अन्तर है।

जो अन्तरंगमे साधुताको अर्थात् वीतरागताको स्वीकार करता है, वह बाह्य परिग्रहको ग्रहण ही नही करता। यदि पूर्व गृहीत हो तो उन्हे त्याग कर देता है। फलत. वह स्वय दिगम्बरता को प्राप्त हो जाता है।

यह निश्चित हुआ कि स्याद्वाद वाणीके प्रभावसे जिसने आत्मतत्त्वको जाना है, तथा आत्म-संयमन करके परके प्रति रागादिभावोका त्याग किया है, ऐसा भाव सयम, जिस साधुको प्राप्त हुआ है, वही शुद्धोपयोगी बनता है। ऐसे भावसयमीमे बाह्यसयम स्वय पाया जाता है। बिना द्रव्य-सयमके भावसयमकी प्राप्ति असम्भव है। द्रव्य असयम हो, और भाव सयम प्राप्त हो जाय, ऐसा त्रिकालमे नही होता। इसीसे आचार्यने ज्ञान-नय और क्रिया नयकी तीव्र मैत्री होनेपर ही, शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त होनेकी स्थितिका प्रतिपादन किया है ॥२६७॥

शुद्धोपयोगी ही आत्मस्वरूपमे स्थित होता है इसे स्पष्ट करते हैं—

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

अन्वयार्थ—(**चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास**) चैतन्यके समूहकी प्रौढ़ता विशालताके विलाससे विकसित है प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता जिसकी, तथा (**शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात:**) शुद्ध जो प्रकाश अर्थात् विशुद्ध ज्ञान, उसके समूहसे भरा हुआ है उदय जिसका तथा (**आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप**) स्वात्मानन्दमे भले प्रकार स्थित और स्थिर, जो कभी चलायमान न हो, ऐसा ही है एक रूप जिसका, तथा (**अचलार्चि:**) निष्कप है दीप्ति जिसकी, ऐसा (**आत्मा**) आत्मा (**तस्यैव चायमुदयति**) उसी शुद्धोपयोगी मुनिको प्रकट होता है ॥२६८॥

भावार्थ—शुद्धोपयोगी पुरुष ही चैतन्यकी स्वच्छताका दर्शन करते हैं। उनको शुद्ध केवलज्ञानका उदय होता है, जो उनके जीवनका नया प्रभात है। वे ही आनन्दामृतका सदा रसपान करते हुये अनन्तकाल व्यतीत करते हैं। उनकी आत्मा निष्कपरूपसे अपनी अनन्त शक्तिरूप प्रकट होती है। जो जीव शुभाशुभोपयोगकी भूमिकासे ऊपर उठकर, अपने उपयोगको रागादि क्रोधादि विकारीभावोसे भिन्न, अपने चैतन्य स्वरूपमे स्थिर करनेके सत्पुरुषार्थमे सफल होता है, उस शुद्धोपयोगीको, अनन्त चैतन्यका दर्शन, केवल ज्ञानकी प्राप्ति, वीतरागताका अनन्तसुख तथा ऐसी अवस्थामे सदा स्थितिरूप अनन्त शक्ति, ऐसे अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति होती है। अर्थात् इन चारों गुणोका विकास शुद्धोपयोगका फल है।

(४७१) **प्रश्न**—उपयोगकी शुद्धता तो अविरत सम्यग्दृष्टिको भी हो जाती है। उसे भी 'शुद्धोपयोगी' कहा जाता है। जब शुद्धोपयोग चतुर्थ गुणस्थानमे भी प्रकट है तब क्या वहाँ भी अनन्त चतुष्टयकी प्राप्तिकी सम्भावना है ?

समाधान—नही, वहाँ वस्तुत. शुद्धोपयोग नही है।

(४७२) **प्रश्न**—वस्तुत शुद्धोपयोग नहीं है तो क्या शुद्धोपयोगका उपचारमात्र है? यदि उपचार है तो उसका क्या हेतु है?

समाधान—'शुद्धोपयोग' शब्दमे शुद्ध और उपयोग दो शब्दोका मेल है। इनकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे होती है—

'साध्यभूते शुद्धे आत्मनि य. उपयोग स शुद्धोपयोग.'

१ शुद्ध जो आत्मा, उसके ऊपर विचार करने वाला जो उपयोग, उसे भी शुद्धोपयोग कह सकते हैं। ऐसा शुद्धोपयोग अव्रत सम्यक्त्वीको भी हो सकता है। इसके उपयोगका विषय (लक्ष्य शुद्धात्मा है।

'शुद्धश्चासौ उपयोग. रागादि विरहित सः शुद्धोपयोग.'

२. शुद्ध अर्थात् रागादि विकार रहित उपयोगकी जो प्रवृत्ति उसे भी शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग पूर्ण रागादि रहित ग्यारहवें-बारहवे गुणस्थानोमे होना है। तथापि सप्तमादि गुण स्थानोंमे ध्यान अवस्था है अतः वहाँ साधुके स्वात्मनिष्ठ होने, एव बुद्धि पूर्वक रागादि न होनेसे वहाँ भी शुद्धोपयोग इस अर्थमे कहा गया है। वह वस्तुत. सयमीके ही होता है ऐसा प्रवचनसारमे कहा गया है।

'शुद्ध पूर्णज्ञानरूप उपयोग स शुद्धोपयोग'

३. शुद्धात्म भगवान् केवली, उनका जो विशुद्ध केवल ज्ञान रूप उपयोग, वह शुद्धोपयोग ऐसा शुद्धोपयोग केवलीके प्रकट हुआ, जो पूर्ण शुद्धोपयोगका फल कहा गया है।

शब्द शुद्धोपयोग है, पर उसके तीन भिन्न-भिन्न अर्थ, भिन्न-भिन्न गुणस्थानोंकी अपेक्षासे किये जाने चाहिए।

(४७३) **प्रश्न**—आपने चतुर्थ गुणस्थानमे प्रथम अर्थवाला शुद्धोपयोग बताया तथा दूसरे अर्थवाला ग्यारहवें-बारहवेंमे बताया तब पचम गुणस्थानसे दशम गुणस्थान तक क्या शुद्धोपयोग किसी अर्थमे भी नही है? तब वहाँ क्या शुभोपयोग ही सम्भाव्य है?

समाधान—ऐसा नही है। पचमादि दशमपर्यन्त सभी गुणस्थान, सम्यग्दृष्टिके ही गुणस्थान हैं, अतः चतुर्थगुणस्थानमे पाया जानेवाला शुद्धोपयोगका अर्थ इन गुणस्थानोमे भी सुघटित है।

(४७४) **प्रश्न**—क्या चतुर्थ आदि गुणस्थानोमे केवल शुद्धात्माका विचार है, इसलिये शुद्धोपयोग है? या उनके उपयोगमे स्वय भी शुद्धता है?

समाधान—अव्रती सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी राग कम हुआ है। पचमादि गुणस्थानवर्ती जीवोको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान सम्बन्धीरागका यथायोग्य रीतिसे अभाव हुआ है, अतएव उनके उपयोगमें उतनी-उतनी विशुद्धता आशिकरूपमे प्रकट हुई है—अतः अंशांशाभावमें उनका उपयोग भी कथंचित् वीतरागी है। वहाँ शुद्धोपयोग प्रारम्भ होकर बढ़ता जा रहा है, तथापि दूसरी दृष्टिसे विचार करें तो आशिक अशुद्धता भी वहाँतक पाई जाती है।

(४७५) **प्रश्न**—शास्त्रकारोने शुद्धोपयोग शब्दका व्यवहार उपशमक-क्षपक श्रेणीमे स्थित जीवोमे ही किया है। तब आपकी ऊपरकी व्याख्या कैसे सुसंगत है?

समाधान—शास्त्रकारोंने जो शुद्धोपयोग शब्दका व्यवहार किया है, वह उन श्रेणिगत गुणस्थानोमे ध्यानावस्था होनेसे, बुद्धिपूर्वक रागादिके अभावसे, उन्हें शुद्धोपयोगी भी कहा है और उन्हें वीतरागी भी कहा है। तथापि जैसे वीतराग शब्दका उपयोग, पूर्णवीतरागी ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानमे ही "छद्मस्थवीतराग" के नामसे किया है, उसी प्रकार "शुद्धोपयोगी" शब्दका उपयोग भी, पूर्णताके अर्थमे, इन ही दोनो गुणस्थानोंमे सम्भाव्य है।

(४७६) **प्रश्न**—जिनके बुद्धिपूर्वक राग नही है उन्हें शुद्धोपयोगी कहते हैं। इस व्याख्यासे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कुछ अबुद्धिपूर्वक, अज्ञानपूर्वक भी रागादि क्रियाएँ करते हैं। क्या श्रेणीमे अज्ञान जनित क्रियाएँ भी होती हैं ? यदि नही, तो बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक शब्दोका क्या अर्थ है ?

समाधान—जिनका उपयोग ध्यानमे एकाग्र है, ऐसे श्रेणीगत जीवके उपयोगमे, ऐसा राग नहीं है जो उनकी जानकारीमे आवे। इसे ही "बुद्धिपूर्वक" रागका अभाव कहते हैं। तथापि उनकी जानकारीके बिना भी, कर्मके उदयागत मन्द राग विद्यमान है, उसे ही 'अबुद्धिपूर्वक राग' कहते हैं। जिनके ध्यानकी एकाग्रता नही है—उनमे कर्मोदयसे जो राग आता है, वह जानकारीमें भी अपनी स्थूलताके कारण आ जाता है। अतः वहाँ प्रथम अर्थमे शुद्धोपयोग शब्दका प्रयोग है। अथवा आंशिक शुद्धिके कारण भी उसे आंशिक शुद्धोपयोग माना जा सकता है। तथापि श्रेणीगत ध्यानस्थ जीवोको, मन्दोदयकी स्थितिमे भी, ज्ञानको वर्तमान प्रयोग दशामे होनेवाला क्रमबद्धित शुद्धोपयोग है। वह अनन्त चतुष्टयकी उत्पत्तिमे प्रबल हेतु है। अतः यह कहना सुसंगत है कि शुद्धोपयोगका फल ही अनन्त चतुष्टय है ॥२६८॥

ऐसे शुद्धोपयोगकी कामना करते है—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६९॥

अन्वयार्थ--(**स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे**) स्याद्वाद वाणीके द्वारा प्रकाशित है शोभायमान महान् प्रकाश जिसका, ऐसे (**शुद्धस्वभावमहिमनि मयि उदिते सति**) शुद्ध स्वभावकी महिमाका जब मेरे उदय हो गया है तब, (**बन्ध मोक्षपथपातिभिः**) बंध-मोक्षके मार्गमें जिनका प्रवेश है, ऐसे (**अन्यभावैः**) अन्य भावोसे (**किम्**) मुझे क्या प्रयोजन है ? (**परं अयं स्वभावः**) केवल वही सुविशुद्ध श्रेष्ठ भाव (**नित्योदय स्फुरतु**) नित्य हो उदय रूप प्रकाशमान रहो ॥२६९॥

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रकी अनेकान्तमयी वाणीको श्रवणकर, या उसका बार-बार अभ्यास कर, मुझे शुद्धात्माकी महिमाका प्रकाश प्राप्त हुआ है। अब मुझे इस चर्चासे क्या लाभ कि बंध कैसे होता है, और मोक्ष कैसे होता है ? इन भावोका प्रयोजन पूर्वमे था, पर जब केवल ज्योतिको प्रकट करनेकी साक्षात् हेतु भूत शुद्धात्माकी महिमा प्रकट हो गई, तो इसे ही निर्विकल्प होकर अंगीकार करना चाहिए। विकल्प तो शुभाशुभ रूप हैं, और वे शुभाशुभ बंधके ही कारण

बनेंगे। अतः उनका अभाव ही हो, तथा यह परमभावजो प्रकट हुआ है, वह अविच्छिन्न रूपसे मुझमें प्रकाशित रहे यही कामना है।

(४७७) **प्रश्न**—जिनवाणी अनेकान्त मय है। इस कलशमे उसी अनेकान्त स्याद्वाद वाणीके द्वारा दीपित प्रकाशकी महिमा बताई गई है। यह स्याद्वाद अनेक नयात्मक है, नय विकल्पात्मक है, तब नयोत्पादक स्याद्वादका तिरस्कार क्यो किया गया ? क्या नयात्मक विकल्प शुद्धात्माकी प्राप्तिमे बाधक है ? यदि ऐसा नही है तो निर्विकल्प होनेकी बात कहाँ तक उचित है ?

समाधान—नयके विकल्प वस्तुको समझनेमे साधक है। साधनो द्वारा जब साध्य वस्तु प्राप्त हो गई, तब साध्यको छोडकर फिर साधनो पर दृष्टि ले जाना लाभदायक नही है। हानि-कारक ही है। अतः उन विकल्पोको दूर करनेकी भावनाका उपदेश दिया है। साधन उपयोगी है, पर तब तक उसकी उपयोगिता है जबतक साध्यकी प्राप्ति नही हुई ॥२६९॥

इसी विषयको नीचेके कलशमे स्पष्ट करते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंडयमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकांतशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२७०॥

अन्वयार्थ—(**चित्रात्मशक्तिसमुदायमय**) विविध प्रकारकी निज शक्तियोंसे सम्पन्न (**अयम् आत्मा**) यह आत्मा, (**नयेक्षणखण्ड्यमानः**) विविध नयोकी दृष्टिसे देखनेपर खण्ड-खण्ड रूप प्रतिभासित होती हुई, सद्यः (**प्रणश्यति**) तत्काल विनशती है। (**तस्मात्**) इसलिए वस्तुतः (**अहं**) मैं (**अखण्डम्**) परसे अखण्डनीय, (**अनिराकृत खण्डम्**) किन्तु अपने समस्त खण्डोसे अभिन्न, (**एकम्**) एक सत्ताक (**एकान्तशान्तम्**) सर्वथा शान्त (**अचल**) स्थिर (**चिन्मह अस्मि**) चैतन्यका प्रकाश हूँ ॥२७०॥

भावार्थ—आत्मा विविध प्रकारके अनन्त गुण पर्यायोका, एकमात्र अखण्ड-पिण्ड होते हुए भी, एक-एक गुण पर्यायकी प्रमुखता रूप नयोंसे देखनेपर, खण्ड खण्ड रूप प्रतिभासित होनेके कारण उसकी अखण्डता नष्ट होती दीखती है। जिस नयकी अपेक्षा उसे देखा जाय, उस काल उतनी ही दिखाई देगी। उसका समस्त अखण्ड रूप उस काल लक्ष्यमे नही आयगा। द्रव्य दृष्टिसे देखनेपर द्रव्य मात्र प्रतीत होगा। प्रदेश भेदकी दृष्टिसे देखनेपर उसके असख्य प्रदेशमात्र दृष्टिमे आयेंगे। पर्यायकी दृष्टिसे देखनेपर शुद्धाशुद्ध पर्याय रूपता ही प्रतीतिमे आयगी। ज्ञानादि गुणोंसे देखनेपर ज्ञानादि मात्रता रूप ही प्रतिभासित होगी। इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव रूप एक-एक नयसे एक-एक रूप प्रतिभासित होगा।

गुणोंमें या पर्यायोमे भी, जिस गुणकी विवक्षा होगी, या जिस पर्यायकी विवक्षा होगी, तत्-गुण या तत्पर्याय रूप ही उसका दर्शन होगा। अनाद्यनन्त समस्त गुण पर्यायोंसे अभिन्न, अखण्ड रूप आत्मा, इन नय दृष्टियोंमें नही आयेगा। अतः नय दृष्टियोको, तथा उसके विकल्पोको, दूर-कर मैं एकान्त, शान्त, निर्विकल्प, खण्ड-खण्डपनेसे रहित, अखण्ड अचल चैतन्यके प्रकाश रूप हूँ। मेरे इस स्वरूपमें कभी भी चंचलता नही है ॥२७०॥

ज्ञान-ज्ञेयका अभिन्नपना प्रदर्शित करते है—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गज्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

अन्वयार्थ—(**य अयम् भाव.**) यह जो मैं भाव स्वरूप पदार्थ हूँ, सो (**अहम् ज्ञानमात्रम् अस्मि**) मैं ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। उमे (**ज्ञेयज्ञानमात्र स नैव**) सिर्फ ज्ञेयोका जाननेवाला ज्ञानमात्र है ऐसा नही जानना। किन्तु (**ज्ञेय ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्**) ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञानाकार रूप, कल्लोलोको स्वीकार करने वाला, वह (**ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत् वस्तुमात्रः**) स्वय ज्ञान रूप, स्वयं ज्ञेय रूप, और स्वय ज्ञायक रूप, तीनोसे अभिन्न है, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥२७१॥

भावार्थ—"आत्मा ज्ञानमात्र है" ऐसा पूर्व कलशमे कहा गया था। इसका केवल यह अर्थ नही है कि ज्ञान, ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञायक मात्र है, किन्तु जगत्के समस्त ज्ञेयोका ज्ञानमे जो तदाकार रूप प्रतिभासित होता है, वे सब ज्ञानको ही कल्लोले है। जैसे समुद्रकी कल्लोलें—समुद्र रूपताका परित्याग नही करती, वे समुद्ररूप ही है। इसी प्रकार ज्ञेयाकार रूप प्रवर्तित ज्ञानकी समस्त कल्लोलें ज्ञानरूप ही हैं।

ज्ञान उन सबका ज्ञाता है, अतः ज्ञान उनका ज्ञायक हुआ। आत्मा उनसे अभिन्न है अतः स्वय ज्ञाता है, स्वय ज्ञान है, और स्वय ज्ञेयरूप है। फलत यह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप वस्तु स्वय है। अर्थात् स्वय ज्ञाता आत्मा, स्वयके ज्ञान द्वारा, स्वयको भी ज्ञेयरूप बनाता है। स्वयकी इस त्रिविधतामे, बाह्य ज्ञेय पदार्थ, आत्मासे भिन्न ही रहते हैं। उन ज्ञेयोका आत्मामे प्रवेश नही होता, किन्तु ज्ञेयाकार जैसी ज्ञानकी ही विविध पर्यायें हैं। जिन्हे ज्ञान कल्लोल कहा गया है, ज्ञान उन्हे स्वीकार करता है, यही उनका जानना है। आत्माका अनुभवन करनेवाला अपनेको उसी प्रकार अखण्ड रूप अनुभव करता है, इसलिये 'आत्मा ज्ञान मात्र है' ऐसा कहा गया है ॥२७१॥

अनुभव दशामे होनेवाली उस विविधताके रहनेपर भी मेरे सहज स्वभावकी स्थितिमे कोई अन्तर नही आता—

क्वचिल्लसति मेचकं, क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं, सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसहंतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ—(**मम सहजमेवतत्त्वं**) मेरा सहज ज्ञानस्वरूप तत्त्व ही (**क्वचिन्मेचकं लसति**) कभी विविधरूप दिखाई देता है (**क्वचित्-पुनरमेचकं**) कभी एकाकार टकोत्कीर्ण स्वरूप दिखाई देता है, तथा (**क्वचिन्मेचकामेचकं**) कभी एकानेक रूप प्रकाशमान होता है, (**तथापि**) तो भी (**परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्र स्फुरत्**) परस्परमे तादात्म्य रूप सुगठित अपनी प्रकट शक्ति समूह रूपमें

प्रकाशमान वह आत्मतत्त्व, (**अमलमेधसां मन.**) निर्मल बुद्धिवाले सज्जनोके मनको (**न विमोहयति**) भ्रम उत्पन्न नही करता ॥२७२॥

भावार्थ—ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। उसका विषय कभी 'स्व' होता है, कभी 'पर' होता है और कभी स्वपर दोनो होता है। जब स्वरूप मात्रका बोध करता है तब उसमे एकाकारता दीखती है, अतः उसे 'अमेचक' कहा गया है। वही ज्ञान जब नाना प्रकार पररूपोको लक्ष्यमें लेता है, तब उन समस्त ज्ञेयोके निमित्तसे नानारूपता भी उसमें दिखाई देती है। तब उसे 'मेचक' शब्द द्वारा कहा गया है। जब ज्ञान स्व-पर दोनोका एक साथ बोधक होता है तब मेचक अमेचक उभयरूप प्रकाशित होता है।

ऐसा होनेपर भी निर्मल स्याद्वादानुप्रेरित बुद्धिवाले ज्ञानीजन, उसकी एक रूपता और विविधरूपतासे भ्रममें नही पड़ते। वे जानते हैं कि वे सब ज्ञानके ही रूप हैं। उन रूपोके रहते हुए भी ज्ञान अपनी ज्ञानरूपताका परित्याग नही करता। वह ज्ञानरूपता ही मेरा सहज तत्त्व है। जिन विविध पदार्थोंके निमित्तसे उनमे विविधता दिखाई देती है वे विविध पदार्थ, मेरी ज्ञान-रूपतासे भिन्न हैं। वे मेरी एकरूपताको खण्ड-खण्ड नही कर सकते। मैं स्वय अखण्ड चैतन्य रूप ही हूँ। मेरी सभी शक्तियाँ मुझसे तादात्म्य रूप हैं।

पञ्चवर्णके रत्नको 'मेचकरत्न' कहा गया है। इस अर्थके अनुसार मेचकका अर्थ विविधा-कारता किया है, और अमेचकका एकाकार किया गया है। इसीके अनुसार एक-अनेकाकारताको मेचकामेचक शब्दसे प्रयोग किया गया है। दूसरे प्रकारसे 'मेचक' का अर्थ 'चित्रित' भी है। इस अर्थकी अपेक्षा आत्मा ससारी दशामें सकर्मा है, अशुद्ध है, तब 'मेचक' शब्दका प्रयोग होता है। वही आत्मा जब सम्यग्दृष्टि, सयमी बन जाता है, तब शुद्धाशुद्ध दशारूप होनेसे, उसे मेचकामेचक कहा जा सकता है। और जब कर्मक्षयसे सर्वथा शुद्ध बन जाता है तब उसे 'अमेचक' कहा जा सकता है। तथापि ज्ञानी जीव उन सब दशाओमे परमार्थसे एक सहज तत्त्वका दर्शन करता है ॥२७२॥

स्याद्वादी नयसे प्रदर्शित आत्माके वैभवको बताते हैं—

इतोगतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥२७३॥

अन्वयार्थ—आत्मतत्त्व (**इतोगतमनेकताम्**) एक तरफ नाना पर्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो अनेक रूप दिखाई देता है, तथा (**इतः सदा अपि एकताम् दधत्**) दूसरी तरफ द्रव्यमात्रकी दृष्टिसे वही एकरूपताको धारण करता है। वही आत्मा (**इतः क्षणविभंगुर**) पर्यायार्थिक की दृष्टि में क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील दिखाई देता है। तथा (**इतः सदैवोदयात् ध्रुव**) अनाद्यनन्त स्थायी गुणोंकी, या द्रव्यकी दृष्टिसे देखें तो उनका उदय आत्मामें सदैव पाया जाता है। अतः आत्मा ध्रुव है। नित्य है। (**इत. परमविस्तृत**) यदि उसे नाना पर्यायोकी दृष्टिसे देखें तो उसका विस्तार अनादि-अनन्त परम विस्तृत है, तथापि (**इतः निजैः प्रदेशैः धृतम्**) यदि अपने प्रदेशोको सख्याकी

अपेक्षा देखें तो उतना ही अविस्तृत है। लोकालोकका ज्ञाता है अत तत्प्रमाण विस्तृत है अथवा निज प्रदेशमात्र है, अत अविस्तृत है (**अहो**) इस प्रकार अहो ! (**तदिदम् सहजं आत्मनः वैभवम् अद्भुतम्**) यह आत्म तत्त्वका सहज वैभव आश्चर्यकारी है ॥२७३॥

भावार्थ—आत्मतत्त्व स्वयं एक है, तथापि असंख्य प्रदेशी है, अतः उसे अनेक भी कह सकते हैं। वह एक द्रव्य ही है, तथापि अनन्त पर्याय स्वरूप है, इसलिए उसे अनन्त भी कह सकते हैं। द्रव्य दृष्टिसे उसे स्थायी भी कह सकते हैं, और पर्यायदृष्टिसे वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील, अनित्य, अस्थायी भी है। द्रव्य अनाद्यनन्त गुण पर्यायोका समुदाय है अतः अत्यन्त विस्तारवाला है, तथापि अपने स्वद्रव्य स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव मात्र है अतः विस्तारवान् नहीं है, परिमित है। इस तरह एक ही आत्म तत्त्वको विविधरूप देख सकते हैं, ऐसा ही उसका वैभव है ॥२७३॥

इसी अर्थको पुष्ट करते हैं—

कषायकलिरेकतः, स्खलति शान्तिरस्त्येकतः
भवोपहतिरेकतः, स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो, विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥२७४॥

अन्वयार्थ—(**एकत**) एक नयसे देखा जाय तो जीवमे (**कषाय कलिः**) कषायकी कालिमा (**स्खलति**) आ रही है। (**एकतः**) एक नयसे (**शान्तिरस्ति**) शान्ति भी दिखाई दे रही है। (**एकतः**) एक नयसे (**भवोपहति**) ससार परिभ्रमणके दुख हैं तो (**एकतः**) एक नयसे आत्मा (**मुक्तिः अपि स्पृशति**) मुक्तिका भी स्पर्श करती है। (**एकत जगत्त्रितयं**) एक नयसे तीनो लोक उसमे दिखाई देते हैं, तो (**एकतः**) एक नयसे (**चित्**) चिच्चमत्कार मात्र ही (**चकास्ति**) प्रकाशमान है। **आत्मनः महिमा** (**अद्भुतादद्भुतः विजयते**) इस प्रकार विविध नयोंसे देखने पर इस आत्माकी महिमा अद्भुतसे भी अद्भुत है। अत्यन्त आश्चर्यकारी है ॥२७४॥

भावार्थ—एक ही आत्मामें, नयविवक्षाके भेदसे परस्पर विरोधी जैसे अनेक धर्म दिखाई देते हैं। आत्मतत्त्वकी यह महान् आश्चर्यकारी महिमा है। इसी महिमाको दिखाते हैं—

(१) पर्याय दृष्टिसे देखा जाय तो ससार दशामे, आत्मामे राग-द्वेष-क्रोधादिकी कालिमा दिखाई दे रही है, अर्थात् ये विभाव परिणतियाँ उसमे विद्यमान हैं। परन्तु स्वभावदृष्टिसे तो वही शान्तिका भंडार है।

(२) पर्याय दृष्टिसे वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव इन पञ्च परावर्तनोमे भटक रहा है। तथापि स्वभाव दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्वयं कर्म कलंक रहित मोक्षस्वरूप है।

(३) पर्यायदृष्टिसे वह तीनो लोकोमे परिभ्रमण करता है, अतः तीन लोक स्वरूप है। तथापि स्वभावदृष्टिसे देखें तो वह केवल चैतन्य लोकमें ही रहता है तद्रूपमे ही सदा प्रकाशमान है।

ये सब स्वभाव तथा विभाव दशाएँ हैं, जो आत्मामे पर्यायनय और द्रव्यनयकी अपेक्षा पाई जाती हैं। द्रव्यार्थिकनयसे या शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा शान्त है, निष्कषाय है, वीतरागी है, अखण्ड है, अकम्प है, चैतन्य चमत्कारमात्र है, मुक्त है। पर्यायार्थिकनयसे या व्यवहारनयसे देखा

जाय तो यह आत्मा ही राग-द्वेष-क्रोधादि पर्यायरूप देखा जाता है, अत सरागी है, पर्यायोमे खण्डित है, चलायमान है, तीनों लोकोका वासी है।

ऐसी आश्चर्यकारी विशेषताएँ इस आत्मद्रव्यकी है। ऐसा आचार्य प्रतिपादन करते हैं। कर्मोदयकी विविधतामे अपनी वर्तमान दुरवस्थाका भी भान कराते है, और उस आत्माकी स्वरूपकी पवित्रताका भी भान कराते है। जो आत्मा वर्तमानमे ऐसी पराश्रित विभाव दशामे है, वह स्वभावाश्रित, मुक्त दशाको प्राप्त करने योग्य भी है, इस महिमासे आत्माका पुरुषार्थ अपने स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर जाता है ॥२७४॥

उस एक अस्खलित तेजःपुञ्ज आत्माकी विजयकी कामना करते है—

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७५॥

अन्वयार्थ—(**सहजतेज पुञ्जमज्जत् त्रिलोकी**) जिसकी स्वाभाविक ज्ञान तेजके पुञ्ज स्वरूप केवलज्ञान रूप ज्योतिमे तीनो लोक डूब जाते है, तथा (**स्खलदखिलविकल्प अपि**) समस्त विकल्पोसे सहित होकर भी (**एक एव स्वरूपः**) जो स्वयमे एक, अद्वितीय है, तथा जो (**स्वरस विसर पूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभ**) अपने स्वभावके प्रसारसे स्वयमे परिपूर्ण, अखण्डतत्त्वके रूपमे उपलब्ध है, तथा (**प्रसभनियमितार्चि**) जो अपनी किरणोके द्वारा, स्वय अपने स्वरूपमे स्वशक्ति से ही नियमित है, ऐसा (**एष चित्चमत्कार जयति**) यह चैतन्य चमत्कार स्वरूप आत्मा, सदा सर्वोत्कृष्ट रीतिसे जयशील है ।।२७५॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानपुञ्ज कैवल्य ज्योति है। उसकी महिमा ऐसी है कि उसमे ऊर्ध्व-मध्य-अध. तीनो लोको के अनन्तानन्त पदार्थ, अपनी अनन्तानन्त गुण-पर्यायो सहित समाते हैं, सब युगपत् प्रकाशमान होते है। वह कैवल्य ज्योति सभी पदार्थोंकी प्रकाशक होकर भी, सकल-पदार्थोंके निमित्तजन्य विकल्पोसे रहित, स्वयमे एकरूप ही है। वह अपने आत्मरससे पूर्ण अखण्ड तत्त्वस्वरूप है। उसकी ज्ञानकिरणें बिना किसी प्रयत्नके, स्वयके बलसे अपनेमें ही नियमित हैं। उसका परित्याग नही करती। ऐसी वह कैवल्यज्योति सदा ही जयशील है ॥२७५॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म
न्यनवरतनिमग्नं धारयत् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७६॥

अन्वयार्थ—(**अविचलितचिदात्मनि आत्मनि**) अकम्प चैतन्य स्वरूप आत्मामें (**आत्मना**) अपने पुरुषार्थसे ही (आत्मान) स्वयको (**अनवरतनिमग्न धारयत्**) निरन्तर धारती हुई, (**ध्वस्त-मोहम्**) मोहान्धकारको नष्ट करनेवाली (**विमलपूर्णम्**) स्वच्छ, परिपूर्ण, (**निःसपत्नभावम्**) रागादि

विरोधी भावोंसे रहित (समंतात् उदित एतत् अमृतचन्द्रज्योतिः) पूर्ण उदयको प्राप्त हुई, यह निर्मल अमृतमय—चन्द्र समान आत्मज्योति (ज्वलतु) सदा प्रकाशमान रहो ।।२७६।।

भावार्थ—जैसे अमृत बरसानेवाले चन्द्रमाकी ज्योति अन्धकारको दूर करती है। स्वयं विशद रूपसे प्रकाशमान होती है, इसी प्रकार अचल चैतन्य स्वरूप आत्मामें, जन्म मरणादि विकार रहित अमृतरूप, विशद-पूर्ण ज्ञानज्योति, जो अज्ञानान्धकारको दूर करती हुई, स्वय आत्माके परम पुरुषार्थसे उत्पन्न हुई है, वह अकम्प चैतन्य ज्योति सदा प्रकाशमान रहो।

इस पदमे ग्रन्थकर्ता अमृतचन्द्र आचार्यका नाम भी प्रकारान्तरसे द्योतित होता है। उसे आधार बनाकर यह अर्थ प्रकाशित होता है कि अमृतचन्द्राचार्य द्वारा अपने स्वयके अनुभवसे यह ग्रन्थ एक ज्योति रूपमे प्रकाशित किया गया है। यह ज्ञान ज्योति, जीवोंके मोहान्धकारको दूर करती हुई, निर्विरोध रूपसे इस ससारमे प्रकाशमान रहे, ऐसी भावना प्रकट की गई है। अथवा आत्मा ही अमृतचन्द्र ज्योति है वह जयवन्त हो। यह ज्ञानज्योति अमृतवर्षी चन्द्रमासे अधिक माहात्म्य रखती है।

चन्द्रमा सलाछन है, यह ज्ञानज्योति निर्लाछन है। वह केवल अन्धेरा मिटाता है, यह मोहान्धकार मिटाती है। चन्द्रमाकी ज्योति सदा प्रकाशमान नही रहती, आत्माकी ज्ञानज्योति सदा प्रकाशमान है। चन्द्रमाका विरोधी राहु है अत. सपत्नभावयुक्त है, यह ज्ञानज्योति ज्ञानावरण कर्मरूप शत्रुको नाश करके उदयको प्राप्त होती है, अतः सपत्नभाव रहित है। चन्द्रमा सर्वक्षेत्र प्रकाशी नही है। कैवल्य ज्योति त्रिलोकमे प्रकाश करनेवाली है। ऐसी ज्ञानज्योति सदा प्रकाश करती रहो। ऐसा भी अर्थ निकलता है ।।२७६।।[1]

पूर्वापर रूपकी व्याख्या करके यह बताते हैं कि अब जो स्वानुभूति है, उसमें मग्न रहना ही जीवकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है—

यस्मात् द्वैतमभूत् पुरास्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरम्
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न-किञ्चित् किल ।।२७७।।

अन्वयार्थ—(यस्मात् पुरा स्वपरयोर्द्वैतमभूत्) प्रथम ही पूर्वावस्थामे, स्व तथा पर, दोनोंका मिला हुआ द्वैतरूप एक भाव हुआ। (यत. अत्रान्तरम् भूतम्) जिसके कारण स्व स्वरूपमें भेद पड़ा। (यतः) इस अन्तरकी दशामे (रागद्वेष परिग्रहे सति) रागद्वेषकी उत्पत्ति हुई। उसके ग्रहण

१. समयसारकी प्रतिमें इस कलशके बाद एक श्लोक और क्रमाक १ देकर छापा गया है। वह इस प्रकार है—

मुक्ता-मुक्तैक रूपोय कर्मभि सविदादित ।
अक्षय परमात्मान ज्ञानमूर्ति नमाम्यहम् ।।१।।

अर्थ—जो आत्मा कर्म रहित होने से मुक्त रूप, तथा अपने ज्ञानादि गुणोसे सहित होनेके कारण अमुक्त रूप है, उस ज्ञानमूर्ति, अक्षय परमात्माको मैं नमन करता हूँ।

होनेपर (क्रियाकारकैः फलं जातं) उन क्रियाओंके कर्तापनेसे, जो फल उत्पन्न हुआ उससे (अनुभूति) परमें स्वकी अनुभूति हुई (यतः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना) जिससे उस क्रियाके दुःखरूप फलको भोगनेवाली वह अनुभूति (खिन्ना) अत्यन्त खेदरूप हुई (अधुना) परन्तु अब (तद्विज्ञानघनौघमग्ना) स्वभावका सम्यग्बोध होनेपर, विज्ञानघन स्वभावमे मग्न हो गई अतएव (तत् किल न किंचित् न किंचित्) वह कर्म अब कुछ नही है—कुछ भी नही है ॥२७७॥

भावार्थ—जब जीव मिथ्यात्व दशामें था, तब स्वपर भेदविज्ञान उसे नही था, तब परके साथ एकाकारताका अनुभव करता था, अत परकी पर्यायके विनाशमे अपनी हानि, तथा परकी उत्पत्तिमें अपना लाभ देखता था। तब वह कर्म और कर्मके फलमे मग्न था। तब वह अनुभूत-कर्म-कर्मफला थी। उस समय रागद्वेष उत्पन्न होते थे। उन रागद्वेष परिणामोंसे आत्मा कलुषितरूप अनुभवमे आती थी। उसका फल अत्यन्त दुःख था, अतः अनुभूति भी अत्यन्त दुःखरूप थी।

सम्यक्त्व हो जानेपर, स्वपरकी भेद-भासना हुई। परका परित्याग, स्व रमणरूप सम्यग् चारित्र प्राप्त हुआ। ज्ञानचेतना मुखरित हुई। कर्म और कर्मके फलका सम्बन्ध चैतन्य भावसे भिन्न हुआ। रागद्वेषादि कलुषित भाव मिट गए। अतः अब आत्मा अपने ज्ञानस्वभावमें ही निमग्न हो गया। सारे कर्तव्य पूरे हो गए। कृतकृत्य हो गया। अब करने योग्य कुछ भी शेष नही रहा। परम पुरुषार्थका यही सर्वोत्कृष्ट फल है, अतः करणीय कुछ भी नहीं है, कुछ भी नही है। ऐसा बार-बार कहकर उसकी दृढ़ता करते हैं ॥२७७॥

ग्रन्थको समाप्त करते हुए अमृतचन्द्र स्वामी अहंभावसे बचनेके लिये, स्वयके ग्रन्थकर्तृत्वका निषेधकर, यह ग्रन्थ कैसे बना यह बताते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः
व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

अन्वयार्थ—(स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः) अपनी सहज योग्यता, तथा सुनिश्चित संकेतो से जिन्होंने वस्तुतत्त्वको सूचना दी है, ऐसे (शब्दैः) शब्दरूप वचनोंके द्वारा, (इयं समयस्य व्याख्या कृता) यह समयसारकी व्याख्या की गई है। (स्वरूपगुप्तस्य) अपने शुद्ध-चैतन्य स्वरूपमे ही लीन (अमृतचन्द्रसूरेः) मुझ अमृतचन्द्राचार्यका इस कृतिमे (न किंचित् एव कर्तव्यम् अस्ति) कुछ भी कर्तृत्व नहीं है ॥२७८॥

भावार्थ—श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ग्रन्थको समाप्त कर, इस कलशमें अपना अन्तिम वक्तव्य दे रहे हैं। वे कहते हैं कि समयसार ग्रन्थ को समय प्रतिपादक यह टीका मैंने नही की। मैं तो सच्चिदानन्दकन्द अपने ही स्वरूपकी मर्यादा में हूँ। शब्दोमे मेरा प्रवेश नही है, न उनका मुझमे प्रवेश है। शब्द जो पौद्गलिक हैं, उनमें कुछ सहज योग्यता है, और कुछ पुरुष कृत संकेत हैं कि अमुक शब्दका यह अर्थ समझना चाहिए। उन संकेतोंने और शब्दोंकी योग्यताने ही यह व्याख्या की है।

भाषामें कुछ शब्द तो सहज योग्यतासे अर्थ प्रतिपत्ति करा देते हैं। जैसे कोई भाषा-भाषी अपनी भाषामें किसीपर क्रोध कर रहा है, अथवा प्रीति कर रहा है, तो अन्य व्यक्ति जो उस भाषा-का जानकार नहीं है, उन शब्दोंके उतार-चढ़ावसे, शरीरकी चेष्टासे उन शब्दोका अर्थ-भाँपकर, उसके अभिप्रायको समझ लेता है। इसी प्रकार शब्दोमे अर्थोका संकेत, भाषा निर्माण करनेवाले, या बोलने वाले करते हैं। जैसे घ+ट दोनों शब्द जोड़कर बोले जायें तो इसका अर्थ 'घड़ा' जानना, ऐसा कोषकारोंने संकेत स्थिर कर दिया है। जिन शब्दोका अर्थ प्रतीत न हो, तो शब्द कोषके ग्रन्थ देखकर वे शब्द किस अर्थमें संकेतित हैं, इसका ज्ञान व्यक्ति कर लेता है। अन्य भाषा-भाषी जो संस्कृत भाषा या हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ हैं, उनके संकेतोका जिसे परिज्ञान नहीं है, वह उन 'घट' आदि शब्दोको सुनकर बोलने वालेका मुख ताकता है। जब उसे उसकी सांकेतिक-भाषामें समझाया जाता है, तब उसका समाधान होता है।

आचार्य यहाँ इस वास्तविक रहस्यको खोलते हुए कहते हैं कि समयसार-ग्रन्थकी यह व्याख्या उन शब्दोने की है, मैंने नहीं की। यह परमार्थ है। व्यवहारसे, उस रचनामें निमित्तभूत आचार्य ही टीकाके कर्ता हैं, ऐसा कहा जायगा। तथापि पर-कर्तृत्वको सिद्धान्ततः स्वीकार न करनेवाले आचार्य, स्वयं अपनेको परमार्थसे परका अकर्त्ता मानकर, इस टीकाको अपनी कृति न कहकर, शब्दोको ही उस कृतिका कर्त्ता कहकर, परमार्थका आश्रयकर, व्यवहारकी हेयता ही निरूपित कर रहे हैं ॥२७८॥

इस प्रकार श्रीभगवान् कुन्दकुन्दाचार्य कृत श्री समयसार ग्रन्थकी टीका करते
हुए अमृतचन्द्राचार्य कृत यह 'अध्यात्म-अमृत-कलश' नामकी स्वात्म
प्रबोधिनी हिन्दी भाषा-टीका सम्पूर्ण हुई। मध्यप्रदेशके जबलपुर
मण्डलान्तर्गत कटनी नगरीमें चारित्रचक्रवर्ती आचार्य
शान्तिसागरके स्मारक श्रीशान्ति निकेतन जैन
संस्कृत विद्यालयमें श्रीवीर संवत्सर २५०१
विक्रमाब्द २०३१ की माघ शुक्ला
षष्ठी सोमवारके दिन अपने
आत्मबोधके लिये की गई
मेरी यह भाषा टीका
पूर्ण हुई।

जगन्मोहनलाल जैन, शास्त्री।

◻ अथ ग्रन्थ प्रशस्तिः ◻

श्रीवीरं कुन्दकुन्दञ्चामृतचन्द्र तथैव च ।
साष्टाङ्गं सादरं भक्तया प्रणमामि मुहुर्मुहु- ॥१॥
श्री कुन्दकुन्ददेवस्य, ग्रन्थ समयप्राभृतम् ।
आलम्व्य, रचिता टीका, सस्कृतेऽमृतसूरिभिः ॥२॥
तट्टीकासदन तेन, कलशैस्तु सुशोभितम् ।
मन्येऽथवामृत तेन, कलशेषु समाहितम् ॥३॥
प्राश्निकाना सुबोधाय, सत्प्रश्नोत्तरपूर्वकम् ।
तदभिप्रायमासाद्य, हिन्दी-टीका विनिर्मिता ॥४॥
स्वात्मप्रबोधिनी टीका, जगन्मोहनशास्त्रिणा ।
रचिता सुखबोधाय, जिज्ञासूना हितार्थिनाम् ॥५॥
तीर्थङ्करमहावीरदेवस्य मुक्तिवत्सरे ।
द्विसहस्रे पञ्चशते प्रयत्न कृतवानहम् ॥६॥
मुख्योपचारकथन, यथा शास्त्रे प्ररूपितम् ।
तदनेकान्तपद्धत्या वर्णित स्वल्पमेधसा ॥७॥
मदीयाज्ञानभावेन या- काश्चित् स्यु प्रमादत ।
त्रुटयोऽत्र कृपापूर्वं शोधनीयाः मनीषिभिः ॥८॥
नमः श्री वर्द्धमानाय सर्वज्ञाय स्वयभुवे ।
तेषा सच्छासनं कुर्यात् भद्र सम्पूर्णप्राणिनाम् ॥९॥
नानागमानामध्येता नानाविद्याविशारदः ।
जनसबोधने दक्षः जिनधर्मप्रभावकः ॥१०॥
उपाध्यायपदारूढः विद्यानन्दो दिगम्बर- ।
सम्प्रतौ वर्तते काले भारते भुवि भूषणः ॥११॥
द्विसहस्रे पञ्चशते वीरे मुक्तौ गते सति ।
येन सबोधिता देशे जनता कोटिकोटयः ॥१२॥
हरियाणाप्रदेशे तु पुरी नाम्ना जगाधरी ।
तत्र स्थिते जैनपुरे चातुर्मास चकार स ॥१३॥
नीरजेन सुशिष्येण साक तत्र गतोऽस्म्यहम् ।
वन्दनार्थं प्रमोदेन सभागीये महोत्सवे ॥१४॥
तत्सन्निधौ धृता टीका समालोक्य मुनीश्वर- ।
जगन्मोहिनि नामाख्या टीकेय तु जगाद सः ॥१५॥
मया निवेदित स्वामिन् ! जगन्मोहविनाशिनी ।
स्वात्मप्रबोधिनी भूयात् स्वीकृत तेन सस्मितम् ॥१६॥

●

अध्यात्म-अमृत-कलश

स्वात्म प्रबोधिनी टीकामें आए प्रश्नोंकी

अनुक्रमणिका

पूर्व रंग

उत्तर रंग

कर्तृकर्म अधिकार

पुण्य-पाप अधिकार

आस्रव अधिकार

संवर अधिकार

अथ निर्जराधिकार

अथ बन्धाधिकारः

मोक्षाधिकार

अथ सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार:

स्याद्वाद अधिकार व साध्य साधक अधिकार

●